नीरजन

परिवार

संरक्षक
श्री ओमशङ्कर

परामर्शदाता
श्री चन्द्रपाल सिंह

★सहयोग★

रचना-चयन : सुमन दुबे, गणेश शंकर वाजपेयी, गया प्रसाद वर्मा, दिनेश सिंह भदौरिया

लिपि-प्रवर्तन : विवेक भागवत

पाण्डुलिपि-निर्माण : जलज कटियार, अखिल तिवारी

टंकण-प्रशोधन : अजय प्रताप, पीयूष बंका, रामेन्द्र सिंह

अक्षर संयोजन एवं मुद्रण : गोपाल कृष्ण शुक्ल

सम्पादक : **नीरज कुमार**

अक्षर संयोजन एवं मुद्रण : **प्रिन्ट एड**, ७ विश्वनाथ धाम 'गदा' रोड, ग्वालटोली, कानपुर
दूरभाष : २६१०५६, २६१०७४

नीरजन

रजत जयन्ती अंक - १९९५

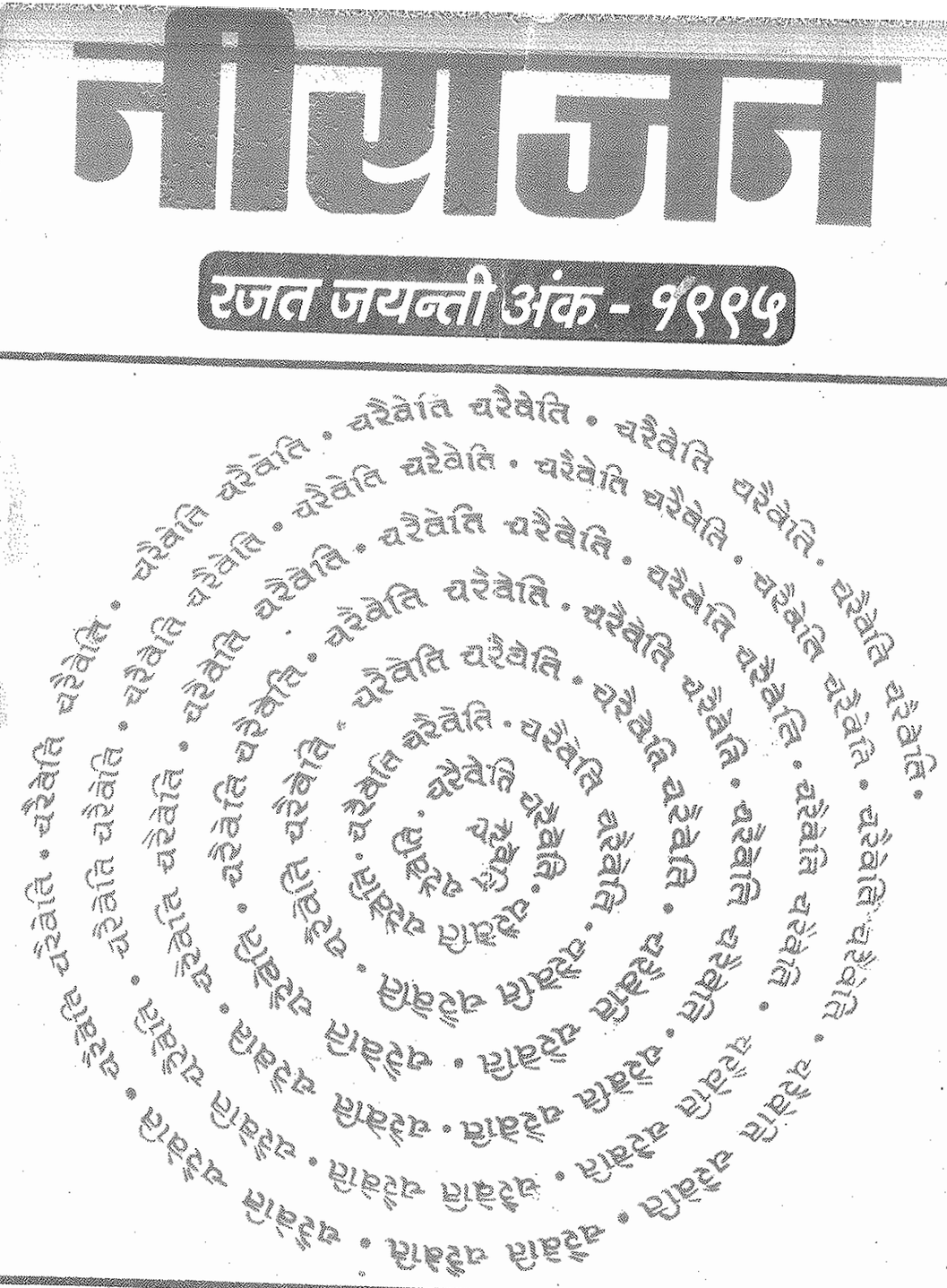

पं दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय
नवाब गंज, कानपुर

नीराजन

वार्षिक पत्रिका

१९९५

पंडित दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय
कानपुर

वन्दे मातरम्
सुजलां, सुफलां, मलयजशीतलां।
शस्यश्यामलां, मातरम्।। वन्दे मातरम्।।
शुभ्र - ज्योत्सनां - पुलकित - यामिनीं,
फुल्ल - कुसुमित - द्रुमदल - शोभिनीम्।
सुहासिनीं, सुमधुर भाषिणीम्।
सुखदां, वरदां, मातरम् । वन्दे मातरम्।

दूरभाष : ७७७०६३५
७५१५८५४

ॐ

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

(प्रधान कार्यालय - डॉ० हेडगेवार भवन, नागपुर-४४० ००२)

सरसंघचालक : प्रो० राजेन्द्र सिंह

सरकार्यवाह : हो० वे० शेषाद्रि

केशवकुंज, झण्डेवाला,
देशबन्धु गुप्ता मार्ग,
नई दिल्ली - ११० ०५५

दिनांक : २.७.६५
आषाढ़ शुक्ल ४
युगाब्द ५०६७

मा० चन्द्रपाल सिंह जी,

सादर सप्रेम नमस्कार।

दीनदयाल विद्यालय इस वर्ष अपना रजत जयंती वर्ष मना रहा है, यह शुभ समाचार मिला और इस अवसर पर 'नीराजन' पत्रिका का विशेषांक निकल रहा है, यह भी ज्ञात हुआ। कोई बड़ा लेख लिखवाने की तो मेरे स्वास्थ्य के कारण अनुकूलता नहीं है, पर इस कार्यक्रम के सफल होने की मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ। दीनदयाल जी के साथ अनेक वर्ष कार्य करने का मुझे भी सौभाग्य रहा। उनमें जहाँ एक ओर मूलभूत चिंतन करने की क्षमता थी, वहीं दूसरी ओर अनेक लोगों को अपने स्नेह-संबंधों से जोड़ने की भी कला थी।

संघ के संगठन कार्य में भी वे पारगंत थे। आपको स्मरण होगा कि कच्छ के सत्याग्रह के समय वे बिहार के एक छोटे से स्थान में बाढ़ के कारण फँस गये थे। वहाँ और कुछ काम न होने पर लगभग तीन सौ पोस्टकार्ड सीतापुर, हरदोई, लखीमपुर क्षेत्र के लोगों के नाम उन्होंने अपने हाथ से लिखकर तैयार किये और भेजे।इसके कारण उस क्षेत्र से सत्याग्रहियों की संख्या मेरे आकलन से कहीं अधिक रही। अपने पुराने कार्यक्षेत्र के इतने लोगों का स्मरण और उनसे ऐसा संबंध उनके संगठन कौशल को ही दिग्दर्शित करता है।

ऐसे विलक्षण व्यक्ति की स्मृति विद्यालय में सदैव ताजी रहे, यह प्रयास बड़ा स्तुत्य है। मूर्ति स्थापना के लिए एक छोटी राशि भी भेज रहा हूँ।

आशा है, आप स्वस्थ होंगे।

आपका
रज्जू भैया

अतुलितबल धामं हेम शैलाभदेहम्।
दनुजवन कृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्
सकल गुण निधानं वानराणामधीशम्
रघुपति प्रिय भक्तं वातजातं नमामि।

अटल बिहारी वाजपेयी
नेता, प्रतिपक्ष
लोक सभा

17/2

11 जुलाई, 1995

प्रिय श्री चन्द्रपाल सिंह जी,

आपके 14 जून, 1995 के पत्र से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पं॰ दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय अपनी आयु के 25वें वर्ष में पहुंच गया है और इस अवसर पर विद्यालय के प्रांगण में पं॰ दीनदयाल जी की मानवाकार मूर्ति की स्थापना होने जा रही है।

विद्यालय में उल्लेखनीय प्रगति के लिये मैं उसके प्रबन्धकों, अध्यापकों, कर्मचारियों तथा छात्र- का अभिनन्दन करता हूं और यह कामना करता हूं कि विद्यालय जिस महापुरुष के नाम पर पहचाना जाता है, उसकी धवल कीर्ति के अनुरूप अपना विमल उत्थान करता रहे।

इच्छा होते हुए भी इस समय मेरे लिये लेख लिखना संभव नहीं है। यदि आप चाहें तो लोक सभा में काश्मीर की स्थिति पर दिये गये मेरे भाषण को "नीराजन" में प्रकाशित कर दें। प्रति संलगन है।

शुभकामनाओं सहित,

आपका,

अटल बिहारी वाजपेयी

(अटल बिहारी वाजपेयी)

श्री चन्द्रपाल सिंह,
संयोजक, रजत जयन्ती आयोजन समिति,
पं॰ दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय,
कानपुर-208002

44, संसद भवन, नई दिल्ली-110 001 दूरभाष : 3017470, 3034285 (कार्यालय)
6, रायसीना रोड, नई दिल्ली-110 001 दूरभाष : 3715166, 3714869 (निवास)

या कुन्देन्दु तुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणा वरदण्डमण्डितकरा या श्वेत पद्मासना।।
या ब्रह्माऽच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता।
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा।।
शुक्लां ब्रह्मविचार-सार-परमामाद्यां जगद्व्यापिनीं।
वीणा पुस्तक धारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम्।।
हस्ते स्फाटिक मालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थिताम्।
वन्दे तां परमेश्वरी भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम्।।

हमारा साध्य

प्रचण्ड तेजोमय शारीरिक बल, प्रबल
आत्म-विश्वास-युक्त बौद्धिक क्षमता
एवं निस्सीम भाव सम्पन्ना मनः
शक्ति का अर्जन कर, अपने
जीवन को निस्पृह भाव
से भारत माँ के चरणों
में अर्पित करना ही
हमारा परम
साध्य है।

ईसाई धर्म जैसे सभी धर्मों का दोष यह है कि उनमें सभी के लिए एक ही नियमावली है। किन्तु हिन्दू धर्म सभी प्रकार की धार्मिक अभीरसा और प्रगति की सभी कोटियों के लिए उपयुक्त है। उसमें सभी आदर्श अपने पूर्ण रूप में हैं। उदाहरण के लिए शांति या परमानन्द का आदर्श वशिष्ठ में मिलता है, प्रेम का कृष्ण में, कर्त्तव्य का राम और सीता में और बुद्धि का शुकदेव में। इन और अन्य आदर्श पुरुषों के चरित्रों का अध्ययन करो। ऐसे एक को ग्रहण करो, जो तुमको सर्वाधिक अनुकूल लगा हो।

- स्वामी विवेकानन्द

एक दृष्टि में...

१.	नीराजकों से	चन्द्रपाल सिंह	४
२.	अपनी बात	ओमशङ्कर	५

विद्यालय : अपनी - अपनी दृष्टि

१.	दीनदयाल विद्यालय की विशेषता	बैरिस्टर साहब	७
२.	मेरा विद्यालय	अयूब अली	८
३.	होनहार बिरवान के...	—	६
४.	बूजी, बैरिस्टर साहब और दीनदयाल विद्यालय	—	११
५.	साधना-सिञ्चित वाटिका का सुमन- सौरभ	वंशलाल सचान	१३
६.	हाथ कंगन को आरसी...	—	१४
७.	बूजी के साकार होते स्वप्न	चन्द्रपाल सिंह	२१

बूजी

१.	सुशीला जी और रानी 'साहिबा' से...	प्राणनाथ कपूर, ओमशङ्कर, नीरज कुमार	२६
२.	सरस्वती की पुजारिन : श्रीमती सुशीला देवी	प्राणनाथ कपूर	३३
३.	सुशीला माँ	—	३४
४.	सत्संग लाभ का अमृत फल	विश्वनाथ गौड़	३५
५.	बूजी	शशि शर्मा	३७

बैरिस्टर साहब

१.	तुम पर पुरातन क्या, नई पीढ़ी को भी गर्व है	ब्रह्म मिश्र	३६
२.	आदर्श सेवा और सेवा के आदर्श	स्वामी देवादास	४०
३.	तस्यैव जीवितम् शलाघ्यै यः परार्थे हि जीवति	कुप्. सी. सुदर्शन	४३
४.	नमन	अटल बिहारी बाजपेयी	४४
५.	हम शिक्षा उसको कहते हैं	सोमेश कुमार सिंह	४५
६.	एक कर्मयोगी की सुगन्धित स्मृति में	शिवशरण शर्मा	४६
७.	देखते ही देखते	अंशुमन मिश्र	४७
८.	सौजन्य और श्रेष्ठता के शिखर	रामेश्वर प्रसाद द्विवेदी	४८
९.	बैरिस्टर साहब	विश्वेश्वरदयालु शुक्ल	५०
१०.	आत्म दर्शन	अतुल मिश्र	५७
११.	एक बहुमुखी व्यक्तित्व	गुलाबदत्त त्रिपाठी	५८
१२.	मेरी राह	विकाश अग्रवाल	६१
१३.	दैवी सम्पदा के धनी	ज्ञानचन्द्र अग्रवाल	६२
१४.	हिम शिखर सा उज्जवल व्यक्तित्व	उपेन्द्र	६४
१५.	मेरे संस्मरणों में बैरिस्टर साहब	चन्द्रपाल सिंह	६७
१६.	एक युग का पटाक्षेप	जे.पी. श्रीवास्तव	६८
१७.	मनः प्रसादः सौम्यत्वं...	ओमशङ्कर	७०
१८.	ईशावास्यमिदं सर्वं...	ओमशङ्कर	७३
१९.	एक दिव्य ज्योति का अवसान	गयाप्रसाद वर्मा	७८
२०.	डायरी से...		७९
२१.	आशीर्वचन	बैरिस्टर साहब	८३
२२.	पढ़ाई में सफलता कैसे प्राप्त करें	बैरिस्टर साहब	८६
२३.	अपना जीवन भारतीय संस्कृति के अनुरूप बनायें	बैरिस्टर साहब	८७

पं० दीनदयाल उपाध्याय

१.	चरैवेति-चरैवेति	रंजना शुक्ल	८९
२.	जीवन-झाँकी	रामशंकर अग्निहोत्री, भानुप्रताप शुक्ल	९०
३.	पिपीलिका (चींटी)	कमलेश वाजपेयी	९२

४.	हमारे दीनदयाल जी	श्री गुरु जी	९३
५.	वे एक समर्पित कार्यकर्ता थे	भाऊराव देवरस	९७
६.	स्थितिप्रज्ञ दीनदयाल जी	बैरिस्टर साहब	१००
७.	भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतीक	मोरारजी देसाई	१०१
८.	सादगी की प्रतिमूर्ति	रज्जू भैया	१०२
९.	घट टूटा अमृत फूटा	हो. वे. शेषाद्रि	१०३
१०.	जवानी	रवीन्द्र ैन 'राजा'	१०५
११.	दीनदयाल जी के सान्निध्य में	अटल बहारी वाजपेयी	१०६
१२.	ऋषि परम्परा के महापुरुष	चन्द्रशेखर	१०८
१३.	पं. दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति और विचार	मुरली मनोहर जोशी	१०९
१४.	दो प्लेटफॉर्मों के मध्य : एक अपराजेय मुस्कान	शैवाल सत्यार्थी	११५
१५.	एक समर्पित व्यक्तित्व	गुलाबदत्त त्रिपाठी	११६
१६.	सविनय निवेदन है प्रभु लौट आओ	रोहित कपूर	११८
१७.	Some Reminiscences	Chandra Pal Singh	११९
१८.	अतिमानव को शत् नमस्कार	ओमशङ्कर	१२२
१९.	A Tribute	J.P. Shrivastav	१२३
२०.	पण्डित जी	ओमशङ्कर	१२५
२१.	लो श्रद्धांजलि राष्ट्रपुरुष...	—	१२६
२२.	समर्पण	ओमशङ्कर	१३०
२३.	चरैवेति चरैवेति...	दीनदयाल उपाध्याय	१३१
२४.	एकात्म मानववाद की अवधारणा	दत्तोपंत ठेंगड़ी	१३२
२५.	क्रांतिकारी आर्थिक चिंतन	महेश चन्द्र शर्मा	१३८

मा. भाऊराव बेबरस

१.	मरकर अमर बने कैसे नर	हो. वे. शेषाद्रि	१४५
२.	समर्पित जीवन की एक झलक	तेजबहादुर गौतम	१४६
३.	मा. भाऊराव से जो सीखा	बैरिस्टर साहब	१४९
४.	हाथ पकड़ कर...	बापूराव मोघे	१५०
५.	निरासक्त, ध्येय समर्पित कर्मयोगी	प्रताप नारायण	१५२
६.	मेरा विद्यालय	अजय शुक्ल	१५५
७.	संकल्प पिता के, हृदय माता का...	रज्जू भैया	१५६
८.	योजकस्तत्र दुर्लभः	कुप्. सी. सुदर्शन	१५८
९.	राम कोई जन्म ले...	राजश्री अग्निहोत्री	१६२
१०.	भाऊराव जी के अधूरे काम को पूरा करें	अटल बिहारी वाजपेयी	१६३
११.	प्रेरणा के अनन्त स्रोत	लज्जाराम तोमर	१६६

श्री गुरु जी

१.	जीवन-क्रम	—	१७१
२.	शेष है केवल स्मृति...	—	१७३
३.	हमारा विद्यालय	मनोज गुप्त	१७७
४.	परिपूर्ण मानव	गुरु जी	१७८
५.	हमारा विद्यालय	प्रवीण कटियार	१८४

शिक्षा

१.	शिक्षा के यक्ष प्रश्न	बैरिस्टर साहब	१८७
२.	भारत भाग्य जगायेंगे	भूपेन्द्र कुमार मिश्र	१८८
३.	विद्यालय सामाजिक पुनर्रचना का केन्द्र बने	नाना जी देशमुख	१८९
४.	वार्तालाप	अभिषेक श्रीवास्तव	१९०
५.	शिक्षक नहीं, आचार्य	लज्जाराम तोमर	१९१
६.	उदासीन समाज, उपेक्षित शिक्षा, असुरक्षित राष्ट्र	धर्मनारायण अवस्थी	१९५
७.	मुखौटा	पवन रामपुरिया	१९६
८.	Essentials of Education	Shiv Sharan Sharma	१९७
९.	शिक्षा का स्वरूप	हरिशंकर शर्मा	२००
१०.	शिक्षा समस्या और समाधान	रामजी पाण्डेय	२०४
११.	राष्ट्र निर्माण में शिक्षा का योगदान	चन्द्रपाल सिंह	२०७
१२.	शिक्षा नीति की ज्वलंत आवश्यकताएं	ओमशङ्कर	२१०
१३.	शिक्षा - स्वरूप, समस्याएं और समाधान	ओमशङ्कर	२१४
१४.	भाव का अभाव	अजय प्रताप, पीयूष बंका	२१७

कश्मीर

१.	तार-तार हो गयी एक साझी परम्परा	अग्निशेखर	२२१
२.	योगेश्वरी ललद्यद	जियालाल कौल, नंदलाल कौल	२२४
३.	'नुंद ऋषि' उर्फ शेख नुरूद्दीन वली	अग्निशेखर	२२८
४.	कश्मीर - समस्या और समाधान	प्राणेश नागरी	२३२
५.	What to do about Kashmir	Koenraad Elst	२३७
६.	Kashmiri Women's right to motherhood	Shakti Bhan	२४१
७.	कश्मीर : एक विस्मृत पक्ष	नीरज कुमार	२४४
८.	निर्वासन में कविता	अग्निशेखर, महाराज कृष्ण संतोषी	२५२
९.	चरार-ए-शरीफ : अनिर्णय में घिरी निष्प्रभावी सरकार	अटल बिहारी वाजपेयी	२५७

ताकि सनद रहे

१.	नीराजकों से	चन्द्रपाल सिंह	२६५
२.	अपनी बात	—	२७७
३.	विद्यालय वार्षिकोत्सव (१९९१-९२)	प्रवीण गंगवार	२९५
४.	वार्षिक खेलकूद (१९८४-८५)	गयाप्रसाद वर्मा	२९९
५.	देशदर्शन (१९८६-८७)	आशीष कुमार	३०२
६.	एक संकल्प दिवस	सुमन दुबे	३०५

युग -भारती

१.	जो घर फूँकै आपना...	नीरज कुमार	३०९
२.	'तरुण-भारती' से 'युग-भारती' तक	वीरेन्द्र त्रिपाठी	३११
३.	एक पीढ़ी की छटपटाहट	अनिल महाजन	३१३

विविध

१.	प्रेरणा	विक्रम शहाणे	३१९
२.	हिन्दुत्व और भारत	जे. पी. श्रीवास्तव	३२१
३.	बाती अभी भी गीली है...	ओमशङ्कर	३२५
४.	मैं अमा का दीप...	ओमशङ्कर	३२५
५.	छात्राणां जीवनम्	गणेश शंकर वाजपेयी	३२६
६.	कल्पना शाश्वत राष्ट्र की	ब्रजेन्द्र सिंह यादव	३२७
७.	चरैवेति-चरैवेति	प्रवीण कटियार	३२९
८.	सफलता का रहस्य - संकल्प शक्ति	अतुल श्रीवास्तव	३३१
९.	राष्ट्र चैतन्य के प्रतीक - राम	मनोज राजपूत	३३३
१०.	ईश प्राप्ति का एकमेव मार्ग : आत्म साक्षात्कार	दुष्यंत सिंह	३३४
११.	दीनदयाल विद्यालय	के. आर. गोपालकृष्णन्	३३५
१२.	कर्म ही जीवन है	आशुतोष द्विवेदी	३३६
१३.	शिक्षकों का स्वधर्म	महादेवी वर्मा	३३७
१४.	शिक्षा हमारे देश की	ओमशङ्कर	३३८
१५.	आत्म वेदना किंवा...	दिनेश सिंह भदौरिया 'प्रस्तर'	३४२

नीराजकों से

✍ चन्द्रपाल सिंह

रजय जयन्ती वर्ष का यह मेरा उद्‌बोधन स्यात् अन्तिम हो। पता नहीं इन उद्‌बोधनों का लाभ तुम्हें कितना मिला? इस विद्यालय को स्थापित हुए पच्चीस वर्ष हो रहे हैं। कदाचित् तुम्हें पता हो कि स्वर्गीया महीयसी बूजी (स्व. बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह की धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला जी) ने जब इस विद्यालय का स्वप्न संजोया था, तो कहा था, 'दीनदयाल जी तो चले गये, पर उनकी स्मृति में स्थापित इस विद्यालय से अनेक दीनदयाल निकलेंगे'। उन सैकड़ों तरुणों में से, जो इन विगत २५ वर्षों में इस विद्यालय से निकले हैं, कुछ तो अवश्य ऐसे हैं जिनमें अपनी आजीविका कमाने के साथ निष्काम भाव से समाज की, राष्ट्र की सेवा करने की भावना है। दीनदयाल जी की प्रतिमा की स्थापना के लिए विद्यालय के पुराने छात्रों ने जुट कर जिस प्रकार आपस में तथा समाज में स्वयं घूम कर धन संग्रह किया है वह स्तुत्य है। इसी प्रकार उन्होंने जिस प्रकार विद्यालय के क्रीड़ा-संकुल (स्टेडियम) की योजना तैयार की है तथा विदेशों में स्थित अपने पूर्व सहपाठियों से सम्पर्क स्थापित किया है, जिस प्रकार 'नीराजन' के विशेषांक के लिए विद्वानों, समाजसेवियों, नेताओं, तथा प्रतिष्ठित नागरिकों से लेख एवं उनके अभिमत प्राप्त किये हैं अथवा व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से विज्ञापन माँगे हैं, वह उनकी कर्मठता तथा ध्येयवादिता का सूचक ही कहा जायेगा। जो काम उनके आचार्यों अथवा प्रबन्ध समिति के सदस्यों को करना था उसे रात-दिन जुटकर हमारे जिन तरुण पूर्व छात्रों (जिनमें कई डाक्टर, इंजीनियर, अध्यापक अथवा व्यवसायी हैं) ने किया है, उनमें मुझे तो सचमुच भावी दीनदयालों के दर्शन हो रहे हैं। यदि कोई कमी है तो वह हम आचार्यों में है जो अपने आचरण से उन्हें अनुप्राणित नहीं कर पाते। जितने समय तक हम विद्यालय की स्थापना के समय के ध्येयवाद, बैरिस्टर साहब तथा बूजी के स्वप्न की ताजगी तथा संस्थापक आचार्यों द्वारा पोषित संस्कारक्षम वातावरण की रक्षा करते रहेंगे, इस विद्यालय से दीनदयालों के निकलने की हमारी आशा अक्षुण्ण बनी रहेगी।

ध्येयसिद्धि के लिये उसपर अपनी श्रद्धा चाहिये। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में सहस्त्रों उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकता। अपने सामने एक ही लक्ष्य रख कर उसकी प्राप्ति के लिये अपना सब-कुछ न्यौछावर करना पड़ता है। श्रद्धा और विश्वास से अपने सामने रखा हुआ एकमात्र लक्ष्य प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहना सफलता की कुंजी है। एक बार विचारपूर्वक अपना लक्ष्य और उसकी पूर्ति के साधन निश्चित हो जाने पर उस पर अटल श्रद्धा रखनी चाहिये। अपने लक्ष्य पर श्रद्धा और हृदय में लक्ष्य के प्रति अव्यभिचारी निष्ठा के बिना हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कदापि नहीं कर सकेंगे।

(श्री गुरुजी : समग्र दर्शन)

अपनी बात

जल उठना ही तुम्हारे अस्तित्व की शपथ है

✍ ओमशङ्कर

सम्पादकीय लिखना सम्पादक का अधिकार है जिसका संवरण कर मैं अपना त्याग प्रदर्शित कर सकता हूँ। पर वह संपादक का कर्तव्य भी तो है जिससे च्युत होना ठीक नहीं। लेकिन जहाँ जीवन का कारण ही सूर्य से प्राप्त ऊर्जा हो और सम्पूर्ण जगत ही उसके प्रत्यक्ष, परावर्तित या संचित प्रकाश से प्रकाशित हो तो एक दीपक का अपने प्रकाश की अलग पहचान बनाने का आग्रह बालहठ ही माना जायेगा। तथापि आने वाली रात्रि को प्रकाशित करने हेतु सान्ध्य से जल उठने के अपने उद्देश्य से वह विरत नहीं हो सकता - 'दीपक चाहे छोटा हो या बड़ा, सूर्य जब अपना आलोकवाही कर्तव्य उसे सौंप कर चुपचाप डूब जाता है तो तब जल उठना ही उसके अस्तित्व की शपथ है, जल उठना ही उसका जाने वाले को प्रणाम है (महादेवी वर्मा)'। परन्तु मात्र एक रूपक की पूर्णता दिखाने अथवा एक प्रेरक वाक्य उद्धृत करने के लोभ में मैं शायद बहुत आगे की बात कह गया हूँ। अभी तो सूर्य उपस्थित है, अपना प्रकाश देने को तत्पर है। अतः मैं एक अदना सा दीप उसी का प्रकाश आप तक पहुँचाकर संतुष्ट हो लूँगा। प्रस्तुत हैं 'नीराजन' के आद्य संपादक श्री ओमशंकर जी के विचार जो निश्चय ही 'युग-भारती' का पाथेय बनेंगे।

पच्चीस वर्ष पूरे हो गये। एक सम्पूर्ण मानव जीवन का चतुर्थांश। एक शती का प्रथम चरण। तुम्हारे आदर्शों की नीराजना करते हुए कई बार (शायद प्रायः ही) लगा कि बाती बुझ रही है। देखने पर यह भी लगा कि आरती-दीप अपने जीवन रस से भरपूर है। फिर ज्योति मद्धिम क्यों? क्या जीवन-रस बचा रखने का कार्पण्य-दोष गहरा गया है अथवा कुछ और..। यह 'कुछ और' संसार का बहुत बड़ा छलावा है। बड़े-बड़े गहरे गर्तों पर पर्दा डाले रहता है यहा खैर...

आज से ठीक तेईस वर्ष पहले नीराजन के प्रथम सम्पादकीय लेख में मैंने अपने कल्पना-क्षितिज पर कतिपय बिम्ब उभरते देखे थे, जिनमें कभी चन्द्रगुप्त तो कभी विवेकानन्द अपने अरुणिम कैशोर्य के साथ ऊर्जस्वित भावोर्मियों के सहारे संसार की क्रूरतम विद्रूपताओं से दो-दो हाथ करते हुए मन को मोह रहे थे। मन होता भी तो बड़ा निकम्मा है। करना कुछ नहीं और साध त्रैलोक्य-विजय की। कुछ ऐसी ही मानसिक लहरों के सहारे यहाँ तक आ पहुँचा। पच्चीसवीं वर्षगाँठ। उन्नीस सौ सत्तर की दूधिया किलकारियाँ आज अपने गम्भीर मेघ-निर्घोष स्वर में परामर्श किंवा चेतावनी देने लगी हैं। आकलन करो अपने कर्म का। थाहो अपने विवेक को और बताओ कि आगे क्या करना है। एक झटका सा लगा। फिर सोचकर बोला, क्या पीछे सब कुछ किया जा चुका है, जो आगे की तैयारियों की चिंता की जाये। क्या 'पीछे' को भूलकर 'आगे' को ही सँवारने का मिथ्या

रंजन करते रहना है? मुझे तो विश्वास है कि 'पीछे' (परम्परा) की प्रेरणा ही 'आगे' का पाथेय होती है। आज मैंने अपने जीवन-दीप का पूरा स्नेह भले ही अपने आराध्य की नीराजना में न जलाया हो, किन्तु तुम्हारी मोहक छवि पर अपने समस्त भाव-साम्राज्य को न्योछावर कर दिया है। इसीलिए तुमसे कहना चाहता हूँ कि मेरी असफलताओ को सोपान बनाकर निष्ठुर भाव से ऊपर, और ऊपर चढ़ते चले जाओ। अवसर बार-बार नहीं आते। मैं शिक्षक तुमको सहारा देने के लिए एक उत्तुंग शिखर के मार्ग पर उगे हुए झाड़-झंखाड़ की तरह था, हूँ और जीवन पर्यन्त रहना चाहता हूँ। तुम उनको पकड़ो, उन पर पैर रखो, उनको धक्का दो और शिखर के चरम बिन्दु को प्राप्त करो।

यही मेरी अभिलाषा है। मैं चाहता हूँ, जहाँ-जहाँ मैं असफल रहा, वहाँ की सफलता तुम्हारे चरणों पर लोटे। जो कुछ मेरी सीमा से परे रहा, वह तुम्हें हस्तामलकवत् उपलब्ध हो। और जहाँ मेरी कल्पना भी नहीं पहुँच पायी, उस मेरे अनजाने क्षितिज की भूमि तुम्हारी अभिसारिका बने।

आज अपना हृदय खोलकर तुम्हें बता दूँ कि मैं सचमुच में सामान्य स्तर का एक कामचलाऊ अध्यापक मात्र था। जो कुछ भी मेरी मति और गति बनी, उस सबकी प्रेरणा तुम थे। आज मैं अपना सर्वस्व (वैसे मेरे पास था या है ही क्या?) समर्पित कर नितान्त रीता होने को ललक रहा हूँ। मेरा यह रीतापन अभाव का नहीं हल्केपन का होगा। और यही हल्कापन मेरा अपना प्राप्तव्य होगा। हर शिक्षक का होना चाहिए।

विद्यालय कारखाने नहीं होते। वे जाग्रत उपासना केन्द्र होते हैं। यहाँ राष्ट्र देवता का प्राणवान विग्रह प्रस्थापित रहता है। उसे देखो, पूजो, उससे प्रेरणा लेकर विश्व की पीड़ा हरो। यही अपने विद्यालय की सार्थकता होगी। अपनी शक्ति, तथा समस्त सम्पदा इसी राष्ट्रदेव के चरणों पर समर्पित करने का यही सही अवसर है। इसे गँवा देना, और कोरे बयानों के शोर में अपनी आवाज को भी खो देना, अभी शायद तुम्हें बुरा न लगे, किन्तु तुम्हारे प्रति आशा भरी निगाहों से देखने वाले वे परिचित चेहरे तथा अंतरिक्ष में समाई सूक्ष्म आत्मायें इसे देख अवश्य रही होंगी। मेरा विश्वास है और तुम भी विश्वास मानो, उनकी दृष्टि सुदूर अरुणिम भविष्य को देख रही है और तुम्हारी कर्मशीलता को अपनी साधना से सींच रही है।

अस्तु मैं थका नीराजक आज अपना नीराजना-दीप और वन्दना का स्वर तुम्हें सौंपता हूँ। इसे अनन्त काल तक प्रज्वलित रखते हुए विश्व मण्डल को भासमान करने की शपथ लो और मुझे विदा दो।

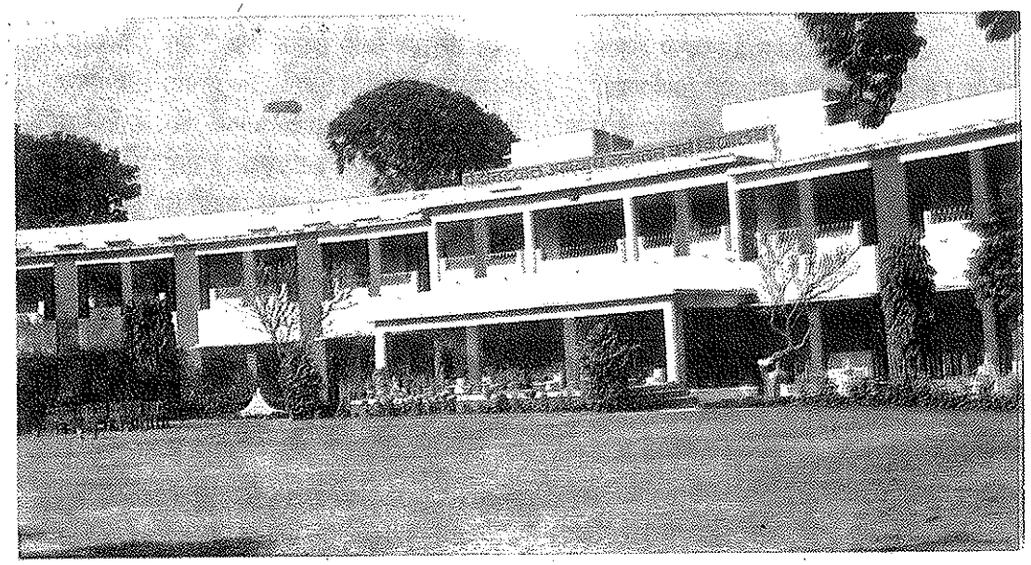

अपनी-अपनी दृष्टि

दीनदयाल विद्यालय की विशेषता

✍ बैरिस्टर साहब

यह विद्यालय, १९६८ में दीनदयाल जी की हत्या के बाद, माननीय भाऊराव जी देवरस, जिनको अभी हाल ही में हम लोगों ने खो दिया है, की प्रेरणा से प्रारम्भ हुआ था।

उस समय यह देखा जाता था कि अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों की होड़ लगी हुई है और हमारा समाज उन्हीं के पीछे दौड़ रहा है क्योंकि उसे अच्छे स्तर के हिन्दी माध्यम के विद्यालय नहीं मिलते। हिन्दी माध्यम के विद्यालयों में यह आम शिकायत रहती थी कि वहाँ पढ़ाई नहीं हो रही है, अनुशासन की कमी हो गई है। जिस प्रकार की शिक्षा, जिस प्रकार की नैतिकता का शिक्षण होना चाहिये, उसका अभाव है। इस कारण हिन्दी माध्यम के विद्यालयों की छवि गिरी और अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय खूब पनपने लगे थे। उस समय हम लोगों ने यह विचार किया कि हिन्दी माध्यम का एक ऐसा विद्यालय खड़ा करना चाहिये जो एक प्रकार का आदर्श रख सके और वह एक ऐसे आदर्श व्यक्ति के स्मारक के रूप में चलाया जाये जिस का महत्व न केवल उसके ज्ञान के कारण बल्कि उसकी तपस्या, त्याग, उसके मृदु व्यवहार, उसकी अहंकार शून्यता के कारण हो। तपस्या, त्याग, सादगी, यज्ञभावना, कर्मठता और समाज के प्रति अपने आपको समर्पित करना आदि हमारी संस्कृति के मूल आधारों के अनुरूप जिसने अपना जीवन बनाया हो, ऐसे एक मनीषी पं. दीनदयाल उपाध्याय के स्मारक के रूप में यह विद्यालय खड़ा किया गया।

यहाँ के परीक्षाफल लगभग सदैव शत प्रतिशत रहे हैं और लगभग सभी छात्र प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए हैं। किन्तु मात्र अच्छा परीक्षाफल पर्याप्त नहीं है, ऐसा हम लोग समझते हैं। हमारे छात्रों में चारित्रिक विकास हो, उनके अन्दर भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा हो, ईश्वर में विश्वास हो, कर्मण्यता की भावना हो, वो अपनी सारी शक्ति को राष्ट्र की सेवा में लगाने के लिए तत्पर हों, ऐसी भावनाओं को जाग्रत करने का भी प्रयास हम करते रहे हैं।

मुझे विश्वास है कि हमारे विद्यार्थी आगे चलकर, समाज के पुनर्जागरण में, उसको चारित्रिक आधार देने में, सफल योगदान दे सकेंगे।

आज अच्छे विद्यालयों की बहुत कमी है। यहाँ छठी कक्षा में प्रवेश के समय तो एक प्रकार से बड़ी मुसीबत आ जाती है। इस बार १८०० छात्रों ने प्रवेश परीक्षा दी जबकि हमारे यहाँ केवल ६० स्थान थे। हम लोगों के पास इतनी शक्ति और साधन तो है नहीं कि दीनदयाल विद्यालय-जैसे अनेकों विद्यालय खड़े कर सकें। इस समस्या का हल तभी होगा जब पुराने विद्यालयों में ही उचित वातावरण और शिक्षा का प्रारम्भ होगा। एक सुझाव मेरा उनके लिए यही है कि जो बिना वित्तीय सहायता के विद्यालय चलाना चाहते हैं, उनको अवसर दें। जैसे यह दीनदयाल विद्यालय वित्तविहीन है और अच्छे ढंग से चल रहा है। बी.एन.एस.डी. शिक्षा निकेतन हमारी ही संस्था का एक और विद्यालय है। वह भी अच्छा चलने लगा है। यह सोचने की बात है कि वित्त-विहीन विद्यालय अच्छे चल रहे हैं और जिनको सरकार सारी सुविधायें, सारा अनुदान देती है, सारा वेतन देती है, वे विद्यालय अच्छे नहीं चल रहे हैं। ऐसा क्यों? यह विचारणीय विषय है। मुझे विश्वास है कि हमारे नीति निर्माता इस पर ध्यान देंगे और वित्त-विहीन-विद्यालयों को प्रोत्साहन देंगे। साथ ही उनको थोड़ी बहुत छूट भी देंगे समुचित ढंग से विद्यालय चला सकने की। तभी हिन्दी माध्यम के अच्छे विद्यालय खड़े हो सकेंगे।

☐ नीराजन, १९९३-९४

मेरा विद्यालय

✍ अयूब अली

जिस प्रकार कुम्हार अपने बर्तनों की रचना करते समय मिट्टी को अपनी इच्छानुसार आकृति प्रदान करता है, ठीक उसी प्रकार यदि हम अपने बच्चों के भविष्य के प्रति जागरूक हैं तो हमें चाहिए कि उनकी शिक्षा का प्रबन्ध उचित विद्यालयों में किया जाए। वैसे तो हमारे शहर में कॉन्वेन्ट से लेकर बेसिक शिक्षा प्राइमरी स्कूलों तक की भरमार है परन्तु हमको अपने विवेक से यह सोचना होगा कि हमारा बच्चा किस विद्यालय में अध्ययन करे।

मेरा पूर्व विद्यालय (पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय) छात्रों के बहुमुखी विकास के लिए एक उचित स्थान है। जैसा कि सर्वविदित है इसका स्व० पं० दीनदयाल की स्मृति में निर्माण करवाया गया है। इसलिए इसमें पं० जी के आदर्शों को जीवन में उतारने की शिक्षा दी जाती है ताकि हमारा जीवन जन-कल्याण हेतु लगे। इस वर्ष हम विद्यालय की रजत-जयन्ती मना रहे हैं तो यह बताना सर्वथा उचित होगा कि हमारे विद्यालय ने विगत वर्षों में जितनी प्रगति की है; उसका श्रेय हमारे वर्तमान प्राचार्य श्री ओमशंकर त्रिपाठी जी को है। उन्होंने विद्यालय को इस प्रकार सींचा है कि उसमें अब फूल ही फूल उगते हैं।

हमारे प्राचार्य जी एक व्यक्ति मात्र नहीं अपितु स्वयं में एक संस्था हैं। उनकी कार्य प्रणाली और अनुशासन इतने प्रभावी हैं कि आज विद्यालय छोड़ने के दस वर्षों के बाद भी मुझे प्रभावित करते हैं। यहाँ पर मैं अपने प्राचार्य जी के एक वाक्य को रेखांकित करना चाहूँगा- 'हम एक टिमटिमाती लौ की तरह हैं, जो जब तक जलेगी, सही मार्ग दर्शन करती रहेगी, भले ही ज्यादा दिन तक न जले।'

मैं दावे से कह सकता हूँ कि मेरा विद्यालय प्रदेश का एक उत्कृष्ट विद्यालय है, जहाँ राष्ट्र निर्माण से लेकर भविष्य निर्माण तक के लिए सही मार्गदर्शन दिया जाता है और इस जीवन को श्रेष्ठ बनाने का अवसर प्रदान किया जाता है। हो सकता है तमाम लोग मेरे विचारों से सहमत न हों और उनको मेरा विद्यालय प्रेम समझ में न आये। उनके लिए मेरे कुछ शेर प्रस्तुत हैं-

'वैसे तो जिन्दगी में गिले-शिकवे कम न होंगे।
अफसोस कि दुनिया में कहने को हम न होंगे।
अयूब तेरी याद अब तलक न भुला पाया।
लगता है मरने पे भी अफसोस कम न होंगे।।'

अयूब अली : युग भारती; संप्रति रसायनज्ञ, कानपुर।

होनहार बिरवान के...

(विद्यालय-शिशु के प्रति महानुभावों के उद्‌गार)

आज अपने पुराने मित्र श्री चन्द्रपाल सिंह जी के सौजन्य से दीनदयाल उपाध्याय स्मारक विद्यालय देखने का अवसर मिला। कानपुर के प्रसिद्ध नागरिक श्री एवं श्रीमती नरेन्द्रजीत सिंह जी की उदारता, दानशीलता एवं देशभक्ति का यह विद्यालय ज्वलन्त प्रतीक है। प्रायः सभी बालक स्वस्थ, चुस्त, कुशाग्रबुद्धि एवं अनुशासित दिखाई पड़े और साथ ही साथ प्रसन्न, विनयी एवं संयमी। छात्रावास में जो स्वच्छता एवं मर्यादा का वातावरण दृष्टिगोचर हुआ, वह अपने ढंग की अनोखी वस्तु है।

अभी तो इस संस्था को कायम हुए मुश्किल से दो वर्ष हुए हैं। मुझे विश्वास है कि समय आने पर यह नन्हा सा स्कूल देश को सुदृढ़, समृद्ध एवं सशक्त करने में अपना योगदान देगा। मेरी शुभकामनायें संस्था के बालकों, अध्यापकों एवं प्रबंधकों के साथ हैं।

२६.६.७२

राधाकृष्ण अग्रवाल
कुलपति, कानपुर विश्वविद्यालय

मुझे दीनदयाल उपाध्याय स्मारक विद्यालय देखकर आश्चर्य मिश्रित हर्ष का अनुभव हुआ। मैंने थोड़े समय में यहाँ की गति-विधि देखकर यह अनुभव किया कि वस्तुतः राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था को सुप्रवर्तित करने की यही सही दिशा है। इस विद्यालय के द्वारा इसके मनीषी संस्थापकों ने शिक्षा के क्षेत्र में एक ऐसा प्रयोग किया है, जो सफल होकर हमारे देश के शिक्षा-शास्त्रियों को विवेक और आलोक प्रदान कर सकता है। इस विद्यालय के छात्रों का आचार और अनुशासन आदर्श है और यहाँ के अध्यापकों में अपने छात्रों के लिए आत्मदान की उत्कट आकांक्षा है।

मुझे विश्वास है, यह विद्यालय स्वर्गीय दीनदयाल जी की राष्ट्र-निर्माण की कल्पना साकार करेगा। इसके संस्थापक अभिनन्दन के पात्र हैं।

६.१.७३

चन्द्रप्रकाश सिंह
वरिष्ठ प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार

प्रिय चन्द्रपाल सिंह जी,

आपने मुझे अपने विद्यालय में आमंत्रित किया, इसके लिए मैं आपका तथा आपके विद्यालय की कार्यकारिणी का आभारी हूँ। मैंने आपके विद्यालय में १२.४.७३ को जो कुछ देखा, सुना और समझा उससे मुझे विश्वास है कि आपके विद्यालय का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है। आपने जो नया प्रयोग प्रारम्भ किया है, उससे शिक्षा क्षेत्र में लाभदायक परिवर्तन होने की आशा है। सादर,

१३.४.७३

श्याम नारायण मेहरोत्रा
शिक्षा निदेशक (माध्यमिक), उत्तर प्रदेश

मैंने १ दिसम्बर, ७३ को पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय (कानपुर) को देखा। हमारे देश में कुछ अच्छे पब्लिक स्कूल हैं जहाँ पर विद्यार्थियों को अच्छी शिक्षा के अतिरिक्त पाठ्येत्तर कार्यक्रमों में भाग लेने का अवकाश मिलता है। किंतु उन स्कूलों का वातावरण बिल्कुल अंग्रेजी होता है और वहाँ बालकों का विकास भारतीय संस्कृति के आधार पर नहीं होता। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि कानपुर में एक ऐसे विद्यालय की स्थापना की गयी है जहाँ पब्लिक स्कूल की अच्छाइयों के साथ भारतीय संस्कृति के आधार पर बालकों के विकास पर ध्यान दिया जाता है। यहाँ के आचार्य और अध्यापक सभी एक उच्च आदर्श को सामने रख कर कार्य कर रहे हैं। ये सब प्रसन्नता और धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे विद्यार्थियों को संबोधित करने का भी अवसर मिला। मैं विद्यालय के अनुशासन से बहुत प्रभावित हुआ।

मैं इस विद्यालय की उत्तरोत्तर उन्नति की कामना करता हूँ।

१.१२.७३

जयदेव सिंह
शिक्षाविद एवं दर्शनशास्त्री

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर को निकट से देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह अपने ढंग की एक विशेष संस्था है जो छात्रों को ज्ञानार्जन के लिए प्रेरित करने के साथ ही चरित्र निर्माण की प्रेरणा देती है। देश में ऐसे विद्यालयों की आवश्यकता है।

विश्वास करता हूँ यह विद्यालय ऐसे अनेक विद्यालयों की स्थापना की प्रेरणा देगा।

२०.३.७४

कृष्ण शंकर शुक्ल
साहित्यकार

आज अपराह्न मुझे पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय में आकर यहाँ की गतिविधि को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। भारत में प्रारम्भिक शिक्षा का जो आदर्श रूप हो सकता है, उसका जीता-जागता उदाहरण यह विद्यालय है।

भारतीय संस्कृति की नींव बचपन में ही बालकों के जीवन में पड़ जानी चाहिए। इस विद्यालय में यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो रहा है। इसके लिए विद्यालय के अधिकारी बधाई के पात्र हैं।

मुझे आशा है कि इस विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करके जीवन में प्रवेश करने वाले छात्र भारतीयता और भारतीय संस्कृति के ध्वज-वाहक बनेंगे।

२७.१.७६

डॉ० शम्भुनाथ सिंह
निदेशक, तुलसी पीठ,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

बूजी, बैरिस्टर साहब और दीनदयाल विद्यालय

कवीन्द्र रवीन्द्र के संदर्भ में महादेवी वर्मा अपने लेख 'प्रणाम' में कहती हैं, 'महान् साहित्यकार अपनी कृति में इस प्रकार व्याप्त रहता है कि उसे कृति से पृथक रखकर देखना और उसके व्यक्तिगत जीवन की सब रेखाएँ जोड़ लेना कष्ट-साध्य ही होता है। एक को तोलने में दूसरा तुल जाता है और दूसरे को नापने में पहला नप जाता है।' साहित्येतर क्षेत्र में भी यह बात महान् व्यक्तियों और उनके कार्यों के संबंध में सत्य ही सिद्ध होती है। इसके प्रत्यक्ष और निकटतम उदाहरण हैं- बूजी, बैरिस्टर साहब और दीनदयाल विद्यालय। विद्यालय की बात बिना बूजी अथवा बैरिस्टर साहब का नाम लिए शुरू नहीं हो सकती। और बूजी या बैरिस्टर साहब के बारे में कुछ कहें तो परस्पर उनका और विद्यालय का उल्लेख आ ही जाता है।

सेवा धर्म के एक आदर्श पुरुष श्री बैरिस्टर साहब अपनी पत्नी के आभूषण, अपने विवेक एवं पुरुषार्थ तथा धन आदि के साथ-साथ अपने सम्पूर्ण जीवन को सेवार्थ समर्पित कर धन्य हो गये। उन्होंने शिक्षा, संस्कृति आदि के विकास के लिए पं० दीनदयाल उपाध्याय विद्यालयादिक संस्थाओं को जन्म देकर महान सेवाकार्य किये जो अनन्तकाल तक समाज को अपना योगदान देते रहेंगे।

-स्वामी देवादास,
कर्णवास, बुलंदशहर

गीता में वर्णित जीवन मूल्यों एवं आदर्शों के अनुसार बैरिस्टर साहब ने अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का दृढ़ संकल्प बहुत पहले ही ले लिया था, और अपने अर्जित धन के एक बड़े भाग को समाजोपयोगी कार्यों में लगाना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी धर्म-पत्नी ने भी इस दिशा में उनका पूरा साथ दिया। पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म (उच्चतर माध्यमिक) विद्यालय, कानपुर की स्थापना एवं उसका सफल संचालन इसका एक प्रेरणादायक एवं अनुकरणीय उदाहरण है, जो उनके त्यागमय जीवन का द्योतक है।

-शिवशरण शर्मा,
पूर्व प्राचार्य, बी.एस.एस.डी. कॉलेज, कानपुर

बैरिस्टर साहब व बूजी की आकांक्षा थी कि संघ के आदर्शों के अनुरूप एक विद्यालय की स्थापना की जाये। ११ फरवरी,१९६८ को मुगलसराय में पं० दीनदयाल उपाध्याय की निर्मम हत्या कर दी गई। कानपुर में भी एक शोक-यात्रा निकाली गयी जिसमें बूजी भी सम्मिलित थीं। मार्ग में ही बूजी ने सबके समक्ष संकल्प लिया कि पंडित जी के नाम से एक विद्यालय की स्थापना की जाएगी। उनके संकल्प एवं गुरु जी की प्रेरणा से पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय की स्थापना हुई। बूजी ने अपना तन-मन-धन सर्वस्व इस विद्यालय के निर्माण में लगा दिया। विद्यालय का शिलान्यास व उद्घाटन गुरु जी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। बैरिस्टर साहब के मार्गदर्शन में इस विद्यालय ने न केवल प्रान्त वरन् पूरे देश में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है। इस विद्यालय में विद्यार्थियों का निर्माण संघ की विचारधारा एवं भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप होता है। प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर व चिकित्सा, अभियांत्रिकी आदि प्रतियोगिताओं को पार कर इस विद्यालय के अनेक पूर्व छात्र देश ही नहीं, विदेशों में भी उच्च पदों पर आसीन हैं।

-गुलाबदत्त त्रिपाठी,
पूर्व अध्यक्ष, रसायन विज्ञान विभाग,
बी.एस.एस.डी. कालेज, कानपुर।

पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय जहाँ स्वनामधन्य पं० दीनदयाल जी के आदर्शों का जाज्वल्यमान कीर्तिस्तम्भ है, वहीं माननीया बूजी और माननीय बैरिस्टर साहब के शिक्षा-प्रेम का चिरस्थायी

स्मारक भी। विद्यालय के विषय में वे अहर्निश विचार करते थे। मुहावरे की भाषा में कहूँ तो उनकी साँस-साँस में विद्यालय बसता था। इधर के वर्षों में मैं जब कभी उनके यहाँ जाता तो वे विद्यालय के विषय में वार्ता अवश्य करते। द्वादश कक्षा को मैं अंग्रेजी पढ़ाया करता था। पर जितने विद्यार्थियों के नाम मुझे याद रह पाते थे उससे कहीं अधिक बैरिस्टर साहब को याद रहते थे। वे नाम ले-लेकर छात्रों की प्रगति के विषय में पूछते, बोर्ड परीक्षा में पोज़ीशन की बात करते और विद्यालय के सर्वतोमुखी विकास की चर्चा करते। ३१ अक्टूबर १९९३ को उन्होंने अपना पार्थिव शरीर छोड़ा। यों मैं ३० को भी गया था, पर वे पूर्णतया अचेतन थे। इसके पहले मैं २५ को गया था तब वे काफी अशक्त थे। उन्होंने हाथ जोड़ कर नमस्कार किया था और अस्पष्ट वाणी में मुझसे यही पूछा था कि मैं विद्यालय जा रहा हूँ या नहीं। तभी तो मैंने कहा कि विद्यालय उनके हृदय की धड़कन था।

-जे. पी. श्रीवास्तव
पूर्व प्रवक्ता, बी.एन.एस.डी. इण्टर कॉलेज, कानपुर।

... पत्नी बैरिस्टर साहब को मिलीं 'बूजी' जैसी, जिन्होंने अपनी भावुकता, संवेदनशीलता, सादगी और त्याग से उनके सद्गुणों को परिपुष्ट ही किया। बूजी की आदर्श जीवन शैली का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि गांधी जी की हत्या के उपरान्त संघ पर प्रतिबन्ध लगने के कारण जितने दिन बैरिस्टर साहब जेल में रहे, घर पर बूजी ने भी उसी प्रकार का जीवन बिताया- भूमि पर सोना, रूखा-सूखा खाना इत्यादि। दीनदयाल जी को वे अपने छोटे भाई या पुत्र के सामन देखती थीं। दीनदयाल जी की मृत्यु पर मैंने उनको ऐसे व्यथित देखा जैसे परिवार का जवान भाई या जवान बेटा चला गया हो। तभी उन्होंने संकल्प लिया कि ऐसा विद्यालय बनाना है कि जहाँ दीनदयाल जी के विचारों का पल्लवन हो। इस काम के लिए उनके पास पर्याप्त धन भी नहीं था। यह ठीक है कि सम्पन्न थीं, लेकिन ऐसे तो कानपुर महानगर में इतने सम्पन्न लोग हैं, जिनके पास पैसा रखने का स्थान नहीं है। इतना पैसा अगर बूजी के पास होता तो जेवर बेचने की उनको आवश्यकता न पड़ती। गहना बेचा उन्होंने। कहा, 'विद्यालय बनना चहिए और यथा शीघ्र बनना चाहिए'। नियमित रूप से देखने आती थीं जब विद्यालय बन रहा था। प्रभु की इच्छा कि विद्यालय का पहला बैच भी उनके सामने नहीं निकल पाया। इस प्रकार बूजी की भावना के आधार पर विद्यालय का मूर्त रूप बना जिसमें प्राण और रंग भरने का काम बैरिस्टर साहब ने किया, जो शिक्षाविद् थे और शिक्षा जगत से जुड़े रहे थे।

एक बार बड़ी मजेदार बात हुई। हमारी प्रबन्ध समिति के सदस्य हैं- श्रीमान इन्द्रजीत जी जैन। उनसे जे०के० वालों ने सम्पर्क किया। जे०के० का विद्यालय तब तक नहीं बना था। उन्होंने उनसे कहा, 'जैन साहब, हम दीनदयाल विद्यालय जैसा एक विद्यालय बनाना चाहते हैं, कुछ हमारी मदद कीजिए'। जैन साहब बोले- 'अरे आप भवन बनवा दोगे, ज्यादा तनख्वाहें देकर अध्यापक पढ़े-लिखे ले आओगे, लकिन यह बात कहाँ से लाओगे'? तो वे बोले कि यह 'वह बात' क्या है? जैन साहब ने कहा कि यह तो मैं भी नहीं जानता लेकिन बात कोई जरूर है। अब बात तो हँसी की हो गई, लेकिन मैं गहराई से सोचता रहा कि बात कोई जरूर है। यह इन्हीं लोगों के तप की बात है। इनके चिन्तन की बात है। पं० दीनदयाल उपाध्याय जैसे व्यक्तित्व का नाम, बूजी का त्याग और इतने उच्चकोटि के दार्शनिक और समाजसेवी पूज्य गुरु जी के द्वारा शिलान्यास, हनुमान जी की मूर्ति की प्रतिष्ठापना और बैरिस्टर साहब के सतत चिन्तन का समर्पण। इन सारी बातों से जो परिणाम और निष्कर्ष निकल रहा है, वही 'वह बात' है जो लोगों की समझ में नहीं आती। इसका सूक्ष्मतर प्रभाव ही है जो विद्यार्थियों का चिन्तन बदलता है। यह रिजल्ट में समाहित नहीं होता। नौकरियों में समाहित नहीं होता। दीनदयाल विद्यालय इससे नहीं पहचाना जाता। दीनदयाल विद्यालय पहचाना जाता है विद्यार्थी के चिन्तन के प्रभाव से। उसके काम करने के तरीके के प्रभाव से। 'वह बात' से जो दीनदयाल विद्यालय को दीनदयाल विद्यालय बनाती है।

-ओम शंकर,
प्राचार्य, पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय कनपुर।

साधना-सिञ्चित वाटिका का सुमन-सौरभ

माननीय ओमशङ्कर जी,

गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी मुझे आपके विद्यालयीय सुमन के माध्यम से 'नीराजन, श्रद्धांजलि अंक' अवलोकन करने हेतु प्राप्त हुआ, जिसका एक-एक लेख मैंने ग्रीष्मावकाश में मैंने अध्ययन किया। प्रत्येक लेख का एक-एक शब्द जीवन दर्शन के लिए मंत्रवत् है। पं. दीनदयाल जी की स्मृति में श्रद्धेय बैरिस्टर साहब एवं उनकी धर्मपत्नी 'बूजी' की साधना राष्ट्रीयता, एकात्म मानववाद, हिन्दुत्व के पोषण - संवर्धन हेतु लगी है। आज दोनों प्राणी स्थूल रूप में न होकर भी कारण एवं सूक्ष्म शरीर के रूप में हमें सदैव प्रेरणा देते रहेंगे। मुझे प्रतीत ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि आपकी एवं बैरिस्टर साहब की साधना से सींची गयी वाटिका के पुष्पित-पल्लवित सुमन प्रचण्ड झंझावातों के बावजूद अपनी सुगंध से सम्पूर्ण विश्व व समाज को सुगंधित करेंगे।

मेरी मान्यता है कि भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता, गरिमा को विश्व भर में प्रसूत करने के लिए ही स्रष्टा ने भारत में अनेकानेक मनीषियों, ऋषियों, समाजसेवियों एवं अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र को देने वाले प्राणियों की रचना की है। परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की इस परम्परा में ही ईश्वर ने डॉ० हेडगेवार, गुरु जी, पं० दीनदयाल जी, बाला साहब, भाऊराव देवरस, बैरिस्टर साहब, बूजी, रज्जू भैया, सिंघल जी, नाना जी देशमुख जैसे अनन्त रत्नों की सृष्टि की जिनमें कुछ साकार रूप में अभी भी समर्पित भाव से सेवा कर रहे हैं व शेष अपने सूक्ष्म शरीर से। इसी संदर्भ में मैं माननीय शिवशरण जी शर्मा को नहीं भुला सकता क्योंकि उनके प्राचार्यत्व काल में मैं V.S.S.D. कॉलेज का छात्र रहा हूँ। प्रार्थना स्थल पर उनकी ओजस्वी वाणी जो प्रेरणा मुझे उस समय देती थी वही उनके नीराजन के लेख आज भी देते हैं। उसी कड़ी में आप के विद्यालय परिवार के पूर्व प्राचार्य ठाकुर चन्द्रपाल सिंह जी, जे.पी. श्रीवास्तव जी, आप, निश्छल जी, राजेश जी तथा अन्य सभी आचार्य हैं।

आप में तो मुझे श्री कैलाश नाथ 'बृहस्पति' की आत्मा दिखाई देती है जो उस समय S.D. कॉलेज में धर्मगुरु के रूप में प्रार्थना के बाद धर्म की धारणा और परिभाषा का अद्वितीय आख्यान करते थे। वैसे ही जैसे तुलसी की आत्मा के रूप परम श्रद्धेय श्री रामकिंकर जी उपाध्याय हैं। बैरिस्टर साहब के बारे में वाजपेयी जी की श्रद्धांजलि उल्लेखनीय है। जैसे गीता का प्रत्येक श्लोक-शब्द भारतीय जीवन दर्शन और संस्कृति के विषय में प्रत्येक विचारवान प्राणी का प्रेरणास्रोत है, उसी प्रकार नीराजन का ये श्रद्धांजलि अंक जो भी रखेगा,उसका स्वाध्याय करेगा, उसको सदा प्रेरणा देता रहेगा।

कानपुर, १६.६.९५

वंशलाल सचान, अध्यापक

हाथ कंगन को आरसी ...

प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली गुरुकुल परम्परा के रूप में रही है। तब गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का रूप आध्यात्मिक होता था। इसीलिए गुरुकुल में प्रवेश के समय से लेकर जीवन पर्यन्त शिष्य का सम्बन्ध गुरु एवं गुरुकुल से रहताथा। शिष्य कहीं भी, किसी भी स्थिति और रूप में रहे, उसकी प्रेरणा का केन्द्र गुरुकुल रहता था। आज गुरुकुल की परम्परा नहीं रही। विद्यालय शिक्षा के व्यवसाय-केन्द्र बन गये हैं। लेकिन कुछ विद्यालय आज भी ऐसे हैं जो इस आपाधापी के युग में भी, आदर्श शिक्षा-केन्द्र के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बनाये रखने का प्रयास कर रहे हैं। हमारे विद्यालय का भी यही प्रयास है कि हमारे यहाँ के विद्यार्थी कुछ ऐसे संस्कार लेकर विद्यालय से निकलें कि बाहर रह कर भी हमेशा विद्यालय से जुड़ाव अनुभव करें। उन्हें ऐसा लगे कि इस विद्यालय से मिले संस्कार जीवन के हर क्षेत्र में उन्हें सम्बल प्रदान करेंगे। विद्यालय के हर विद्यार्थी को पुत्रवत् स्नेह देने वाले प्रधानाचार्य ओमशंकर जी इस दिशा में सदैव ही सक्रिय रहे हैं। इसीलिए विद्यालय से अध्ययन पूरा कर के जाने वाले तमाम जागरूक विद्यार्थी उन्हें और विद्यालय को भूल नहीं पाते। परिणाम स्वरूप अनवरत रूप से पूर्व छात्रों के पत्र प्राप्त होते रहते हैं जिनमें विद्यालय की उन्नति से प्रसन्नता, कार्यक्रमों के प्रति उत्सुकता, अपनी प्रगति का विवरण, अपनी समस्याओं के समाधान की अपेक्षा, विद्यालय के संस्कारों के प्रति कृतज्ञता, देश-समाज के प्रति चिंता के साथ-साथ विद्यालय की उन्नति के अनेक सुझाव तथा विद्यालय हेतु समर्पण - सभी कुछ रहता है। साथ ही दिखाई देता है समाज की जड़ता, दुर्दशा को दूर करने का उनका उत्साह और संकल्प भी। इन पूर्व छात्रों के व्यक्तित्व और कृतित्व तथा इन पत्रों में व्यक्त भावनाएं ही विद्यालय की सफलता के सबसे बड़े प्रमाण हैं। ऐसे सभी पत्र यदि छापना हो तो एक संपूर्ण ग्रन्थ ही तैयार हो जाएगा। अतः अपने लोभ का संवरण करते हुए हम यहाँ कतिपय अंश ही प्रस्तुत कर सकते हैं।

'इंजीनियरिंग में प्रवेश हो गया' सुनकर ही मन में उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न आने लगे नाते-रिश्तेदारों ने भी शाबासी दी, मैं भी बड़ा खुश हुआ। इसी खुशी को सँजोये हुए जब मैं पहले दिन 'इंस्टीट्यूट' पहुँचा तो ऐसा लगा जैसे मैं किसी विद्यालय में नहीं परेड की सब्जी मंडी में खड़ा हूँ। मेरे अच्छे संस्कार, जिन्होंने मुझे अपने बड़ों का आदर करना और छोटों को प्यार करना सिखाया था, उस दिन हमारे तथाकथित 'सीनियर्स' की गाली गलौज और सड़क के आवारा लड़कों से गये-बीते विचारों को सुनकर, एकबारगी मेरा साथ ही छोड़ गये। मुझे ऐसा लगने लगा कि शायद दीनदयाल विद्यालय में पढ़कर मैंने गलती की, मुझे भी किसी 'स्कूल' में पढ़ना चाहिए था ताकि मैं उनके प्रश्नों का उचित उत्तर दे सकता।

मुझे वे दिन बरबस याद आने लगे जब हमनेअपने दिन खेलते-कूदते, आत्मीयता, आनन्द और प्रेम के बीच व्यतीत किये थे। हममें सीनियर और जूनियर का भेद न था। वहाँ एक आदर था, प्रेम था, जबकि यहाँ भय है, घृणा है, अनिच्छा है।

कैसा शांत वातावरण था वह ! ऐसा लगता था कि वातावरण खुद ही पुकार-पुकार कर पढ़ने की प्रेरणा दे रहा हो। एक वह वातावरण था जिसमें ऐसा लगता था कि आचार्यों और छात्रों का जन्म-जन्मांतर का साथ है। साथ-साथ हँसना, खेलना, खाना, बोलना और इस सबके बावजूद कक्षा में एक अनुशासित छात्र की भाँति पढ़ना। मेरा मन बार-बार ऐसे माहौल को दुबारा पाने के लिए बेताब हो उठता है। परन्तु लगता है कि शायद वह पुराना शालीन वातावरण व मृदुभाषी, आत्मीय आचार्य और वे प्रिय भाई अब मुझसे कोसों दूर छूट गये हैं और मुझे अपनी मंजिल अब इस पूर्णतः परिवर्तित हंगामी

वातावरण में अकेले तय करनी है। पूर्णतः अकेले।

१६८३ -प्रदीप शुक्ल, कानपुर

कल घोषित हुए हाईस्कूल परीक्षा के परीक्षाफल ने मन प्रफुल्लित कर दिया। अपने विद्यालय के होनहार छात्रों से मैं यही आशा एवम् विश्वास करता हूँ कि वे इसी प्रकार से विद्यालय का नाम रोशन एवम् हम सभी को गौरवान्वित करते रहेंगे। साथ ही पीछे आने वाले अपने छोटे छात्र भाइयों के लिए प्रेरणास्रोत भी होंगे। सर्वप्रथम इस अति सुन्दर परिणाम के लिए आपको ढेर सारी बधाइयाँ वास्तव में जिस विद्यालय का आप जैसे लोगों द्वारा संचालन हो रहा हो, उस विद्यालय का ऐसा परिणाम आना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मैं और मेरे परिवार वाले मेरे भाग्य को सराहा करते हैं कि मुझे आपकी देख-रेख में ऐसे विद्यालय में दो वर्ष अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। जब से परीक्षाफल सुना है, तब से ऐसा महसूस हो रहा है कि आपको एवम् अपने छात्र भाइयों को दौड़ कर बधाइयाँ दे आऊँ, परन्तु सी०पी०एम०टी० परीक्षा के नजदीक आते दिन मुझे विवश बना देते हैं...

१७-७-८४ - वारिज अग्रवाल, उन्नाव

मैं यहाँ सकुशल हूँ। सब कुछ ठीक-ठाक settle हो गया है। यहाँ आकर मालूम चल रहा है कि यहाँ कोई खास बात नहीं है। सब तरह की सुविधायें है, किन्तु भारतीयों के लिए इतना ही काफी नहीं है। हमारी सामाजिक परम्परायें एवं संस्कृति इन सारी सुविधाओं से अधिक महत्वपूर्ण हैं। यहाँ के लोग अति विशिष्ट नहीं हैं। उनका बौद्धिक स्तर हम से कहीं नीचे है। यहाँ के भारतीय अपनी मेधा एवं परिश्रम के बल पर अच्छे स्थानों पर हैं। हम लोग अपने देश में अधिक प्रसन्न एवं उन्मुक्त रहते हैं। यहाँ यद्यपि कहने को कोई वर्जना नहीं है किन्तु वास्तव में हम विदेशी भारतीय अनेक बन्धनों में जकड़े हैं। यहाँ बसे भारतीय अधिकांशतया इसलिए यहाँ हैं क्योंकि उनकी स्थिति बहुत कुछ 'साँप-छछूँदर' की है। यहाँ आकर लौटना मुश्किल हो जाता है। एक बार नौकरी कर लेने के बाद भारत वापस आने के मार्ग बन्द हो जाते हैं। यहाँ jobs इतने specialised हैं कि आदमी की भारत के लिए उपयोगिता शून्य हो जाती है। यहाँ रहना मजबूरी हो जाती है। वैसे यह इतना खराब भी नहीं है क्योंकि भौतिक सुविधायें एवं धन कई चीजों पर पर्दा डाल देते हैं और अन्तर्मन का दुःख भुलाने के लिए मदिरा का काम करते हैं। मैं समय रहते वापस लौटने का यत्न करूँगा। नीरज की कोई सूचना हो तो मुझे लिखियेगा। विवेक भागवत यदि विदेश जाने को उत्सुक हो तो उससे कहियेगा कि मुझे पत्र लिखे। प्रवीण भागवत के क्या हाल चाल हैं? उसकी तैयारी कैसी है?वह आई०आई०टी० की तैयारी कर रहा है या नहीं? उसको आई०आई०टी० में अच्छा करना चाहिए। पत्रोत्तर अवश्य दीजियेगा। भारत से पत्रों की हमेशा प्रतीक्षा रहती है।

१६-६-८६ -नवनीत, अमेरिका

प्रातः स्मरण और पूजा में आपकी कही हुई बातें ही मेरा आज मार्गदर्शन कर रही हैं। इसमें किंचित मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है। 'अपने शिक्षक स्वयं बनो' वाक्य मेरे लिए सर्वश्रेष्ठ प्रेरणाप्रद रहा है। यहाँ के छात्रावास का महत्व वास्तव में अब पता चला है। वैसे वातावर, दिनचर्या और तमाम न जाने कितनी बातों के लिए अब जिन्दगी भर तरसना पड़ेगा।

२८-१-८३ -प्रतीप, आगरा

आपके पत्र ने मुझे अपने जीवन के चार वर्ष पूर्व वाले वातावरण में पुनः ला खड़ा कर दिया है। आज मेरे मस्तिष्क पटल पर पूर्व सुस्मृतियाँ पुनः अंकित हो गयी हैं। आप महानुभावों के सान्निध्य व निर्देशन ने मुझे जो नये जीवन की दिशा दी है, उसको शायद सिर्फ मैं ही समझता हूँ। अपने पूज्य आचार्य राजेश जी, ज्ञानेन्द्र जी, प्रकाश जी, दीपक जी, बिहारीलाल जी, रामतीर्थ जी, महेश जी, जे०पी० जी, श्री नारायण जी, राजकिरन जी इत्यादि सब ठीक होंगे। सबको मेरा सादर प्रणाम।

४-११-८७ -वारिज, उन्नाव

शायद आपको न मालूम हो कि १ मई को ही मेरे बड़े भाई, जिनके साथ मैं लखनऊ में रह रहा था, उनका

ट्रेन एक्सीडेन्ट में निधन हो गया। यह खबर मुझे ३१ अप्रैल की रात को फोन पर पूना से, भाई साहब के हेडक्वार्टर से आयी। जब मैं फोन पर यह खबर सुन रहा था तभी मेरी माता जी और भाभी जी मेरे सामने ही खड़ी थीं। जब मैंने खबर सुनी तो मैं हक्का-बक्का ही रह गया। लेकिन फिर मुझे एक अजीब सा और अनोखा अनुभव हुआ। मैं नहीं जानता कि यह इस विद्यालय का संस्कार है जो मुझे शक्ति प्रदान कर रहा है या आपका दिया हुआ आशीर्वाद है जिसने मुझे यह साहस दिया कि मैं अपने सबसे प्यारे और बड़े भाई की मृत्यु की घटना को जीवन के एक हास्य की तरह झेल लूँ।

१-१-८७ **-अविनाश कुलकर्णी, नागपुर**

आपके पत्र से अवगत हुआ कि एक होनहार छात्र, गंगा की गोद में चिरनिद्रा प्राप्त करने वाले कई बालकों को बचाने के उद्देश्य से कालकवलित हो गया। यह घटना हृदय-विदारक तो है ही, साथ में गर्वित होने वाली भी। यह सूचना वास्तव में हृदय पर कुठाराघात करती है कि वह पुण्यात्मा अब हमारे मध्य नहीं। वह अब हमारे मध्य नहीं, यह बात सांसारिक दृष्टि से पूर्णतः सत्य व उचित है। उसके उस रूप को, उसके कार्यकलापों को, उसकी वाणी को अब हम न ही देख सकते हैं और न ही सुन सकते हैं। परन्तु उसकी मृत्यु का उद्देश्य उसको काफी लम्बे समय के लिए अमरता प्रदान कर गया, उसको जीवित कर गया। मरता तो प्रत्येक मनुष्य है, प्रत्येक जीवन का अन्त मृत्यु ही है परन्तु अधिकतर प्राणी मरने के लिए ही मरते हैं, या यूँ कहिये कि मृत्यु उनकी मजबूरी है। परन्तु परम सौभाग्यवश इस संसार में कुछ बिरले ऐसे भी हैं जो कि जीने के लिए मरते हैं, जिनकी मृत्यु उनको अमर जीवन प्रदान कर जाती है। ऐसे ही बिरलों में वह छात्र था। वह छात्र हमारे विद्यालय का था, हमारे बीच काफी समय रहा। यह सौभाग्य हमको गौरवान्वित करता है। परन्तु उन परिवार जनों से यदि पूछा जाये तो वो बेचारे शोकाकुल तो होंगे ही कि उनका लाड़ला बेटा उनसे सदैव के लिए दूर हो गया। ईश्वर उन लोगों को शक्ति दे कि वे इस असह्य दुर्घटना को सह सकें। हम सबकी सहानुभूतियाँ उन शोकग्रसित परिवार जनों को यह घात सहने में सहायता करें।

आप लोगों के आशीर्वाद से हम लोग भी कुछ करने में सक्षम हो सकते हैं। समाज में तमाम तरह की बुराइयों, भ्रष्टाचारों को देखकर किसका मन नहीं विचलित होता? लेकिन समाज क्या कर पाता है? इसको तो हम लोग रोज ही खुले आम देखते हैं। साथ के लोग भी दो पक्ष ही सोचते हैं- या तो सिर्फ पढ़ाई या सिर्फ खुराफात। क्या कोई ऐसी शिक्षा नहीं है इस देश में, जो पढ़ाई कराने के साथ-साथ अन्य तमाम बुराइयों को जड़ से समाप्त करने में सहायक हो सके? क्या अपने विद्यालयों में अध्यापक महानुभावों के अन्दर विद्यार्थियों के प्रति सच्ची आस्था है? वे लोग सिर्फ चॉक और डस्टर से ही अपना अध्यापन कार्य करके अपने को संतोष दिलाना चाहते हैं। इस समय अध्यापक और कक्षाओं में बैठे छात्र ही कुछ कर सकते हैं। नहीं तो जो हो रहा है वह होता ही रहेगा। आप लोग ही इस सन्दर्भ में बहुत कुछ कर सकते हैं।

६-१२-८७ **-मुकेश सिंह, लखनऊ**

विगत मास मैंने आपसे यहाँ के बदले उए परिवेश के विषय में चर्चा की थी। यहाँ विद्यालय के वातावरण तथा उसके सुसंस्कृत छात्रों का अभाव बहुत महसूस होता है। इस संस्थान के अधिकांश विद्यार्थियों के कोई सिद्धान्त नहीं तथा अपने विद्यालय के जैसे उच्चादर्शों से कोई भी परिचित नहीं है। अतः मैं अपनी तरह का अकेला छात्र पड़ जाता हूँ। यद्यपि इस कारण सभी मुझको व्यर्थ के तर्कों द्वारा व्यथित कर देते हैं परन्तु मैंने अपने सिद्धान्तों को कभी भी न त्यागने का निर्णय किया है। जब टीस कुछ अधिक हो जाती है तो यहाँ पर विद्यालय के अन्य छात्रों से मिलकर कुछ संतोष प्राप्त कर लेता हूँ। यही सोचकर स्वयं को सान्त्वना देता हूँ कि इन उदात्त संस्कारों को लेकर कई अन्य व्यक्ति समाज में अपना स्थान बना रहे हैं। वर्तमान परिस्थियाँ विषम हैं, किन्तु मैं अपने सिद्धान्तों से समझौता नहीं कर सकता। अतएव यदि आप प्रेरणा स्वरूप दो शब्द लिख सकें तो अति कृपा होगी। यहाँ जब भी किसी नई समस्या से मुकाबला होता है तो मैं सदैव यही सोचकर कार्य करता हूँ कि यदि आप इस परिस्थिति में होते तो क्या करते। आपने मेरे मन-मस्तिष्क में एक ऐसे आदर्श की प्रतिष्ठा की है जो अन्यत्र मिलना कठिन है।

२३-१-८८ **-अंशुल, का०हि०वि०, वाराणसी**

मेरा स्वास्थ्य ठीक है। अब लगभग दो महीनों से मैंने अपनी दिनचर्या निश्चित कर ली है। प्रातः जागरण के पश्चात् दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होकर व्यायाम करता हूँ। मुझे देखकर मेरे साथ के कई लोगों ने भी व्यायाम करना शुरू कर दिया है। आपके द्वारा दी जाने वाली चेतावनियाँ व सुझाव जिन पर पहले ध्यान नहीं दिया करता था, आज वही इस प्रकार के वातावरण में दृढ़ आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ने की शक्ति देते हैं। शाम को खेलता हूँ तथा खाली समय में पुस्तकालय से लायी पुस्तकें पढ़ता हूँ। धीरे-धीरे मुझे अपने अंदर परिवर्तन प्रतीत होने लगा है।

६-४-८८ **-पवन पाण्डेय, पंतनगर**

आपके द्वारा प्रदत्त शिक्षायें व आशीर्वाद हमें पग-पग पर सहारा प्रदान करते रहते हैं, जिससे मेरा मस्तिष्क आप सभी को स्मरण करता रहता है व हृदय धन्यवाद देता रहता है। मैं पं० दीनदयाल विद्यालय में गुजरे समय को अपना सबसे बहुमूल्य समय मानता हूँ। इसीलिए उसमें पल्लवित होने वाले पुष्पों व बागवानों के कुशल समाचार व उन्नति के विषय में जानने की बेहद जिज्ञासा रखता हूँ। हमारी आशा व विश्वास परसों का समाचार पत्र पढ़कर वास्तविकता में परिवर्तित हो गये, जब हमने अपने प्रिय भाई रंजन का नाम मेरिट लिस्ट में पढ़ा। पं० दीनदयाल विद्यालय का नाम देखकर हृदय इतना आह्लादित हो गया व मस्तक गौरव से उठ गया अवर्णनीय है। हमारे विद्यालय का नाम इसी प्रकार रोशन होता रहे। इसके गौरव की पताका हिमालय के शिखर पर लहराये। इसी प्रकार विद्यालय के छात्र विजय व सफलता अर्जित करते रहें। श्री हनुमान जी से यही कामना करता हूँ।

८-६-८८ **-वारिज अग्रवाल, बरेली**

आज भी आपके द्वारा बतायी गयी बातें अनायास ही याद आ जाती हैं। उन दो वर्षों में आपने मेरे मन में जिन नैतिक मूल्यों की स्थापना की है, उनका गहरा प्रभाव आज भी मस्तिष्क पर छाया हुआ है। किताबी ज्ञान देने वाले अध्यापक तो अन्यत्र भी मिल जाता करते हैं, परन्तु आपने भले-बुरे को परखने की जो तार्किक तथा वैचारिक विधि सिखायी, उसे बताने वाला और कोई न मिलेगा। विश्वास मानिये मेरे विचार अब भी वही हैं। आपके ग्राम-सेवा कार्यक्रम में चिकित्सा छात्रों के लिए स्थान हो तो अवश्य लिखिएगा।

३१-७-८८ **-अंशुल, का०हि०वि०, वाराणसी**

विद्यालय की इस वर्ष की उपलब्धियाँ देखकर मस्तक गर्व से ऊँचा हो गया कि मैंने भी इसी संस्था में आदर्श संस्कार पाये हैं। अपने आचार्यों से प्रदत्त ज्ञान का मैं जीवन पर्यन्त ऋणी रहूँगा। साथ ही साथ आपके उन प्रवचनों को कभी नहीं भूल सकूँगा जो अब व्यावसायिक शिक्षा के इस दौर में भी अपने व्यक्तित्व के विकास में बड़े ही महत्वपूर्ण सिद्ध हो रहे हैं। यहाँ के professors के व्यवहार को देखकर बरबस ही याद आ जाते हैं आप तथा अन्य आचार्यों का पुत्रवत् स्नेह व प्यार। याद आती है जागरण की प्रातः कालीन वेला। एकत्रित बैठकर एक साथ भोजन मंत्र करके भोजन करना। अब ये सभी चीजें तो स्वप्न हो गयी हैं। पहले जो बड़ी सहजता से प्राप्त था, अब दुर्लभ हो गया है। परन्तु फिर भी अपने पुराने संस्कारों को ही पाथेय मानकर अपने कर्तव्य-पथ पर आगे बढ़ता जा रहा हूँ। समयानुसार प्राप्त अनुभव उनकी सत्यता प्रमाणित करते ही रहते हैं। आपकी ही आज्ञानुसार अपने आत्म विश्वास के बल पर स्वयं निर्णय लेकर कार्य को प्रारम्भ करके अन्तिम क्षण तक उसे न छोड़ने का संकल्प लिया हैं। जागरण के समय में थोड़ी अस्थिरता है पर व्यायाम प्रति दिन करता हूँ। कुछेक छात्र भी प्रभावित होते हैं तो कुछ हँसी करने से भी नहीं चूकते। परन्तु वास्तविकता को वे भी समझते हैं।

५-८-८८ **-पवन पाण्डेय, पन्तनगर**

मैं कई दिनों से स्वयं को नितांत अकेला अनुभव कर रहा हूँ। अब आपके मार्गदर्शन के लिए आपका सान्निध्य नहीं रहा। मैं विभिन्न प्रकार के प्रश्नों से घिरा परेशान सा व्यक्ति हो गया हूँ। यद्यपि मैंने अपने आपको यहाँ व्यवस्थित कर लिया है पर यहाँ से स्वयं को जोड़ नहीं पा रहा हूँ मेरी आत्मा अन्यत्र ही रहती हैं। यहाँ की संस्कृति से मेरा स्वभाव मेल नहीं खाता। लोग मेरी

बातों का मजाक उड़ाते हैं। मैं सदैव ही अपने विचारों को फैलाने के लिए जगह ढूँढ़ता रहता हूँ। Ultimacly I find that I have come to । मेरे जीवन में सर्वाधिक सम्मान आपके लिए है। मैंने जो अपने जीवन के ७ साल विद्यालय में गुजारे हैं, वे मेरे जीवन के लिए हमेशा प्रेरणादायी हैं। वे मुझे पुनः पुनः नये विश्वास के साथ खड़े होने को कहते हैं, उठाते हैं, जगाते हैं। पर मन में अजीब सा भय आ गया है। यहाँ के विषयों का अध्ययन करना कोई बड़ी बात नहीं। जिस दिन मैं अपनी संपूर्ण शक्ति से जुट गया वह मेरे लिए कठिन नहीं होगा। पर मैं साधारण रूप में नहीं रहना चाहता। जीवन को किसी विशेष उद्देश्य के लिए मोड़ देना चाहता हूँ। यहाँ पर जो मित्र हैं वह भी पुराने जैसे हैं पर उनमें प्रतिभा अधिक होते हुए भी वे भावना में शून्य हैं।

१-४-६० **-सर्वेश अग्निहोत्री, रुड़की**

खेल आदि में व अन्य गतिविधियों में समान प्रगति के कारण अभी तक अपने बैच में मेरी स्थिति काफी सुदृढ़ है। अगर मैं इसे अगले दो सेमेस्टर तक बनाए रह सका तो मुझे कुलपति का स्वर्ण पदक भी मिल सकता है।

मेरी यही कोशिश रहती हैं कि मेरी सफलता मेरे अन्दर की आत्मा को अभिमानी न बना दे। आप लोगों के द्वारा दी गयी शिक्षा अब मेरे पग-पग पर मेरा मार्गदर्शन करती है। मेरा उद्देश्य यही रहता है कि मैं अपने विद्यालय की गरिमा को किसी भी प्रकार की ठेस न पहुँचने दूँ।

४-७-६० **-पवन पाण्डेय, पंतनगर**

मुझे तो लगता है, मेरी जिन्दगी प्रारम्भ ही विद्यालय से हुई थी। जीवन का अर्थ, उसका रहस्य, संघर्ष आदि सारे शब्दों का सरलीकरण मेरे लिए विद्यालय में ही हुआ था। लेकिन भगवान ने मुझे इतना अधिक संकोची, आत्मकेंद्रित और अंतर्मुखी बना डाला था कि वहाँ गुजारे ५ वर्षों में कभी आपसे बात तक न कर सका।

आपको शायद विश्वास न होगा, आज आपका दिवाकर वैसा नहीं है। आई०आई०टी० में उसकी एक विशिष्टता कायम है।

मुझे आज भी दुःख है कि मैं आपका सान्निध्य न प्राप्त कर सका। लेकिन आज अपने गुणों के आधार पर मैं अपने को आपसे बहुत अधिक जुड़ा पाता हूँ। आपकी एक-एक बात जैसे जीवन में उतरती जा रही है, बिना प्रयास किये। बस क्षोभ तब होता है जब विद्यालय में की गयी अपनी गलतियाँ याद आती हैं।

१२-७-६० **-दिवाकर दीक्षित, हरदोई**

आचार्य जी,

आपको याद होगा आपने कम्प्यूटर कक्ष हेतु A.C. के लिए बोला था। अगर लग गया हो तो ठीक है, नहीं तो जितना भी धन लगना है, समय निकालकर लिख दीजिए क्योंकि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं वो धनराशि अपने साथ लेकर आना चाहता हूँ।

७-३-६० **-अनित गर्ग, दिल्ली**

आपके द्वारा जो शिक्षा दो वर्षों में मिली, वो मेरे दो जन्मों के लिए काफी है। मेरा यहाँ सादा जीवन है। सामाजिक गतिविधियों में भी काफी रुचि है। अपने जैन युवा मंडल का प्रधान भी हूँ और एक संस्था को जीवदया का कार्य करता है, जो दुःखी लोगों के आँसू पोंछने का काम करती हैं- 'श्री आत्म वल्लभ जैन परमार्थ मिशन, रूप नगर, दिल्ली', उसका भी प्रधान हूँ।

जब कभी भी अतीत के पन्ने खोलता हूँ तो कानपुर की जरूर याद आती है। विद्यालय में गुजरे दो साल जीवन के श्रेष्ठ वर्षों में से थे। खैर, ...

४-५-६१ **-विनेश जैन, दिल्ली**

मैं आज भी गर्व करता हूँ कि मैं उस विद्यालय का छात्र रहा हूँ जहाँ पर केवल अंक प्राप्त करने की ही विद्या मात्र न देकर व्यावहारिक एवं सामाजिक ज्ञान का भरपूर समायोजन करते हुए छात्रों को भविष्य में स्वतः स्वावलम्बी बनने की दिशा प्रदान की जाती है।

स्वयं में मैं यह महसूस करता हूँ कि अगर उस विद्यालय के अध्ययन काल में मैं कुछ और सीखने या ग्रहण करने की क्षमता रखता होता तो शायद अपने जीवन पथ को और श्रेष्ठ बना पाता।

फिर भी मैं अपने पद के कार्यभार को एक गरिमा प्रदान करते हुए चला रहा हूँ, और भविष्य में भी आप सभी गुरुजनों की प्रेरणा को मस्तक पटल पर अंकित रख उसकी रूपरेखानुसार जीवन चलाने में प्रयत्नशील रहूँगा।

७-८-६१ **-अरविन्द सिंह, बलिया**

आपके द्वारा भेजी हुई रसीद भी मिली, जिसकी कोई जरूरत न थी। क्योंकि आपने जो कुछ भी सोचा-समझा होगा 'वही मेरे लिए सर्वप्रिय है। जिन छात्रों को वह राशि प्रदान की गयी है' उनकी प्रगति का ध्यान भी आपको ही रखना है। मैंने तो सिर्फ अपना कर्तव्य पूरा किया है।

७-११-६१ **-विनेश जैन, दिल्ली**

प्राचार्य जी जब मैं अपने घर लखनऊ पहुँचा तो मैंने पाया कि सभी मुझसे रुष्ट हैं केवल मेरे बड़े भैया को छोड़कर। कुछ मूक प्रदर्शन कर रहे थे। मेरी माता जी बड़ी दुःखी हैं। अपने घरवालों को मैंने समझाने की कोशिश तो की किन्तु उनकी समझ में नहीं आ रहा है। वे समझ रहे हैं कि जैसे मैंने कोई अपराध कर दिया हो। वे इस काम की महत्ता को नहीं समझ रहे हैं। वे ये सोच रहे हैं कि लड़का उनके हाथ से निकल गया। वे लोग हमसे ये कह रहे हैं कि तुमने जीवन का इतना बड़ा निर्णय (विवेकानन्द भारत परिक्रमा में संकल्प - ग्रहण) स्वयं कैसे कर लिया? क्या तुम अपने आपको इतना योग्य व इतना समझदार व बड़ा मानते हो कि अपने निर्णय स्वयं कर सको। मेरी माता जी बहुत रो रही थीं।

किन्तु प्राचार्य जी, इन सभी से मेरी इच्छा और प्रबल हुई है। मेरे अन्दर आत्म विश्वास बढ़ गया है किन्तु उत्साह में कुछ कमी आयी है। यदि घर वालों से सहायता मिलती तो उत्साह दूना हो जाता। मैं अपने निर्णय पर अटल हूँ किन्तु आप मेरा उत्साह बढ़ायें। आचार्य जी, मुझे मेरे घर से केवल मानसिक निराशा मिली है। यदि आशा है तो वो हैं आप और मेरे बड़े भैया। मुझे आशा है कि आप मेरा मार्गदर्शन अवश्य करेंगे।

४-४-६२ **-अरुण त्रिपाठी, लखनऊ**

यहाँ मैंने योग (डिप्लोमा) पाठ्यक्रम में प्रवेश ले रखा है जो एक अंशकालिक कोर्स है। इसके अन्तर्गत कई विभिन्न ग्रंथों तथा विषयों का अध्ययन करने का मौका मिला जैसे उपनिषद्, गीता, मनोविज्ञान, दर्शन, तर्क शास्त्र, आयुर्वेद, हठयोग, तन्त्र आदि। समकालीन दार्शनिकों (स्वामी विवेकानन्द, कृष्णमूर्ति, श्री अरविन्द) के विचारों से भी परिचय हुआ। मुझे लगता है कि न केवल जीवन को समझने में ही योग उपयोगी है, अपितु उसे आदर्श रूप से कैसे व्यतीत करना चाहिए, इसकी शिक्षा भी योग से ही मिलती है। अभी तक मैं योग का अर्थ मात्र योगासनों से समझता था परन्तु यह तो एक अत्यन्त व्यापक विद्या है जो मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को स्पर्श करती है।

२७-४-६२ **-अंशुल, वाराणसी**

हम लोग पुस्तकों में केन्द्रित हो जाना ही अपनी उपलब्धि मानते हैं। इसी कारण हम लोग administration services के मामले में अपने को काफी पीछे पाते हैं। अतः मैं अपेक्षा करता हूँ कि हमारे यहाँ के लोग आगे इस क्षेत्र में भी पदार्पण करें, ताकि दीनदयाल विद्यालय का नाम उ०प्र० के बाहर भी जाना और पहचाना जा सके।

२४-८-६३ **-आलोक पोरवाल, दिल्ली**

तरुण चेतना शिविर की सफलता और तरुण भारती की स्थिरता और दृढ़ता की कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि आपके निर्देशन में तरुण भारती निरंतर अग्रसर रहेगी और तरुण भारती के नये व पुराने सदस्य आपको पूर्ण सहयोग देते रहेंगे।

सितम्बर,१९९२ **-अनित गर्ग, दिल्ली**

आचार्य जी, मुख्य परीक्षा के फॉर्म में एक कॉलम 'hobby' का होता है। मुझे निराला जी की कवितायें पढ़ने में अपार आनन्द मिलता है जबकि मैं उन्हें शायद पूरी गहराई से समझ भी नहीं पाता। लेकिन मेरी अपार मानवतावादी सोच उन कविताओं से मेल अवश्य खाती है। जब भी किसी गरीब, बेसहारा व्यक्ति को देखता हूँ,

कुछ कर गुजरने की महत्वाकांक्षा कौंधने लगती है। आचार्य जी, यही मेरी संपूर्ण जिन्दगी है। मेरा कोई और लक्ष्य, कोई और मकसद नहीं। कभी-कभी सोचता हूँ कि शायद अधिक प्रौढ़ हो गया हूँ मैं?

आचार्य जी, मैं जानना चाहता हूँ कि क्या ऐसे लोग जीवन में कभी सफल हो पाते हैं? आचार्य जी, मेरी आदत है कि मैं किसी को भी अपने समकक्ष नहीं मानता। मेरे लिए समाज में सिर्फ दो समूह हैं। एक जिन्हें मैं ईश्वर तुल्य मानता हूँ, जिनके सामने मैं अपने अस्तित्व को भूल जाता हूँ और जिंदगी का मार्गदर्शन पाता हूँ और दूसरे वे जिनके लिए सिर्फ कुछ करने की इच्छा है। उनसे यदि कुछ मुझे मिलता है तो वह है आत्म संतोष। इन दोनों के ही साथ 'अहंकार' कभी बीच में नहीं आता।

१२-६-६४ -दिवाकर दीक्षित, दिल्ली

आपका पत्र मिला। पढ़कर बहुत प्रसन्नता हुई कि हमारे विद्यालय के और भी बहुत छात्र हैं मेरे साथ।

मैंने यहाँ पर २३ दिसम्बर १९९१ को report किया था और हमारे पूरे group में केवल दो कैडेट ऐसे थे जो U.P. board के थे। हमारा पूरा group २५० कैडेटों का है। हमें यहाँ पर अंग्रेजी वातावरण में पहले थोड़ी परेशानी हुयी (मैं अंग्रेजी बोलने में कमजोर था परन्तु लिखना तो अव्वल दर्जे का था)। मैं इस बात पर प्रकाश डालना चाहता हूँ कि जो छात्र यहाँ पर आना चाह रहे हैं, वे अपनी अंग्रेजी बोलने की जो हिचक है, वो दूर कर लें। परन्तु अपना जो अधिकार क्षेत्र था, हिन्दी की शैक्षिक योग्यता का, उसका मैं यहाँ पर चक्रवर्ती सम्राट हूँ। मैंने यहाँ पर हिन्दी साहित्य भी पढ़ा और ज्ञान का विकास किया। मेरे course mates से लेकर senior officers तक हिन्दी में जो भी चाहते हैं उसका उत्तर मैं उन्हें देता हूँ। गर्व होता है अपने आप पर, उन्हें गर्व होता है हम पर कि ऐसे वातावरण में रहते हुए भी मैंने हिन्दी का ज्ञान कहाँ से प्राप्त किया।

यहाँ पर खेलों को बहुत महत्व दिया जाता है। खासकर हॉकी, फुटबॉल, वॉलीबॉल और बास्केट बॉल। अगर आप विद्यालय में इन खेलों का अभ्यास करा सकें तो अत्यंत प्रसन्नता होगी। मैं यहाँ पर वॉलीबॉल सीखा और अब अपनी team का captain हूँ।

अपने विद्यालय के पीछे वाले swimming pool के क्या हालात हैं? क्या वहाँ पर तैराकी नहीं हो सकती है? ये सब वो चीजें हैं जो NDA के SSB में candidates से पूछी जाती हैं।

जो छात्र NDA में आना चाहते हैं, उनको एक लिखित परीक्षा पास करनी होगी और एक interview जो कि ६ दिन का होता है। वहाँ पर व्यक्ति विशेष में Leadership Qualities देखी जाती हैं। उसके पश्चात् Medical examination होता है। सब कुछ Clear हो फिर ३ साल की training के लिए NAD। उसके बाद जो Army में जाना चाहते हैं वे IMA Dehradun जाते हैं एक वर्ष की special traning के लिए । Airforce वाले AFC Hyderabad व Navy वाले Cochin जाते हैं।

१६-६-६४ -रजत पाण्डेय,
राष्ट्रीय रक्षा अकादमी, खड़कवासला

दीनदयाल विद्यालय के प्रथम पच्चीस वर्ष

बूजी के साकार होते स्वप्न

✍ चन्द्रपाल सिंह, संस्थापक प्राचार्य

मनुष्य की तुलना में संस्था का जीवन बहुत बड़ा होता है और पच्चीस वर्ष एक संस्था के लिए बहुत छोटी अवधि है। वैसे तो किसी भी संस्था का सम्पूर्ण जीवन महत्वपूर्ण होता है क्योंकि उससे अनेकानेक व्यक्तियों का जीवन निरन्तर प्रभावित होता रहता है। इसीलिए संस्थाओं के जीवन में रजत जयन्ती के बाद स्वर्ण जयन्ती और हीरक जयन्ती के बाद कौस्तुभ जयन्ती तथा उसके बाद शताब्दी वर्ष आते ही रहते हैं। परन्तु मनुष्य के जीवन की भाँति ही संस्था के प्रारम्भ के वर्ष अत्यधिक महत्व के होते हैं क्योंकि वही उसके भविष्य के स्थायी स्वरूप का निर्धारण करते हैं। लीक से हटकर, कोई विशेष उद्देश्य लेकर चलने वाली संस्थाओं पर यह बात और अधिक लागू होती है। ऐसी ही विशेष संस्था है अपना दीनदयाल विद्यालय जो पं० दीनदयाल उपाध्याय के आदर्शों पर बच्चों के जीवन को ढालने का विशेष उद्देश्य लेकर चल रहा है। इस विद्यालय में पष्ठ कक्षा में १०-११ वर्ष का बच्चा प्रवेश पाता है और लगातार सात वर्ष यहाँ पढ़कर, द्वादश कक्षा के बाद १७-१८ वर्ष के नवयुवक के रूप में यहाँ से निकलता है। इस बीच विद्यालय की जो छाप उस पर पड़नी होती है, पड़ जाती है। उस युवक को जीवन में जो कुछ बनना होता है, वह अगले १०-१५ वर्षों में बन जाता है अर्थात् कम से कम उसके भावी जीवन की दिशा निश्चित हो जाती है। अपने विद्यालय के प्रारम्भिक बैचों के छात्र, जो अब ३० वर्ष की आयु पार कर चुके हैं, अब इस कसौटी पर कसे जा सकते हैं। अतएव विद्यालय की उपलब्धियों की समीक्षा करने हेतु यह रजत जयन्ती वर्ष वास्तव में उपयुक्त अवसर है। जिस उद्देश्य से यह विद्यालय प्रारम्भ किया गया था, क्या वह पूरा हुआ? यदि हुआ तो किस सीमा तक? यदि कमी रही तो उसे कैसे पूरा किया जाए? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने का समय आ गया है।

प्रेरणा

पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय की स्थापना कानपुर में किन परिस्थितियों में हुई? उनको समझने के लिए अपने प्रेरणा पुरुष दीनदयाल जी का संपूर्ण जीवन देखना अनिवार्य है। दीनदयाल जी का जन्म २५ सितम्बर १९१६ को हुआ। उनके माता-पिता का देहावसान-तीन वर्ष की आयु में पिता का, फिर सात वर्ष की आयु में माता का- उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। उनका पालन-पोषण और पढ़ाई मामा-मामी के यहाँ हुई। मामा राजस्थान में किसी छोटे रेलवे स्टेशन पर स्टेशन मास्टर थे। अभाव और गरीबी में ही दीनदयाल जी का बचपन बीता। परन्तु थे वे अत्यंत कुशाग्र बुद्धि एवं मेधावी। हाईस्कूल और इण्टर की राजस्थान बोर्ड की परीक्षाओं में उन्होंने सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था। अतः उच्च कक्षाओं में छात्रवृत्ति पाते रहे। उन्होंने बी०ए० की परीक्षा सनातन धर्म महाविद्यालय, कानपुर से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। ममेरी बहन की बीमारी के कारण एम०ए० (अंग्रेजी), जिसके लिए सेंट जॉन्स कॉलेज, आगरा में प्रवेश लिया था, उन्हें छोड़ना पड़ा। प्रयाग से एल०टी० की। इसी बीच राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उत्तर प्रदेश के प्रान्त प्रचारक माननीय भाऊराव देवरस के सम्पर्क में आकर उन्होंने अध्यापक बनकर आजीविका कमाने तथा विवाह कर परिवार चलाने का विचार छोड़ दिया। और अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रसेवा में लगाने के उद्देश्य से वे संघ के प्रचारक हो गये। बाद में १९५२ में परम पूजनीय गुरुजी ने उन्हें भारतीय जनसंघ के संस्थापक श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी के सहायक के रूप में राजनीतिक क्षेत्र में भेज दिया। अपने परिश्रम, लगन एवं प्रतिभा के बल पर वे १९६७ में कालीकट अधिवेशन में जनसंघ के अध्यक्ष चुन लिए गये।

अभावों में पले परन्तु पूर्णतः राष्ट्र के प्रति समर्पित

इस उदीयमान व्यक्तित्व से राष्ट्र को बहुत सी अपेक्षाएँ थीं। परन्तु हमारे दुर्भाग्य से ११ फरवरी १९६८ को यह अजातशत्रु किसी राष्ट्रद्रोही षड़यन्त्र का शिकार हो गया। उनका मृत शरीर मुगलसराय रेलवे स्टेशन के निकट रेल लाइन के किनारे पड़ा मिला। सारा देश इस घटना से स्तब्ध रह गया। एक उठता हुआ, चमकता सितारा अकस्मात् बुझ गया। दीनदयाल जी बड़े ही मेधावी एवं स्वतंत्र चिन्तक थे। उनकी स्मृति को स्थाई बनाने हेतु कई उपक्रम चलाए गये। उनमें दो प्रमुख एवं बहुचर्चित हैं- नानाजी देशमुख द्वारा स्थापित दिल्ली का दीनदयाल शोध संस्थान और बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह की धर्मपत्नी सुशीला जी उपाख्य 'बूजी' द्वारा संकल्पित एवं स्थापित कानपुर का पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय।

दीनदयाल जी की स्मृति में यहाँ विद्यालय खोलना, जहाँ उन जैसे राष्ट्र के प्रति समर्पित छात्रों का निर्माण हो, ऐसा बूजी के मातृ-हृदय में भाव आया। जिसे उन्होंने अपने पति बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह के माध्यम से संघ के वरिष्ठ नेताओं जैसे प० पू० गुरु जी, भाऊराव देवरस आदि के समक्ष रखा। इन महानुभावों की सहमति और मार्गदर्शन मिलने पर श्री ब्रह्मावर्त सनातन धर्म महामण्डल ने, जिसके बैरिस्टर साहब अध्यक्ष थे, अपने द्वारा संचालित विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय के विशाल परिसर में ही विचाराधीन विद्यालय के भवन निर्माण हेतु वांछित भूमि दे दी। इस विद्यालय के भवन निर्माणार्थ चार लाख रुपये से अधिक का व्यय माननीया बूजी ने अपने निजी आभूषणों को बेच कर वहन किया। बूजी का कहना था, "दीनदयाल जी नहीं रहे, परन्तु उस क्षति की पूर्ति राष्ट्र को समर्पित दीनदयाल जी जैसे अनेक युवाओं का निर्माण करके इस विद्यालय द्वारा होगी।"

प्रारम्भ

इस प्रकार यह विद्यालय महामण्डल द्वारा प्रदत्त भूमि पर महीयसी बूजी द्वारा निर्मित भवन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की आनुसंगिक शैक्षिक संस्था विद्या भारती के आदर्शों को मूर्त रूप देने के लक्ष्य को लेकर कार्यक्षेत्र में उतरा। संघ के सरसंघचालक गुरुजी के करकमलों द्वारा विद्यालय के भवन का भूमिपूजन एवं शिलान्यास २३ फरवरी १९७० को शास्त्रोक्त विधि से सम्पन्न हुआ। विद्यालय की पढ़ाई का श्री गणेश १८ जुलाई १९७०, गुरुपूर्णिमा को खलासी लाइन्स (तिलक नगर) में स्थित सरस्वती शिशु मन्दिर के एक कमरे में हुआ। इसका सादा सा उद्घाटन माननीय भाऊराव देवरस द्वारा शिशु मन्दिर के विशाल कक्ष में सरस्वती पूजन के साथ सम्पन्न हुआ। उद्घाटन में भाऊराव जी के अतिरिक्त तत्कालीन संभाग प्रचारक (संप्रति महामंत्री, विश्व हिन्दू परिषद) मा० अशोक सिंहल तथा नगर के वरिष्ठ कार्यकर्ता श्री इन्द्रजीत जैन (विद्यालय प्रबन्ध समिति के वर्तमान उपाध्यक्ष) उपस्थित थे।

मैं उसी वर्ष कुँवरसिंह इण्टर कॉलेज, बलिया के प्रधानाचार्य पद से सेवनिवृत्त हुआ था तथा मा० रज्जू भैया को पत्र लिखकर मैंने अपनी सेवाएँ संघ को समर्पित कर दी थीं। उन्होंने मा०भाऊराव से परामर्श कर मुझे इस प्रस्तावित विद्यालय के प्राचार्य पद पर कार्य करने का सुझाव दिया, जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया, क्योंकि स्व० दीनदयाल जी से मैं पूर्व परिचित था। हरदोई में मैं १९४३ में राजा रुक्माङ्गद इण्टर कॉलेज में अंग्रेजी का प्रवक्ता था तथा वहाँ की संघ शाखा का कार्यवाह भी था। दीनदयाल जी बहुधा विभाग-प्रचारक की हैसियत से हरदोई आया-जाया करते थे तथा मेरे घर पर ही ठहरते थे। उनके मथुरा जनपद तथा मेरे आगरा जनपद का निवासी होने के कारण दोनों ही ब्रजभाषा-भाषी थे। अतः उनसे भावनात्मक निकटता का होना स्वाभाविक था।

इस प्रकार मैं दीनदयाल जी की स्मृति में स्थापित विद्यालय का प्रथम प्रधानाचार्य बन गया।

प्रारम्भ में केवल षष्ठ कक्षा थी जिसमें २४ छात्र थे और मुझे मिला कर तीन आचार्य। मेरे दो सहयोगी थे- श्री ओमशङ्कर त्रिपाठी तथा श्री प्रयाग सिंह। चित्रकला, भूगोल अथवा शारीरिक व्यायाम जैसे विषयों के लिए शिशु मंदिर के आचार्यों का सहयोग मिल जाता था। प्रार्थना शिशु मन्दिर के छात्रों के साथ ही होती थी। मैं भी शिशु मन्दिर के प्रधानाचार्य श्री मोहनलाल श्रीवास्तव के साथ उनके कमरे में ही बैठता था। विभिन्न वेलाओं की घण्टी हमारे विद्यालय तथा शिशु मन्दिर के लिए साथ ही बजती थी। अन्त में राष्ट्रगान 'वन्दे मातरम्' भी सम्मिलित ही होता था। अन्तर केवल हमारे छात्रों के वेश में था। उनका हाफ पैण्ट खाकी था, शिशु मंदिर के छात्रों का नीला।

प्रथम वर्ष (१९७०-७१) हमारे बच्चों का देशदर्शन मा० अशोक सिंहल के नेतृत्व में जाने वाले कुछ स्वयंसेवकों के साथ हुआ। विजयादशमी की छुट्टी थी। हम लोग बस द्वारा चित्रकूट गये और वहाँ जानकी कुण्ड आश्रम में तीन दिन रहकर हमने आस-पास के दर्शनीय स्थानों को देखा। इस प्रकार प्रतिवर्ष दशहरे की छुट्टी में हमारे छात्रों की देशदर्शन पर जाने की परम्परा बनी। शिशु मन्दिर के रंगमंच के कार्यक्रम में हमारे बच्चों ने भी ओमशङ्कर जी का लिखा हुआ 'प्रतिज्ञा' नामक एकांकी, जो शिवाजी के सेनापति ताना जी के शौर्यपूर्ण बलिदान पर आधारित था, मंचित किया। साथ ही भारतीय संसद के प्रश्नोत्तर काल का एक दृश्य प्रस्तुत किया जिसमें प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी की भूमिका शिशु मन्दिर की एक बालिका ने सफलता पूर्वक निभाई थी। हमारे यहाँ तो कोई बालिका थी नहीं। अन्य पात्र मन्त्री तथा सांसद हमारे बालक बने थे।

द्वितीय सत्र (१९७१-७२)

प्रथम वर्ष के अन्त में १८ मई १९७१ को श्री शन्तनु रघुनाथ शेण्डे मेरे सहयोगी बने। वे इसके पूर्व अरुणाचल प्रदेश में संचालित विवेकानन्द विद्यालयों में से एक के प्रधानाध्यापक पद पर रहे थे। वे बड़े ही परिश्रमी और लगन से कार्य करने वाले व्यक्ति थे। दूसरे वर्ष (१९७१-७२) विद्यालय अपने निर्माणाधीन भवन में आ गया। हमारे काम चलाने लायक कमरे बन गये थे। हमने इस वर्ष कक्षा ६ में दो वर्ग खोले। कक्षा ७ में एक ही वर्ग रहा, कक्षा ६ से प्रोन्नत छात्रों का। इस प्रकार हमने प्रतिवर्ष कक्षा ६ के दो वर्गों में प्रवेश लेने का नियम बनाया। ऊपर की कक्षाओं में रिक्त स्थान होता था तो बाहर के बच्चों को ले लेते थे। प्रारम्भ में एक वर्ग में २५-३० ही छात्र लेते थे, परन्तु आगे चलकर ४०-४५ तक लेने लगे। दूसरे सत्र (१९७१-७२) में कुल मिलाकर ८० छात्र थे, जिनमें १६ छात्रावास में रहते थे। छात्रावास अभी तक विद्यालय के नीचे के खण्ड के दो-तीन कमरों में था। ऊपर के खण्ड के बन जाने पर छात्रावास ऊपर के खण्ड में हो गया और विद्यालय नीचे के खण्ड में जिसमें २ कक्षा कक्ष, २ प्रयोगशालाओं के कक्ष तथा २ छोटे कमरे कार्यालय तथा प्रधानाचार्य के लिए थे। इतने ही कमरे ऊपर के खण्ड में थे जो छात्रावास के प्रयोग में आने लगे। मैं अभी निकट ही विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म कॉलेज के प्राध्यापक निवास में रहता था। अतएव मैं दिन में ही विद्यालय का शैक्षिक, अनुशासनात्मक तथा सांस्कृतिक कार्य देख पाता था। शेष समय छात्रावास का दायित्व ओमशङ्कर त्रिपाठी जी सँभालते थे। इसके अतिरिक्त भी मुझे श्री ओमशङ्कर त्रिपाठी का पूर्ण सहयोग मिला। विशेषतः विद्यालय की स्वतंत्र संस्कृत प्रार्थना, विद्यालय के ध्येय वाक्य (प्रचण्ड तेजोमय शारीरिक बल, प्रबल आत्मविश्वास युक्त बौद्धिक क्षमता एवं निस्सीम भाव सम्पन्ना मनःशक्ति का अर्जन कर अपने जीवन को निस्पृह भाव से भारत माता के चरणों में अर्पित करना ही हमारा परम साध्य है)तथा विद्यालय के प्रतीक (भारत के चित्र में पुस्तक के पीछे उगता हुआ सूर्य तथा धनुष पर शर सन्धान) के निर्धारण में उन्हीं का विशेष योगदान रहा। उनके ही प्रयासों से इसी वर्ष हस्तलिखित अंक के रूप में विद्यालय पत्रिका 'नीराजन' का प्रारम्भ हुआ जो तब से प्रतिवर्ष मुद्रित होकर प्रकाशित होती रही है। इसी वर्ष विद्यालय की पाठ्यक्रमेतर गतिविधियों के संचालनार्थ हमने बाल भारती का गठन किया।

बूजी उन दिनों प्रतिदिन भवन निर्माण का कार्य देखने आती थीं। कभी अकेली और कभी बैरिस्टर साहब के साथ। उका स्नेहपूर्ण व्यवहार छात्रावास में बच्चों को बरबस उनकी ओर आकर्षित करता था। दूर के जो बच्चे किसी त्योहार पर अपने घर नहीं जा सकते थे, उन्हें वे अपने घर ले जाती थीं और उन्हें भोजन कराती थीं। कभा-कभी नवाबगंज से चाट वाले या हलवाई को बुलाकर बच्चों को चाट, मिठाई खिलाती थीं। इस प्रकार वे इन बच्चों की दादी या नानी की भूमिका भी निभाती थीं।

बूजी ने हनुमान जी की एक भव्य कांस्य प्रतिमा लखनऊ के कला महाविद्यालय के प्राचार्य प्रसिद्ध शिल्पी महापात्र जी से बनवाई थी। वे हनुमान जी को छात्रों के लिए आदर्श देव मानती थीं। शारीरिक बल, बुद्धिबल तथा भक्ति आदि गुणों से सम्पन्न हनुमान को वे छात्रों हेतु प्रेरणास्रोत मानती थी। उनकी पूजा प्रातः-सायं छात्रावास के बच्चों हेतु अनिवार्य रखी गई। अतएव इस प्रतिमा की स्थापना विद्यालय के विशाल कक्ष में की गयी। मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा परम पूज्य गुरु जी द्वारा १२ फरवरी १९७३ को हुई। इस अवसर पर विद्यालय परिसर में ही एक सार्वजनिक सभा में परिपूर्ण मानव की

व्याख्या करते हुए उन्होंने दीनदयाल जी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला था।

तृतीय सत्र (१९७२-७३)

सत्र १९७२-७३ में हमारे विद्यालय को एक विशेष कोटि के जूनियर हाईस्कूल की मान्यता मिल गई। विशेष कोटि का तात्पर्य यह था कि हमारा विद्यालय विभाग के अन्य मान्यता प्राप्त विद्यालयों हेतु निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा, योग आदि जैसे अतिरिक्त विषयों तथा फोटोग्राफी, लक्ष्यभेद, संगीत, हस्तशिल्प आदि जैसी अभिरुचियों का भी प्रशिक्षण दे सकता था। सरकार से किसी आर्थिक सहायता का प्रावधान न होने के कारण तथा साथ ही अपने आचार्यों व कर्मचारियों को सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम वेतन देने की बाध्यता के कारण विद्यालय को छात्रों से अधिक शुल्क लेने का अधिकार भी दिया गया। अधिक शुल्क से अधिक आय होने पर उसे विद्यालय के विकास में खर्च करने का अधिकार भी विशेष मान्यता में शामिल था।

इसी वर्ष हमने अपने विद्यालय का प्रथम वार्षिकोत्सव भी आयोजित किया जिसके मुख्य अतिथि के रूप में हमने प्रदेश के शिक्षा निदेशक डा० श्याम नारायण महरोत्रा को आमन्त्रित किया। वे हमारे बच्चों के शारीरिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। बाद में अपने पत्र में उन्होंने हम सबको विद्यालय के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आश्वस्त किया। परन्तु उस उज्ज्वल भविष्य के आने से पूर्व ही दिनाङ्क २ मई १९७३ को हमारे विद्यालय की संरक्षिका तथा बच्चों की स्नेहशीला 'बूजी' परलोक सिधार गई। बच्चे, युवक, बूढ़े जो भी उनके सम्पर्क में आये थे वे उन्हें कभी भूल नहीं सके।

इस सत्र में डा० मेहरोत्रा के अतिरिक्त कानपुर विश्वविद्यालय के कुलपति श्री राधाकृष्ण, सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं संगीत शास्त्र के जाने-माने विद्वान ठाकुर जयदेव सिंह तथा मगध विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह भी विद्यालय में आये, छात्रों को संबोधित किया तथा हमारी अतिथि पुस्तिका में अपना अभिमत अंकित किया।

इसी वर्ष हमने अपनी वार्षिक पत्रिका 'नीराजन' का प्रथम मुद्रित अंक प्रकाशित किया जिसके सम्पादन का कार्य श्री ओमशङ्कर त्रिपाठी ने बड़ी कुशलता से सम्भाला।

विशेष कोटि की मान्यता मिलते ही हमने १९७५ की हाईस्कूल परीक्षा के लिए परिषदीय मान्यता प्राप्त करने हेतु दौड़धूप प्रारम्भ कर दी थी। वह मान्यता हमें उत्तर प्रदेश के तत्कालीन संयुक्त शिक्षा निदेशक श्री हरिशंकर शर्मा के सहयोग से शीघ्र प्राप्त हो गयी। श्री शर्मा अब निकट ही रहकर विद्यालय की प्रबन्ध समिति के सदस्य हैं।

गौरवशाली इतिहास का आरम्भ

सत्र १९७४-७५ हमारे लिए बड़ा महत्वपूर्ण था क्योंकि इस वर्ष हमारे छात्र हाईस्कूल परीक्षा में बैठने वाले थे। इस कक्षा को प्रारम्भ से ही अंग्रेजी मैंने, हिन्दी ओमशङ्कर जी ने तथा गणित प्रयाग सिंह जी ने पढ़ाई थी। ओमशङ्कर जी ही प्रारम्भ से इस छात्र समूह के कक्षाध्यापक थे। वे इनकी सम्पूर्ण पढ़ाई तथा प्रत्येक विषय की प्रगति में रुचि लेते रहे थे। अतः १९७५ के परीक्षा परिणाम को जानने की हम तीनों को विशेष उत्सुकता थी। मेरे स्थान के लिए तो १९७३ में ही विज्ञापन निकल चुका था। परन्तु मैं ही मा० रज्जू भैया से यह कहकर रुक गया था कि मैं दो वर्ष और रुककर हाईस्कूल की परीक्षा का परिणाम देखना चाहता हूँ। मेरी इच्छा पूरी हुई और हमारे ३० हाईस्कूल परीक्षार्थियों में से १७ प्रथम श्रेणी तथा १३ द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए, ४ ससम्मान थे तथा एक शशि शर्मा का पूरे प्रदेश की वरीयता सूची में नवम स्थान था। इस अच्छे परीक्षा-परिणाम का श्रेय मुझे दिया गया तथा मुझसे प्रार्थना की गई कि मैं पुनः प्रधानाचार्य पद सँभालूँ।

आपात्काल

जुलाई १९७५ में विद्यालय खुलने पर मैं गाँव से कानपुर आया और अपना उत्तरदायित्व सम्भाला। यह तो पता चल गया था कि आपात्काल घोषित हो चुका है। परन्तु हमारे विद्यालय के साथ अभी तक कोई छेड़छाड़ नहीं की गयी थी। बैरिस्टर साहब जेल जा चुके थे। उनके स्थान पर श्री रामबालक मिश्र प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष तथा वीरेंद्र जी के स्थान पर उनके बड़े भाई श्री धीरेन्द्रजीत सिंह सचिव हो गये थे। नवम्बर आते-आते हमारे विद्यालय का भी अधिग्रहण हो गया।

प्रबन्ध समिति भंग कर दी गयी। कानपुर के सिटी मजिस्ट्रेट श्रीराम रतन राम विद्यालय के अधिकृत अधिकारी अथवा प्रशासक नियुक्त हो गये। मुझसे कहा गया कि जैसे अब तक मैं कार्य करता आ रहा था, वैसे ही करता रहूँ। अन्तर इतना ही था कि अब तक मैं प्रबन्ध समिति के प्रति उत्तरदायी था, अब मुझे प्रशासक के प्रति उत्तरदायी रहना था। श्री रामरतन राम सहृदय व्यक्ति थे तथा जानते थे कि इन अध्यापकों का बालकों को शिक्षा देने तथा उन्हें सच्चे अर्थों में अच्छे देशभक्त नागरिक बनाने का काम महत्वपूर्ण और श्रेष्ठ है। फिर वे क्यों विद्यालय के दैनन्दिन कार्य में हस्तक्षेप करें? उनके पास इसके लिए समय भी नहीं था।

संघ पर प्रतिबन्ध लग चुका था। संघ ने सत्याग्रह भी प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु बच्चों की शिक्षा में व्यवधान न पड़े, इसलिए हम आचार्यों को, जिनमें अधिकतर संघ के स्वयंसेवक थे, सत्याग्रह से मुक्त रखा गया था। केवल श्री दीपक राजे को गिरफ्तार किया गया था। वह भी केवल इसलिए कि वे उस समय संयोग से संघ कार्यालय पर उपस्थित थे। फिर भी कांग्रेस के छुटभैये स्थानीय नेता हमारे विद्यालय की झूठी शिकायत व्यक्तिगत द्वेषवश करते रहते थे कि यह विद्यालय संघ की गतिविधियों का केन्द्र है। परन्तु अधिकृत अधिकारी ने स्वविवेक से काम लिया और सत्र १९७५-७६ बिना किसी अवांछनीय घटना के समाप्त हुआ। गर्मी की छुट्टी में घर जाने से पूर्व जब मैंने जिला विद्यालय निरीक्षक श्री रामायण सिंह से पूछा तो उन्होंने मुझसे कहा कि मैं अगले सत्र में जुलाई में विद्यालय खुलने पर अपना पद-भार निस्संकोच संभालूं। इस वर्ष का परीक्षाफल इतना अच्छा नहीं रहा, जितना प्रथम वर्ष का था।

अगले सत्र अर्थात् १९७६-७७ के जुलाई मास में मैं कानपुर आकर पूर्ववत् काम करने लगा। लगभग एक मास पश्चात् श्री रामरतन राम ने मुझे बुलाकर कहा कि उन पर कांग्रेस के नेताओं का दबाव पड़ रहा है। अतः अच्छा हो, मैं त्यागपत्र देकर अलग हो जाऊँ ताकि वह नया प्रधानाचार्य नियुक्त कर सकें। मैंने कहा कि मैं तो ६० वर्ष से अधिक आयु का विद्यालय की सेवा में आने से पूर्व ही हो चुका हूँ। अतः मुझे त्यागपत्र देने में कोई आपत्ति नहीं है। मैं त्यागपत्र देकर घर चला गया। डी०ए०वी० इण्टर कॉलेज कानपुर के हिन्दी के प्रवक्ता श्री मुन्नीलाल मिश्र को मेरे स्थान पर नियुक्त किया गया। उन्होंने कुछ महीने ही काम किया होगा कि आपात्काल समाप्त हो गया।

आपात्काल के बाद

विद्यालय पुनः उसकी प्रबन्ध समिति को सौंप दिया गया। श्री शेण्डे जी कार्यवाहक प्रधानाचार्य बना दिये गये। ३१ जुलाई १९७८ को उनके विद्यालय छोड़कर चले जाने के बाद श्री ओमशंकर जी प्रभारी प्रधानाचार्य के पद रहे। २ फरवरी १९७९ को प्रबन्ध तंत्र ने आर्मापुर इण्टर कॉलेज के सेवानिवृत्त प्रधानाचार्य श्री रामशंकर शुक्ल को प्रधानाचार्य पद पर नियुक्त कर दिया जो ३० जून, १९८१ तक इस पद पर रहे। इस बीच मैं घर पर रहकर संघ का कार्य करने लगा था। जुलाई १९७७ में मेरे पास दीनदयाल विद्यालय के सचिव वीरेंद्र जी का पत्र आया कि विद्यालय ने मुझे अंग्रेजी का 'प्रोफेसर एमेरिटस' नियुक्त किया है, जिसके लिए मुझे सभी सुविधायें मिलेंगी। अतः मैं शीघ्रातिशीघ्र आकर अपना दायित्व संभालूं। मैंने उत्तर में लिख दिया कि चूँकि मैं कुछ दिन घर पर और कुछ दिन कानपुर, बारी-बारी से रह सकूँगा। लगातार पूरा समय विद्यालय को नहीं दे सकूँगा। संभवतः प्रबन्ध समिति को यह व्यवस्था उपयुक्त नहीं लगी।

इण्टरमीडिएट, भवन विस्तार

सत्र १९७९-८० से विद्यालय में एकादश कक्षा की पढ़ाई प्रारम्भ हो गयी। २३ अगस्त १९८० को विद्यालय के नये विज्ञान भवन का शिलान्यास स्वयं बैरिस्टर साहब ने किया। विद्यालय को इण्टरमीडिएट विज्ञान वर्ग की मान्यता भी मिल गयी। वर्ष १९८१ में इण्टर परीक्षा में हमारा प्रथम बैच बैठा। हाईस्कूल की ही भाँति इण्टर के प्रथम बैच का परिणाम भी उत्कृष्ट रहा। ३९ छात्रों में से ३८ उत्तीर्ण, १७ प्रथम, २१ द्वितीय व एक छात्र 'प्रदीप शुक्ल' का प्रदेश में चतुर्थ स्थान।

ज्ञातव्य है कि भारतीय शिक्षा समिति का जन्म १९७३ में पं० दीनदयाल विद्यालय में ही हुआ था। मा० भाऊराव, मा. लज्जाराम तोमर, श्री रामसहाय पुरवार एवं बैरिस्टर साहब आदि के साथ बैठकर हम लोगों ने उसका विधान तैयार किया था। मैं उसका

स्थायी सदस्य था तथा विद्यालय छोड़ने के बाद उसी के विस्तृत अखिल भारतीय स्वरूप विद्या भारती से जुड़ा हुआ था। १९७२ में विद्या भारती का कार्यालय दिल्ली से ग्वालियर आया तो मैं भी ग्वालियर आ गया, ज्हाँ बाद में मेरी भेंट श्री ओमशंकर जी से हुई जो १ जुलाई १९८१ से विद्यालय के स्थायी प्रधानाचार्य हो गये थे। मैं तो, जब से शेण्डे जी गये थे तभी से, प्रबन्ध समिति से आग्रह करता आ रहा था कि श्री ओमशंकर सर्वथा प्राचार्य पद के योग्य हैं पर संभवतः उनके अनुभव एवं परिपक्वता के प्रति तब तक प्रबन्ध समिति आश्वस्त नहीं थी। इस बीच अपने कार्यवाहक प्रधानाचार्य काल में तथा बाद में उप प्रधानाचार्य रहते हुए विद्यालय भवन के विस्तार, विद्यालय को इण्टर स्तर तक पहुँचाने और इण्टर की मान्यता प्राप्त करने में श्री ओमशंकर ने जिस प्रकार समर्पित ढंग से श्रमसाध्य सफलता प्राप्त की थी, उसी का परिणाम था कि उनकी कार्यक्षमता और प्राचार्य पद अर्हता के विषय में किसी को कोई शंका न रही तथा उनको स्थायी प्रधानाचार्य बना दिया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विद्यालय-भवन के विस्तार हेतु (तथा बाद में भी स्टेडियम निर्माण हेतु) दान लेने में श्री ओमशंकर ने विद्यालय की संस्थापिका की उदात्त परंपरा (अपने नाम का पत्थर लगवाने इत्यादि की इच्छा के बिना दिया गया दान) के साथ किसी भी प्रकार का समझौता नहीं किया। प्रलोभन बड़े-बड़े थे, किन्तु वे विद्यालय गरिमा की रक्षा के हित अडिग रहे।

मुझसे ग्वालियर में भेंट होने पर ओमशंकर जी ने मुझसे कहा कि मुझे गाँव में अच्छा नहीं लगता होगा अतः मैं विद्यालय में आकर रहूँ। आँख-कान की मेरी असमर्थता जान कर भी उन्होंने आग्रह किया कि मेरी विद्यालय में उपस्थिति ही पर्याप्त प्रेरणाप्रद होगी। इस संबंध में बैरिस्टर साहब का भी आग्रहपूर्ण पत्र आया। परिणामतः १९८४-८५ में मैं पुनः अपने प्रिय विद्यालय आ गया जहाँ तब से मैं संरक्षक वा परामर्शदाता के रूप में कार्यरत हूँ।

बहुमुखी विकास

अब तक विद्यालय का वार्षिकोत्सव एवं पुरस्कार-वितरण सत्र के उत्तरार्द्ध में किसी दिन होता था। दीनदयाल जी का जन्मोत्सव २५ सितंबर अथवा भारतीय पंचाङ्ग के अनुसार उनकी जन्म तिथि पर मनाया जाता था। १९८०-८१ से उनके जन्म दिन २५ सितंबर को ही सम्पूर्ण वार्षिकोत्सव के रूप में मनाया जाने लगा और उस दिन किसी ऐसे व्यक्ति को निमंत्रित करने की परंपरा बनी जो दीनदयाल जी का सहकर्मी रहा हो अथवा जो उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर आधिकारिक रूप से प्रकाश डाल सके। तदनुसार १९८० में श्री सुंदर सिंह भण्डारी, १९८१ में मा० जगदीश प्रसाद माथुर, १९८२ में डॉ० भाई महावीर, १९८३ में श्री रामशंकर अग्निहोत्री, १९८४ में वीर यज्ञदत्त शर्मा, १९८५ में मा० रज्जू भैया, १९८६ में मा० दत्तोपन्त ठेंगड़ी, १९८७ में मा० नाना जी देशमुख, १९८८ में डॉ०मुरली मनोहर जोशी, १९८९ में० मा० अशोक सिंहल, १९९० में मा० भाऊराव देवरस, १९९१ में मा० अटल बिहारी वाजपेयी तथा मा० देवेन्द्र स्वरुप अग्रवाल, १९९२ में मा० कुप्० सी० सुदर्शन तथा, १९९३ में पुनः नाना जी देशमुख तथा १९९४ में मा. गिरिराज़ किशोर को आमंत्रित करने तथा सुनने का विद्यालय को सौभाग्य प्राप्त हुआ। मा० भाऊराव तथा मा० रज्जू भैया तो हमारी प्रबंध समिति के सदस्य ही थे।

हमारे विद्यालय में दीनदयाल जन्मोत्सव तथा वार्षिकोत्सव एक ही दिन का प्रसंग बनकर नहीं रह जाता। वह कई दिन चलता है और उस अवधि में अभिभावक सम्मेलन, पूर्व छात्र सम्मेलन, कवि सम्मेलन, वाद-विवाद प्रतियोगिता, राष्ट्रीय गीत गायन प्रतियोगिता, विज्ञान प्रदर्शनी, रंगमंच इत्यादि विविध कार्यक्रम संपन्न होते हैं। प्रतियोगिताओं में स्थानीय विद्यालयों के छात्र-छात्राएँ भी भाग लेते हैं। वाद-विवाद प्रतियोगिता में अधिकतर हमारा विद्यालय ही प्रथम आता है। ऐसे अवसर पर चल वैजयन्ती द्वितीय स्थान पर आने वाले विद्यालय को दे दी जाती है।

हाईस्कूल और इण्टर दोनों परीक्षाओं में हमारा परिणाम सदैव उत्कृष्ट रहा है। हाईस्कूल में कभी कोई छात्र न तो तृतीय श्रेणी में आया, न ही अनुत्तीर्ण हुआ। अब तो कई वर्षों से सारे छात्र ही प्रथम श्रेणी पा रहे हैं। आपात्काल छोड़कर कोई ऐसा वर्ष नहीं हुआ जब हाईस्कूल की वरीयता सूची में विद्यालय का नाम न रहा हो। इण्टर का परीक्षाफल भी सदैव अच्छा रहा है। १९८३ में इंटर के तीसरे ही बैच में, आनन्द कुमार गुप्त ने प्रदेश में प्रथम स्थान प्राप्त किया, १९८६ से इण्टर का हमारा परीक्षा फल शत-प्रतिशत रहा है। एक वर्ष तो

ऐसा था जब दोनों परीक्षाओं की वरीयता सूचियाँ विद्यालय के नाम से आच्छादित हो गयीं- १९९० में विद्यालय को हाईस्कूल में २२ स्थान और इण्टरमीडिएट में १३ स्थान मिले। इधर दो वर्षों से इण्टर की वरीयता सूची में विद्यालय को कोई स्थान नहीं मिला, परन्तु इसका कारण छात्रों में प्रतिभा की कमी नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम श्रेणी अथवा ससम्मान उत्तीर्ण छात्रों की संख्या में किसी प्रकार की गिरावट नहीं है। सर्वविदित है कि शिक्षा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं स्थानीय शिक्षा जगत की द्वेषपूर्ण कुत्सित राजनीति का संयोग ही वास्तविक कारण है।

अन्तर्विद्यालयीय खेल प्रतियोगिताओं में भी हमारे छात्र भाग लेते रहे हैं और कबड्डी तथा खो-खो में जीतते भी रहे हैं। खो-खो में तो अनेक बार अपना विद्यालय जिला चैम्पियन रहा है तथा अपने कई खिलाड़ी मण्डल, प्रदेश तथा राष्ट्रीय स्तर की टीमों के लिए चुने गये हैं। ईश्वर की कृपा से अब तो विद्यालय के पास स्टेडियम भी हो जाएगा और कोई कारण नहीं कि अब अन्य खेलों में भी विद्यालय का नाम ऊँचा न हो।

अध्ययन अथवा खेल के अतिरिक्त अन्य गतिविधियों में भी विद्यालय के छात्रों की उपलब्धियाँ कम नहीं रहीं। हाल ही में प्रादेशिक स्तर की महादेवी वर्मा वाद-विवाद प्रतिस्पर्धा में विद्यालय का द्वितीय स्थान आया है। भूतकाल की उपलब्धियों में सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं- तत्कालीन छात्र प्रवीण भागवत के मॉडल का राष्ट्र स्तरीय विज्ञान प्रदर्शनी हेतु चयन तथा मैथेमेटिक्स ओलिंपियाड में शोभित सोनकिया का विश्व में तृतीय स्थान। पिछले ही वर्ष विशेष अनुमति (छोटी कक्षा में होने के कारण) लेकर मैथेमेटिक्स ओलिंपियाड में भाग लेने वाले आशीष सिंह ने राष्ट्रीय सूची में प्रथम दस के अंदर स्थान पाया।

युग-भारती, रजत जयंती आयोजन

विद्यालयीय अध्ययन की पूर्णता के उपरान्त प्रारम्भ से ही विद्यालय के छात्र इंजीनियरिंग व मेडिकल की प्रवेश परीक्षाओं में सफलता पाते रहे हैं। उत्तर प्रदेश का शायद ही कोई प्रसिद्ध इंजीनियरिंग अथवा मेडिकल कॉलेज हो जहाँ अपने विद्यालय के छात्र न पहुँचे हों। जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों- इंजीनियरिंग, चिकित्सा, वकालत, अध्यापन, पत्रकारिता, उद्योग, व्यापार आदि में हमारे छात्र आज सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं। इनमें से अनेक इस समय अमेरिका, जर्मनी, डेनमार्क, कनाडा, इंग्लैण्ड इत्यादि देशों में भी अध्यापन, नौकरी या व्यापार कर रहे हैं। कुछ छात्र प्रशासनिक सेवाओं में पुलिस सेवा तक सफलता प्राप्त कर चुके हैं।

एक बड़े महत्व की बात यह है कि अनेक पूर्व छात्र अपना अध्ययन पूर्ण कर इस समय विद्यालय के आचार्य-परिवार के सक्रिय अंग हैं।

स्थान एवं समय की कमी के कारण पूर्व छात्रों की अति विशिष्ट उपलब्धियाँ ही यहाँ बताई जा सकती हैं। इंजीनियरिंग व मेडिकल की उच्च शिक्षा में सफलता के साथ ही अन्य अनेक क्षेत्रों ने विद्यालय के पूर्व छात्रों की विशिष्टता अनुभव की है।

पूर्व छात्र वीरेन्द्र त्रिपाठी राष्ट्रीय स्तर की मुक्केबाजी में हिस्सा ले चुके हैं। कांग्रेस के राष्ट्रीय दिग्गज नारायण दत्त तिवारी को नैनीताल लोकसभा क्षेत्र से हराकर अपने विद्यालय के पूर्व छात्र बलराज पासी इस समय सांसद हैं। बजरंग दल के अखिल भारतीय संगठन मंत्री कानपुर के प्रकाश शर्मा भी अपने विद्यालय के पूर्व छात्र हैं।

अन्य सभी पूर्व छात्रों को विद्यालय से जोड़े रखने के लिए १९८० में ही 'तरुण-भारती' का गठन हो चुका था, जिसका संविधान इत्यादि निर्धारित करने में मेरा भी हाथ रहा था।

१९९२ में विवेकानन्द भारत परिक्रमा के कानपुर में उत्कृष्ट आयोजन के साथ ही इस संस्था का मानो पुनर्जन्म हुआ। अक्टूबर १९९२ में संस्था ने चित्रकूट में तीन दिवसीय तरुण चेतना शिविर का वृहत् आयोजन किया जिसमें अपने विद्यालय तथा बी०एन०एस०डी० शिक्षा निकेतन के भी छात्र सम्मिलित हुए। १९९३ में मा० सुर्दशन जी के सुझाव पर संस्था ने 'युग-भारती' नाम ग्रहण किया। पिछले दो वर्षों में युग-भारती ऐसी संस्था के रूप में उभर कर आयी है जिस पर कोई भी विद्यालय सहज ही गर्व कर सकता है। इसीलिए अपना विद्यालय आज अन्य विद्यालयों की ईर्ष्या का पात्र बना हुआ है।

उत्तर प्रदेश ही नहीं अन्य प्रदेशों के विद्यालयों के संचालक भी आज युग-भारती की सफलता का रहस्य जानने की अभिलाषा रखते हैं तथा युग-भारती के साहित्य, कार्यप्रणाली इत्यादि के आधार पर अपने पूर्व छात्रों की संस्थाओं को चलाने का प्रयास कर रहे हैं। 'युग-भारती' के कार्यक्रमों में नियमित बैठक, कार्यकारिणी का चुनाव, पठन-पाठन, सामयिक विषयों पर चर्चा, पत्र-पत्रिका प्रकाशन, भारत-भ्रमण इत्यादि

सभी कुछ शामिल है। संस्था के इस समय दो प्रकाशन भी हैं - त्रैमासिक पत्रिका 'युग-प्रभा' तथा पाक्षिक पत्र 'देश हमारा बने महान'। सस्था ने समस्त (लगभग १५००) पूर्व छात्रों से सम्पर्क करने का भी यत्न किया। परिणामतः इस समय ५०० पूर्व छात्र नियमित सम्पर्क में हैं। विद्यालय की रजत जयंती के अवसर पर युग-भारती ने ही विद्यालय प्रांगण में दीनदयाल जी की मूर्ति लगाने का प्रस्ताव किया। प्रस्ताव की स्वीकृति मिलने के उपरान्त, अन्यत्र स्थापित मूर्तियों का अध्ययन, उपयुक्त मुखमुद्रा एवं शरीर-भंगिमा हेतु चित्रान्वेषण, मूर्ति निर्माण हेतु कलाकार का चयन, उनसे संपर्क, धन संग्रह, मूर्ति निर्माण के विभिन्न चरणों में मृत्तिका (क्ले) मॉडल में सुधार, दीनदयाल जी के परिचित रहे महानुभावों द्वारा मूर्ति का मूल्यांकन, समय से मूर्ति निर्माण पूर्ण करवाना, मूर्ति को जयपुर से लाना तथा यहाँ उसकी स्थापना - इन सभी कार्यों में युग-भारती के सदस्यों ने दिन-रात एक कर दिया। स्वयं कई जगह गये तथा अनेक बार ओमशंकर जी, जो कि मेरे साथ संस्था के संरक्षक भी हैं, को भी दिल्ली, जयपुर, कायमगंज इत्यादि स्थानों पर ले गये।

भावना की पराकाष्ठा तो यह कि जिद करके भाई (सोनीपत) के दो सहोदर पूर्व छात्रों अनित गर्ग व संजय गर्ग (पुत्र स्व० श्री लाजपत राय गर्ग, संघ कार्यकर्ता, धुरी, जिला संगरूर, पंजाब), जिनका कि एक छोटा सा उद्योग है, ने अपने पूज्य पिता की स्मृति में मूर्ति का सम्पूर्ण व्यय (८०००० रुपये) वहन किया। इससे भी अधिक श्लाघनीय बात यह है कि पत्थर इत्यादि लगवाने का कोई आग्रह न करते हुए विद्यालय की परम्परा का उन्होंने स्वेच्छा से सम्मान किया। लिखते-लिखते मुझे यह भी पता चला कि पंजाब में उनके पिता द्वारा स्थापित एक विद्यालय है जहाँ उनके पिता जी की मूर्ति स्थापना प्रस्तावित है। परंतु वहाँ के बजाय दीनदयाल विद्यालय में चल रही युग-भारती की योजनाओं को ही उन्होंने वरीयता दी। क्या इसके बाद उनके विद्यालय प्रेम या त्याग के विषय में कुछ कहना आवश्यक रह जाता है? काश! ऐसी सुबुद्धि ईश्वर कानपुर या प्रदेश के उन धनिकों को देता जिनके पास अथाह सम्पदा है, पर जो उसमें से एक बूँद भी विद्यालय को देने में संकोच करते हैं और जब कोई अत्यल्प धनराशि देते भी हैं तो इस दुराग्रह के साथ कि भवन या उसके अंश में उनके नाम का पत्थर लगवाया जाये। खैर..

मूर्ति की स्थापना के लिए 'युग-भारती वाटिका' की संकल्पना तथा निर्माण भी एक आर्किटेक्ट पूर्व छात्र नितिन मित्तल के निर्देशों के अंतर्गत हुआ।

पं० दीनदयाल की मूर्ति की स्थापना के अतिरिक्त रजत जयंती के ही उपलक्ष्य में विद्यालय में एक स्टेडियम का तथा मंच-भवन के निर्माण का कार्य भी चल रहा है जिसका पूर्ण हो पाना श्री नरेश चंद्र सचान (अवकाश प्राप्त मेन्टिनेंस इन्चार्ज, एच.बी.टी. आई., कानपुर), जो कि बीच में अपने युवा पुत्र की दुर्घटना में मृत्यु के बावजूद इस कार्य में लगे रहे, तथा श्री रामकिशुन (ठेकेदार) के प्रयासों के बिना असम्भव ही होता। स्टेडियम के निर्माण में भी युग-भारती पीछे नहीं रही। भले ही कोई इसको अतिशयोक्ति माने, मैं तो यही कहूँगा कि स्टेडियम के निर्माण में भी विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री ओमशंकर के अतिरिक्त तथा उनकी ही प्रेरणा से लगभग सम्पूर्ण योगदान युग-भारती का ही रहा - स्टेडियम का नक्शा, प्रचार सामग्री तैयार करना, धन संग्रह हेतु देश-विदेश तथा स्थानीय सघन सम्पर्क - हर कदम पर युग-भारती के सदस्य आगे दिखाई दिये।

'नीराजन' के रजत जयंती अंक के संपादन, प्रकाशन की जिम्मेदारी भी स्वेच्छा से युग-भारती ने वरण की और इसके निर्वाह में वे जिस प्रकार दिन-रात लगे हुए हैं, वह निस्संदेह स्पृहणीय है (इसके पहले बैरिस्टर साहब की स्मृति में प्रकाशित 'नीराजन' के श्रद्धांजलि अंक में भी युग-भारती का उल्लेखनीय योगदान था।)

रजत जयंती वार्षिकोत्सव के कार्यक्रमों की विस्तृत योजना बनाने में तथा इस दिशा में मा. रज्जू भैया, मा. अटल जी, मा. गोविंदाचार्य जी, डॉ. चन्द्रप्रकाश (चाणक्य धारावाहिक के निर्माता, निर्देशक, नायक) इत्यादि का आगमन निश्चित करने में भी युग-भारती का पूरा हाथ रहा।

इन सबसे बढ़ कर यह कि इसी को इति श्री न मानकर युग-भारती भविष्य में अनेक समाजोपयोगी योजनाओं के कार्यान्वयन हेतु सन्नद्ध है।

लेख के प्रारम्भ में मैंने कहा था कि यह विद्यालय के पूर्व छात्रों के आधार पर विद्यालय की उपलब्धियों के मूल्यांकन का उपयुक्त समय है। युग-भारती को देखकर ही मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि विद्यालय ने अपने विशिष्ट उद्देश्य में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। ये तरुण निश्चय ही बूजी का स्वप्न साकार करेंगे और शीघ्र ही सम्पूर्ण भारत में, विभिन्न क्षेत्रों में अनेकों दीनदयालों के रूप में कार्य करते दिखाई देंगे।

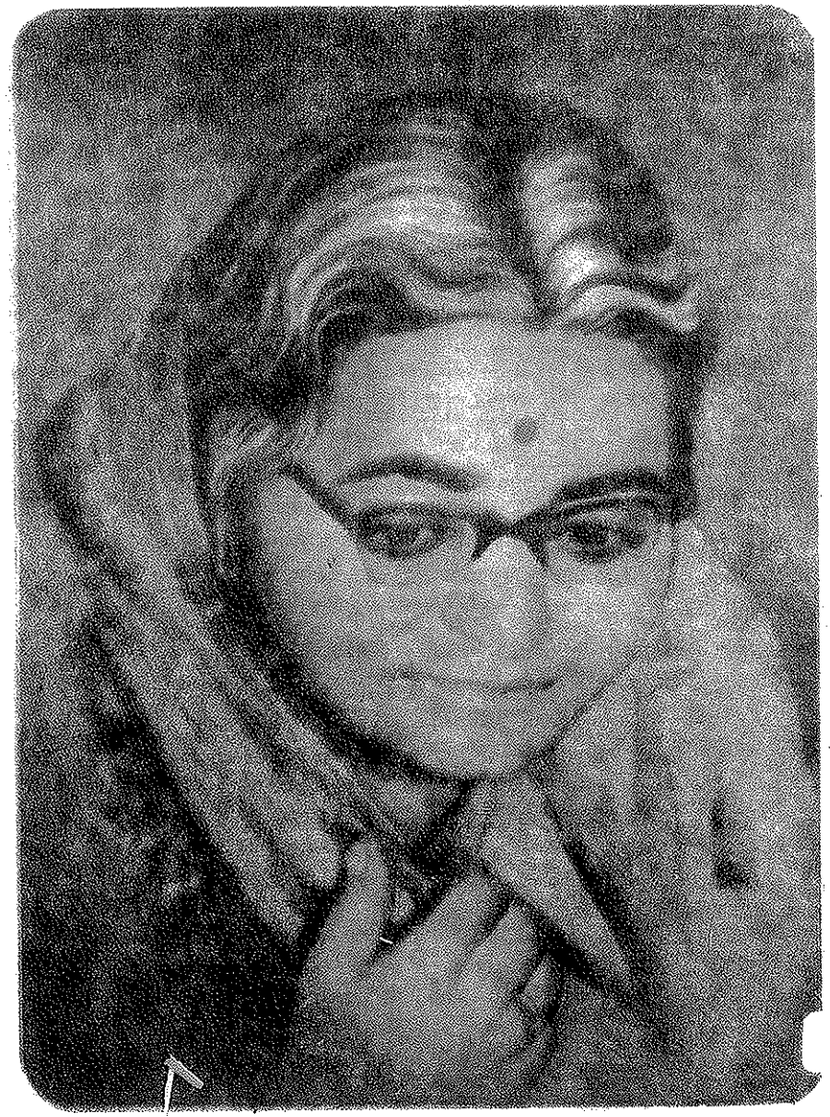

सुशीला जी और 'रानी साहिबा' से 'बूजी' तक : समाज को समर्पित एक जीवन

✍ प्राणनाथ ★ ओमशङ्कर ★ नीरज कुमार

लम्बे समय तक बूजी के मैनेजर रहे श्री प्राणनाथ कपूर और दीनदयाल विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री ओमशंकर से बातचीत के आधार पर।

सुशीला जी के पूर्वज पंजाब के ऐमनाबाद (अब पाकिस्तान में) के रहने वाले थे। पंजाब और जम्मू-कश्मीर में उनकी विशाल जागीरें थी। जागीरों की विशालता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि कश्मीर के महाराजा की जमीन-जायदाद की देखभाल के लिए एक मैनेजर रहता था जबकि सुशीला जी के खानदान की सम्पूर्ण सम्पत्ति की देखभाल के लिए चार मैनेजर थे, एवं सबके ऊपर एक जनरल मैनेजर रहता था। सुशीला जी के प्रपितामाह कृपाराम ने जम्मू के महाराजा गुलाब सिंह की कश्मीर खरीदने में मदद की, तभी से गुलाबसिंह संयुक्त जम्मू-कश्मीर के महाराजा बने एवं साथ ही कृपाराम का परिवार भी जम्मू-कश्मीर आ गया। आगे भी यह परिवार जम्मू-कश्मीर के राजपरिवार से जुड़ा रहा। दीवान कृपाराम साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। 'गुलाबनामा' नाम से उन्होंने फारसी भाषा में कश्मीर का इतिहास भी लिखा। उनके बाद इस श्रृंखला में आये ज्वालासहाय, फिर दीवान अमरनाथ। दीवान अमरनाथ के ही प्रयत्नों से महाराजा हरिसिंह को अपने ताऊ प्रतापसिंह की अनिच्छा के बावजूद राजगद्दी मिल सकी। दीवान अमरनाथ ने कैसे अंग्रेजों से जम्मू-कश्मीर राज्य की रक्षा की, इसके बारे में कई रोचक किस्से भी वहाँ प्रचलित हैं। अंग्रेजों द्वारा लिखित पुस्तक 'The Ruling chiefs of India' में भी दीवान अमरनाथ का नाम आया है और कहा गया है कि अगर दीवान अमरनाथ जैसे दो-चा लोग और होते तो हिन्दुस्तान का इतिहास ही कुछ और होता।

इन्हीं दीवान अमरनाथ के पुत्र थे बद्रीनाथ जो कि सुशीला जी के पिता थे। दीवान बद्रीनाथ महाराजा हरिसिंह के निजी सचिव थे। इस प्रकार कुशल प्रशासन और उत्कृष्ट राष्ट्र प्रेम के गुण सुशीला जी को विरासत में ही मिले थे। साथ ही ईश्वर में प्रबल आस्था सुशीला जी को अपनी माँ विद्यावती से मिली जो कि दीवानिनी के नाम से प्रसिद्ध थीं। १९१९ में दीवान बद्रीनाथ की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी का वैराग्य और पूजा-पाठ के प्रति झुकाव अधिकाधिक होता गया। आश्चर्य की बात है कि ऐसे ऐश्वर्य में पली, स्वयं पिता की मृत्यु के आघात से पीड़ित उस किशोरी ने अपनी माँ को प्रेरित किया कि वे सब कुछ छोड़कर ईश्वर भक्ति में लगने के बजाय अपना धन, समय और शक्ति सामाजिक कार्यों में लगायें। इस प्रसंग को सुशीला जी के प्रति ईश्वरीय प्रेरणा ही कहा जायेगा क्योंकि उनकी बहन के बारे में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं किया जाता। खैर... परिणामस्वरूप विद्यावती जी ने अनेक विधवाश्रम, अनाथालय इत्यादि खुलवाये। साथ ही माँ-बेटी दोनों ने शिक्षा के महत्व को पहचाना एवं कुछ विद्यालय भी चलाने प्रारम्भ किये।

सन् १९३५ में सुशीला जी का विवाह नरेन्द्रजीत सिंह से हुआ जो कि कानपुर के अग्रगण्य एडवोकेट और सनातन धर्म के पुरोधा राय बहादुर विक्रमाजीत सिंह के पुत्र थे। विवाह में नरेन्द्रजीत सिंह के सहबाला बनकर गये श्री प्राणनाथ कपूर जो कि तत्कालीन सनातन धर्म महाविद्यालय के छात्रावास अधीक्षक थे और कई वर्षों से उस परिवार के आत्मीय थे। विवाह में बरातियों का इतना भव्य स्वागत और आवभगत हुयी कि विक्रमाजीत सिंह ने भी श्री कपूर को तुरन्त वापस कानपुर भेजा ताकि वहाँ भी नवविवाहित युगल के उतने ही शानदार स्वागत की तैयारी हो सके। विवाह के बाद सुशीला जी को सहज ही 'रानी साहिबा' का संबोधन प्राप्त हो गया।

विवाह के बाद भी सुशीला जी का अक्सर कश्मीर जाना होता था क्योंकि अपनी माँ, उनकी जायदाद तथा अनेक सामाजिक कार्यों की देखभाल का जिम्मा उन्होंने ले रखा था। श्रीनगर में परिवार की जो अब एकमात्र

शेष सम्पत्ति है, एक कोठी (बाकी सब तो सरकार ने ले लिया, कोठी भी इसलिये बची है कि उसमें RAW, Research and Analysis Wing,के अधिकारी रहते हैं), उस का निर्माण बूजी ने ही कराया था। और उसे 'शाश्वत भवन' नाम भी उन्हीं ने दिया था।

अपने दोनों परिवारों के सभी सदस्यों, जिनमें छोटे से छोटे नौकर-चाकर एवं उनके परिवार भी शामिल थे, के प्रति 'रानी साहिबा' की चिंता और स्नेह इतना व्यापक था कि 'रानी साहिबा' संबोधन ज्यादा दिन नहीं टिक सका और उसका स्थान आत्मीय संबोधन 'बूजी' ने ले लिया, जो कि पंजाबी परिवारों में बुआ के लिए प्रयुक्त होता है। फिर तो उनका नाम ही बूजी हो गया। यहाँ तक कि उनके लड़के-लड़कियाँ भी उनको बूजी ही कहा करते थे।

एक बार जब बूजी का प्रथम पुत्र उनके गर्भ में था, उनको श्रीनगर जाना था। उस समय कश्मीर का आम रास्ता रावलपिंडी से होकर जाता था जिसमें बीच में ८००० फीट तक की ऊँचाई आती थी। बूजी की अवस्था के कारण यह तय हुआ कि वे ऐबटाबाद (अब पाकिस्तान में) वाले रास्ते से जायें, जिसमें अधिकतम ऊँचाई ४००० फीट की थी। ऐबटाबाद श्री प्राणनाथ कपूर का पैतृक घर भी था। छुट्टियाँ चल रहीं थी। श्री कपूर भी बूजी के साथ गये और तीन-चार दिन बूजी उनके घर पर रहीं। श्री कपूर की कार्यकुशलता और आत्मीयता से बूजी अत्यधिक प्रभावित हुयीं। भविष्य में जब श्रीनगर में उनको एक प्रबन्धक की आवश्यकता हुयी तो उन्होंने श्री कपूर से ही वह पद संभालने का आग्रह किया। श्री कपूर बताते हैं कि उन्हें सनातन धर्म महाविद्यालय से अत्यधिक लगाव था, उसको वे छोड़ना नहीं चाहते थे, पर बूजी की आत्मीयता, प्रभाव और आग्रह ऐसा था कि अंततः वह बूजी की बात नहीं टाल सके। पहले एक साल की छुट्टी लेकर गये (१९४४), फिर तो बूजी की मृत्युपर्यन्त वे उनके निकट सहयोगी बने रहे और आज भी उनके स्थापित किये हुए विद्यालयों के संचालन एवं विस्तार में लगे हुए हैं। श्री कपूर के ही शब्दों में -

'बूजी अद्‌भुत जीवट वाली महिला थीं। ऐसा जीवट महिलाओं में क्या पुरुषों में भी मैंने शायद ही देखा हो। मुजे १९४७ का वाकया याद आता है। कश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण के दौरान एक दिन बूजी ने मुझे बुलवाया (मैं उनके घर से ४-५ किमी दूर रहता था) और बताया कि महाराजा ने फोन कर कहा है कि स्थिति बहुत गम्भीर है, आप लोग तुरन्त जम्मू चले जाइये। बूजी सारे परिवार, स्टाफ आदि को लेकर जम्मू चली गयीं और मैं उनकी कोठी पर रुक गया। जम्मू से बाकी लोग तो एयर फोर्स के हवाई जहाजों से दिल्ली चले गये, पर बूजी ने जाने से इंकार कर दिया। कहा कि श्री कपूर एवं अन्य अनेक कर्मचारी अभी श्रीनगर में हैं। उनको लिए बिना अगर मैं जाऊँगी तो यह विश्वासघात होगा। तो ऐसे संकट के समय भी बूजी जम्मू में अकेले रहीं। फिर जब श्रीनगर में सब कुछ सहेज कर मैं जम्मू पहुँचा तो हम लोग सामान ट्रक में लाद कर, स्वयं कार पर बैठकर दिल्ली को चले। सड़कें खराब थीं, नदियों पर पुल नहीं थे। पूरे रास्ते विभाजन के भयानक दुष्परिणाम देखने को मिले - पाकिस्तान जाते लोगों के काफिले, कटी-फटी लाशें, बिखरा सामान। बार-बार बूजी के मुँह से निकलता, 'ये क्या हो गया मेरे देश को?' अफरा-तफरी में हमारा ट्रक भी बिछुड़ गया। पेट्रोल सारा ट्रक पर ही रखा था। तो सात दिन हम लोगों को अम्बाला में रुकना पड़ा। ऐसे कष्टों में भी बूजी ने उफ नहीं की। १९६५ के युद्ध में भी जब सब लोग श्रीनगर से भाग रहे थे, बूजी ने अपने परिवार, स्टाफ को छोड़कर जाने से मना कर दिया। अन्त में सब लोग एक साथ जम्मू आये। कालान्तर में जब बूजी के बहनोई ने सम्पत्ति का विवाद खड़ा किया और बूजी की माँ के घर पर कब्जा कर लिया, तब भी बूजी अकेली घर के ऊपर वाले हिस्से में रहीं (नीचे वाले हिस्से में बहनोई एवं उनके सहयोगी थे) जब तक कि विवाद का निबटारा नहीं हो गया। उनके जीवट, लगन और कष्ट सहने की क्षमता का एक और उदाहरण याद आता है। कीर्ति जी की शादी के समय उनको carbuncle निकला हुआ था, पीठ में। दिन में छः-सात बार ब्लाउज बदलना पड़ता था। पर इस बारे में किसी से कुछ नहीं कहती थीं। बस काम में लगी रहती थीं। अधिकतर लोगों को शादी निपट जाने के बाद ही पता चला कि उनको कुछ ऐसा था भी।

कश्मीर में १९४७ से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की जो गतिविधियाँ हुईं, उनमें भी बूजी और मैं शुरू से ही involved रहे। बूजी महाराजा के अत्यंत निकट थीं और गूरु जी से उनकी भेंट करवाने में बूजी की अहम भूमिका थी। जम्मू-कश्मीर के भारत विलय में उस भेंट का महत्वपूर्ण योगदान था।

आध्यात्मिकता की ओर बूजी का बहुत रुझान था। उनके गुरु थे अनंतनाग के पास नागदण्डी आश्रम के

स्वामी अशोकानंद। स्वामी अशोकानन्द रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों की परम्परा में थे। पहले उत्तरकाशी के पास किसी स्थान पर अन्य कुछ गुरुभाइयों के साथ रहते थे। वहाँ उनको एक दिन स्वप्न हुआ कि कश्मीर जाओ, वहीं तुम्हारा कर्म क्षेत्र है। जब अपना स्वप्न अशोकानन्द ने गुरु भाइयों को बताया तो उन्होंने व्यंग्य किया, 'सुंदर स्थान नहीं, वहाँ के सुंदर स्वादिष्ट फल तुमको बुला रहे हैं।' अशोकानंद ने कहा कि चूँकि स्वप्न आया है, अतः जाऊँगा तो अवश्य पर संकल्प करता हूँ कि वहाँ के फल नहीं खाऊँगा। तो स्वामी अशोकानंद ने भागदण्डी में अपना आश्रम बनाया, जहाँ यावज्जीवन उन्होंने करम (स्थानीय सस्ती सब्जी) के साग और चावल इत्यादि से काम चलाया। बूजी इन्हीं स्वामी अशोकानंद की शिष्या थीं। नियमित रूप से उनके पास जाती थीं और घर लौटकर उनके प्रवचन लिखती थीं। स्वामी अशोकानंद यद्यपि रामकृष्ण की परम्परा से जुड़े थे पर औपचारिक रूप से रामकृष्ण मिशन के सदस्य नहीं थे। बूजी ने उन्हें सलाह दी कि वे अपना आश्रम विवेकानंद केन्द्र (कन्याकुमारी) को सौंप दें। स्वामी जी ने इसके बारे में अधिक जानकारी चाही। बूजी ने श्री एकनाथ रानाडे (विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी के संस्थापक) को बुलाकर उनकी स्वामी जी से भेंट करवाई। स्वामी जी उनसे अत्यंत प्रभावित हुए पर स्थान की दूरी के कारण श्री रानाडे ने आश्रम की व्यवस्था का दायित्व लेने में असमर्थता व्यक्त की। बाद में भी बूजी इस दिशा में प्रयास करती रहीं। कानपुर में अंतिम समय में रानाडे जी ने उनसे अस्पताल में मुलाकात की और उसके कुछ ही क्षणों बाद बूजी चल बसीं। तब उनकी अंतिम इच्छा का सम्मान करते हुए रानाडे जी ने उस आश्रम का दायित्व विवेकानंद केंद्र के अंतर्गत ले लिया।

बूजी में समाज के सम्पूर्ण वर्गों के प्रति अथाह सहानुभूति थी। परिवार में जब भी कोई विवाह, यज्ञोपवीत इत्यादि संस्कार होते थे, उनमें हजारों गरीबों को खाना खिलाया जाता था। एक बार यज्ञोपवीत पर उन्होंने मुझसे कहा, 'सारे गरीबों को बुलवा लो, खाना खिलाओ'। मैंने कहा, जी, उसका तो कोई अंत ही नहीं है। तो बोलीं, अच्छा २००० टिकट छपवा लीजिए। जो भी गरीब दिखे चाहे किसी भी जाति, धर्म, वर्ग का हो, उसको दे दीजिए, जिससे वो उस दिन खाना खाने आ जाये।

ईश्वर में उनका अनन्य विश्वास था और इसी के परिणामस्वरूप वे सांसारिक समृद्धि - सम्पन्नता के मोह से मुक्त थीं। विभाजन में कश्मीर और पंजाब की उनकी जमीन का बहुतांश पाकिस्तान चला गया। अनुमान किया जाता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के हिसाब से सबसे ज्यादा नुकसान बूजी के मातृपरिवार का ही हुआ। तो उस समय जो Rehabilitation Commissioner था, वो उनका दूर का रिश्तेदार था। मैंने उनसे कहा, आप एक पत्र लिख दीजिए। आपको बदले में अच्छी से अच्छी जमीन, जहाँ आप चाहेंगी वहाँ मिल जायेगी। उन्होंने कहा, जमीन ईश्वर ने दी थी। उसी ने ले ली। अब उसके लिए एक मनुष्य के पीछे क्या भागना? तो उन्होंने पत्र लिखने से मना कर दिया।

उनको दुख था तो इस बात का कि उनके दो स्कूल पाकिस्तान में चले गये थे। स्कूलों में तो उनके प्राण बसते थे। तो उन्होंने फिर जम्मू में एक स्कूल खोला, अपने पिता के नाम से। एक घटना याद आती है। महाराजा ने एक संस्कृत विद्यालय खोला। उसके लिए दीवानिनी जी से मदद माँगी। माँ ने बूजी से पूछा, क्या करना चाहिए। बूजी ने तुरंत कहा, 'करना क्या चाहिए, रुपया देना चाहिए'। और उस विद्यालय के लिए २५००० रुपये दिये गये (ये ५० के दशक की बात है)। तो उनका सोचना ऐसा नहीं था जैसा अक्सर धनी लोगों का होता है 'पिता जी स्कूल खोल गये हैं, कोई कमाई नहीं है, अपनी तरफ से पैसा लगाना पड़ता है, अच्छी गले की रस्सी है'। बूजी तो अपना सर्वस्व सहर्ष स्कूलों में लगाने को तैयार रहती थीं - कमाई के लिए नहीं, शिक्षा के लिए और शिक्षा भी कैसी कि छात्र योग्य बनें, नाम कमायें और इससे भी ऊपर कि ईश्वरभक्त बनें, देशभक्त बनें। ऐसी मानसिकता के चलते उनकी आत्मिक शक्ति अद्‌भुत थी। जब उन्होंने अपनी माँ के नाम से शिशु मंदिर बनाया और मुझसे उसका संचालन करने को कहा तो मैं थोड़ा हिचकिचाया, 'कैसे चलाऊँगा? क्या करूँगा?' इस पर उनका कहना था, स्कूल तो चलेगा ही। वो तो माँ की आत्मा चलायेगी। हाँ, आप इससे जुड़ेंगे तो आपका भी नाम होगा। उनकी इसी आत्मिक शक्ति ने मुझे प्रेरणा दी, साहस दिया। श्रीनगर के अपने होटल चलाना छोड़कर मैं जम्मू आया और वो स्कूल चलाया। उनके इस विश्वास और आत्मिक शक्ति का ही परिणाम था कि जब-जब स्कूल में कोई दिक्कत आई साथ ही साथ उसका हल भी सामने आया। उन्हीं के आशीर्वाद से आज जम्मू में उस विद्यालय के सहयोगी अनेक विद्यालय चल रहे हैं।

विद्यालय के नाम पर तो वो अपना सब कुछ भूलकर, मगन होकर काम करती थीं। यहाँ जब दीनदयाल विद्यालय बनवा रही थीं तो जून की गर्मी में घण्टों धूप में बैठकर एक-एक चीज का हिसाब लगाती थीं - रोशनी यहाँ से आयेगी, यहाँ ब्लैकबोर्ड रहेगा, यहाँ खिड़की होगी...। विद्यालय बनवाने के लिए उन्होंने अपने गहने बेच डाले। इसलिए नहीं कि वे दरिद्र थीं बल्कि इसलिए कि गहने उनको बेकार की चीज लगते थे, जिनका उनके लिए और कोई उपयोग नहीं था। गहने ही क्यों, उनका तो सब कुछ जैसे शिक्षा के लिए था, समाज के लिए था, धर्म के लिए था, राष्ट्र के लिए था।

जीवन के प्रारम्भ से ही अपनी सुख-सुविधा को भूल कर अपने परिवार समाज, धर्म, राष्ट्र की सेवा में उन्होंने जिस तरह का कष्टसाध्य जीवन जियाँ था, स्वाभाविक ही था कि शरीर जर्जर हो चला था। शायद उन्हें अनुमान था कि मुझे जल्दी ही इस संसार से चले जाना है। इसीलिए अपना तन-मन-धन लगाकर, अपने अंतिम समय का एक-एक क्षण उन्होंने दीनदयाल विद्यालय की चिंता में लगाया। विद्यालय का नाम दीनदयाल जी के नाम पर उन्होंने इसलिए रखा कि वह उनको सच्चे राष्ट्रभक्त नजर आते थे, जो कांग्रेस के तथाकथित सत्तातुर देशभक्तों से अलग थे।'

दीनदयाल विद्यालय के संस्थापक आचार्य (संप्रति प्राचार्य) श्री ओमशङ्कर चूजी के बारे में अपने संस्मरण बताते हुए भावुक और रोमांचित हो उठते हैं-

बूजी कहती थीं, ये दून स्कूल, दून स्कूल क्या लगा रखी है? 'दीन' स्कूल कहो। दीनदयाल विद्यालय को वे किसी आम, छोटे विद्यालय के रूप में नहीं देखती थीं। वे इस विद्यालय को सर्वसुविधा सम्पन्न बनाना चाहती थीं। साथ ही उनका मंतव्य था कि यह विद्यालय प्रखर राष्ट्रवादी नागरिकों को उत्पन्न करे। इसीलिए सम्पूर्ण भवन के निर्माण में, एक-एक चीज में उनका दखल रहता था। भवन और परिवेश सुंदरतम हो जिससे छात्रों का अंतःकरण स्वाभाविक रूप से सुंदर बने। निर्माण के दौरान शौचालय स्नानागार बनने में कुछ विलम्ब हो गया। जब उनको पता चला कि छात्रावास के छात्रों, आचार्यों को नित्यकर्म के लिए एस.डी. कॉलेज जाना पड़ता है तो बहुत गुस्सा हुई। अपने सचिव को कठोर निर्देश देकर न्यूनतम समय में शौचालय-स्नानागार बनवाये।

छात्रों के संस्कार के लिए विद्यालय कक्ष और उसमें हनुमान जी का मंदिर बनवाया। जब मैंने कहा कि अभिनय इत्यादि में छात्रों की पीठ मूर्ति की ओर होगी जो कि प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति के लिए उचित नहीं है तो उन्होंने तुरंत कहा, उसके लिए दूसरा हॉल बनवा देंगे। हनुमान जी की कोई भी प्रचलित मूर्ति उनको यहाँ के लिए पसंद नहीं आई। मूर्ति का यह विग्रह स्वयं उनकी कल्पना का फल है - एक हाथ में गदा, शक्ति का प्रतीक, दूसरे हाथ में रामध्वज, भक्ति और विजय का प्रतीक। कहती थीं, प्रारम्भ से ही छात्रों का मनोबल ऊँचा रहना चाहिए, विजिगीषु मनोवृत्ति होनी चाहिए। यदि किसी प्रतिस्पर्धा में छात्र के प्रथम आने की सम्भावना न हो तो वहाँ मत भेजिए। बाद की पीढ़ी को लगना चाहिए कि इतनी कम सुविधाओं, इतने अभावों में भी विद्यालय का स्थान सदैव उच्च रहता था। तभी वे हर काम में सफल होंगे। उनकी इसी भावना का परिणाम है कि चाहे परीक्षा परिणाम हो, चाहे शिक्षणेतर गतिविधियाँ हों, चाहे छात्रों के उच्च संस्कार हों, दीनदयाल विद्यालय निरंतर प्रगति कर रहा है। इसके पूर्व छात्र भी हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर रहे हैं। और बूजी की आत्मा ही उन पूर्व छात्रों को विद्यालय से निरंतर जुड़े रहने की प्रेरणा दे रही है। विद्यालय के रजत जयंती वर्ष के प्रति उनके उत्साह को देखकर तो लगता है, मानो बूजी की आत्मा उन्हीं में उतर आई हो। बूजी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व स्व० भाऊराव देवरस के एक ही उद्‌गार में प्रकट हो जाता है - 'ईश्वर ने बूजी को यदि पुरुष का चोला दिया होता तो वे संघ के कार्यकर्ताओं में अग्रगण्य होतीं।'

प्राण नाथ कपूर : पूर्व प्रवक्ता, छात्रावास अधीक्षक, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय; बूजी की मृत्युपर्यन्त उनके प्रबंधक; संप्रति बूजी द्वारा स्थापित विद्यालयों का संचालन, जम्मू।

ओमशङ्कर : संस्थापक आचार्य, संप्रति प्राचार्य, पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

नीरज कुमार : युग-भारती ; शोध छात्र, आई.आई.टी. कानपुर।

सरस्वती की पुजारिन : श्रीमती सुशीला देवी

✍ प्राणनाथ कपूर

श्रीमती सुशीला देवी दीवान बद्रीनाथ व माता विद्यावती जी की ज्येष्ठ सपुत्री थीं। उन्हें अपने पूज्य पिता जी से कुशल प्रशासन व माता जी से धर्मपरायणता के गुण धरोहर में ही मिले थे। सम्पन्न पाकर उनमें ऐसा निखार आया कि उन्होंने अपने पूर्वजों की छवि को सूर्य की किरणों की भाँति दूर-दूर तक फैलाया। जम्मू-कश्मीर प्रदेश में इनके पूर्वज चार मुख्यमंत्रियों के रूप में जम्मू-कश्मीर की सेवा करते रहे थे। उनके ही पद-चिन्हों पर चलने वाली सुशीला देवी जी ने युवा-पीढ़ी की सेवा का बीड़ा उठाया और शिक्षा का प्रचार व प्रसार किया। आज दीवान बद्रीनाथ विद्या मन्दिर की रजत जयन्ती के शुभावसर पर सहसा ही उनकी स्मृति हमारे मानस पटल पर उभर आती है क्योंकि इस विद्यालय की स्थापना में उन्होंने विशेष भूमिका निभाई थी। अपने जीवनकाल में गुलाब के फूल की भाँति जो सुगन्ध व सुन्दरता उन्होंने चारों ओर फैलाई, आज उनके द्वारा व उनकी स्मृति में चलाई गई संस्थाएं वही सुरभि फैलाने में प्रयत्नशील हैं।

मई १९६२ का वह दिन मैं कभी भूल नहीं सकता क्योंकि उस दिन श्रीमती सुशीला देवी जी ने मुझे कहा था कि पूज्य माता जी को शिक्षा धर्मार्थ ट्रस्ट बनाये पाँच साल बीत गये परन्तु उनका स्वप्न अभी भी साकार नहीं हो पाया। दीवान बद्रीनाथ जी की पुण्य स्मृति में विद्या मन्दिर की स्थापना के लिए वह अधीर दिखाई देती थीं। मैंने उन से प्रार्थना की कि मेरे कन्धे इतने बोझ को उठाने में असमर्थ हैं। वे कुछ उत्तेजित हो कर बोलीं, 'भगवान् संघर्ष करने वाले का साथ देता है। माता जी तो भगवान् की अनन्य भक्त थीं। उनकी इच्छा तो पूरी हो कर ही रहेगी। तुम तो निमित्त मात्र हो। माता जी का आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। हमारा भी पूरा सहयोग तुम्हें मिलता रहेगा। सफलता अवश्यभावी है, आपको तो इसमें यश ही मिलेगा।'

उनके शब्दों का स्पष्ट प्रमाण मुझे जल्दी ही मिल गया। विद्यालय को प्रारम्भ हुए अभी छः मास भी नहीं हुए थे कि शिक्षा विभाग का एक दल निरीक्षण के लिए आ पहुँचा। दल के निरीक्षक विद्यालय की कार्य कुशलता देखकर आश्चर्य में पड़ गये। उनके वह शब्द जो उन्होंने विद्यालय की अग्रशीलता को देख कर कहे, वे आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं, "दीवानिनी जी इस विद्यालय पर स्वर्ग से भी आशीर्वाद प्रदान कर रही हैं। वरना इतने कम समय में इतनी सफलता सम्भव हो ही नहीं सकती।"

श्रीमती सुशीला देवी जी से हमें समय-समय पर मार्गदर्शन मिलता रहा। उनकी धारणा थी कि भारत की युवा पीढ़ी में साहस, सच्चाई, समाजसेवा व देशभक्ति जैसे गुणों का होना आवश्यक है। उनके बिना आधुनिक शिक्षा अधूरी ही है। जब वह विद्यालय के पहले वार्षिक समारोह पर पधारीं तो सचमुच ही गदगद हो विद्यालय को ८००० रुपये की राशि अनुदान दे कर उन्होंने अपनी प्रसन्नता प्रकट की।

शिक्षा के क्षेत्र में जहाँ भी उन्हें अवसर मिला वह सहायता के लिए तत्पर रहीं। देश के बँटवारे से पहले अमीनाबाद (पाकिस्तान) में दो विद्यालयों को, जो दीवान अमरनाथ जी की पुण्य स्मृति में चल रहे थे, उनका भरपूर सहयोग मिला। जम्मू में सनातन धर्म स्कूल व विद्यापीठ हेतु दीवान एस्टेट की ओर से की गई सहायता के पीछे भी उनका ही हाथ था। श्रीनगर में सनातन धर्म प्रताप हाईस्कूल की स्थापना के लिए मुझे उन्होंने ही बाध्य किया था। उन की ही प्रेरणा से दिल्ली में भी एक विद्यालय की स्थापना की गई। उनकी उत्कट इच्छा थी कि भारत के कोने-कोने में उत्तम विद्यालयों द्वारा युवा पीढ़ी की ऐसी सेवा की जाए कि उनमें संयम-आत्म सम्मान हो व देश को संसार में सिरमौर बनाने के लिए वह सदा तत्पर रहें। इस उद्‌देश्य के लिए वह इस संसार में अन्तिम दिनों तक संघर्ष करती रहीं। जैसे-जैसे इस संसार को छोड़ने के दिन नजदीक आते गये, उतना ही वे अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए अधीर हो उठीं। कानपुर में मई व जून महीने की कड़कती धूप भी उनके निश्चय को डिगा न सकी। महान् देशभक्त कर्मयोगी श्री दीनदयाल जी की पुण्य स्मृति में उन्होंने एक ऐसे

विद्यालय की स्थापना की जो अपने में एक मिसाल है। शरीर अस्वस्थ्य होने पर भी नियमानुसार प्रति दिन दो-दो घंटे प्रातः व सायं विद्यालय भवन के निर्माण में उन्होंने निरंतर लगाये। उन्होंने इस विद्यालय की तन-मन-धन से अद्वितीय सेवा की।

श्रीमती सुशीला देवी जी का आभार व्यक्त करने के लिए मुझे उपयुर्क्त शब्द नहीं मिल रहे हैं। ऐसी महान् आत्मा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का एक ही साधन है कि उनकी स्मृति में भी एक ऐसे विद्यालय की स्थापना की जाए जो छोटे बच्चों में मानवता के उत्तम गुणों का निर्माण करे। आखिर ३० मार्च,१९९७ को वह शुभ दिन आ ही गया जब तालाब तिलो में श्रीमती सुशीला देवी शिशु मंदिर की स्थापना की गई। यह उनका ही पुण्य प्रताप है कि इतने कम समय में विद्यालय में २२५ बच्चे पढ़ रहे हैं। उनकी सुविधा के लिए एक सुन्दर भवन है। वातावरण शिक्षा के लिए अनुकूल है। आधुनिक शिक्षा के साथ-साथ बच्चों को भारतीय सभ्यता की भी जानकारी दी जा रही है। योजना के अनुसार विद्यालय के प्रांगण में Mini Zoo, Mini Museum, Toyland व बाल-वाटिका की भी स्थापना की गई है ताकि खेल-खेल में ही बच्चे उत्तम शिक्षा प्राप्त कर सकें। यह विद्यालय श्रीमती सुशीला देवी जी की आभा को फैलाता रहेगा और सदा-सदा याद दिलाता रहेगा कि सरस्वती की ऐसी पुजारिन संसार में कभी-कभी ही उपलब्ध होती है।

आज दीवान बद्रीनाथ विद्या मन्दिर की रजत जयंती के शुभ अवसर पर हम सुशीला देवी जी को कोटि-कोटि प्रणाम व धन्यवाद करते हैं और इच्छा प्रकट करते हैं कि उनकी आत्मा हमारा मार्गदर्शन करती रहे ताकि उनके उच्च विचारों के अनुसार उनके द्वारा चलाई गई संस्थाएं समाज सेवा में लगी रहें।

प्राणनाथ कपूर : पूर्व प्रवक्ता, छात्रावास अधीक्षक, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय, कानपुर; बूजी की मृत्युपर्यन्त उनके प्रबंधक; संप्रति बूजी द्वारा स्थापित विद्यालयों के संचालक।

सुशीला माँ

इस धरती का कण-कण उसका, करता है सत्कार यहाँ पर,
जिस देवी के नाम पे है, इस मन्दिर का आधार यहाँ पर।
जितना सुन्दर उसका मन था, जितना सुन्दर उनका तन था,
उतना ही इस शिशु मन्दिर का, है सुन्दर आकार यहाँ पर।

मेरे नन्हे-मुन्ने बालक, पढ़-लिखकर विद्वान बनें सब,
आज हुआ सुशीला माँ का, यह सपना साकार यहाँ पर,

जब तक हैं यह चांद-सितारे, धरती पर आभा फैलाएं,
देश का नाम करें हम रोशन, इसकी किस्मत को चमकाएं।

☐ सरस्वती शिशु मंदिर, तालाब तिलो के शिशुओं द्वारा प्रस्तुत

सत्संग-लाभ का अमृत फल

✍ विश्वनाथ गौड़

अपने गुरु स्वामी अशोकानन्द के प्रवचनों के संकलन का कार्य बूजी ने मृत्यु पूर्व प्रारम्भ किया था जो कि उनकी मृत्योपरांत 'तत्व चिंतन के कुछ क्षण' के नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। इस कार्य में बूजी के सहायक रहे लेखक ने उपर्युक्त पुस्तक की भूमिका, जो कि आपके सामने प्रस्तुत है, में बूजी तथा उनके गुरु के संबंध में अपनी भावनाएँ व्यक्त की हैं, जिनसे तथ्यों के साथ-साथ गुरु-शिष्या के व्यक्तित्व का भी आभास मिलता है।

संसार-विष-वृक्ष के दो तथाकथित अमृत रूप फल भी, यदि सच पूछा जाये तो, पारमार्थिक रुप में दुःख मूलक ही हैं। पहले फल काव्य के अमृत रस के आस्वादन के प्रसंग में शोक-मूलक करुण रस को ही मूलभूत रस माना गया है। दूसरा फल सज्जनों और महान् व्यक्तियों का सत्संग है। इसका परिणाम भी दुखदायक ही होता है, 'बिछुरत एक प्रान हर लेहीं।' किसी प्राक्तन-पुण्य के उत्कर्ष से मुझे इस ग्रन्थ का संकलन, सम्पादन और प्रस्तुतीकरण करने वाली महनीया देवी श्रीमती सुशीला नरेंद्रजीत सिंह का सत्संग और सम्पर्क प्राप्त हुआ। निश्चय ही किसी दैवी प्रेरणा से, उन्होंने मुझे इस ग्रन्थ के प्रणयन में नियुक्त किया। प्रस्तुत ग्रन्थ उनकी आध्यात्मिक रुचि, गवेषणा, साधना और कृतित्व का चूड़ान्त निदर्शन है।

जम्मू कश्मीर राज्य के अभूतपूर्व दीवान स्व० बद्रीनाथ जी की पुत्री के रूप में २५अगस्त १९१४ को उन्होंने जन्म ग्रहण किया था। कालान्तर में विवाह-सम्बन्ध से वे कानपुर के अत्यन्त प्रसिद्ध नागरिक, प्रान्त और देश के प्रसिद्ध हिन्दूवादी जन-नायक रायबहादुर बाबू विक्रमाजीत सिंह जी की पुत्र-वधू बनीं। रायबहादुर साहब के मध्यम पुत्र सुग्रहीत नामधेय आदरणीय बाबू नरेंद्रजीत सिंह जी ने अपने विनय, शील, सौजन्य एवं औदार्य आदि गुणों से जो लोकप्रियता प्राप्त की, श्रीमती सुशीला जी भी उसी के अनुरूप योग्य धर्म पत्नी सिद्ध हुईं। दोनों का संयोग सर्वथा मणि-कांचन योग था।

आरम्भिक जीवन में उन्होंने स्नातक स्तर तक विद्या अध्ययन किया था। फिर अपने निजी परिश्रम और अध्यवसाय से अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत की अच्छी योग्यता उन्होंने प्राप्त कर ली थी। व्यक्तित्व के सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से वे भारतीयता, हिन्दुत्व, धर्म, दर्शन और भारतीय संस्कृति पर अदम्य आस्था, श्रद्धा और विश्वास रखती थीं। अंग्रेजियत की चकाचौंध से भरे हुए सम्भ्रान्त समाज के सम्मुख वे भारतीय उपलब्धियों पर अपनी आस्था और विश्वास का प्रकाशन अत्यन्त निर्भरता, स्पष्टवादिता और संकोचहीनता से किया करती थीं। देश और समाज में विद्या का अमृत-दान देने की जो परम्परा उन्हें अपने पति-गृह में मिली उसका वे सर्वतोभावेन पोषण किया करती थीं और अपनी शिक्षा-संस्थाओं के संचालन में सक्रिय सहयोग देती रहती थीं। भारत की शिक्षा-नीति के सम्बन्ध में उनके अपने निजी आदर्श और मान्यतायें थीं। सरकारी नियंत्रण में चलने वाली वर्तमान संस्थाओं से अपने इस उदात्त आदर्श की पूर्ति न होते देखकर उन्होंने दीनदयाल उपाध्याय स्मारक विद्यालय नामक शिक्षा-संस्था आरम्भ की। इस संस्था का बाहरी भवन यदि स्थूल रूप में उनके स्थापत्य-कला-कौशल का साक्ष्य वहन करता है तो इसकी आन्तरिक कार्य-प्रणाली और शिक्षा पद्धति उनके आदर्शों की उत्तुंगता और व्यावहारिक कार्यान्वयन की क्षमता को सिद्ध करती है। राजकीय अनुदान के बिना वे इसका सारा व्यय स्वयं वहन करती रही हैं। एक बार जब प्रसंगवश मैंने उन्हें बताया कि मेरी आदि से अन्त तक पूरी शिक्षा और तदुपरान्त अध्यापन-वृत्ति से जीविका-निर्वाह उन्हीं की संस्थाओं में हुआ है तो उन्हें विशेष प्रसन्नता हुई थी।

धर्म और दर्शन के प्रति स्वाभाविक रुचि के अनुशीलन में वे एक महात्मा का सत्संग-लाभ भी किया करती थीं। हिमाचल की देवभूमि के कश्मीर अंचल में अच्छाबल नामक अत्यन्त रमणीय स्थान है। इससे अनतिदूर आधुनिक पर्यटकों की धूम-धाम की सीमा से बाहर चीड़ के झाड़दार वृक्षों की पंक्तियों से आच्छादित एक परम रमणीय आश्रम-पद है। एक स्थानीय सरिता

की मुक्ताभ जलधारा इसे पवित्र करती है। इस आश्रम-पद का नाम नागदण्डी आश्रम है। अनन्त श्री विभूषित पूज्यपाद स्वामी अशोकानन्द जी ने इस आश्रम-पद की स्थापना करके इसे अपनी साधनाभूमि बनाया था। श्रीमत् अशोकानन्द जी महाराज बंगाली शरीर थे और महर्षि रामकृष्ण परमहंस जी की शिष्य-परम्परा में थे। पूर्वजन्म की साधानओं और संसिद्धियों का संघात साथ लेकर उन्होंने यह जन्म धारण किया था। बतलाया जाता है कि बाल्यावस्था में घर, और विद्यालय में भी जब-तब वे अनायास सहज समाधि की स्थिति में आ जाया करते थे। लोग इसे पढ़ाई से प्रमाद समझते और उनकी भर्त्सना किया करते थे। एक उचित सीमा तक विद्याध्ययन करने के बाद वे अपने असली आध्यात्मिक मार्ग पर लग गये। हिमाचल की सिद्धि-प्रद-भूमि के उत्तरकाशी क्षेत्र में आकर वे आध्यात्मिक साधना में लग गये। साधना के सोपान एक के बाद दूसरे आ ही रहे थे कि एक दिन इन्हें स्वप्न में दैवी आदेश हुआ कि उनकी साधना और कर्म का क्षेत्र कश्मीर है। फलतः उन्होंने कश्मीर की ओर प्रस्थान किया। स्वामी जी को स्थान-परिवर्तन करते देख किसी ने आक्षेप किया कि कश्मीर की फल-समृद्धि का आकर्षण उन्हें उस ओर खींच रहा है। इस पर महनीय आत्मा और प्रशस्त मन वाले स्वामी जी ने कश्मीर की उपत्यका में उत्पन्न होने वाले फलों को न खाने की प्रतिज्ञा कर ली और यावज्जीवन उसका निर्वाह किया। अच्छाबल के समीप आकर उन्होंने इस आश्रम पद की स्थापना की और इसके परिसर में ठाकुर (महर्षि रामकृष्ण परमहंस) का एक मन्दिर भी बनवाया। एक लम्बे समय तक वहीं साधना करते हुए सन् १९७१ के शीतकाल में उन्होंने अपने पार्थिव शरीर का परित्याग किया।

आदरणीय श्रीमती सुशीला नरेंद्रजीत सिंह इन स्वामी जी की भक्त थीं। समय मिलने पर वे उनके श्री चरणों में बैठकर सत्संग लाभ किया करती थीं। प्रश्नोत्तर के रूप में अनेक आध्यामिक और साधना-विषयक प्रसंगों की चर्चा हुआ करती थी। वे घर आकर स्वामीजी के श्रीमुख से निकले हुए वचनामृत को लिख लिया करती थीं। धीरे-धीरे स्वामी जी के विचार पर्याप्त मात्रा में संचित हो गये। स्वामी जी अपनी बातों की लिखित और प्रकाशित रूप पसन्द नहीं करते थे।

श्रीमती सुशीला देवी ने इन उपदेशों का मनन और अध्ययन अनेक बार किया। इससे इन उपदेशों की विषय-वस्तु में उनकी अच्छी पैठ हो गयी थी। फिर विषय की दृष्टि से उन्होंने प्रश्नों का वर्गीकरण किया और इसी दृष्टि से उत्तर-वस्तु का सम्पादन और संकलन भी कर लिया। स्वामी जी अंग्रेजी के अच्छे विद्वान थे और बंगला उनकी मातृ भाषा थी। उनके हिन्दी प्रयोग में बंगला की छाया और प्रभाव स्पष्ट था। उनके वाक्-प्रवाह में बीच-बीच में अंग्रेजी के शब्द, वाक्यांश, वाक्य और वाक्य-कदम्ब स्वाभाविक रूप से आते रहते थे। आदरणीया 'बूजी' (यही उनका पारिवारिक सम्बोधन था) ने लोक-हित की कामना से इस उपदेशामृत को पुस्तकाकार प्रकाशित करने का विचार किया और इसकी 'प्रेस-काफी' तैयार करने में लग गई। 'प्रेस-कापी' तैयार करने में उन्हें किसी की सहायता की आवश्यकता पड़ी और, किसी दैवी अन्तःप्रेरणा से तथा मेरे किसी पुण्य के फलस्वरूप, सहायक के रूप में उन्होंने मुझे छाँटा।

इन महर्षि-कल्प सिद्ध महात्मा के वचनों में किसी प्रकार का भाषागत अथवा अन्य प्रकार का संशोधन उन्हें इष्ट न था। विभिन्न खण्डों के शीर्षक देना भी उन्हें रुचिकर नहीं लगता था। ग्रन्थ के नामकरण का अवसर भी कभी नहीं आ पाया। केवल अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का समावेश किया जाता रहा और हिन्दी अनुवाद को वे बड़े विचार और विमर्श के बाद स्वीकार करती थीं। ग्रन्थ की 'प्रेस-कापी' भी लगभग तैयार हो गई।

पर प्रभु की इच्छा अन्य प्रकार की थी। ग्रन्थ पूरा होते-होते इस भोगायतन पाञ्च भौतिक शरीर के निग्रह स्थानों में छिपे हुए रोगों ने सहसा उग्र रूप धारण कर लिया। अनेक उपचार किए गये। किन्तु प्रतिकार का कोई विधान सफल नहीं हुआ। २ मई १९७३ के दिन मृत्यु के विशाल अन्धकार ने जीवन की क्षीण होती हुई ज्योति को निगल लिया। चारों ओर शोक-पूर्ण, शीतल, निष्ठुर अन्धकार का साम्राज्य हो गया। सब को बिलखता छोड़ वे असमय में ही निर्वाण-पद को प्राप्त हो गईं। इस कार्य के प्रसंग से उनके पास बैठने और उनके व्यक्तित्व की महान छाया का अनुभव करने का जो पुण्य अवसर मिला, उसकी स्मृति कितनी कष्ट दायिनी है! अच्छे लोगों के सत्संग-लाभ का दूसरा अमृत-फल इसी प्रकार शोक-पर्यवसायी होता है।

उनके जीवन के अधूरे व्रत को उनके साधुशील पति-पुत्र इस ग्रन्थ का प्रकाशन करके भक्ति-पूर्वक पूरा कर रहे हैं। यही उनका सच्चा श्राद्ध है।

विश्वनाथ गौड़ : पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय, कानपुर।

बूजी

✍ शशि शर्मा, दशम

'एक दीनदयाल भिटा है तो क्या, मैं ऐसे अनेक दीनदयाल ढाल कर रख दूँगी' - ऐसा आत्मविश्वास लेकर अपनी कल्पना के भव्यतम रूप को दीनदयाल विद्यालय का मूर्त रूप देने वाली श्रद्धेया बूजी अब हमारे बीच में नहीं हैं, किन्तु उनका शील, उनका स्नेह तथा उनका संबल आज भी हमारा पाथेय है, और जीवनपर्यन्त रहेगा।

भारतीय संस्कृति में आपादमस्तक स्नात, सत्कर्मों की पोषिका, सनातन धर्म के प्रति एक आराधक की भाँति अपना जीवन समर्पित कर देने वाली, शिक्षा मर्मज्ञा आदरणीया बूजी का नाम सुशीला था। आपका जन्म कश्मीर के धनकुबेर दीवान बद्रीनाथ जी के सुविख्यात परिवार में हुआ था। हिमालय की सुरम्य घाटी में स्थित उनका महल आज भी उनकी सम्पन्नता की कहानी कह रहा है। किन्तु धन-सम्पत्ति का मोह उनके लिए अधिक आकर्षण न बन सका। परिणामस्वरूप निस्पृह भाव से आप सामाजिक कार्यों की ओर उन्मुख होने लगीं। कश्मीर के असीम सौंदर्य की एक स्पष्ट छाप उनके स्वभाव में थी। पूर्व संचित सत्कर्मों के ही कारण उनका विवाह भी कानपुर के एक प्रख्यात कुल में जन्मे, उनके लिए सर्वथा उपयुक्त, असामान्य व्यक्तित्व सम्पन्न, भारतीयता के प्रति अगाध श्रद्धा रखने वाले, माननीय बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह के साथ हुआ।

भारतीयता के सुदृढ़ आधार पर हिन्दू संस्कृति के पुनरुत्थान के जो स्वप्न आपने देखे, वही आपको सामान्य धरातल से ऊपर उठ कर कुछ करने की प्रेरणा दे गये। फलस्वरूप शिक्षा-धर्म-संस्कृति के संरक्षण-संवर्धन में ही आपने अपना जीवन समर्पित कर दिया। भारतीयता के इस नष्टप्राय, जीर्ण-शीर्ण प्रासाद के नवनिर्माण के स्वप्न देखने वाली बूजी, स्वप्नलोक में ही विचरण करती रही हों - ऐसा नहीं था। अपनी शक्ति भर इन स्वप्नों के क्रियान्वयन का उन्होंने पूर्ण प्रयास भी किया।

उनके जीवन में लगन एवं कर्मठता कूट-कूट कर भरी थी। सन् १९४८ की फरवरी में जब देश की सर्वोत्कृष्ट संस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर कुछ मिथ्या-भ्रमों के कारण अपनी ही सरकार ने प्रतिबंध की घोषणा कर दी और परिणाम स्वरूप अनेक संघ-प्रेमी एवं संघ के प्रत्यक्ष कार्यकर्ता जेलों में भरे जाने लगे, उस समय सह प्रांत संघचालक माननीय बैरिस्टर साहब भी कारागार ले जाये गये। वास्तव में यह प्रसंग किसी भी सामान्य नारी के लिए स्वाभाविक रूप से बड़े दुःख का विषय था; किन्तु उस समय भी आपने केवल माननीय बैरिस्टर साहब को ही नहीं, वरन् अनेक बंदी कार्यकर्ताओं को जो प्रेरणायें दीं, वे मात्र अनुभव ही की जा सकती हैं। इतना ही नहीं जब तक माननीय बैरिस्टर साहब एवं अन्य प्रमुख कार्यकर्ता जेल में रहे, माननीया बूजी ने भूमि पर ही शयन किया तथा एक तपस्विनी की भाँति कठोर जीवन व्यतीत किया।

समय व्यतीत होने के साथ ही संघ के प्रति गलत धारणायें भी समाप्त हुई और परिणामतः सरकार को संघ पर से प्रतिबंध हटाना पड़ा। संघ के कार्यकर्ता फिर से राष्ट्र-निर्माण के कार्य में जुट गये। नवीन शक्ति प्राप्त कर इसी संस्था ने जनसंघ के रूप में भी राजनीति के द्वारा जनसेवा प्रारम्भ की। दीनदयाल जी जैसे अनेक कार्यकर्ता पूरे उत्साह के साथ इसमें जुटे और अखिल भारतीय संस्था के रूप में इसे प्रमुख स्थान दिलाया। दीनदयाल जी का संबंध संघ के एक कार्यकर्ता होने के नाते बूजी से पहले से ही था। राजनीति में प्रवेश करने के बाद तथा राजनैतिक घिसी-पिटी लकीर से हट कर जब उस महामनीषी ने 'एकात्म मानववाद' एवं पार्टी-चुनाव जैसे अभिनव प्रयोग प्रस्तुत किये तो कतिपय प्रतिगामी विचारधारा वालों को उनका अस्तित्व खटकने लगा। परिणाम बड़े भयावह रूप में सामने आया और जिसकी कोई कल्पना भी न कर सकता था, वह राक्षसी कृत्य उन्हीं सिरफिरों द्वारा कर डाला गया। तात्पर्य यह कि उनकी हत्या कर दी गई। राष्ट्र के प्रति समर्पित इस व्यक्तित्व का इस प्रकार अवसान देखकर बूजी को जो हार्दिक पीड़ा हुई, वह अवर्णनीय है। समाचार सुनकर उनके वे शोकाप्लावित उच्छ्वास प्रत्यक्षदर्शियों की आज भी हिचकी बाँध देते हैं। राष्ट्र को

अपना सर्वस्व अर्पित कर देने वाले इस महामनीषी का क्रूरतापूर्ण अंत उनको एक चिर पीड़ा दे गया और उस पीड़ा का समाधान इस विद्यालय के रूप में खोजने की उन्होंने चेष्टा की। इसी आशा के साथ इस विद्यालय का निर्माण हुआ कि भारत माता एक नहीं अनेक दीनदयालों के प्रयासों से पुष्पित पल्लवित होगी। उनके मन में इस कार्य की पूर्णता के लिए कितनी लगन थी, यह उनके विद्यालय-भवन निर्माण के समय किये गये परिश्रम से आँका जा सकता है। उन्होंने स्वयं अपनी निरीक्षण-शक्ति के आधार पर ही विद्यालय का निर्माण-कार्य एक वर्ष के अन्दर सम्पन्न कराया। जो श्रमिक इस कार्य में लगे थे, उन्हें भी वे योग्यतानुसार पुरस्कार आदि देकर संतुष्ट करती रहती थीं। उनके स्नेहपूर्ण व्यवहार के कारण वे सब उनके प्रति प्राणों से भी अधिक प्रेम और श्रद्धा रखते थे।

बूजी व्यावहारिक शिक्षा की पक्षधर थीं। उनका विचार था - 'यदि अध्यापक विद्यार्थियों को विमान के विषय में बताना चाहता है तो वह मौखिक बातें ही न करके यदि एक विमान का पूर्ण ढाँचा सामने रखकर उसकी प्रक्रिया स्पष्ट करे तो वह अधिक प्रभावकारी होगा'। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि वे अपने विद्यालय में भी ऐसी व्यावहारिक शिक्षा ही राष्ट्र के भावी कर्णधारों को दिलायें।

स्वास्थ्य एवं सच्चरित्रता का कितना ध्यान था उनको, इसका प्रमाण विद्यालय के विशाल-कक्ष में स्थापित भगवान् हनुमान की मूर्ति है। हनुमान् जी की प्राण-प्रतिष्ठा के अवसर पर मिष्ठान्न वितरण प्रत्येक उपस्थित व्यक्ति के लिए करवा कर आपने ऐसा वातवरण उत्पन्न कर दिया मानो उनके किसी घनिष्टतम पारिवारिक व्यक्ति का कोई संस्कार सम्पन्न हो रहा हो। इस कार्यक्रम में हिन्दुत्व के प्रति उनकी आस्था, आत्मीयता और सेवाभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित थे। धर्म एवं संस्कृति से संबंधित सभी कार्य आपने अपने ही कुशल निरीक्षण में किये।

सरलता, सहृदयता, सद्व्यवहार और वात्सल्य की तो वे प्रतिमूर्ति थीं। छात्रों के आचार-व्यवहार से लेकर उनके आहार तक की चिंता उन्होंने की। बालकों तथा अध्यापकों की समस्याओं के समाधान हेतु वे सदैव तत्पर रहती थीं। व्यवहार में वे कोमल अवश्य थीं, किन्तु उनका एक विशिष्ट प्रभाव भी सदैव व्याप्त रहता था। प्रशासनिक कुशलता में तो वे अद्वितीय थीं। उनकी आज्ञा का पालन सभी सहर्ष किया करते थे। छात्रों को सदा ही उनसे मातृवत् स्नेह की प्राप्ति हुई।

विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय के अनेक निर्धन किंतु मेधावी छात्र उनसे आर्थिक सहायता प्राप्त करते रहे। यश-प्राप्ति के प्रति आकर्षण न होने के कारण उन्होंने इस राशि को गुप्त ही रखा। उनकी प्रसिद्धि-पराङ्मुखता इसी बात से सुस्पष्ट है कि उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् उनका एक भी चित्र सहज रूप से प्राप्त न हो सका। बड़े परिश्रम के बाद उनकी पुत्री के घर (अमृतसर) में एक चित्र प्राप्त हो सका, जिसकी कई प्रतियाँ करवाकर उनसे संबंधित संस्थाओं ने अपने यहाँ लगवायीं। इस प्रकार वे समाजोत्थान तो चाहती थीं, राष्ट्र के नवनिर्माण एवं अखण्डता के लिए प्राणपण से प्रयत्न तो करती थीं, किन्तु यश-प्राप्ति के संकुचित उद्देश्य को लेकर नहीं।

वे केवल समाज-सेवा में तल्लीन होकर अपने पारिवारिक कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो गयी हों - ऐसा कदापि नहीं था। माननीय बैरिस्टर साहब की देशभक्ति की पुण्य सलिला को प्रवाह प्रदान करने का श्रेय भी यदि उनको दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। उनके परिवार का स्नेहपूर्ण व्यवहार, धर्मपरायणता और उज्ज्वल चरित्र-ये सभी उनकी इस जीवनपर्यंत चलनेवाली तपश्चर्या के ही सुफल हैं।

इस प्रकार वे स्वयं हमारे लिए अनेक व्यावहारिक आदर्श प्रस्तुत कर गयी हैं। यद्यपि आज वह दिव्य शक्ति विदा हो गयी है, तथापि वह हमारा मार्ग निर्देशन कर रही है, हमारे हृदयों में नवीन आशा, विश्वास, शक्ति एवं दृढ़ता का सञ्चार कर रही है। हमारे लिए समस्त साधनों की व्यवस्था करके तथा लक्ष्य बताकर वह दिव्य शक्ति आज ओझल अवश्य हो गयी है, किन्तु अब भी आशा भरे नेत्रों से हमें निर्निमेष निहार रही है कि हम उनके स्वप्नों के भारत का निर्माण कर रहे हैं अथवा शिथिल-मन पड़े हैं। इस विद्यालय की प्रतिष्ठा के अनुरूप अपने को ढालकर उनकी कल्पना को साकार कर देना ही उनके प्रति सर्वोत्तम श्रद्धांजलि होगी।

❐ नीराजन, १९७४-७५

तुम पर पुरातन क्या नई पीढ़ी को भी गर्व है

✍ ब्रह्म मिश्र

नहीं ! नहीं ! हम नहीं गिराएंगे
अपने नेत्रों से, अश्रु की एक भी बूंद,
क्योंकि, ओ स्मृति शेष ! ओ यशः काय!
ओ अक्षर-अनन्त-आभामण्डल के पर्याय!
अपनी स्थितिप्रज्ञता में तुमने
चैतन्य प्रणव को
अपनी धमनियों में अनुभव किया।
समाजिक संदर्भों से सम्पृक्त होकर भी,
सदैव कुण्ठा मुक्त जीवन जिया।
ओ अजातशत्रु!
तुम्हारी वाणी से हमेशा अमृतस्विनी ही बही है।
इसीलिए आज तुम्हारी अनुपस्थिति में भी,
तुम्हारी अक्षय कीर्ति क्षण-क्षण केशर-कस्तूरी ही रही है।
ओ पुण्य पुंज !
तुम्हारा मरण भी, वन्दनीय, अभिनन्दीय है,
उत्सव है, पर्व है।
तुम पर पुरातन क्या नयी पीढ़ी को भी गर्व है।
ओ वर्णनातीत ! अनुभवातीत ! कल्पनातीत !
तुम्हारे संस्मरण छंद, तुम्हारे आचरण गीत,
तुम जहाँ हो वहीं से हमें ऊर्जस्वित करो।
हमारा भ्रम हरो, तम हरो।
प्रार्थना है - हम जब कभी महाशून्य में मिलें,
तुम्हारी ही तरह मिलें।
हम जहाँ कहीं भी खिलें, तुम्हारी ही तरह खिलें।

❐ (नीराजन, श्रद्धांजलि अंक, १९९४)

ब्रह्म मिश्र : कवि, कानपुर।

आदर्श सेवा और सेवा के आदर्श

भगवदीय पुरुष बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह

✍ स्वामी देवादास

भगवान् जिससे सेवा लेना चाहते हैं, वही व्यक्ति सेवा कर सकने में सक्षम हो पाता है, क्योंकि सेवा का कार्य बहुत कठिन है। इसीलिए श्री राम चरित मानस में कहा गया है, 'सबसे सेवक धर्म कठोरा'। सेवक को सदा यही विचार करना चाहिए कि मुझमें यह योग्यता कहाँ कि मैं किसी की सेवा कर सकूँ? यह तो स्वयं श्री हरि की इच्छा है जिससे कि उनकी कृपा द्वारा यह कार्य स्वयमेव होता चला जा रहा है। जिस व्यक्ति के मन में सेवा का अहंकार या दम्भ आ जाता है। उसे भगवान अपनी सेवा से हटा देते हैं। इसलिए सेवक को सदा अहंकार रहित एवं प्रदर्शन रहित रहना चाहिए। कई बार मनुष्य भगवत्कृपा-संचालित सेवाकार्य को अपनी योग्यता का प्रतिफल मानने लग जाता है। सेवा का अवसर प्राप्त होने पर सावधान साधक उसे ईश्वर-प्रदत्त अवसर समझकर मनोयोग से उसमें लग जाता है। साधक यह मानता है कि यह कार्य भगवान स्वयं कर रहे हैं। मुझे तो वे अपना समझ कर यश प्रदान कर रहे हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा भी है, 'अर्जुन, तेरे ये सभी शत्रु मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं - 'मयैव ते निहताः पूर्वमेव', तू केवल निमित्त बन जा - 'निमित्त मात्र भव सव्यसाचिन्।' सेवक विचार करता है कि श्री भगवान मुझ तुच्छ जीव को अपना मानते हैं, तभी तो कृपापूर्वक सेवा का सुअवसर देते हैं। यह विचार मस्तिष्क में आते ही सेवक अहंकार से अत्यन्त दूर होकर भगवान के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ होकर प्रेम-विभोर हो जाता है, उसकी वाणी गद्गद हो जाती है तथा नयनों में स्नेह का निर्मल नीर सहज ही दृष्टिगोचर होने लगता है। सेवाकार्य में पग-पग पर अपने ऊपर श्री हरि का वरद हस्त समझकर उत्साह से हृदय भरपूर रहता है। हर सफलता को भगवत्कृपायुक्त एवं हर विफलता को अपनी असावधानी जनित भूल मानना सच्चे सेवक का लक्षण है।

जिसकी सेवा की जा रही हो उसको भगवान का स्वरूप या भगवान का भेजा हुआ भगवद्भक्त मानना चाहिए। सेवक को ऐसा सोचना चाहिए कि इनकी कृपा है जो मुझ जैसे अधम की सेवा स्वीकार करने ये आ गये हैं। निश्चित ही भगवान ही ने मेरे कल्याण के लिए इन्हें भेजा है। जो व्यक्ति सेवा करके सेव्य को अहसान के भार से दबा देता है, वह तो भगवान को दुःख ही देता है। इसलिए हो सके तो सेव्य के सामने बिना जाये अथवा बिना परिचय दिए ही सेवा करनी चाहिए। किसी के प्रति उपकार (सेवा) करके उससे यह आशा रखना कि यह जब भी मुझे मिले तो हाथ जोड़कर मुझे प्रणाम करे, अत्यन्त नीचता है। अपने मुख से तो कभी भी अपने द्वारा की गयी सेवा का ढिंढोरा पीटना ही नहीं चाहिए। जो कीर्ति पाने की अभिलाषा से सेवा करते हैं उन्हें केवल कीर्ति ही मिलती है, किन्तु जो अपने श्री भगवान के वचन 'सर्वभूत हिते रताः' का ख्याल करके प्रभु प्रीत्यर्थ सेवा करते हैं, उन्हें भगवान की प्रीति का अमूल्य धन प्राप्त होता है। इसलिए सेवा के कार्य यदि गोपनीयता के साथ किए जाए तो उनकी विशेष महिमा होती है। जैसे रात्रि में जब सारे जीव निद्रा की सुखद क्रोड में विश्रान्ति का आनन्द लेते होते हैं, तो निशानाथ उनके कल्याण के लिए वनस्पतियों को अपनी अमृत किरणों द्वारा सिंचित करके उन्हें औषध बना देते हैं, उसी प्रकार सेवक सेवा का विज्ञापन किए बिना सेवा करता है।

सेव्य की इच्छा ही सेवक की इच्छा होती है। जो सेवक अपने स्वामी की इच्छा में अपनी इच्छा नहीं मिला देता और अपनी इच्छा को महत्व देता है वह सच्चा सेवक नहीं है। 'राजी हैं हम उसी में, जिसमें तेरी रजा है' सेवक का स्वभाव होता है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में वर्णन है कि एक बार राम ने पंचवटी में लक्ष्मण से कहा कि लक्ष्मण, जो स्थान तुम्हें पसन्द हो अर्थात् जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ पर कुटिया का निर्माण करो। कुछ देर के बाद राम ने लक्ष्मण की ओर देखा तो वे बैठे

हुए एक जगह रो रहे थे। श्री राम ने पूछा, 'लक्ष्मण! तुम क्यों रुदन करने लगे'। लक्ष्मण जी ने कहा, 'प्रभु! मैं आपका सेवक हूँ और मुझसे आप कह रहे हैं कि जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ कुटी बनाओ। भगवन! जब से मैं वनवास के लिए अयोध्या से आया हूँ, मैंने अपनी इच्छाओं का त्याग करके आपकी इच्छा के अनुसार चलना ही अपना कर्तव्य माना है। किन्तु आज आप मुझे अपनी इच्छा न बताकर मेरी इच्छा की बात कर रहे हैं। इसी से मेरी सेवा मुझे दोषपूर्ण प्रतीत हो रही है'। तब श्री राम ने बड़े प्रेम से लक्ष्मण के सिर पर हाथ फेरकर एक स्थान कुटी के लिए दिखलाया।

सेवक सेवा में अपना कोई स्वार्थ नहीं आने देता। जो सेवा के पुनीत कार्य में अपने तुच्छ स्वार्थों को भी साथ रखता है, उसकी सेवा कलंकित हो जाती है। श्री भरत जी ने राम से कहा था -

'जो सेवक साहिबहि सँकोची।
निज हित चहइ तास मति पोची।'

अर्थात् जो सेवक अपने स्वार्थ को साधने के लिए स्वामी को संकोच में डाल देता है, उसकी बुद्धि अत्यन्त निकृष्ट होती है। श्री भरत जी सेवा के इसी आदर्श का पालन करने के लिए राम को राजा बनाने का आग्रह त्याग कर चौदह वर्षों तक राज्य कार्य करते रहे। सेव्य की प्रसन्नता एवं सेव्य को सुख देना ही सेवक का उद्देश्य होता है। जिस कार्य द्वारा स्वामी का हित हो, भले ही वे उसमें विशेष प्रसन्न न हों, करते रहना सेवक का कर्त्तव्य है। स्वामी का अहित होता हो और वे भ्रमवश प्रसन्न होते हों, ऐसा कार्य सेवक को कदापि नहीं करना चाहिए। सेवा के फलस्वरूप कुछ भी चाहना सेवा की बिक्री करना है। इसीलिए किसी सन्त ने कहा है-

'मैं अगर माँगूँ तुझे तो तू न देना कुछ मुझे।
वर्ना आशिक नहीं मजदूर हो जाऊँगा मैं।'

लक्ष्मण जी ने पंचवटी में कुटी तैयार करके जब प्रभु को दिखाई तो राम ने कहा, 'लक्ष्मण ! आज मेरे पास तुम्हें देने को कुछ नहीं है, इसलिए मैं अपना आलिंगन ही तुम्हें प्रदान करता हूँ'। ऐसा कहते हुए राम ने लक्ष्मण को हृदय से लगा लिया। सेवा का सच्चा फल यही है। सेव्य द्वारा स्नेहपूर्वक सेवक को हृदय से स्वीकार करने से बढ़कर और क्या फल हो सकता है?

श्री भगवान प्रत्यक्ष रूप से सेवा स्वीकार करने के लिए सभी को सुलभ तो हैं नहीं, इसलिए पहले हरिभक्तों की सेवा, फिर अभाव ग्रस्त एवं दुखी मनुष्यों की सेवा और इसके बाद प्राणिमात्र की सेवा करने की भावना रखनी चाहिए। अपने आश्रितों की सेवा देखकर कभी-कभी भगवान इतने प्रसन्न होते हैं कि स्वयं दीनानाथ होते हुए भी दीन बनकर सेवा स्वीकार करने हेतु आ जाते हैं। बहुत से हरिभक्तों को सेवा द्वारा भगवत्प्राप्ति हो गयी है, परन्तु स्थानाभाव के कारण इसका विस्तार यहाँ नहीं किया जा रहा है।

सेवक को सेवा के लिए जिन-जिन वस्तुओं का उपयोग करने का सुअवसर प्राप्त हो, उन-उन वस्तुओं पर से अपनापन हटा कर उन्हें सेव्य की ही वस्तु समझना चाहिए। यहाँ तक कि अपना शरीर, बुद्धि आदि भी सेव्य के ही समझना चाहिए। सेवा के पदार्थों को अपना मानकर सेवा करने पर सेवा में अहंकार एवं दिखावा आ जाता है। सेवा ही जीवन का सहज स्वरूप होना चाहिए। जो कार्य सदा किया जाता है उसमें किसी को अभिमान नहीं आता, जैसे कोई यह अभिमान नहीं करता कि आज मैंने श्वास लिया, आज मैंने भोजन किया आदि। किन्तु यदि कभी किसी के लिए थोड़ा सा भोजन देना पड़ जाये या अन्य कोई कार्य करना पड़ जाये तो अभिमान बहुत जल्दी आ जाता है। सेवा करना जिनका सहज स्वभाव नहीं है, वे लोग सेवा का अवसर आने पर भी चूक जाते हैं। यदि अपने पास धन, शक्ति, वस्तु आदि न हों तो सेवा करने वाले पर अपनी हार्दिक प्रसन्नता एवं दुखियों को देख कर दुखी हो जाना भी सेवा ही है। सच्चे सेवापरायण महामानवों का साथ करने पर जीवन सरलता से सेवामय हो जाता है।

एक बात बहुत ही महत्वपूर्ण है। सेवा करने वाला व्यक्ति यदि सेवा के साथ-साथ भगवन्नाम जप या भगवत्स्मरण करता रहे तो परमात्मा की सर्वत्र व्याप्त शक्ति उसके साथ हो जाती है। इसलिए गीतोक्त 'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनु स्मर युध्य च' का आदर्श अपने जीवन में उतारना चाहिए अर्थात्

'मुख में हो राम नाम, राम सेवा हाथ में।
तू अकेला नहीं प्यारे, राम तेरे साथ में।'

सेवा द्वारा धीरे-धीरे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। किन्तु जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है उन्हें भी सेवा करनी चाहिए क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों का ही अनुगमन सामान्य लोग किया करते हैं। इस बात को गीता के तृतीय अध्याय में स्वयं भगवान ने भी कहा है-

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेत्तरो जनः'

सेवा के बल से सेवक सेव्य को अपने वश में कर लेता है अर्थात् उस पर अधिकार कर लेता है। इस बात को समझ कर साधकों को किसी से ज्यादा सेवा नहीं लेनी चाहिए नहीं तो उस व्यक्ति के दबाव में आ जाना पड़ता है और अपनी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। सच्चा सेवक सेवा के बल से एक दिन स्वयं सेव्य को अपना बना लेता है, अर्थात् सेव्य सेवक हो जाता है और सेवक सेव्य हो जाता है। भागवत् में लिखा है कि अम्बरीष की सेवा के कारण भगवान उनके वश में हो गये थे और अपने को उनका पराधीन मानते थे-

'अहं भक्त पराधीनः ह्यः स्वतंत्र इव द्विज'

सेवाधर्म के एक आदर्श पुरुष श्री बैरिस्टर साहब अपनी पत्नी के आभूषण, अपने विवेक एवं पुरुषार्थ तथा धन आदि के साथ-साथ अपने सम्पूर्ण जीवन को सेवार्थ समर्पित कर धन्य हो गये। उन्होंने शिक्षा संस्कृति आदि के विकास के लिए पं. दीनदयाल उपाध्याय विद्यालयादिक संस्थाओं को जन्म देकर महान सेवाकार्य किये जो अनन्त काल तक समाज को अपना योगदान देते रहेंगे। कानपुर नगर की जनता के हृदय में उनके प्रति आन्तरिक श्रद्धा एवं आत्मीयता है। उनके कार्यों के लिए कानपुर महानगर की जनता उनकी चिर ऋणी रहेगी। उन निष्काम कर्मयोगी भगवदीय पुरुष के आत्मिक कल्याण के लिए मेरी हृदय से मङ्गल कामना एवं भगवान से प्रार्थना है। उनके स्मरण में जो कुछ भी कार्य उनके अनुयायी कर सकें, अवश्य करें। इससे सबका कल्याण होगा।

❐ (निराजन, श्रद्धांजलि अंक, १९९४)

सन्त शिरोमणि स्वामी देवादास जी महाराज : आई बाबा का आश्रम, गंगमहल, कर्णवास, जिला बुलंदशहर।

तस्यैव जीवितम् श्लाघ्ये यः परार्थं हि जीवति

✍ कुप्. सी. सुदर्शन

मा. बैरिस्टर साहब अपने साथ एक पूरा इतिहास समेट कर ले गए। आरम्भ से ही उत्तर प्रदेश में संघकार्य को उन जैसे प्रभावी व्यक्तित्व का जो सम्बल मिला, विशेषकर उन दिनों में जब संघ के साथ जुड़ना कोई गौरवपूर्ण बात नहीं मानी जाती थी, उस क्षेत्र में कार्य की वृद्धि के लिए बहुत बड़ा आधार बना। स्वयं बैरिस्टर साहब के कथनानुसार उन्हें संघ के एक उत्सव में सर्वप्रथम ले जाने का श्रेय पड़ोस के एक बाल स्वयंसेवक के अतीव आग्रह को था। उस बाल स्वयंसेवक की लगन ने उन्हें संघकार्य का प्रथम दर्शन कराया और वे संघ के ही हो गये। सब प्रकार के उतार-चढ़ाव, अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों में उनके नेतृत्व की प्रखरता ने स्वयंसेवकों को प्रेरित किया और वे कार्य को ऊँचाइयों तक ले जाने में समर्थ हुए। उनके नेतृत्व में शिक्षा के क्षेत्र में जिन संस्थाओं का जन्म हुआ, उन संस्थाओं ने न केवल कानपुर में अपितु सम्पूर्ण देश के शैक्षणिक जगत में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया। उनके साथ सामाजिक कार्यों में स्व० बूजी के समर्थ और सक्षम सहयोग ने सोने में सोहागे का कार्य किया।

मा० बैरिस्टर साहब के सर्वप्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे उस समय मिला जब मैं जबलपुर में इंजीनियरिंग महाविद्यालय में पढ़ रहा था।

बात सन् ४९-५० की होगी। तीन शाखाओं के एक मंडल का दायित्व मुझ पर था। नागपुर की बैठक के लिए जाते या लौटते समय बैरिस्टर साहब जबलपुर आये। हम लोगों को सूचना मिली कि उत्तर प्रदेश के प्रांत संघचालक आये हैं और कार्यकर्ताओं व प्रमुख स्वयंसेवकों की एक बैठक कार्यालय में आयोजित है। हम लोग उत्सुकता पूर्वक बैठक के लिए गये। माननीय बैरिस्टर साहब के दिव्य व्यक्तित्व ने हम सब लोगों को प्रभावित किया। उनके गौर वर्ण, आजानुबाहु शरीर, वाणी की अत्यधिक मृदुता और सदैव-स्मित ने हर किसी को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लिया।

शाखाओं आदि के संबंध में पूछताछ के बाद उन्होंने देश के संबंध में छोटे-छोटे प्रश्न पूछने प्रारम्भ किये। कुछ के उत्तर हम लोग दे पाये, कुछ के नहीं। कुछ देर इसी प्रकार हमारे सामान्य ज्ञान की परीक्षा के बाद बैरिस्टर साहब ने एक छोटा सा वाक्य कहा जो सदा के लिए मेरे मानस पटल पर अंकित हो गया। वह वाक्य था - 'आप अपने देश के बारे में जितना अधिक जानेंगे उतना ही आपके मन में देश के लिए प्रेम व अपनापन उत्पन्न होगा और उतनी ही देश के लिए कार्य करने की प्रेरणा अन्तःकरण में जगेगी'। यह वाक्य मेरे जीवन का पाथेय बन गया। जब मैं अखिल भारतीय बौद्धिक प्रमुख बना तब इसी को आधार बनाकर मैंने बौद्धिक योजना प्रस्तुत की। आगे चलकर मुझे योगिराज अरविन्द की भी इसी आशय की एक वाणी मिली - 'भूतकाल का गौरव, वर्तमान की पीड़ा, और भविष्य के सुनहरे सपने ही किसी देश को आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते हैं'।

बाद में तो नागपुर की बैठकों व कानपुर में भी अनेक बार उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उनसे मेरी हर भेंट एक नया ज्ञान व नई प्रेरणा देने वाली सिद्ध होती रही। उनका अकृत्रिम स्नेह सबको समान रूप से आकृष्ट कर लेता था जिससे छोटे-बड़े की समस्त दूरियाँ समाप्त हो जाती थीं और रह जाता था केवल अपनापन।

उनका उत्तुंग व्यक्तित्व आज हमारे बीच में नहीं रहा; किन्तु उनकी अनेक स्मृतियाँ प्रेरणा देने के लिए हमारे साथ हैं। उनके सम्बन्ध में आए हुए सहस्रों लोगों की मधुर स्मृतियों का संकलन अनेक कार्यकर्ताओं के लिए पाथेय का कार्य करेगा।

मा० बैरिस्टर साहब के रूप में एक देवतुल्य, सच्चरित्र, कर्मठ व मधुर व्यक्तित्व का अवसान एक ऐसी क्षति है जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में सम्भव नहीं। उनकी आत्मा को तो सद्गति मिलेगी ही; उनकी स्मृतियाँ हमारे कर्मपथ को आलोकित करती रहें, यही प्रभु चरणों में विनम्र प्रार्थना है।

❐ नैवेद्य, १९९४

कुप्पहल्ली सीताराम्मैया सुदर्शन : सह सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

नमन

✍ अटल बिहारी बाजपेयी

ऊँचा कद, गौर वर्ण, उन्नत ललाट, स्नेहसिक्त आँखें, मुख पर बुद्धि, विवेक और कुलीनता की आभा - जब मैंने बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह को पहली बार देखा तो उनका व्यक्तित्व मनमस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ गया।

सन् १९४५-४६ की बात है। मैं ग्वालियर से बी.ए. करने के बाद एम.ए., एल.एल.बी. के लिए कानपुर गया था। वहाँ दोनों कोर्स तीन की बजाय दो वर्ष में ही पूरे कर लेने की सुविधा थी। मैंने डी.ए.वी. कॉलेज में प्रवेश लिया। छात्रावास में रहने लगा। जाते-आते बैरिस्टर साहब के बंगले पर नजर पड़ जाती। एक दिन भीतर जाने का अवसर मिला। छात्र स्वयंसेवकों की बैठक थी। बैरिस्टर साहब से परिचय हुआ। थोड़ी सी बातचीत भी हुई। बड़ा अच्छा लगा। बड़प्पन के भार को इतने सहज ढंग से ढोने की उनकी विशिष्टता हृदय में घर कर गयी।

उन दिनों कानपुर में दो घरानों की बड़ी धूम थी। एक श्री ब्रजेन्द्र स्वरूप का घराना जो डी.ए.वी. कॉलेज का संचालक था। दूसरा श्री विक्रमाजीत सिंह का परिवार जो एस.डी. कॉलेज का कर्ता-धर्ता था। दोनों परिवारों का व्यापक प्रभाव था। दोनों में प्रतिस्पर्धा भी थी। किंतु सब कुछ सीमा के भीतर, शालीनता की परम्परा के अनुकूल। मुझे वह दिन याद है जब छात्रावास शाखा के वार्षिकोत्सव में श्री वीरेन्द्र स्वरूप जी आये थे और संघचालक के नाते बैरिस्टर साहब उनके साथ ही एक मंच पर बैठे थे।

दो वर्ष बाद मेरा कानपुर से नाता छूट गया, किंतु बैरिस्टर साहब से बराबर सम्पर्क बना रहा। वे 'राष्ट्रधर्म' और 'पाञ्चजन्य' के अंक बड़ी रुचि से देखते। कभी सुझाव भी देते। उनसे मिलकर प्रसन्नता होती, प्रोत्साहन मिलता।

जब उन्हें संघ के कार्यक्रमों और शिविरों में पूर्ण गणवेश (खाकी हाफ पैण्ट + सफेद शर्ट) में शामिल होते, स्वयंसेवकों के साथ चौबीस घण्टे रहते-सहते, खाते-पीते, शौचालय के लिए लाइन में लगते देखता तो अंतःकरण उनके प्रति आदर से भर उठता। सुख-सुविधाओं में जन्मे-पले व्यक्ति के लिए, और वह भी उम्र बढ़ जाने के बाद, किशोरों-तरुणों के लिए बने अनुशासन में स्वयं को हँसी-खुशी ढालना, बाल-सुलभ कार्यक्रमों में रस लेना, और फिर उसी रस को स्वयंसेवकों में बाँट कर उन्हें ध्येय-निष्ठा के पथ पर आगे बढ़ाने का प्रयास करना, बड़ी कठिन कार्य है, किंतु संघ की कार्यपद्धति की विशेषता और बैरिस्टर साहब के व्यक्तित्व की असाधारणता से यह नितांत सहज और स्वाभाविक दिखायी देता था।

बैरिस्टर साहब कानून के ज्ञाता थे, अतः समय-समय पर संविधान में किस प्रकार के संशोधन अभीष्ट हैं, इसका सुझाव दिया करते थे। संविधान का अनुच्छेद ३१-सी जब काफी विवाद का विषय बना था तो उन्होंने एक छोटा सा संशोधन सुझाकर सारी समस्या को हल करने का एक सुगम तथा सरल मार्ग दिखाया था। उनका कहना था कि विद्यालय चलाने की अनुमति केवल अल्पसंख्यक समुदाय को ही नहीं, सभी समुदायों को होनी चाहिए।

द्वितीय सरसंघचालक पूजनीय श्री गोलवलकर 'गुरु जी' जिन व्यक्तियों के परामर्श को काफी महत्व देते थे उनमें बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह का स्थान प्रमुख था। एक बार राष्ट्रीय एकात्मता परिषद द्वारा गठित उपसमिति ने साम्प्रदायिकता की समस्या पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित किया। वह एक सर्वदलीय समिति थी जिसके अध्यक्ष श्री अशोक मेहता थे। श्रीमती इंदिरा गांधी भी एक सदस्य थीं। जनसंघ के प्रतिनिधि के नाते मुझे भी लिया गया था। संघ ने लाला हंसराज गुप्त और बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह को अपना पक्ष रखने के लिए भेजा। बड़े सौहार्दपूर्ण वातावरण में चर्चा हुई। संघ की दृष्टि में कौन राष्ट्रीय है, यह प्रश्न उठा। बैरिस्टर साहब ने कहा कि जो इस देश को अपनी मातृभूमि तथा पुण्यभूमि मानते हैं, वे राष्ट्रीय हैं, फिर उनका मत या मजहब कुछ भी हो। एक सदस्य ने कहा कि अनेक देशों में रहने वाले बौद्ध भारत को पुण्यभूमि मानते हैं, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि अपनी मातृभूमि के प्रति उनकी निष्ठा में कोई कमी है। बैरिस्टर साहब ने कहा कि जो बौद्ध भारत को पुण्यभूमि मानते हैं वे अपनी-अपनी मातृभूमि को पुण्यतर (Holier than Holy) मानते हैं और उसके लिए मर-मिटने को तैयार रहते हैं। जो लोग भारत को अपनी पुण्यभूमि से भी अधिक पुण्यवान मानते हैं, वे राष्ट्रीय हैं और इसमें मत-मतान्तर बाधक नहीं होना चाहिए। बैरिस्टर साहब और लाला जी के उत्तरों से काफी सदस्यों का काफी सीमा तक समाधान हुआ। कम से कम उनके इस भ्रम का तो निराकरण हो ही गया कि मुस्लिम समाज हज के लिए मक्का जाता है केवल इसलिए उसे राष्ट्रीय नहीं माना जाता।

और भी ऐसे प्रसंग होंगे जो बैरिस्टर साहब के सौम्य किंतु दृढ़ व्यक्तित्व और कीर्तिशाली कृतित्व पर प्रकाश डालेंगे। उन सब का संग्रह आवश्यक है। मुझे खेद है कि मैं उनके निकट सम्पर्क में रहने का-सौभाग्य नहीं पा सका।

उनकी पुण्य स्मृति में मेरा नमन।

❐ (नीराजन, श्रद्धांजलि अंक, १९९४)

अटल बिहारी बाजपेयी : पूर्व संपादक, राष्ट्रधर्म; पूर्व अध्यक्ष, भारतीय जनसंघ; पूर्व अध्यक्ष, भारतीय जनता पार्टी; संसद सदस्य; नेता, प्रतिपक्ष, लोकसभा।

हम शिक्षा उसको कहते हैं...

✍ सोमेश कुमार सिंह, नवम

हम शिक्षा उसको कहते हैं जो,
मृतकों को जीवन दान करे।
हों अर्द्धमृतक तो उनमें भी,
श्वासों का स्वर सन्धान करे।

जिससे हों सद्गुण प्राप्त सतत्,
जो करे सत्य का अन्वेषण।
नित्य आत्मालोचन द्वारा,
कर दे अन्तस् का उन्नयन।

नर जिससे अन्तः बहिर्जगत,
का पूर्ण रूप से ज्ञान करें।
कर आत्म शक्तियों का विकास
मानवता का सम्मान करें।

ज्ञाता की अन्तर्निहित शक्ति का,
जिससे हो समुचित विकास।
जो असत् मार्ग से सत् पथ पर,
प्रेषण का करती हो प्रयास।

जो सत्यम् शिवम् सुन्दरम् को,
मानव की रग-रग में भर दे।
करके चरित्र निर्माण ज्ञान से,
आलोकित उर को कर दे।

जो उदार भाव लेकर विमुक्त,
नर में व्यक्तित्व विधान करे।
जो मानव कर दे दानव को,
मानव को देव समान करे।।

❐ नीराजन, १९८६-८७

सोमेश कुमार सिंह : युग-भारती।

एक कर्मयोगी की सुगन्धित स्मृति में

✍ शिवशरण शर्मा

समः शत्रौ च मित्रे च मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।
तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्ये प्रियो नरः।।
(गीता, द्वादश अध्याय, १८, १९)

बाल्यकाल में 'नरेन्द्र' नाम से पुकारा जाने वाला सिंह समान वीर बालक जब विज्ञान एवं विधिशास्त्र की शिक्षा प्राप्त करके विदेश से स्वदेश लौटा तो वह शीघ्र ही 'बैरिस्टर साहब' के सम्मानसूचक नाम से जाना जाने लगा। उनका विवाह स्व. दीवान बद्रीनाथ की सुयोग्य पुत्री सुशीला जी से हुआ। तदनन्तर उन्होंने उपनिषदों और विशेष रूप से गीता का गहन अध्ययन किया जिससे उनके आन्तरिक गुणों के विकास के साथ उनका 'विवेक' जाग्रत हुआ। इससे उनके जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया और उन्होंने अपना जीवन राष्ट्र-सेवा में लगा दिया। वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दर्शन एवं कार्यपद्धति से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने एक समर्पित स्वयंसेवक की भांति तन-मन-धन मातृभूमि के चरणों में अर्पित कर दिया। अपने राष्ट्र को परम वैभव की स्थिति तक पहुँचाने में वे निरन्तर जीवन-पर्यन्त लगे रहे।

मैं मा. बैरिस्टर साहब के निकट सम्पर्क में बाल्यकाल से ही आ गया था। उनके सौम्य स्वभाव एवं शील ने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया है। शिक्षा के क्षेत्र एवं अन्य सामाजिक क्षेत्रों में मुझे उनके मार्गदर्शन एवं निर्देशन में दीर्घ काल तक कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त रहा है। वे एक उच्च कोटि के शिक्षाविद थे और उन्हें अनेक विषयों का पर्याप्त ज्ञान था। श्री ब्रह्मावर्त सनातन धर्म महामण्डल, कानपुर प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर परास्नातक स्तर तक की शिक्षा प्रदान करने हेतु कई ख्याति प्राप्त विद्यालयों तथा एक महाविद्यालय का बड़ी सफलतापूर्वक संचालन कर रहा है। इन संस्थाओं तथा अन्य अनेक ऐसी संस्थाओं से जुड़े हुए मा. बैरिस्टर साहब किसी के अध्यक्ष, किसी के सचिव और किसी के संरक्षक के रूप में निःस्वार्थ भाव से निष्ठापूर्वक कार्य करते रहे। विद्यार्थियों के सर्वांङ्गीण विकास हेतु वे सदा प्रयत्नशील रहते थे। परीक्षा सम्बन्धी उत्कृष्ट उपलब्धियों के अतिरिक्त छात्रों को पूर्णरूपेण स्वस्थ, चरित्रवान एवं श्रेष्ठ राष्ट्रभक्त बनाने में उनकी विशेष रुचि थी। इसके लिए नियमित रूप से उनके बीच कुछ समय तक रहना उनका सुनिश्चित कार्यक्रम था।

गीता में वर्णित जीवन मूल्यों एवं आदर्शों के अनुसार उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का दृढ़ संकल्प बहुत पहले ही ले लिया था, और अपने अर्जित धन के एक बड़े भाग को समाजोपयोगी कार्यों में लगाना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी धर्मपत्नी ने भी इस दिशा में उनका पूरा साथ दिया। पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म (उच्चतर माध्यमिक) विद्यालय, कानपुर की स्थापना एवं उसका सफल संचालन इसका एक प्रेरणादायी एवं अनुकरणीय उदाहरण है, जो उनके त्यागमय जीवन का द्योतक है।

मा. बैरिस्टर साहब उच्च कोटि के अधिवक्ता तो थे ही, उनका चिन्तन, विचारण भी वैज्ञानिक था। तर्क की कसौटी पर वे हर बात को परखते थे, और प्रत्येक दृष्टि से सही पाने पर ही उसे स्वीकार करते थे। वे देश में पर्याप्त समृद्धि चाहते थे, परन्तु वे भौतिकवादी नहीं थे। उनका जीवन अध्यात्म से ओत-प्रोत था। जब से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक बने, वे कठोरतम जीवन को प्रसन्नतापूर्वक जीने के अभ्यस्त हो गये थे। वे जीवन के अन्त तक अवध प्रान्त के संघचालक रहे। संघ पर जब भी सरकार की दृष्टि टेढ़ी हुई, उसके कार्यकर्ताओं को जेल भेज दिया गया, जहाँ उन्हें कठोरतम जीवन व्यतीत करना पड़ा। मा. बैरिस्टर साहब को लम्बी अवधि तक दो बार ऐसा जीवन जीने का अनुभव हुआ, जहाँ उन्होंने अपने धैर्य तथा आदर्श व्यवहार से अन्य संगठनों के बड़े-बड़े नेताओं एवं कार्यकर्ताओं तक को अत्यन्त प्रभावित किया। वे सब आज तक उनके प्रति स्नेह, सम्मान एवं श्रद्धा की भावना से युक्त हैं, और उन्होंने मा. बैरिस्टर साहब के देहावसान के पश्चात् श्रद्धाञ्जलि कार्यक्रमों में भावपूर्ण उद्गार व्यक्त किये हैं। उनके मानवीय गुणों, जीवन-मूल्यों एवं आदर्शों ने समाज में विभिन्न विचारधाराओं से जुड़े हुए व्यक्तियों पर भी गहरा प्रभाव डाला है, और वे आज भी उन्हें अपना प्रिय मित्र मानते हुए गर्व का अनुभव करते हैं।

त्याग, तपस्या, सत्य, अहिंसा, आत्मीयता, प्राणि मात्र के प्रति दया, सादा शुद्ध जीवन व उच्च चिन्तन, आत्म-संयम, समबुद्धि, दृढ़ निश्चय, मन-वाणी-कर्म में एकरूपता आदि अनेक विशेषताएं मा. बैरिस्टर साहब के जीवन का अभिन्न अंग थीं। वे एक सच्चे हिन्दू राष्ट्रभक्त थे। राग-द्वेष से मुक्त और दैवी गुणों से युक्त होने के कारण वे सबके प्रिय थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' अर्थात् परमात्मा सब प्राणियों के हृदय में स्थित है तथा 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' अर्थात् इस जीवलोक में परमात्मा का एक अंश ही जीव है। अतः मा. बैरिस्टर साहब मानव मात्र ही नहीं, वरन् प्राणि मात्र में परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करते थे, और उनके साथ आत्मीयता की भावना से व्यवहार करते थे। उनकी यह प्रेम-भावना पेड़-पौधों तक व्याप्त थी। व्यक्तित्व की यह विलक्षणता बिरले ही दिखाई पड़ती है।

मा. बैरिस्टर साहब ने निष्काम कर्म को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया और अन्त तक कर्मयोगी का जीवन व्यतीत किया। उन्होंने अपने प्रत्येक कार्यक्षेत्र में एक अनुकरणीय छाप छोड़ी है। उनका पार्थिव शरीर तो पंचतत्व में विलीन हो गया है, परन्तु उनकी विशुद्ध आत्मा उनकी ही भाँति अपने राष्ट्र के उत्थान हेतु समर्पित भावना से कार्य करने के लिए सदा शुभ आशीर्वाद एवं सत्प्रेरणा प्रदान करती रहेगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

प्राणि मात्र के हित में निरन्तर रत संयमी पुरुष, भगवान कृष्ण द्वारा गीता में दिये गये आश्वासन के अनुसार, देह त्याग के पश्चात् परमात्मा को, अव्यय पद को, प्राप्त होते हैं-

'संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः।।'
(गीता, द्वादश अध्याय, ४)

यह भगवान् श्रीकृष्ण की निश्चयात्मक एवं आशावादी घोषणा है। अतः हमें उस महामानव के प्रयाण पर शोक करना उचित नहीं।

अन्त में उस कर्मयोगी महापुरुष की पावन स्मृति में मैं अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

❐ (नीराजन, श्रद्धांजलि अंक, १९९४)

शिवशरण शर्मा : पूर्व प्राचार्य, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय; अध्यक्ष, प्रबंध समिति, पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

देखते ही देखते

✍ अंशुमन मिश्र, नवम

शहर के एक चौराहे पर
एक कौआ
मरकर गिर पड़ा
देखते ही देखते
आसमान कौओं से भर गया
बाजार काँव-काँव से गूँज उठा

उसी शहर के दूसरे चौराहे पर
एक आदमी
दिन-दहाड़े मारा गया
देखते ही देखते
सड़कें खाली हो गईं
बाजार वीरान हो गया।
न जाने क्यों मुझे यह लगा
कि देखते ही देखते
इंसान कौओं से भी नीचे गिर गया।

सौजन्य और श्रेष्ठता के शिखर

✍ रामेश्वर प्रसाद द्विवेदी

मानीय बैरिस्टर साहब के अवसान की सूचना मिली तो तत्क्षण आभ्यंतर अवसन्न हो उठा। व्यथा की एक लकीर हृदय को चीर गई। कोई भीतर बोल उठा-सौजन्य के एक सूर्य का अवसान हो गया। कानपुर का सर्वाधिक तेजस्वी सपूत उठ गया।

बैरिस्टर साहब अर्थात् श्री नरेन्द्रजीत सिंह से मेरी प्रथम भेंट सन् १९५० में हुई थी। मैं डी.ए.वी. कॉलेज में बी.ए. (प्रथम वर्ष) का छात्र था। रोज ही उनके आवास के सामने से निकलता। उनके बंगले का रूप-रंग आकर्षित करता। धीरे-धीरे पता चला कि इस बँगले के स्वामी बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह हैं जो एक प्रतिष्ठित नागरिक तथा शीर्षस्थ एडवोकेट हैं। मेरी प्रथम काव्यकृति 'अन्तर्ज्वाला' छप चुकी थी और दूसरी कृति 'अग्निशिखा' के प्रकाशन की योजना थी। मैंने सोचा क्यों न बैरिस्टर साहब से मिलकर सहयोग माँगा जाय। सो एक दिन जा धमका - सीधे, बिना किसी को मध्यस्थ बनाये। बैरिस्टर साहब अपनी बैठक में शालीनता से मिले। पूछा, कैसे आना हुआ? मैने मंतव्य बताया, पाण्डुलिपि दिखाई। कुछ अंश सुनाये। बैरिस्टर साहब सभी कुछ ध्यान से सुनते रहे। मैंने 'अन्तर्ज्वाला' की एक प्रति भी भेंट की। उसके भी उन्होंने पन्ने पलटे। उसमें छपे आचार्य सद्गुरुशरण अवस्थी, आचार्य सोम तथा आचार्य अयोध्यानाथ शर्मा और कवि नीरज आदि के अभिमत पढ़े। तदुपरान्त बोले - 'बड़े आक्रोश में आपने 'अग्निशिखा' जलाई है और सारी बुराई को जला डालने की कल्पना की है। यह है तो अच्छी बात, पर सिर्फ जला डालने की बात कुछ जँचती नहीं, कुछ बनाने की बात भी होनी चाहिए। कुछ रुक कर फिर कहा - आप की 'अन्तर्ज्वाला' में भी ज्वाला ही है। भले ही दुःख की ज्वाला है। केवल अग्नि की आराधना क्या अधूरी साधना नहीं है? क्या इससे समाज का या खुद कवि का भला होगा'?

बैरिस्टर साहब का कथन प्रशंसात्मक नहीं था, तटस्थ विश्लेषणात्मक मात्र था, पर बात इतने कोमल, मृदुल ढंग से कही जा रही थी कि तनिक भी बुरी नहीं लग रही थी। वक्ता का लक्ष्य यदि शुभ हो तो आलोचना बुरी नहीं लगती, सीख देती है। बैरिस्टर साहब का लक्ष्य शुभ था।

१९५३ जुलाई में मैं बी.एन.एस.डी. कॉलेज में शिक्षक लगा। १९५६ में प्रवक्ता पद पर नियुक्ति का प्रसंग आया। बैरिस्टर साहब चयन-समिति के अध्यक्ष थे। प्राचार्य श्री अवस्थी जी ने मेरी प्रशंसा की तो बैरिस्टर साहब बोल उठे, 'मैं इन्हें जानता हूँ। मिल चुका हूँ', फिर मेरी ओर उन्मुख हो बोले, 'कहिये, आप के काव्य की प्रगति क्या है? अग्निशिखा छपी या नहीं?' मैंने अपनी प्रगति बताई पर भयभीत हो उठा कि अब मेरा चुनाव शायद ही हो। पर वाह रे सन्तमना बैरिस्टर साहब! मुझे चुना ही नहीं, यह भी कहा - 'ये बड़े प्रतिभाशाली हैं। विषमताओं ने इन्हें उग्र कर दिया था, पर सचाई और ईमानदारी इनमें बहुत है। एक दिन साहित्य और शिक्षा को इनकी देन मूल्यवान होगी'। मैं भूल नहीं सकता कि विनाश से सृजन की ओर मोड़ने के उपक्रम में बैरिस्टर साहब का योगदान एक सन्त के समान था। अन्यथा वे मुझे क्यों चुनते? क्यों न किसी समान विचारधारा के अभ्यर्थी को उपकृत करते?

सन् १९५७। छात्र हड़ताल पर थे। बैरिस्टर साहब आये। समझाया। छात्र बोले, 'ये माँगे तो गलत हो ही नहीं सकतीं। इन्हें द्विवेदी जी ने ठीक बताया है'। 'बैरिस्टर साहब को संदेह हुआ कि हो न हो हड़ताल की प्रेरणा में मैं हूँ। प्राचार्य जी ने उन्हें बताया - नहीं, हड़ताल इन्होंने नहीं कराई। उल्टे कल छात्रों की उग्र भीड़ को खतरा उठाकर भी शान्त किया। बेशक जब छात्रों ने इनको अपनी माँगें बताई तो इन्होंने जिन-जिन को ठीक बताया, छात्र उन्हीं पर अड़े हैं, शेष छोड़ दी'।

बैरिस्टर साहब ने मुझ से बात की और छात्रों की वह माँग भी मान ली जिसमें हजारों रुपयों की वापसी का सवाल था।

बैरिस्टर साहब लघुतम व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत सत्य का भी आदर करते थे। तर्कहीन अनौचित्य उन्हें सह्य नहीं था। मेरी अनुभूति यही बनी। अन्यथा वे मुझे हड़ताल का प्रेरक मानते और कभी न कभी किसी बहाने पीड़ा पहुँचाते। पर नहीं, उन्होंने कभी ऐसा नहीं किया। उन्होंने तो मुझे मान दिया और इस बात के लिए गौरव दिया कि मैंने जो सत्य समझा, उसे निर्भय होकर कहा और जिसे असत्य समझा, उसका खण्डन भी किया। मेरी दृष्टि में वे निर्मल, निस्वार्थ सत्य के समर्थक थे।

सन् १९६७। मैं कानपुर के बाहर एक महाविद्यालय में विभागाध्यक्ष था। पूर्व एम.एल.सी. श्री चन्द्रभूषण त्रिपाठी बी.एन.एस.डी. कॉलेज छात्रावास के अधीक्षक थे। उन्होंने छात्रावास के वार्षिकोत्सव में मुझे मुख्य अतिथि बनाया। मैंने अध्यक्ष के आसन पर मान्य बैरिस्टर साहब को देखा तो बड़ा सकुचाया। मेरा 'बौनापन' मुझे खला। कहाँ शिक्षा संसार का जाज्वल्यमान सूर्य और कहाँ एक खद्योत। यद्यपि अपनी ओर से बैरिस्टर साहब ने मुझे पूरा मान दिया और मुझे ऐसे सराहा मानों मैं कोई बड़ा शिक्षाविद होऊँ, पर मैं निरन्तर असंतुलित बना रहा। भाषण भी ठीक नहीं कर पाया।

बैरिस्टर साहब मर्यादावादी थे। मर्यादा का सदैव ध्यान रखते थे। पद की मर्यादा थी कि मुख्य अतिथि को मान दिया जाय तो उन्होंने पूरा मान मुझे दिया, भले ही मैं उनकी तुलना में नितान्त बौना था। उनकी महानता थी कि एक अति सामान्य व्यक्ति को समादृत किया (इस अवसर पर उनके साथ खिंची तस्वीर मेरे पास मूल्यवान सम्पत्ति के रूप में सुरक्षित है)।

सन् १९७५। मैं पुखरायाँ स्नातकोत्तर महाविद्यालय में प्राचार्य था। माननीय बैरिस्टर साहब पुखरायाँ पधारे थे। महाविद्यालय में उन्हें बुलाकर सम्मानित किया। अपने सम्मान के उत्तर में उन्होंने शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डाला और शिक्षक के आदर्श स्पष्ट किये। उनके शब्दों में उनका आचरण बोलता था। उनकी उपस्थिति स्वयं एक प्रेरक भाषण थी। उनकी अभ्यर्थना में जब मैंने कहा - आप मेरे निर्माताओं में एक हैं, तो वे बोले - नहीं रामेश्वर जी, निर्माता तो एकमात्र ईश्वर है। आप में क्षमता थी। आप बढ़े और बढ़ते गये। आप के बढ़ने में मैंने इतना भर किया कि बाधा नहीं डाली। 'नहीं, मेरा प्राप्य भी मुझे दिया और सबसे महत्वपूर्ण यह कि मेरे नकार को सृजन के आयाम दिये', मैंने कहा, तो बैरिस्टर साहब मन्द-मन्द हँस दिये।

मैं उनकी विचारधारा का नहीं था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भी सदस्य नहीं था। कभी मिलने भी नहीं जाता था। केवल स्वकर्म निष्ठा से करता था और सत्य को वेग से पकड़ता था। बस इतने बैरिस्टर साहब ने मुझे स्नेहदार दिया। कोई कुछ भी कहे, मैं भला कैसे कह सकता हूँ कि वे सीमित सिद्धान्तवादी थे, केवल एक विचार को अर्पित थे। मेरी दृष्टि में वे अनुशासन में बंधे होकर भी मुक्तात्मा थे। मर्यादावादी थे, जड़ रूढ़िवादी नहीं थे। सामयिक सत्य को मूल्य देते थे, पर शाश्वत सत्य की उपेक्षा करके नहीं। उन्होंने जिन-जिन को अपनी श्रद्धा दी वे निर्विवाद महापुरुष थे - चाहे श्री गुरू जी हों, चाहे श्री दीनदयाल उपाध्याय जी। जिनको अपना स्नेह दिया, वे सभी दृढ़चेता कर्तव्यनिष्ठ हैं - चाहे जे० पी० श्रीवास्तव जी हों, चाहे ओमशङ्कर त्रिपाठी जी और चाहे कोई और। जब-जब सनातन धर्म और शिक्षा की बात चलेगी, कानपुर ही नहीं, प्रदेश ही नहीं, सारे देश में उनके प्रदेय की चर्चा होगी।

उनकी स्मृति को मेरे विनम्र प्रणाम अर्पित हैं।

❐ वाणी, १९९४

रामेश्वर प्रसाद द्विवेदी : साहित्यकार, पूर्व प्राचार्य, पुखरायाँ स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पुखरायाँ

बैरिस्टर साहब

✍ डॉ० विश्वेश्वर दयालु शुक्ल

भारतीय संस्कृति के पोषक एवं उपासक, हिन्दू-राष्ट्र के समर्थक एवं शिल्पी, सनातन-धर्म के उन्नायक एवं आराधक, आधुनिक विज्ञान और टेकनालॉजी के प्रशंसक एवं प्रसारक, शिक्षा के मर्मज्ञ एवं विधायक श्री नरेन्द्रजीत सिंह जी को हम लोग बैरिस्टर साहब कहकर अभिहित करते हैं। यह शब्द-युग्म उनके पद अथवा उपाधि का द्योतक नहीं, अपितु उनके प्रति आत्मीयता का अभिव्यंजक है। इसमें उस सरसता की व्यंजना है जिसकी अनुमति स्वजनों को बुलाने में होती है। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'To be too near the sun is to get blind'। किसी ऐसे व्यक्तित्व का छोटे से छोटे पैमाने पर भी रेखांकन, जिसके साथ रेखाकार का घनिष्ठ सम्बन्ध हो, सही नहीं उतरता क्योंकि उसकी तूलिका तरल भावनाओं की स्निग्धता के कारण स्वच्छंद गति से नहीं चलती; उसकी गौरव-गरिमा से अभिभूत हो जाती है। दूर और तटस्थ होकर ही किसी विशिष्ट व्यक्तित्व की इयत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। साथ ही, यह भी तो सबके दैनिक अनुभव की बात है कि जिस धरती की छाती पर हम चलते-फिरते हैं, जिसके पानी और जिसकी मिट्टी से हमारी काया का निर्माण होता है, उसकी गुरुता, गंभीरता, धैर्य, उदारता, विस्तार-प्रसार, शील, शक्ति, आकर्षण आदि का हमें रत्ती भर ध्यान नहीं होता, परन्तु दूरस्थ चन्द्रमा की चारुता की प्रशंसा में कल्पना क्रियमाण हो जाती है। बैरिस्टर साहब से हम इतने घुले-मिले हैं कि उनसे अलग होकर उनका परखना-निरखना, उनको देखना-दिखाना सम्भव नहीं। उनके विषय में लिखना-पढ़ना ऐसा प्रतीत होता है मानो हम अपने विषय में ही कुछ कह रहे हों - आत्मश्लाघा वांछनीय नहीं समझी जाती।

बैरिस्टर साहब का जन्म कानपुर में १८ मई, १९११ को एक सुसम्पन्न और प्रख्यात परिवार में हुआ था। इनके पूज्य पिता स्व० राय बहादुर श्री विक्रमाजीत सिंह जी उन देशरत्नों में थे जिन्होंने अपने अमूल्य योगदान से समाज और राष्ट्र को समुन्नत किया था। वकालत के क्षेत्र में तो वे अग्रणी थे ही, साथ ही वे कानपुर की नगरपालिका के चेयरमैन, तत्कालीन संयुक्त-प्रदेश की कौंसिल के सदस्य, अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के प्रेसीडेंट रहे, और इन सभी क्षेत्रों में उनकी सेवायें सतत् स्पृहणीय रहेंगी। वे 'योगः कर्मसु कौशलम्' के ज्वलंत उदाहरण थे। जिस कालेज की हम स्वर्ण जयन्ती मना रहे हैं, उसकी स्थापना का श्रेय इनके पुरुषार्थ और कार्य कौशल को था। इसकी स्थापना में इन्होंने न केवल अपनी प्रभूत सम्पत्ति वरन् लाखों रुपये चंदे में संग्रह कर लगा दिए। श्री नरेन्द्रजीत सिंह को जहाँ विपुल वैभव विरासत में मिला, वहीं उन्हें अनेक उदात्त गुण भी पैतृक सम्पत्ति में प्राप्त हुए। जिस 'आचरण की सभ्यता' के कारण नरेन्द्र बाबू आज समग्र समाज के कंठहार बने हुए हैं वह इनको घुट्टी में पिला दी गई थी।

जीवन की पृष्ठभूमि में जो सुख-सुविधायें, अध्ययन के साधन, कार्य-क्षेत्र, पुस्तकालय, साज-सज्जा आदि पं. जवाहर लाल नेहरू को पैतृक सम्पत्ति में मिली थी, उसी प्रकार की सुख - सामग्री और साधन सम्पन्नता नरेन्द्र बाबू को भी सुलभ थी। राय बहादुर साहब ने इनकी शिक्षा - दीक्षा का समुचित उपबंध किया। स्वदेश और विदेश में इनको सुशिक्षित बनाने के लिए कोई कसर बाकी न रखी गई। नरेन्द्र बाबू ने भी उन समस्त साधनों का सदुपयोग किया। इनका छात्र जीवन उदात्त सफलताओं से संकुलित था। ये प्रारम्भ से ही मेधावी और कुशाग्र-बुद्धि थे। स्थानीय बी.एन.एस.डी. स्कूल में (उस समय यह कॉलेज नहीं था) इन्होंने १९२० से १९२६ तक शिक्षा प्राप्त की और १९२६ में प्रथम श्रेणी में गणित में विशेष योग्यता के साथ हाई स्कूल उत्तीर्ण किया।

यू०पी० बोर्ड की योग्यता की सूची में इनका बारहवाँ स्थान था। इसी प्रकार क्राइस्ट चर्च कालेज से १९२८ में इन्होंने इण्टरमीडिएट रसायन और गणित में विशेष योग्यता के साथ प्रथम श्रेमी में उत्तीर्ण किया और बोर्ड की योग्यता की सूची में इनको छठा स्थान प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् इलाहाबाद विश्वविद्यालय से

१९३० में इन्होंने प्रथम श्रेणी में बी.एस.सी. की उपाधि और विश्वविद्यालय में चतुर्थ स्थान प्राप्त किया। विलायत जाने के पूर्व ये दो महीने तक अपने एस.डी. कॉलेज की एल.एल.बी. कक्षा में पढ़ते रहे। इंग्लैंड में इनका छात्र-जीवन सफल रहा। १९३२ में इन्होंने मैथेमेटिक्स में बी.एस.सी. स्पेशल पास किया और १९३२ में इनर टेम्पल, लंदन से बैरिस्टर की उपाधि प्राप्त की। जिस प्रकार कक्षा में इनका स्थान वैभवपूर्ण था, उसी प्रकार क्रीड़ा क्षेत्र में भी ये अग्रणी थे। ये इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दू छात्रावास में टेनिस के कैप्टन रहे। लन्दन यूनिवर्सिटी कालेज में भी ये टेनिस में फर्स्ट नेट के सदस्य रहे।

विलायती वातावरण में रहकर भी इनका जीवन भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल आदर्शों से उद्भासित रहा, अथवा यों कहिए कि पश्चिमी सभ्यता की प्रतिक्रिया ने इनकी भारतीय संस्कृति के प्रति भावना को और अधिक प्रदीप्त कर दिया। कभी भी आहार-विहार, आचार-विचार में इन पर विलायत का रंग नहीं चढ़ा। एक बार एक अंग्रेज मित्र ने इन्हें और इनके एक भारतीय साथी को भोजन के लिए आमंत्रित किया। पूछे जाने पर कि आप लोगों को बीफ खाने में कोई आपत्ति तो नहीं, इनके भारतीय साथी ने मौन स्वीकृति प्रदान की, परन्तु इन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि ये निपट शाकाहारी हैं, और इनको सुरापान आदि से भी परहेज है। इनकी इच्छानुसार ही भोजन का प्रबन्ध किया गया। उस अंग्रेज मित्र ने इनके संयम, निर्भीकता और विवेक की बड़ी सराहना की। आज इस देश को ऐसे नवयुवकों की आवश्यकता है जिनका शरीर और मस्तिष्क दोनों स्वस्थ हों, चारित्रिक संघटन में स्वस्थ शरीर और कुशाग्र बुद्धि दोनों का सम्यक् समन्वय हो। बैरिस्टर साहब के छात्र-जीवन में इस दोनों पक्षों का मणि-काञ्चन संयोग संघटित हुआ था। पाठ्य-क्रम की पुस्तकों के अध्ययन के साथ इण्टरमीडिएट में ही इन्होंने टॉमस हार्डी और डिकेन्स के सभी उपन्यास पढ़ डाले। उसी प्रकार विलायत में भी विज्ञान और विधि के वाङ्मय के गम्भीर अध्ययन के साथ इन्होंने अंग्रेजी साहित्य सरोवर से भी छक कर पान किया था। वहीं से इनको राजनीति एवं दर्शन के प्रति श्रद्धा बढ़ी और उन सबका इन्होंने गहन अध्ययन किया। उन पर अंग्रेजियत तो नहीं चढ़ी परन्तु अंग्रेजी जीवन की पाबन्दी, अनुशासन, कार्य-दक्षता, उद्देश्य की पवित्रता आदि का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा, जिसकी छाया अभी तक नहीं मिटी, वरन् समय पाकर वह और सघन हो गई।

बैरिस्टर साहब भाग्यशाली भी बहुत हैं। जहाँ पिता का वैभव-विलास और शीतल छाया इनको फूलने-फलने के लिए मिली, उसी प्रकार इनका विवाह भी काश्मीर राज्य के धन कुबेर स्व० दीवान बद्रीनाथ जी की कन्या से हुआ। काश्मीर के महाराज के बाद उनके राज्य में धन, वैभव, अधिकार आदि में यदि समाज में किसी का दूसरा स्थान था, तो वह दीवान साहब का। इनका सुविशाल महल, जो 'शाश्वत भवन' के नाम से श्रीनगर में प्रख्यात है, शंकराचार्य पर्वत के अंचल में काश्मीर महाराज के महलों की श्रृंखला में स्थित है। जम्मू और कश्मीर के सुविस्तृत राज्य में दीवान साहब की बहुत बड़ी जागीर थी। जम्मू और श्रीनगर की कोठियाँ, मंदिर, ठाकुरद्वारे, अतिथि भवन, पुस्तकालय, उपवन, फलों के बगीचे, केसर के खेत आदि इनके अपार वैभव के प्रतीक हैं। जिन दीवानिनी महोदया के एक लाख रुपये के दान के फलस्वरूप हमारे विज्ञान-संकाय का आरम्भ संभव हो सका, वे इन्हीं दीवान साहब की पत्नी थी। आज ये दम्पति अपनी ऐहिक लीला संवरण कर दिवंगत हो चुके हैं।

इन्हीं की सुपुत्री, श्रीमती सुशीला नरेन्द्रजीत सिंह जी ने बैरिस्टर साहब के सामाजिक जीवन को और अधिक समुन्नत, धर्मपरायण एवं हिन्दू भावापन्न बनाने में बड़ा सहयोग दिया है। ऐसा सुयोग पुण्य पुराकृत के परिणाम-स्वरूप ही सम्भव हो पाता है। हिन्दी, हिंदू और हिंदुत्व के प्रति इनकी प्रगाढ़ आस्था है। जिन्होंने इनके पुत्रों के यज्ञोपवीत तथा लड़के-लड़कियों के विवाहादि संस्कारों को देखा है, जिन्हों ने इन तथा अन्य अवसरों पर शास्त्र-विहित चतुरश्री, सर्वतोभद्र, श्रीधरी तथा पद्मिनी वेदि-रचना तथा मंडप वास्तु के कौशल का निरीक्षण किया है, जिन्होंने उनके प्रत्येक अवयव के सम्यक् मानोन्मान, संस्थान निवेश एवं हव्य सामग्री आदि को सामुद्रिक गणित तथा ज्योतिष के विचार से परखने का प्रयास किया है तथा जिन्होंने कुल पुरोहित 'चंदा पंडित' के नेतृत्व में ब्राह्मण वेश में ग्यारह-ग्यारह आचार्यों के समवेत स्वर से सामगान के स्वरों को सुना है, वे जहाँ एक ओर कल्पना के पंखों पर बैठ कर अत्यन्त अभ्युन्नत प्राचीन महिमामयी भारतीय संस्कृति

का गोचर साक्षीकरण कर सकते हैं, यहीं इस बात के भी साक्षी हैं कि वह परिवार धर्म की सनातन विवेक सम्पन्न विचार-परम्परा को सजीव और सम्प्राण बनाने में कितना जागरूक है। कहना न होगा, इन समग्र आयोजनों की पृष्ठभूमि में श्रीमती सुशीला नरेन्द्रजीत सिंह की बलवती प्रेरणा है। किसी कवि ने ठीक ही लिखा है -

यदि राधे न होती,
तो आधे राधेश्याम होते।

इनके दो गुणवान पुत्र और दो गुणवती पुत्रियाँ हैं। चारों के विवाह सुसम्पन्न परिवारों में हो चुके हैं, और बैरिस्टर साहब को बाबा और नाना कहे जाने का सौभाग्य भी प्राप्त हो चुका है।

बैरिस्टर साहब के व्यक्तित्व के विविध पक्ष हैं। ये कहा करते हैं कि इनको पाठ्यक्रम कार्यकलाप (Extra curricular activities) से अवकाश नहीं मिलता। वकालत के उद्यम के अतिरिक्त इन्होंने समाज के अनेक दायित्वपूर्ण कार्यों को अपने ऊपर ले रखा है। ये श्री सनातन धर्म महामण्डल के १९५५ से सभापति हैं। इस 'महामंडल' के अन्तर्गत अनेक संस्थाएं हैं - वी.एस.एस.डी. कॉलेज, बी.एन.एस.डी. कॉलेज दीनदयाल उपाध्याय विद्यालय, औषधालय, पुस्तकालय आदि। इसके अतिरिक्त ये छोटेलाल गयाप्रसाद ट्रस्ट, रावतपुर ट्रस्ट, नारायणी देवी धर्मार्थ औषधालय ट्रस्ट आदि के सभापति तथा जे.के. सिन्थेटिक्स लिमिटेड, कानपुर तथा नेशनल इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता के डाइरेक्टर हैं और साथ ही बी.आई.सी. आदि के निगमों के विधि मंत्रणाकार हैं। इसके अतिरिक्त न जाने कितनी संस्थाओं के सदस्य, सचिव तथा कार्यकर्ता हैं। ये राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रान्तीय संघचालक हैं। जिस संस्था से इनका संबंध हो जाता है उसकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है और उस पर जनता का विश्वास टिक जाता है। कानपुर उद्योगपतियों तथा लक्ष्मी के लालों का नगर है। यह पूँजीपतियों का गढ़ है। यहाँ के नागरिकों की देश-विदेश सभी जगह ख्याति फैली हुई है। इनमें जो मान-प्रतिष्ठा, विश्वासपात्रता, तथा लोक श्रद्धेयता इनके बाँट पड़ी है, ऐसी गौरव-गरिमा की भाग्यरेखा विरले के ही हाथ में पड़ी होगी। इनकी निष्पक्षता, समग्रता, सत्यसन्धता, वैधी-ज्ञान की गहराई के कारण उच्च न्यायालय पेचीदा मामले इनके पास विवाचन (arbitration) के लिए भेज देते हैं। इनके विवाचकीय निर्णय बहुत लोक-प्रिय हैं। दोनों पक्ष स्वयमेव अपने वाद पंचनिर्णय के लिए इनको सौंप देते हैं और आजकल के लाल फीते के झंझटों तथा अपव्ययता के भार से बच जाते हैं। मेरे दो-एक पूर्व छात्रों ने जो यहाँ न्यायाधिकारी होकर आए, बैरिस्टर साहब की युक्तियुक्त संतुलित तर्कशैली की प्रशंसा करते हुए कहा कि "इनके Court etiquette को देखकर सर तेज काटजू,पं. मोती लाल नेहरू आदि का स्मरण हो आता है। इनके व्यक्तित्व में गजब का आकर्षण है।" एक मेरे पूर्व छात्र मजिस्ट्रेट ने मुझसे यहाँ तक कहा, "जिस समय यह बहस करते हैं तो मेरा ध्यान इतना अधिक इस पर नहीं जाता है कि वह क्या कह रहे हैं। मैं तो यह देखा करता हूँ कि यह कैसे कहते हैं। What a contrast between him and many others!

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है कि श्री नरेन्द्र जीत सिंह जी वी.एस.एस.डी. कॉलेज की प्रबंध समिति के मंत्री हैं। मंत्री शब्द के द्वारा कालेज के प्रति इनकी घनीभूत श्रद्धा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वे कहा करते हैं कि 'मेरे लिए तो यह कालेज नहीं मंदिर है जिसकी स्थापना पूज्य बाबू जी ने की थी। मैं अपना यह पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ कि इसकी अखण्ड ज्योति जगाता रहूँ।" सचमुच जिस बिरवा को स्वर्गीय राय बहादुर साहब ने लगाया था, बैरिस्टर साहब के सतत् उद्यान कौशल के द्वारा आज वह प्रौढ़ वृक्ष के रूप में प्रतिष्ठित है, और फल-फूलों के भार से अवनत उसकी विविध शाखायें चतुर्दिक फैल रही हैं। उसके पुष्पों के स्निग्ध सौरभ से सारी दिशायें सुरभित हो रही हैं। रोजी के बाजार में उसके फलों की काफी कदर है। परन्तु कोई चीज स्वतः नहीं बन जाती। कहा जाता है रोम का निर्माण एक दिन में नहीं हुआ था। इस कालेज के निर्माण में कई व्यक्तियों के त्याग, तपस्या एवं तितिक्षा का योगदान है।

स्वर्गीय स्वामी दयानन्द जी की वरद छत्रछाया में इस संस्था का सूत्रपात् हुआ। स्व० रायबहादुर साहब ने अपने सुपुत्र श्री महेन्द्रजीत सिंह को न तो प्रयाग विश्वविद्यालय भेजा और न समीपस्थ क्राइस्टचर्च कालेज में प्रवेश दिलवाया वरन् उनको एस.डी. कालेज में पढ़ने के लिए भेजा, यद्यपि इसके लिए उन्हें अलग से एक कार का प्रबंध करना पड़ा। बैरिस्टर साहब का तो सारा परिवार दोनों लड़के और दोनों लड़कियाँ, वे स्वयं

थोड़े दिन के लिए ही सही - अपने कालेज के वरिष्ठ विद्यार्थी रहे। इनके कनिष्ठ पुत्र श्री वीरेन्द्र पराक्रमादित्य ने उसी वर्ष इस कालेज में प्रवेश लिया जिस वर्ष यहाँ विज्ञान की कक्षाओं का श्रीगणेश हुआ। इनके भाइयों के बच्चों ने काल्विन तालुकदार कालेज तथा कान्वेंट में शिक्षा प्राप्त की। परन्तु बैरिस्टर साहब का विश्वास तो उस अंग्रेज देशभक्त की भाँति है जो प्रत्येक वस्तु के लिए कहा करता था - If it is British it is the best।ये भी सगर्व कहते हैं - If you want to educate your child, V.S.S.D. College is the best। इस कालेज की प्रतिष्ठा वृद्धि और सर्वतोमुखी विकास के लिए इनकी अनेक योजनाएं हैं जिनके कार्यान्वयन के लिए ये सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। इनकी योजना प्रक्रिया विवेकपूर्ण और क्रमसंगत होती है। इन्हें ऊल-जलूल कोई काम पसन्द नहीं। दोनों छात्रावासों के सामने एक विशाल क्रीड़ा क्षेत्र बना दिया गया है जिससे उनका गौरव और अधिक हो गया है। कालेज के विविध भवन, छात्रालय, क्रीड़ा क्षेत्र, स्कॉलर्स लॉज, योगाश्रम, जलाशय, भोजनालय, छोटे-छोटे गुरु गृह, प्राचार्य कुटीर आदि यों ही अन्धाधुन्ध नहीं बना दिए गए। यदि ध्यानपूर्वक इनका सामूहिक निरीक्षण किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इनमें स्थापित निजी प्रज्ञा, परिकल्पना, क्रिया कौशल, शील, दूरदर्शिता और बौद्धिक एवं शास्त्रीय योग्यता कितनी उच्चकोटि की है। स्थपति को शास्त्र, प्रज्ञा, शील सम्पन्न एवं वास्तु विषय के लक्षण और लक्ष्य में कुशल और निष्णात होना चाहिए। इस महाविद्यालय निवेश (College planning) के अधियोजक में स्थपति के सभी गुणों का सन्निवेश है-

'स्थापकान् स्थपतींश्चापि पूजयामि स्वशक्तितः'

बैरिस्टर साहब को कालेज के आधिविद्य जीवन (Academic life) के स्तर को ऊँचा करने का भी ध्यान रहता है। इनके पास प्रथम श्रेणी के छात्रों की सूची रहती है और ये प्रतिभाशाली विद्यार्थियों से समपर्क रखते हैं। और उनकी उत्तरोत्तर प्रगति को देखते रहते हैं। यदि किसी के मार्ग में कोई बाधा पड़ती है, तो अविलंब उसका निवारण करते हैं। उनका कालेज के विशिष्ट छात्रों और सभी अध्यापकों से निजी सम्बन्ध है। वे उनके नाम जानते हैं। गांधी जी की लोकप्रियता का एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि उनका सभी दलों के नेताओं, साथियों तथा दूरस्थ व्यक्तियों से व्यक्तिगत सम्बन्ध रहता था। जो व्यक्ति जिस बात में बद्धहित होता गांधी जी पहले उससे उसी की चर्चा करते थे। वे टैगोर से शान्ति निकेतन और सरोजनी नायडू से अंग्रेजी कविता की चर्चा करते थे। राजेन्द्र बाबू से दमा और मौलाना आजाद से जुकाम की बाबत पूछा करते थे। एक सज्जन की केवल एक लड़की थी, जो प्रायः बीमार रहती थी। प्रत्येक पत्र में वे उस लड़की के सम्बन्ध में लिखा करते थे। उनकी इस आत्मीयता को देखकर प्रत्येक व्यक्ति यही समझता था कि वह बापू के सबसे निकट है। यह गुण बैरिस्टर साहब में भी प्रभूत मात्रा में पाया जाता है। उनके और प्राध्यापकों के बीच समता का भाव रहता है। वे किसी के मार्ग में बाधा नहीं डालते। वे योग्यता वृद्धि के प्रयास में सबकी सहायता करते हैं। यहाँ से चले जाने के बाद भी अनेक छात्रों और प्राध्यापकों का इनसे पत्र व्यवहार और आना-जाना बना रहता है। वे पत्र कई बातों में महत्वपूर्ण हैं। उनमें घरेलू बातों का उल्लेख तो रहता ही है अन्य विषयों का प्रतिपादन भी उनमें मिलता है। अमेरिका और विलायत से आने वाले पत्रों में विज्ञान, शिक्षा, समाज तथा अनेक आधुनिक विषयों का विश्लेषण किया जाता है। इन सारे पत्रों का प्रत्युत्तर उसी स्तर पर भेजा जाता है। इस सामाजिक व्यवहार साधना में कितना समय और शक्ति लगती है, परन्तु इससे शील की महत्ता का अनुमान भी लगाया जा सकता है। उनको निर्धन छात्रों की सहायता करने में बड़ी दिलचस्पी रहती है। कालेज के छात्र तो उन पर ऐसी श्रद्धा और प्रेम करते हैं, मानो ये उनके माता-पिता हों। जब कभी किसी छात्र से पिछली फीस माँगी जाती, तो वह चट यही उत्तर देता कि वह बैरिस्टर साहब के पास जायेगा। उसके उत्तर में उस विश्वास और दृढ़ता की झलक मिलती जैसी उस व्यक्ति के कथन में होती है जिसका किसी बैंक में पैसा जमा हो। बैरिस्टर साहब निर्धन छात्रों के बैंक हैं जहाँ बिना पैसा जमा किए पैसा मिल जाता है। आपद ग्रस्तों एवं संत्रस्तों के त्राता हैं, गुमराहों के रहनुमा और होनहार बिरवानों के सर्वस्व। जिस किसी को कालेज के अनुशासन में कुछ कशमकश होती वह सारे बन्धन तुड़ाकर इनके पास पहुँचता। वे उसकी बात सुनते और कालेज के अनुशासन और उस व्यक्ति की निजी कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए ऐसा हल निकालते कि वह व्यक्ति गर्व स्फीत होकर लौटता ।

एक बात निपट व्यक्तिगत होते हुए भी यहाँ उसके उल्लेख का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। मुझे एक बार कालेज से ऋण लेने की आवश्यकता हुई। परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि उतना धन प्रोनोट पर मुझे अकेले नहीं मिल सकता था। बैरिस्टर साहब ने प्रोनोट पर मेरे नाम के साथ अपने एक लड़के को सह ऋणी (Co debtor) बनाया। जिस पर इनकी कृपा की गई हो वह व्यक्ति तो इनके हाथ बिक गया। ऐसे अनेक ज्वलन्त उदाहरण हैं जो उनकी अध्यापकों के प्रति आत्मीयता के परिचायक हैं। छात्रों और अध्यापकों के साथ तो इनकी घनिष्टता है ही, अल्प वेतन भोगी कर्मचारी भी अपने को निरालंब नहीं पाता। कई चपरासियों का उनसे सीधा सम्बन्ध है। शासन की ओर से जीविका की इतनी प्रतिभूति (security) नहीं मिल सकती जैसी इन लोगों को सुलभ है। अवकाश प्राप्ति के समय इनकी सजल विदा भी कम महत्व की नहीं । यह जानकर कि इनका कोई सहारा है, इनकी बाँह पकड़ने वाला कोई मौजूद है, ये यूनियन आदि के चक्कर में नहीं पड़ते।

बैरिस्टर साहब का विश्वविद्यालय में, शिक्षा विभाग में,समग्र शिक्षा क्षेत्र में एक विशिष्ट सम्मानपूर्ण स्थान है। इनकी ख्याति सुनकर भारतीय गणतन्त्र के राष्ट्रपति ने इन्हें अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के कोर्ट का सदस्य मनोनीत किया है।

उन्होंने अभी हाल में श्री ब्रह्मावर्त सनातन धर्म महामण्डल के अन्तर्गत एक दीनदयाल उपाध्याय विद्यालय की स्थापना की है, जहाँ पर छठवीं कक्षा से लेकर बारहवीं कक्षा तक पढ़ाई होगी। यह संस्था अंग्रेजी पब्लिक स्कूल का भारतीयकरण है। इसमें पढ़ने वाले छात्र यहीं रहेंगे। इनका अध्यापन, क्रीड़न, अवकाश यापन क्रमबद्ध और सुश्रृंखल होगा। इनके संस्कारों पर भारतीयता की छाप होगी। जैसे काशी विद्यापीठ के स्नातक आज राजनीतिक नीलगगन में जगमगा रहे हैं, उसी प्रकार एक दिन समाज के प्रांगण में इनकी प्रभा का भी प्रसार होगा।

श्री नरेन्द्रजीत सिंह भारतीय संस्कृति के भक्त हैं। ये राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रान्त संघचालक हैं। इस संस्था के संगठन, संचालन, इसकी गतिविधि के नियमन, प्रस्फुटन आदि में इनका मनसा, वाचा, कर्मणा सहयोग है। इसकी प्रतिष्ठावृद्धि के हेतु इनको कुछ अदेय नहीं है। समय, धन सम्पत्ति, श्रम, परामर्श, मेधा, विवेक बुद्धि, कार्यकौशल सभी कुछ संघ की वेदी पर समर्पित है। आज 'धर्म निरपेक्ष' भारत के सामाजिक वातावरण में अपने को हिन्दू कहना - कहलाना मानो साम्प्रदायिकता का विज्ञापन देना है, संकीर्णता एवं अप्रगतिशीलता का बिल्ला लगाना है। हिन्दुस्तान में रहकर हिन्दू कहलाने में संकोच! कैसी विडम्बना है! पर बैरिस्टर साहब अपने आपको हिन्दू कहने में गौरव और हिन्दुत्व में गर्व की अनुभूति होती है। हिन्दू कभी संकीर्ण हो नहीं सकता। जिसने व्यष्टि और समष्टि-सारे चराचर जगत को एक चैतन्य शक्ति आत्मा अथवा ब्रह्म की अभिव्यक्ति माना है, जिसने प्राणि-मात्र को अपना स्वरूप समझा है भला फिर वह किससे बैर की बात सोचे। इनका हिन्दुत्व महामना मालवीय का हिन्दुत्व है - सहिष्णुता, उदार राष्ट्रीयता जिसके उपलक्षण हैं। इनका हिन्दुत्व तिलक का हिन्दुत्व है जिनकी सामाजिक विचार अवधारणा में सृष्टि व्यापिनी करुणा है। इनके हिन्दुत्व में स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त गर्जन की प्रतिध्वनि है, जिस गर्जन ने सारे अमेरिका की आँखें खोल दी, जो गूँज सारे ईसाई जगत पर छा गई,जो समझ गए कि वेदान्त ही धर्म का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है और जिसने १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में नवोत्थान के प्रभात में भारतीयों को राष्ट्रीयता का 'ॐ नमः सिद्धम्' आरम्भ कराया।

उनके विचार से हिन्दुत्व और राष्ट्रीयता की भावनाओं में कोई विरोध नहीं। दोनों में अन्योन्याश्रय भाव है। वीर सावरकर ने एक स्थल पर कहा है, "A Hindu patriot worth the name can't but be an Indian patriot as well." इसका कारण भी स्पष्ट है। हिन्दुओं के लिए हिन्दुस्थान ही पितृ देश, मातृ देश तथा पुण्य देश है। यही उनका मक्का, यही येरुशलम। अस्तु, इस देश के प्रति उनका प्रेम स्वाभाविक है। तभी स्वतंत्रता संग्राम में उनकी संख्या बेशुमार थी। मुट्ठी भर लोगों को छोड़कर बाकी और लोगों को तो बालू बांध कर सती किया गया था। वे तो खून लगाकर शहीद बने थे। हिन्दुत्व की यह अवधारणा संकीर्ण नहीं कही जा सकती। फिर सावरकर के ही शब्दों में - "आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्ये वास।" हिन्दू शब्द की ध्वनि निम्नांकित श्लोक में भरी है-

आसिन्धु सिन्धु पर्यन्ता यस्य भारत भूमिका
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिंदुरिति स्मृतः।

बैरिस्टर साहब की राष्ट्र की परिकल्पना में सबको स्थान है। उनके परिकल्पित समाज में 'आचरण की सभ्यता' होगी, परस्पर भ्रातृ-भाव की स्निग्धता होगी, राष्ट्र की ममता होगी, परन्तु साथ ही विश्व-व्यापिनी सहानुभूति एवं सम्वेदना होगी। उसमें प्रत्येक युवक के लिए स्वास्थ्य का एक राष्ट्रीय स्टैंडर्ड होगा (National standard of physique for every youth)। सभी नागरिकों की मिल-जुल कर रहने की, और मिल-बाँट कर खाने की प्रवृत्ति होगी। वह समाज और राष्ट्र उद्भावना मात्र न होंगे। उनका गोचर साक्षीकरण करने के लिए पुरातन के प्रति प्रत्यावर्तन करना होगा। प्राचीन समाज और संस्कृति को आधुनिक विज्ञान और टेक्नॉलाजी के साँचे में ढालकर संजोना पड़ेगा। उस समाज में शरणागत वत्सलता होगी जिससे प्रेरित होकर प्रथम शती में ईसाइयों का दक्षिण प्रदेश में स्वागत किया गया। उसमें चालुक्य नरेशों की उदारता होगी जिससे प्रभावित होकर मुसलमानों के लिए मस्जिदों का निर्माण किया गया। परन्तु उसमें ईसाइयों और मुसलमानों को अपने-अपने धर्म पर आरूढ़ रहते हुए भारतीय राष्ट्र का घटक बनना पड़ेगा। उसके दुःख में रोना और सुख में हँसना होगा। हिन्दू राष्ट्र योजना में समाविष्ट होने के लिए धर्म परिवर्तन की आवश्यकता नहीं वरन् भाव परिवर्तन की आवश्यकता होगी। सिन्धु से सिन्धु तक फैले हुए देश की संस्कृति के प्रति उसकी सफलता और विफलता, उसकी राजनीतिक और आर्थिक उन्नति-अवनति, उसके कला और साहित्य में समभाव और समवेदना की अनुभूति और अभिव्यक्ति अपेक्षित होगी। हिन्दुत्व की इस परिकल्पना में साम्प्रदायिकता की गंध ढूंढ़ने वालों की घ्राण शक्ति भले ही तीव्र हो, उनकी बुद्धि की दुर्बलता छिपाना कठिन है।

बैरिस्टर साहब के स्वजन-परिजनों को यह आश्चर्य होता है कि आज के लोकतंत्रात्मक वातावरण में जब मंत्रिपद शाक-भाजी से सस्ता हो गया है, जो तुलसीदास के शब्दों में 'अनइच्छित आवइ बरियाई', उनका उधर ध्यान भी नहीं जाता है। ये सपने में भी उधर आँख उठाकर नहीं देखते। क्या इसका कारण है कि इनमें क्षमता नहीं, इनको समय और सुविधा नहीं, समाज का समर्थन नहीं, इनके व्यक्तित्व में आकर्षण नहीं, नागरिकों का इन पर विश्वास नहीं? तो फिर इस उदासीनता का क्या रहस्य है? यद्यपि आज विधान मण्डल के सदस्य या मंत्रिपद के लिए उपर्युक्त किसी गुण की अपेक्षा नहीं, पर इनमें ये सारी विशिष्टताएं उपलब्ध हैं। इनमें क्षमता है क्योंकि ये राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे सुविशाल संस्थान के प्रान्तीय संघचालक हैं। इनको समय और सुविधा है क्योंकि ये वकालत के अतिरिक्त विविध भाँति की समाज सेवा करते हैं। इनमें आकर्षण है और जनता की श्रद्धा भी है क्योंकि इन्होंने स्वामी विवेकानन्द स्मारक निधि के लिए प्रभूत धनराशि एकत्रित की, और वे अनेक ट्रस्टों के अध्यक्ष हैं। यह भी नहीं ये वीतराग हों, समाज की भीड़-भाड़ इनको पसन्द न हो। ये अपनी और कालेज की अचल सम्पत्ति के प्रबन्धकों से कहा करते हैं कि अदालत को निर्णय के लिए जाने के पहले उस अनधिकारी को अर्धचन्द्र देकर निकाल दो जो तुम्हारे मकान को बलात् अधिकृत करना चाहता हो। आज ये राष्ट्र के उच्चतम पद पर आसीन होने के योग्य हैं और इनकी पद स्वीकृति से इनकी इतनी शोभा नहीं बढ़ेगी जितनी उस पद की। यह पद अस्वीकृति ही इनके त्याग और सिद्धांत पर अटल रहने की परिचायिका है। इनका यह विचार है कि आजकल की राज्य व्यवस्था में पदाधिकार राष्ट्र के लिए श्रेयस्कर नहीं होगा। विधान मण्डल में जो अकांड तांडव मचा हुआ है, पदों की प्राप्ति के लिए जो छीना-झपटी हो रही है, शक्ति हथियाने के लिए विभिन्न दलों के सदस्य जो बैडमिंटन की चिड़िया की भाँति इधर से उधर सभा प्रांगण का अतिक्रमण कर रहे हैं, इन परिस्थितियों में पद ग्रहण करके व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की संतृप्ति भले ही कर ली जाये, वंश और परिवार के स्वर को दो-चार इंच भले ही ऊँचा किया जा सके परन्तु इससे राष्ट्र की मंगलाशा मृगमरीचिका के समान निष्फल सिद्ध होगी। स्वराज्य के बाद हमारा राष्ट्र और विशृंखला हो गया है। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा आदि के भेदभावों ने इसकी उस दृढ़ता को झकझोर दिया जो ब्रिटिश शासन से जूझने के लिए स्वभावतः उसमें आ गई थी। समाज को संघटित करने की आवश्यकता है। उसके बिखरे हुए तत्वों को जोड़ने की जरूरत है। संघटन ही शक्ति का केन्द्र है। शक्ति संचय के लिए सामूहिक चेतना अपेक्षित है। चेतना तभी जाग्रत होती है जब समाज में अनुशासन होता है, चरित्र बल का संग्रह होता है। व्यक्ति के अनुशासन और चरित्र बल पर ही राष्ट्र का अनुशासन और चरित्र बल आधारित रहता है।

यह समग्र हिन्दू राष्ट्र को समय की चुनौती है कि

यदि वह अपने-आप को सम्बद्ध, संगठित, सशक्त, चरित्र सम्पन्न और जागरूक न बना पाया तो न तो हिन्दू ही रहेगा और न राष्ट्र ही। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक हिन्दू की हृदय तंत्री से एक ताल पर एक ही झंकार निकले। सामूहिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने के लिए तंत्री और ताल दोनों को संभालना पड़ेगा। इसके लिए हम अपने प्राचीन तत्वदर्शकों, धार्मिक मार्गदर्शकों, आप्त ऋषियों, राष्ट्र निर्माताओं की उपलब्धियों की सुखद स्मृतियों को जगाएं। हिन्दू संस्कृति के उन्नायकों की स्मृति जगते ही हमारी शिराओं में नवजीवन का संचार और हृदय में अभिनव स्पंदन हो उठेगा। राष्ट्रीयता की भावना सुविशाल भूभाग में सन्निहित नहीं रहती, पर कुछ प्रमुख सांस्कृतिक आदर्शों तथा वरेण्य परम्पराओं पर दृढ़ता पूर्वक आरूढ़ रहने में है। हिन्दुत्व का सामाजिक और नैतिक पुनरुद्धार निस्वार्थ सेवा, आत्मसमर्पण तथा भक्तिभावना के द्वारा ही सम्भव है। डॉ० हेडगेवार ने ठीक ही कहा है कि संस्कृति एक बड़ा व्यापक शब्द है- इसमें धर्मनीति, राजनीति, अर्थनीति, कला-साहित्य सभी समाविष्ट हैं। सांस्कृतिक दृढ़ता के लिए यह अनिवार्य है कि कोटि-कोटि कंठों में उत्साह की अविराम, अजस्र, अटूट वेगवती धारा फूट निकले। तभी राष्ट्र का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सकेगा। अभी ऐसा अवसर नहीं आया। इन परिस्थितियों में सीधे राजनीति के पचड़ों में पड़ना राष्ट्र के विघटन को योग देना है। बैरिस्टर साहब की इस ओर तटस्थता का यही कारण जान पड़ता है।

बैरिस्टर साहब का लघु-शब्द-चित्र तब तक पूर्ण न होगा, जब तक उनकी कार्य-प्रणाली के विषय में दो-चार शब्द अंकित न किए जाएं। उनकी रीति-नीति व्यावहारिक है। वे यथार्थवादी हैं। वे किसी बात को दूसरे दिन के लिए नहीं छोड़ते और न उसके दायित्व को दूसरे के सिर पर मढ़ते हैं। उनमें कार्य कौशल के साथ कार्य-प्रवर्तन की अपार क्षिप्रता है। वे किसी काम को अर्से तक टाँगे रखने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि हमें प्रत्येक कार्य के मूल में गहराई तक जाना चाहिए, फिर अविलम्ब निर्णय ले लेना चाहिए। वे 'नेति, नेति' के समर्थक नहीं है। दीर्घ-सूत्रता उनको खलती है। उन्हें यह पसन्द नहीं कि साधारण बात को अकारण तूल दिया जाय। उनकी बुद्धि सारग्राही है। वे लम्बे-चौड़े बयान या लेख से अपने मतलब की बात चट से निकाल लेते हैं। उनका कहना है कि यह सम्भव नहीं कि हमारे निर्णय सर्वांशतः ठीक ही बैठें। परिस्थितियों को देखकर सर्वोत्तम निर्णय कर लेना चाहिए। प्रायः बिल्कुल निर्णय न लेने से सदोष निर्णय ले लेना अच्छा है क्योंकि दोष का तो कालांतर में निवारण सम्भव है, परन्तु विलम्ब से निर्णय लेने से अथवा निर्णय के अभाव में अधिक हानि की आशंका रहती है। वे चाहते हैं कि उनसे नपी-तुली बात की जाय और वे स्वयं भी अनर्गलता में विश्वास नहीं करते। कुछ लोगों का स्वभाव होता है कि उनसे कोई मिलकर बात करे। ये इसको उचित समझते हैं कि उनके पास उद्देश्य लिखकर भेज दिया जाय। उसे पढ़कर वे उसका समुचित उत्तर दे देते हैं और कहते हैं, इससे श्रोता-वक्ता दोनों का समय बच जाता है।

इस छोटे शब्द चित्र में उनके प्रतिभा सम्पन्न जीवन के विविध पक्षों की व्याख्या न सम्भव ही है और न अभीष्ट ही। उनके व्यक्तित्व में वह आकर्षण है कि उनसे वाद-विवाद में पराजित होने में भी विजय की अनुभूति होती है। एक अंग्रेज विद्वान ने महापुरुष के लक्षणों की व्याख्या की है। उन्हें पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः ऐसी महानता का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता, परन्तु जिनका बैरिस्टर साहब से सम्पर्क हुआ है, वे निर्विवाद कह सकते हैं कि उनमें महापुरुष के सभी लक्षण विद्यमान हैं। एक सज्जन का कालेज से सुप्रीमकोर्ट में मुकदमा चल रहा है। हम लोग स्वर्ण जयन्ती का चन्दा माँगने के लिए उनके पास पहुँचे और अपनी माँग को प्रभावी बनाने के लिए उनसे कहा कि अबकी बार हम लोग बैरिस्टर साहब को भी साथ लायेंगे। उनका नाम सुनते ही वह स्नेह विभोर होकर अंग्रेजी में कहने लगे, "Please don't bring him. He is a noble soul. I will myself go to him." मुझे बाबा तुलसीदास की निम्नांकित अर्धाली का स्मरण हो आया जो बैरिस्टर साहब पर सम्यक् रीति से चरितार्थ होती है।

वैरिउ राम बड़ाई करहीं,
बोलनि मिलनि विनय मन हरहीं।

उनकी 'बोलनि', 'मिलनि' सुनकर और देखकर किसी विरोध अथवा वैर का भाव ही तिरोहित हो जाता है। मैंने उनको हर्षोल्लास में भी देखा है, विचारशील मुद्रा में भी, आक्रोश की छाया में भी उनके दर्शन हुए हैं, परन्तु हर हालत में उन्होंने संयम के बाँध को नहीं तोड़ा। आक्रोश में भी उनके मुख से एक भी अपशब्द नहीं निकलता। परन्तु उनकी विनम्रता का अनुचित लाभ लेकर कोई उनको अपने संकल्प और धारणा से च्युत् नहीं कर सकता। ऐसा नहीं होता कि कोई बात कहकर चला जाए, और ये उसका उत्तर न दें। परन्तु इनके उत्तर में शालीनता की मिठास होगी। वे सत्य भी बोलते हैं और प्रिय भी। उनमें विनोदप्रियता और वाग्विदग्धता भी असामान्य है। एक बार वे मेरे यहाँ भोज में पधारे। मैंने पूछा, "बैरिस्टर साहब आपका ड्राइवर है?" उत्तर मिला, "है"। मैंने कहा, 'कहाँ?' अपनी ओर संकेत करके कहने लगे, 'यह कैसा बैठा है।' इसी प्रकार एक बार कालेज में अखिल भारतीय वॉलीबॉल टूर्नामेंट हुआ। समापन करते हुए आपने अपने व्याख्यान में कहा, 'प्रिंसिपल शर्मा ने जिस स्वयंवर की रचना की थी उसमें पंजाब विश्वविद्यालय आज देश-विदेश के उम्मीदवारों को पराजित कर विजय श्री जीत कर लिए जा रहा है।' ऐसा विनयशील, दृढ़ संकल्पवान, सच्चरित्र, लोकसंग्रही व्यक्ति जिस वंश में जन्म ले, जिस समाज में उसका प्रादुर्भाव हो, जिस राष्ट्र को उसका साहाय्य सुलभ हो, वह वंश धन्य है, वह समाज धन्य है, और वह राष्ट्र धन्य है।

❑ (स्वर्ण जयन्ती स्मारिका, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय, कानपुर - १९७१)

विश्वेश्वर दयालु शुक्ल : पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय, कानपुर।

आत्म दर्शन

✍ अतुल मिश्र

आत्म दर्शन
है एक अनोखी अनुभूति
सागर सा शान्त
स्वर्ग सा एकान्त
जैसे दूर कहीं जमीन पर
मिलता आसमान
फूलों सा मुस्कुराता
भौरों सा गुनगुनाता
नदी सा चंचल
जैसे कोई अबोध बालक घबराता
माँ का आँचल
जैसे चुपके से मुझे बुलाता
है मेरे भी मन में,
देवता छुपा सा
जोड़ता है एक अटूट बन्धन सा
एक अनोखी अनुभूति सा

अतुल मिश्र : युग भारती

एक बहुमुखी व्यक्तित्व

✍ गुलाब दत्त त्रिपाठी

संघमय अस्तित्व

म्युनिसिपल कमिश्नर का चुनाव लड़ रहे बैरिस्टर साहब सम्पर्क हेतु डी.ए.वी. छात्रावास आये हुए थे। उनका व्यवहार देखकर मैंने अन्य विद्यार्थियों से उनके पक्ष में वोट डालने का आग्रह किया। नब्बे प्रतिशत ने उनके पक्ष में मतदान किया और वे विजयी हुए। तत्पश्चात् मैं उन्हें दयानंद सायं शाखा के मकर संक्रांति कार्यक्रम (१४ जनवरी १९४४) के मुख्य अतिथि पद हेतु आमंत्रित करने गया। चुनाव में स्वयंसेवकों ने निस्वार्थ भाव एवं पूर्ण निष्ठा से उनके लिए जो कार्य किया था उससे वे प्रभावित तो थे ही। उन्होंने निमंत्रण स्वीकार किया और कार्यक्रम में क्या बोलना होगा, इसकी जानकारी चाही। संघ-संस्थापक डॉ. हेडगेवार के जीवन से संबंधित एक पुस्तक मैंने उन्हें दी जिसमें मकर संक्रांति उत्सव के विषय में भी कुछ सामग्री थी। कुछ और बातें भी संघ के बारे में मैंने उनको बतायीं। संघ कार्य में पूज्य बैरिस्टर साहब का वह प्रथम आगमन था। फिर तो नियमित रूप से स्वयंसेवकों के साथ मैं उनसे मिलने जाने लगा। माननीय अनंत राव गोखले उस समय कानपुर महानगर के प्रचारक थे। गोखले जी प्रायः उनसे मिलते रहते थे। फिर बैरिस्टर साहब स्वर्गीय भाऊराव देवरस के सम्पर्क में भी आये, संघ से उत्तरोत्तर प्रभावित होते गये और विभिन्न शाखाओं के कार्यक्रमों में आने लगे। १९४५ में वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विभाग संघचालक बने। १९४७ में स्वर्गीय गुरू जी ने उन्हें प्रांत संघचालक घोषित किया जो कि वे जीवनपर्यन्त रहे।

उस समय सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश संघ की दृष्टि से एक प्रान्त माना जाता था। बाद में यह स्थिति बदल गई। बैरिस्टर साहब ने एक बार विनोद भाव से कहा था - 'कभी मैं पूरे उत्तर प्रदेश का संघचालक था, फिर पूर्वी उत्तर प्रदेश का रह गया और अब तो केवल अवध प्रान्त का ही संघचालक हूँ।' जब एक कार्यकर्ता ने पूछा कि आप कब तक संघचालक बने रहेंगे तो उनका उत्तर था, 'संघ में आजीवन कार्य किया जाता है। जब तक ईश्वर उठा न ले तब तक यही कार्य करना है'। इस बात को उन्होंने चरितार्थ करके भी दिखाया। वे केवल शोभा के लिए संघचालक नहीं थे, वरन् अपने कर्तव्य का पूर्ण निष्ठा से निर्वाह करते रहे।

उनके संघचालक बनने के थोड़े दिनों बाद ही प्रान्त भर में नैपुण्य वर्ग लगाये गये। उनकी इच्छानुरूप दो जिलों - सीतापुर तथा गोण्डा में उनका कार्यक्रम रखा गया। माननीय गोखले जी ने बैरिस्टर साहब के साथ मुझे भी भेजा ताकि उनको कोई असुविधा न हो। प्रवास में भी उनका यही प्रयास था कि वे सारा कार्य अपने हाथों से करें। मैंने जब सहायता करनी चाही तो उनका यही कहना था, 'गुलाबदत्त जी, हम लोग स्वयंसेवक हैं न। अतः अपनी सेवा हम लोगों को अपने आप करनी चाहिए'। मैं निरुत्तर हो गया।

इतने सम्पन्न, संभ्रांत परिवार में जन्म लेने का तथा ऐश्वर्य, शानो-शौकत के वातावरण का कोई कुप्रभाव बैरिस्टर साहब पर नहीं पड़ा। घमण्ड तो उनको छू तक नहीं गया था। बाल्यकाल से ही प्रातः जागरण और स्नानादि नित्यकर्म तथा संध्योपासन के बाद ही जलपान करने के संस्कार उनको अपनी माता से प्राप्त हुए थे। समय पर कार्य करने तथा किसी भी समस्या को पूर्णरूपेण समझ कर उसका समाधान करने की प्रवृत्ति उनको अपने पिता से विरासत में मिली थी। सहधर्मिणी पूजनीया सुशीला जी, स्नेह से जिन्हें हम 'बूजी' कहते थे, का सहयोग सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक कार्यों में उन्हें सदैव मिलता था। कालान्तर में बूजी के स्वर्गवास के उपरान्त और भी विरक्त होकर बैरिस्टर साहब पूर्णतया समाज कार्य में तल्लीन हो गये थे।

राष्ट्रप्रेम व राष्ट्रभक्ति की सच्ची भावना बैरिस्टर साहब में कूट-कूट कर भरी थी। उनके आचरण एवं कर्तव्य से पूरा परिवार ही संघमय हो गया था। उनके दोनों पुत्र धीरेन्द्र जी एवं वीरेन्द्र जी बचपन से ही शाखा जाते थे। वीरेन्द्र जी वी.एस.एस.डी. कॉलेज में बी.एस.सी. के प्रथम बैच के छात्र थे। १९५९ में बी.एस.सी. की

परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने के बाद चार्टर्ड एकाउण्टेन्ट की ट्रेनिंग उन्होंने दो वर्ष में ही पूर्ण कर ली व उसकी परीक्षा में उत्तम स्थान प्राप्त किया। फिर संघ के पूर्णकालिक प्रचारक का कार्य किया। तीन वर्ष तक प्रचारक रहने के बाद ही उन्होंने गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया। ऐसा उदाहरण और कहाँ मिलेगा जहाँ पिता-पुत्र-पत्नी सबका जीवन राष्ट्र के लिए समर्पित हो। यह सब सम्भव हुआ बैरिस्टर साहब के सद्व्यवहार एवं प्रेरणादायक आचरण से।

गुरू जी का विशेष स्नेह बैरिस्टर साहब को प्राप्त था। वर्तमान संघचालक माननीय बाला साहब देवरस के भी वे स्नेहपात्र रहे। संघ की राष्ट्रीय परिषद के मनोनीत सदस्यों में उनका स्थान हमेशा बना रहा। स्व. भाऊराव देवरस, मा. रज्जू भैया और नाना जी देशमुख को वे सच्चे मित्रों की भाँति मानते थे और उनसे मार्गदर्शन भी प्राप्त करते थे।

जेल प्रवास

३० जनवरी, १९४८ को महात्मा गांधी की हत्या के बाद ४ फरवरी को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर प्रतिबन्ध लग गया। गुरू जी सहित संघ के बड़े-बड़े प्रचारक एवं अधिकारी कारागार में डाल दिये गये। गुरू जी ने संघ को निरस्त (disband) कर दिया। बैरिस्टर साहब भी कानपुर जिला कारागार में बन्द कर दिये गये। उनके निवास पर अराजक तत्वों द्वारा हमला कराया गया। कांग्रेस सरकार एवं अन्य प्रभावी व्यक्तियों द्वारा उन पर बारम्बार दबाव डाला गया कि वे संघकार्य से अलग हो जायें परन्तु बैरिस्टर साहब ने दृढ़तापूर्वक कहा कि संघ कार्य एक राष्ट्रीय कार्य है। इस पर प्रतिबन्ध अकारण तथा असंवैधानिक है। मैं इस कार्य को कदापि नहीं छोड़ूँगा चाहे जैसी परिस्थिति हो। इसी कार्य की सफलता में देश का वास्तविक भला होगा।

गुरू जी द्वारा प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू से कई बार पत्र व्यवहार एवं व्यक्तिगत मुलाकात के बाद भी जब संघ से प्रतिबन्ध नहीं हटाया गया तो उन्होंने सत्याग्रह का आदेश दिया। देश भर में लाखों स्वयंसेवक सत्याग्रह में कूद पड़े। २५ स्वयंसेवकों के साथ कानपुर के सूटरगंज संघस्थान पर सत्याग्रह करके मैं भी कानपुर जिला कारागार पहुँच गया। जेल में बैरिस्टर साहब ने मुझसे पूछा; 'गुलाबदत्त जी, आप केन्द्रीय सेवा में केमिस्ट के पद पर हैं। बाहर रह कर ही संघकार्य करते रहते। यहाँ क्यों आये?' मैंने उत्तर दिया, 'इस समय संघ पर आपत्ति आई है। आप जैसे लोग भी जेल में हैं। प्रथम कर्तव्य यही है कि सत्याग्रह को सफल बनाया जाये। नौकरी से मैंने त्यागपत्र दे दिया है। नौकरी का क्या मोह है? यहाँ आप जैसे महानुभावों का मार्गदर्शन मिलता रहेगा और अन्य स्वयंसेवकों के साथ रहकर उत्साह भी बढ़ता रहेगा'। मेरे उत्तर से बैरिस्टर साहब संतुष्ट हुए।

भोजन आदि बनाने के लिए हम लोगों को 'पक्के' (आजन्म कारावासी) दे दिये गये थे। नियमानुकूल राशन मिलता था। पहले ही दिन मुझे लगा कि बैरिस्टर साहब से मोटी रोटी नहीं खाई जायेगी। उनके लिए पतली रोटी बनवानी चाहिए। ऐसा ही किया गया। परन्तु वितरण में पतली रोटी मिलने पर बैरिस्टर साहब ने आसपास के स्वयंसेवकों में बाँट दी। राशन में मिलने वाली मक्खन की टिकिया भी औरों को दे दी। पूछने पर कहा, 'घर पर तो महीन रोटी और मक्खन खाता ही रहता हूँ, यहाँ साधारण भोजन की आदत डालना ही उचित है'। कैसी महानता थी!

१९७५ में श्रीमती इंदिरा गांधी ने आपात्काल घोषित करके संघ पर पुनः प्रतिबन्ध लगा दिया और बैरिस्टर साहब पुनः कारागार में बंद कर दिये गये। विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म कॉलेज, पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, रामलला विद्यालय - सभी उस समय तक उनके मार्गदर्शन में चलते थे। इन सभी संस्थाओं के दायित्व से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया था ताकि किसी प्रकार का मोह उन्हें न सताए। कारावास में उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और उपचार हेतु वे उर्सला अस्पताल लाए गये। ऐसी अवस्था में भी वे विचलित नहीं हुए। उन्हें केवल संघकार्य की ही चिन्ता रहती थी। अस्पताल में मिलने वालों से वे सत्याग्रह में लगे कार्यकर्ताओं के बारे में ही पूछताछ करते रहते थे।

शैक्षिक एवं सामाजिक कार्य

१९२१ में बैरिस्टर साहब के पिता रायबहादुर विक्रमाजीत सिंह ने सनातन धर्म वाणिज्य महाविद्यालय की स्थापना की थी। उन्हीं के समय में कला एवं विधि विभाग भी प्रारम्भ हो गये थे। १९४० में उनके निधन के बाद संस्था का नाम विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म

महाविद्यालय कर दिया गया। यों तो बैरिस्टर साहब विधि एवं शैक्षणिक कार्यों में पिता का सहयोग करते ही थे पर पिता की मृत्यु के बाद सारा भार उन्हीं के कंधों पर आ गया। जीवन पर्यन्त इस भार को उन्होंने केवल निभाया ही नहीं, वरन् संस्थाओं का प्रसार भी किया। वी.एस.एस.डी. कॉलेज में बैरिस्टर साहब ने १९५७ में विज्ञान कक्षायें प्रारम्भ करवाईं। १९६३ में रसायन विज्ञान तथा १९६४ में भौतिक विज्ञान में एम.एससी. भी उनके प्रयत्नों से ही प्रारम्भ हुए। उस समय की एक घटना याद आती है। भौतिक विज्ञान में एम.एससी. प्रारम्भ होने में कुछ सरकारी अड़चनें थीं। बैरिस्टर साहब के ज्येष्ठ भ्राता स्व. रणजीत सिंह संयुक्त मंत्री थे। उन्होंने बैरिस्टर साहब को लखनऊ भेजा यह विश्वास प्रकट करते हुए कि नरेन्द्र बहुत अच्छी हिन्दी बोल लेते हैं। अपनी माधुर्य युक्त हिन्दी से ये अधिकारियों को संतुष्ट कर देंगे। उनका विश्वास फलित हुआ और वांछित मान्यता मिल गई।

बी.एससी. विज्ञान की कक्षायें प्रारम्भ करने के लिए १९५७ में मुझे बी.एन.एस.डी. इण्टर कॉलेज से वी.एस.एस.डी. कॉलेज भेजा गया। तब से जून १९८६ तक बैरिस्टर साहब के मार्गदर्शन में मैं कॉलेज में कार्यरत रहा। उनके आदर्श जीवन से प्रेरणा लेकर ही मैंने अवकाश प्राप्ति तक कॉलेज की सेवा का संकल्प ले रखा था। इसीलिए और कहीं जाने का प्रयास नहीं किया।

बैरिस्टर साहब का कहना था कि अपने जीवन में हमें पूर्ण भारतीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। साथ ही हमारी दृष्टि वैज्ञानिक भी होनी चाहिए। प्रत्येक कार्य नियमानुसार ही करना चाहिए। उनका दृढ़ मत था कि शिक्षा अपनी मातृभाषा में ही होनी चाहिए। कॉन्वेन्ट शिक्षा के वे प्रबल विरोधी थे। शिशु मंदिरों, विद्या मंदिरों का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो, इसके लिए वे सतत् प्रयत्नशील रहे।

दीनदयाल विद्यालय

बैरिस्टर साहब व बूजी की आकांक्षा थी कि संघ के आदर्शों के अनुरूप एक विद्यालय की स्थापना की जाये। ११ फरवरी, १९६८ को मुगलसराय में पं. दीनदयाल उपाध्याय की निर्मम हत्या कर दी गई। कानपुर में भी एक शोक यात्रा निकाली गयी जिसमें बूजी भी सम्मिलित थीं। मार्ग में ही बूजी ने सबके समक्ष संकल्प लिया कि पंडित जी के नाम से एक विद्यालय की स्थापना की जायेगी। उनके संकल्प एवं गुरू जी की प्रेरणा से पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय की स्थापना हुयी। बूजी ने अपना तन-मन-धन सर्वस्व इस विद्यालय के निर्माण में लगा दिया। विद्यालय का शिलान्यास व उद्घाटन गुरू जी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। बैरिस्टर साहब के मार्गदर्शन में इस विद्यालय ने न केवल प्रान्त वरन् पूरे देश में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है। इस विद्यालय में विद्यार्थियों का निर्माण संघ की विचारधारा एवं भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप होता है। प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर व चिकित्सा, अभियांत्रिकी आदि प्रतियोगिताओं को पार कर इस विद्यालय के अनेक पूर्व छात्र देश ही नहीं, विदेशों में भी उच्च पदों पर आसीन हैं।

बैरिस्टर साहब के ही मार्गदर्शन में बी.एन.एस.डी. शिक्षा निकेतन की स्थापना हुई जो कि पं. दीनदयाल विद्यालय के ही मार्ग का अनुसरण कर रहा है। कानपुर शिक्षा समिति, जिसके अन्तर्गत हीरालाल खन्ना इण्टर कॉलेज, हीरालाल खन्ना बाल निकेतन, पूर्णा देवी गर्ल्स इण्टर कॉलेज, पूर्णा देवी बाल निकेतन, नंदलाल खन्ना एजूकेशन सेण्टर, नंदलाल खन्ना विद्या मंदिर आदि चलते हैं, के बैरिस्टर साहब अध्यक्ष थे तथा सभी शिक्षण संस्थाओं की प्रगति के बारे में चिंतित रहते थे। सनातन धर्म महामण्डल के अन्तर्गत श्री मोतीलाल खेड़िया ट्रस्ट द्वारा खेड़िया विद्या मंदिर का निर्माण किया गया। उसके भी संरक्षक बैरिस्टर साहब ही थे। इस प्रकार एक योग्य शिक्षाविद् होने के नाते शिक्षा के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान बैरिस्टर साहब ने मृत्युपर्यन्त किया।

शिक्षण संस्थानों के प्रबन्धन में अनुचित सरकारी हस्तक्षेप को लेकर बैरिस्टर साहब के मन में बड़ी पीड़ा रहती थी। डिग्री एवं इण्टर कॉलेजों में नियुक्ति के लिए जिम्मेदार शिक्षा आयोगों में प्रबन्ध तंत्र के प्रतिनिधि भी होने चाहिए, ताकि आवश्यकतानुसार योग्य शिक्षकों की नियुक्ति की जा सके, ऐसा बैरिस्टर साहब का मत था।

विधिवेत्ता

प्रयाग विश्वविद्यालय से बी.एससी. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने के बाद बैरिस्टर साहब ने इंग्लैंड से बी.एससी.,एल.एल.बी. तथा बार-एट-लॉ की उपाधियाँ प्राप्त कीं। विज्ञान के विद्यार्थी रहे होने के बावजूद उन्होंने उत्कृष्टतापूर्वक विधिवेत्ता का कार्य किया। जब मैं एल.एल.बी. में पढ़ता था (१९४५-४७) तो अपने सहपाठियों के साथ स्व. पं. बाबूलाल मिश्र व बैरिस्टर साहब की बहस सुनने जाया करता था। उनकी बहस सुनना अत्यंत आनन्द का अनुभव था। वे कम्पनी लॉ के विशेषज्ञ थे। कई वर्षों तक ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन (बी.आई.सी.) के निदेशक तथा विधि सलाहकार के रूप में उन्होंने काम किया। उस समय के कई नये-नये वकील उनके मार्गदर्शन में काम करके आज अच्छे वकीलों में गिने जाते हैं।

इस प्रकार समाज व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बैरिस्टर साहब का योगदान था। अपनी सतत् साधना, ध्येय-निष्ठा, समाज के प्रति पूर्ण समर्पण तथा अपनी कार्य शैली से वे पूर्ण मानव व महान संत बन गये थे। उनके निधन से समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। भगवान उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे तथा हम लोगों को उनके बताए मार्ग पर चलने का साहस दे।

☐ (नीराजन, श्रद्धांजलि अंक, १९९४)

गुलाबदत्त त्रिपाठी : पूर्व अध्यक्ष, रसायन विज्ञान विभाग, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय, कानपुर।

मेरी राह

✍ विकास अग्रवाल, दशम

तब से हूँ आश्चर्यचकित,
जब से मेरी बुद्धि में,
हुआ है मद्धिम प्रकाश उदित।
हर एक पग पर
ये दुनिया करती है,
मुझको भ्रमित।
उफ! इतने आकर्षण अनगिनत मोह-बन्धन
मुझे हैं करते,
पथ से विचलित।
इस जगत-वाटिका के
पुष्पों का सौन्दर्य,
प्रतिपल करता, मुझे मोहित।
परन्तु मेरा विवेक,
नहीं है अनजान।
मुझे है अपने,
पथ का भान।
जिस पर चलती है 'भीड़'
मेरा मार्ग वह नहीं
जिस पर चलते व्यक्तित्व महान
मेरी राह है वही।
क्योंकि
इस धरा पर भीड़ तो है
अगणित,
पर वे व्यक्तित्व हैं बहुत कम
जो रहते हैं सदा जीवित।।

दैवी सम्पदा के धनी

ज्ञानचन्द्र अग्रवाल

बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह जी का ध्यान आते ही, उनके जीवन से जुड़े अनेक संस्मरण एक के बाद एक मस्तिष्क में आने लगते हैं। जिस किसी भी व्यक्ति को बैरिस्टर साहब से मिलने का अवसर मिला, वह उनके आकर्षक व्यक्तित्व, सरल जीवन, आत्मीयतापूर्ण व्यवहार से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। मुझे तो उनसे मिलने का ही नहीं, उनके साथ रहने का सौभाग्य १९७५ के आपात्काल में मिला, जब हम कानपुर जिला जेल में लगभग ८ महीने बन्द रहे। जेल में तो २४ घण्टे का साथ रहता है प्रतिदिन, अतः बहुत ही निकटता से एक दूसरे को समझने और जानने का अवसर मिल जाता है। वहाँ रहकर मुझे अनुभव हुआ कि बैरिस्टर साहब तो दैवी गुणों के पुंज थे। कुछ संस्मरण लेखबद्ध करने का प्रयास कर रहा हूँ।

बैरिस्टर साहब के घर से उनके बाग के फल अक्सर मिलाई के दिन उनके पुत्र दे जाते थे। बैरिस्टर साहब उन सभी फलों को प्रसाद की भाँति सभी में वितरित करके अपने लिये थोड़े से ही ग्रहण करते थे, कभी भी उन्होंने उनका संग्रह नहीं किया। अपने को सदैव जेल में रह रहे बन्धुओं के बड़े परिवार का एक सदस्य मान कर ही चलते थे। प्रथम दिन से ही उच्च श्रेणी की सुविधायें उनको उपलब्ध हो गई थीं, परन्तु उन्होंने एक भी दिन उन सुविधाओं का उपभोग अपने लिए नहीं किया। जो भी उच्च श्रेणी के कैदी को प्राप्य सामग्री प्राप्त होती थी, वह सामान्य श्रेणी के कैदियों के लिए चलाये जा रहे मेस में दे देते थे और स्वयं सबके साथ बैठकर सामान्य श्रेणी वाला भोजन ही ग्रहण करते थे। यदि हम थोड़ा भी विचार करें तो अनुभव होगा कि व्यवहार में सभी के साथ एकरस होने, पारिवारिक भावना को जीवन में अपनाने का इससे बढ़कर कोई अन्य उदाहरण नहीं हो सकता। यह एक दिन के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण दीर्घकालीन जेल जीवन में उनका स्वाभाविक व्यवहार रहा।

जेल में सभी संगठनों व पार्टियों के लोगों को आपात्काल के समय बन्द कर दिया गया था। कम्युनिस्ट, समाजवादी, लोकदल, मुस्लिम लीग, जमायते इस्लामी, संगठन कांग्रेस आदि सभी दलों के सदस्य थे। आयु की दृष्टि से भी १५ वर्ष से लेकर ८० वर्ष तक के साथी थे। बैरिस्टर साहब सभी का समान ध्यान रखते। मुझे याद है रोजे के दिनों में (सहरी के समय) सूर्यास्त के बाद मुस्लिम बंधुओं को खाद्य पदार्थ उपलब्ध हो जाये, इसकी चिन्ता उनको रहती थी। यदि कोई जेल में बीमार हो जाता तो उसे ठीक औषधि तथा फल आदि उपलब्ध कराने की चिन्ता उनको हो जाती थी। जब जेल में काफी लोगों को बुखार हो गया और ओषधि की व्यवस्था जेल अस्पताल में नहीं हो सकी तो बैरिस्टर साहब ने उबले हुए पानी को दिन में कई बार पीने की सलाह देकर उपचार प्रारम्भ कर दिया और यह इलाज बहुत ही कारगर साबित हुआ। क्या इसको हम बैरिस्टर साहब की सभी को स्वस्थ एवं सुखी देखने की प्रबल भावना का परिणाम नहीं मान सकते? वे तो सदैव यही भाव रखते थे -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत् ।।

जेल जीवन को उपयोगी एवं आनन्दमय बनाने के लिए उनके मार्गदर्शन में बड़ी ही व्यस्त दिनचर्या बनाई गई थी जिसमें विद्यार्थियों को कक्षानुसार नियमित अध्ययन तथा अध्यापन, सांस्कृतिक कार्यक्रम, सामूहिक रूप से गीता, रामायण, महाभारत का वाचन, खेल-कूद आदि प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक शामिल कर लिया गया था। इन कार्यक्रमों का प्रभाव एक उदाहरण से समझ में आ जायेगा। एक दिन कुछ विद्यार्थियों के अभिभावक जब मिलने आये तो वे उनसे कहने लगे कि हम तुम्हें शीघ्र ही जेल से छुड़ाने का प्रयास कर रहे हैं क्योंकि जेल में रह कर तुम्हारी पढ़ाई नहीं हो पाती होगी और पूरे वर्ष की पढ़ाई का नुकसान हो जायेगा। उन विद्यार्थियों ने उत्तर दिया, "पिता जी हमको जेल में रहकर जो पढ़ाई करने को मिल रही है, वह बाहर हजार रुपये महीने खर्च करने के बाद भी उपलब्ध नहीं हो सकती। यहाँ तो हमारे साथ सभी विषयों के अध्यापक भी बन्द हैं और वे बड़े स्नेह और परिश्रम से हमें पढ़ाते हैं।" हमारे पाठकों को जानकर प्रसन्नता होगी कि जेल में बन्द सभी विद्यार्थी जब छूट कर बाहर गये और परीक्षा में बैठे तो सभी ने उच्च श्रेणी के अंक प्राप्त किये। बैरिस्टर साहब की ही योजना का था यह परिणाम!

जेल के तो इस प्रकार के इतने संस्मरण हैं कि एक अच्छी खासी पुस्तक बन जाये।

जेल के बाहर के जीवन से संबंधित संसमरणों का भी उल्लेख करना हम सबको लाभप्रद व उपयोगी रहेगा।

बैरिस्टर साहब गीता के चौदहवें अध्याय में वर्णित दैवी गुणों से भरपूर थे। निर्भयता, अन्तःकरण की निर्मलता, दिव्य ज्ञान, दान, आत्म-संयम, स्वाध्याय, तप, सरलता, सत्य, अहिंसा अक्रोध, त्याग, दया, दृढ़, निश्चय, क्षमा, धैर्य, जैसे गुणों के वे मूर्तरूप थे।

एक बार हमारे मित्र ने एक पुस्तक लिखी और उसकी प्रतिलिपि भेंट स्वरूप बैरिस्टर साहब को दे गये। एक सप्ताह बाद उनका बैरिस्टर साहब से मिलना हुआ तो वे आश्चर्य चकित रह गये यह देख कर कि बैरिस्टर साहब ने उस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़कर उसके बारे में अपनी टिप्पणी दी थी तथा छपाई त्रुटियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। इस प्रकार का स्वाध्याय उनके दैनिक जीवन का अंग था। धार्मिक ग्रन्थों का भी उनको बड़ा गहन अध्ययन था। गीता तो उन्हें पूरी स्मरण थी और समय-समय पर उसके श्लोकों का वे बातचीत में व्यावहारिक महत्व बताते रहते थे।

दानशीलता भी उनके स्वभाव का भाग था। बड़े सात्विक ढंग से दान देते थे तथा ध्यान रखते थे कि सुपात्र को इस प्रकार से मिले कि उसके स्वाभिमान को ठेस न लगे। अच्छे विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता पुरस्कार के रूप में, शुल्क मुक्ति के रूप में, उनके निशुल्क रहने की व्यवस्था करा के, छोटा-मोटा कार्य देकर मासिक सहायता इत्यादि वे अक्सर देते ही रहते थे। इतना ही नहीं, उनका अध्ययन पूरा होने पर ठीक से कहीं नौकरी या व्यवसाय कराने में भी सहायता करते थे।

उनका शान्त एवं क्रोधरहित स्वभाव तो एक उदाहरण है सबके लिए। एक बार छात्र अपनी माँगों को लेकर उनके घर धरना देने पहुँचे और बड़े ही अभद्र नारे लगाने लगे। बैरिस्टर साहब उनके पास आये और बड़ी ही शान्ति उनसे बातचीत करने लगे तथा उनको अपने ड्राइंग रूप में ले जाकर पानी आदि की व्यवस्था कर समझाया तो वे उग्र छात्र बड़े ही शान्त और सन्तुष्ट होकर अपने घर वापस लौट गये। ऐसा मृदु और आत्मीयता पूर्ण था उनका व्यवहार।

बैरिस्टर साहब को पेड़-पौधों से बड़ा प्यार था और उन्होंने घर के लॉन में भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों के पौधे लगा रखे थे। न जाने कितनी तो गुलाब की किस्में थीं। उनकी देखभाल बच्चों की तरह करते थे और बड़ी जानकारी थी इस विषय में। मैंने उन्हें एक माली का साक्षात्कार करते देखा था। वह नौकरी के लिए आया था और बीस वर्ष का अनुभव बता रहा था। बैरिस्टर साहब अपने बगीचे में उसे ले गये और वहाँ लगे पौधों के नाम पूछने लगे। माली कुछ तो ठीक बता पाया। परन्तु कई के गलत नाम बताए और अनभिज्ञता प्रकट की तो बैरिस्टर साहब ने उनके ठीक नाम बताकर उसको समझाया। माली अपनी गलती समझकर उनकी ओर देखता ही रह गया। मुझे याद है, एक बार मैं उनके साथ लखनऊ जाने के लिए जब उनके घर कार में बैठने लगा तो कार में बैठते-बैठते भी उन्होंने माली को पेड़- पौधों के बारे में कई निर्देश दे दिये कि अमुक-अमुक पौधे के पत्ते छोटे करना, खाद देना, सफाई करना आदि-आदि। उनको अपने बगीचे में लगे सैकड़ों पेड़-पौधों में प्रत्येक का ध्यान रहता था। ऐसा था उनका पेड़-पौधों या कहें प्रकृति से प्यार।

अन्त में उनके शुद्ध और निर्मल जीवन की एक घटना का स्मरण और आता है। जब वे जेल में थे, तो सरकार ने उनको आर्थिक कर अपवंचन के आरोप में बदनाम करने का प्रयास एक आर्थिक अनुसंधान शाखा के अधिकारी को सौंप कर किया। वह अधिकारी मेरे छात्र जीवन का मित्र था। उसने बाद में बताया कि हमने पूरी छान-बीन की और कहीं भी कोई अनियमितता नहीं। ऐसा था उनका शुद्ध और पवित्र जीवन।

हम उनको शत-शत नमन करते हैं तथा ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनके जीवन से सीखने तथा आचरण में उनके आदर्शों को अपनाने की संकल्प शक्ति हमको प्रदान करे।

☐ (वाणी, १९९४)

ज्ञानचन्द्र अग्रवाल : पूर्व अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय; विभाग संघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, कानपुर।

हिम शिखर सा वह उज्ज्वल व्यक्तित्व

✍ डॉ. उपेन्द्र

बैरिस्टर साहब की याद आते ही मेरी दृष्टि के सामने एक उज्ज्वल हिम-शिखर मूर्तिमान हो उठता है जिसकी पृष्ठभूमि में सीमाहीन आकाश की नीलिमा और चरण-प्रांत में हरिताभ वनश्री, पक्षियों का श्रुति मधुर संगीत, कलहासिनी नदियाँ और निर्झर विद्यमान हैं। बैरिस्टर साहब के सामाजिक यानी जन-जीवन से आभ्यान्तरिक रूप से जुड़े हुए व्यक्तित्व की तुलना शून्य में सिर उठाये एकान्त समर्पित हिम शिखर से करना तार्किक दृष्टि से अवश्य संगत नहीं लगता और इस तुलना का औचित्य सिद्ध करने के लिए मेरे पास कोई पुष्ट आधार भी नहीं है, पर न जाने क्यों बार-बार मन समाधिस्थ शिव जैसे उसी हिम-शिखर पर अटक जाता है जो सात्विक श्रद्धा, पवित्रता और शान्ति का समन्वित रूप लिए है, जो निर्मल और निर्विकार है और जो सबके साथ होकर भी सबसे अलग, अस्पर्श्य, तटस्थ और एक सीमा तक अकेला दिखायी पड़ता है। अकेलेपन को 'बूजी' (बैरिस्टर साहब की धर्मपत्नी स्व. सुशीला) की मृत्यु के बाद मैंने उनकी आँखों में अधिक तीव्रता से उभरते देखा था और निधन से कुछ पूर्व, विशेष रूप से धीरेन्द्र जी (ज्येष्ठ पुत्र) की असमय मृत्यु का आघात सहने के बाद, यह अकेलापन निस्संदेह चिंताजनक रूप में दिखायी पड़ने लगा था।

बैरिस्टर साहब जैसे आकर्षक रूप-रंग वाले दर्शनप्रिय व्यक्ति मैंने अपने जीवन में गिनती के दस-पाँच ही देखे हैं। यह जरूरी नहीं कि व्यक्तित्व का वाह्य रूप उसके आन्तरिक रूप से मिलता-जुलता यानी समरस हो। विषरस भरे कनक-घट जैसे लोग भी इस धरती पर कम नहीं है, पर बैरिस्टर साहब को निकट से देखने और जानने वाले लोगों में मुझे आज तक एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला जिसने उनकी चारित्रिक दृढ़ता, धर्मशीलता, पवित्रता और शील-सौजन्य पर संदेह की उंगली उठाई हो। उनसे वैचारिक मतभेद रखने वाले कितने ही लोगों को पीठ पीछे उनकी कार्यशैली की आलोचना करते हुए देखा, पर जहाँ तक मुझे मालूम है, मानवीय सद्वृत्तियों के धरातल पर उनकी ऊँचाई से वे सदैव अभिभूत रहे। उनके दैदीप्यमान मुखमण्डल, उनकी सौम्य आभा और स्नेह बिखेरती हुई दृष्टि के सम्मुख होते ही सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति का मस्तक स्वतः झुक जाता था। अनेक अवसरों पर उनसे बात करते समय 'टेम्पेस्ट' (शेक्सपियर) की यह उक्ति मेरी स्मृति में कौंध गयी - There's nothing ill can dwell in such a temple ; If the ill spirit have so fair a house good things will strive to dwell with it. (नहीं पाप छिप कर रह सकता ऐसे भव्य देह मंदिर और अगर रह जाये कहीं वह, सद्गुण फिर भी साथ न छोड़ेंगे इस तन का')।

सितम्बर, १९६६ में मैं विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म कॉलेज के हिन्दी-विभाग में प्रवक्ता के पद पर नियुक्त हुआ था। उस समय से गत वर्ष तक यानी लगभग चौबीस वर्षों की कालावधि में घटित उनके शील, सौजन्य और शिष्ट व्यवहार के अनेक प्रसंग स्मृति में है। १ दिसम्बर, १९८० में मेरी बेटी के विवाह में वह शहर से बाहर होने के कारण सम्मिलित नहीं हो सके, पर अपनी विवशता जताते हुए क्षमा याचना का पत्र उन्होंने जिस आत्मीयता भरे सम्बोधन के साथ निश्छल भाषा में भेजा। उसे पढ़कर सारा क्षोभ उड़ गया। एक अति साधारण पर मेरे लिए महत्वपूर्ण प्रसंग और याद आ रहा है। होली के अवसर पर गंगा मेले (सरसैया घाट) में अथवा वहाँ न मिलें तो समीप ही बंगले पर उनसे होली मिलने को मैं चला जाया करता था। इधर चार-पाँच वर्षों में वृद्धावस्था के कारण उन्हें उठने-बैठने में भी कष्ट होने लगा था। इसका आभास मुझे एक होली मेले के दिन ही हुआ। एक सोफे पर वह स्वयं बैठे थे और उनके सामने सोफे पर दो अन्य सज्जन थे। कुछ कुर्सियाँ खाली पड़ी थीं। मैं पहुँचा तब वह उन सज्जनों से वार्तालाप में व्यस्त थे। मैंने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया, उन्होंने मेरी ओर देखा, उत्तर में हाथ जोड़े, पर पूर्व अवसरों की भांति वह उठकर गले मिलने को खड़े नहीं हुए। मैं कुछ क्षणों के लिए ठिठका और फिर एक कुर्सी की तरफ (बैठने को) बढ़ा। तभी उन्होंने हाथ से मुझे अपने सोफे पर बैठने के लिए इशारा

किया। मैं कुर्सी पर लगभग बैठ चुका था, पर उनके संकेत का आशय समझकर वहाँ से उठकर उनके बगल में जा बैठा। बैरिस्टर साहब का शील इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ, उन्होंने स्नेह से अपना हाथ मेरे कंधे पर रख दिया। यह आगत व्यक्ति के लिए उठकर खड़े होने और गले से लगकर होली मिलने का कर्तव्य पूरा न कर पाने की लाचारी की यत्किंचित 'क्षति-पूर्ति' का एक प्रयास था और बैरिस्टर साहब जैसे सुसंस्कृत व्यक्ति ही इस तरफ इतना ध्यान रख सकते थे।

विनोद के क्षणों में उनके मुख पर बालकों जैसी सरल निश्छल हँसी फूट पड़ती थी और वह ऐसे अवसरों पर मनोरंजन का उत्स प्रकट करने वाले व्यक्ति को पूरा प्रोत्साहन देते थे। विनोद के इन अवसरों पर ही मानवीय और सामान्य जनोचित धरातल पर उनके स्थित होने का एहसास होता था वर्ना उनका गांभीर्य कम से कम हम छोटों के लिए तो इतना भारी पड़ जाता कि हम उनके सामने मुँह खोलने की स्थिति में भी नहीं होते। एक अवसर की याद आ रही है। अपने विभाग में एक नयी नियुक्ति के सिलसिले में हम (डॉ० प्रकाश अवस्थी और मैं) उन्हें अपनी 'इच्छा' और 'आवश्यकता' बताने गये थे। बैरिस्टर साहब उस दिन फुर्सत में थे, लम्बी बातचीत हो गयी। शिक्षा के गिरे हुए स्तर का प्रसंग चल पड़ा और मैंने उन्हें साक्षात्कार में पूछे गये प्रश्नों और अभ्यर्थियों (प्रवक्ता पद के) द्वारा दिए गए कुछ मनोरंजक उत्तरों के 'किस्से' चुटकुलों की शैली में सुनाये। बैरिस्टर साहब खूब हँसे। उन्हें खुश देखकर मेरा हौसला बढ़ा और फिर हिन्दी अंग्रेजी साहित्य के लेखकों-कवियों से संबंधित अनेक विनोदपूर्ण प्रसंगों का 'चटखारा' पेश करने का मौका भी मैंने ले लिया। बैरिस्टर साहब ने उसका भी पूरा रस लिया और उन्हें इस तरह खुश देख कर हमें भी प्रसन्नता हुई। हास्य - विनोद से सम्बन्धित एक बात और कह दूँ। बैरिस्टर साहब की हँसी स्मित हास्य से कुछ ही आगे जाती थी। पंडित जी (स्व० पंडित बाबूलाल मिश्र एडवोकेट) की तरह ठहाका लगाते हुए मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। दूसरी बात यह कि वह समय और परिस्थिति देख कर अपने को नियंत्रित भी तुरंत कर लेते थे। एक बार राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का जन्मदिवस उनके गाँव 'भदरस' में मनाया गया था। नगर से अनेक विशिष्ट जन अपनी-अपनी मोटर गाड़ी से वहाँ गये थे। मुझे याद है, इस अवसर के योग्य मैंने भी एक कविता 'पूर्ण' जी पर लिखी थी। हम लोग नीचे दरी पर बैठे वार्तालाप में मग्न थे और मंच पर श्री गंगाधर तैलंग अपनी शिष्याओं को भजन-संगीत के लिए तैयार कर रहे थे। पंडित जी ने उसी समय किसी के 'रिमार्क' पर जोरदार ठहाका लगाया। स्वभावतः हम सब भी हँस पड़े। हमारी हँसी का प्रवाह रुक नहीं रहा था और मंच पर 'श्री राम चन्द्र कृपालु भज मन' के बोल गूंजने लगे थे। बैरिस्टर साहब ने ही अपने को सबसे पहले संयत किया। उन्होंने पंडित जी की तरफ देखा, अन्य लोगों को देखा, सभी हँस रहे थे। बैरिस्टर साहब थोड़ा मुस्कराये, फिर उसी स्मित मुद्रा में मेरा ध्यान मंच की तरफ खींचते हुए बोले, 'इधर देखिए कितना अच्छा पद सुनाया जा रहा है'। उन विशिष्ट जनों की मंडली में मैं ही कनिष्ठ था और उनसे वह 'निर्देश' पाने का हकदार भी मैं ही था। शील और मर्यादा के निर्वाह में आचरण की बहुत छोटी और नगण्य सी दिखने वाली घटनाएं भी महत्वपूर्ण होती हैं और उनसे ही सोने की असलियत अथवा खरेपन का पता चलता है।

जिस बड़ी संस्था (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) के साथ वह पिछले अनेक दशकों से जुड़े रहे, उससे मेरा कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा और उससे सम्बन्धित कार्यों की विवेचना व मूल्यांकन का शायद अधिकारी भी मैं नहीं हूँ। पर एक बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि सांप्रदायिक संकीर्णता, असहिष्णुता और बौद्धिक पिछड़ेपन के जो आरोप उस संस्था के लोगों पर लगाये जाते रहे हैं उनकी विश्वसनीयता बैरिस्टर साहब के व्यक्तित्व और आचरण को देखर स्वतः खंडित हो जाती है क्योंकि उन जैसे सहिष्णु, शांत, उदार और मनस्वी व्यक्ति तथाकथित प्रगतिशील संस्थाओं में भी मुझे बहुत थोड़े ही दिखाई दिए हैं।

कॉलेज के कार्यों में उनकी भूमिका सदैव परिवार के मुखिया जैसी रही। परिवार के प्रत्येक अंग पर उस मुखिया की सतर्क दृष्टि सदैव रही। उनकी मितव्यिता से कभी-कभी लोग चिढ़ते से दिखायी देते थे और स्वयं उन्हें भी इस बात का अहसास था, पर उसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए उनके पास ठोस कारण भी थे। बैरिस्टर साहब सुनते सबकी थे पर करते प्रायः वही जिसे करने को उनका अपना विवेक कहता था। मनुष्य पूर्ण नहीं होता, अवतारी पुरुषों के भी दोष लोग गिना

देते हैं। बैरिस्टर साहब की भी सीमाएँ थीं, पर इस बात से कौन इन्कार करेगा कि उन जैसे उत्तम कोटि के कृती पुरुष किसी भी जाति, किसी भी राष्ट्र का गौरव बढ़ाते हैं और उनकी स्मृति सदैव प्रेरणादायिनी व कृतित्व सदैव अनुकरणीय होता है।

❐ (वाणी, १९९४)

डॉ. उपेन्द्र : पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

समुद्र इव गाम्भीर्ये, धैर्येण हिमवानिव

जीवन में जिन लोगों से मैंने प्रेरणा प्राप्त की, उन सबमें बैरिस्टर साहब का नाम सर्वोच्च है। सम्पूर्ण देश में उन जैसे आदर्श पुरुष मुझे क्वचित् दिखाई पड़े हैं। उनकी स्नेहिल पीयूष वाणी का शुभाषीश जिसे भी मिला वह धन्य हो गया। आपात्काल समाप्त होने पर जेल से लौटने के पश्चात् एक बार श्री शिवशरण जी शर्मा से मेरी भेंट हुई। तत्कालीन स्थितियों पर चर्चा होते-होते जैसे ही श्रद्धेय बैरिस्टर साहब का नाम आया, उनके नेत्र सजल हो उठे। उन्होंने रुंधे हुए कण्ठ से उनकी महनीयता का वर्णन करते हुए बताया कि मैं तो पहले बैरिस्टर साहब को बड़ा समझता था, किन्तु उनके सान्निध्य में रहने पर मुझे ज्ञात हुआ कि 'बड़ा' शब्द उनके वैशिष्ट्य के मूल्यांकन के लिए नितांत बौना अर्थात् संकीर्ण सिद्ध हुआ। वह तो हिमालय की ऊँचाइयों से भी ऊँचे, हिन्द महासागर की गहराइयों से भी अधिक गम्भीर, श्री राम सदृश मर्यादा पालक, कर्तव्य एवं न्याय के परिपालन में वज्रसम कठोर तथा दीन-दुखियों की सेवा एवं समाजहित चिन्तन में पुष्पसम कोमल हृदय से युक्त नर रूप में नारायण थे। उस महान विभूति का यही वास्तविक परिचय हो सकता है।

श्री राम को हम भगवान की श्रेणी में मानते हैं; किन्तु प्रत्येक वह व्यक्ति जिसने उनकी मर्यादाओं को व्रत मानकर अपने जीवन में ज्यों का त्यों उतार लिया हो, उसमें मुझे साक्षात् श्री राम के ही दर्शन होते हैं। श्रद्धेय बैरिस्टर साहब के चरित्र में भगवान राम के समस्त गुण सन्निहित थे। वह वास्तव में नर नहीं नारायण थे।

आज वह वज्रपुरुष नहीं रहे। आज केवल संघ परिवार के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मानव मात्र के लिए यह दारुण दुःख एवं अतीव क्लेश का समय है। उनके निधन से एक ऐसा अभाव उत्पन्न हुआ है जो शीघ्र भर नहीं सकेगा। उनके श्रेष्ठ गुणों को स्मरण करके धैर्य रखने से हमारा क्लेश कुछ कम तो हो सकता है किन्तु उनके देहावसान से सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए जो क्षति हुई है वह पूर्ण नहीं की जा सकती।

परमेश्वर के चरणों में समर्पित उस महान् आत्मा को पुनः पुनः नमन।

अशोक सिंहल
महामंत्री, विश्व हिन्दू परिषद

मेरे संस्मरणों में बैरिस्टर साहब

✍ चंद्रपाल सिंह

मुझे इस बात का गर्व है कि जो विद्यालय माननीय बैरिस्टर साहब तथा उनकी सहधर्मिणी महीयसी बूजी द्वारा संकल्पित एवं संस्थापित हो, परम पूज्य श्री गुरू जी द्वारा जिसकी आधारशिला रखी गई हो तथा देश के गौरव पं. दीनदयाल उपाध्याय के नाम से जो प्रसिद्ध हो, उसके संस्थापक प्रधानाचार्य होने का मुझे सौभाग्य मिला। यह भी मेरा सौभाग्य है कि मैं उपर्युक्त चारों महानुभावों के सम्पर्क में आया। चारों ने ही मुझे प्रभावित एवं प्रेरित किया। बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह से मेरा सम्पर्क सबसे अधिक रहा - लगभग १४ वर्ष। १९७० से ७५ तक प्रधानाचार्य की हैसियत से और १९८४ से ९३ तक विद्यालय के 'संरक्षक' अथवा 'परामर्शदाता' के रूप में।

बैरिस्टर साहब की गणना कानपुर के ही नहीं, प्रदेश के इने-गिने प्रतिष्ठित लोगों में थी। प्रतिष्ठा के आधार मुख्यतया चार होते हैं : धन, विद्या, पद और चरित्र। बैरिस्टर साहब के पास चारों की प्रचुरता थी। वे रायबहादुर विक्रमाजीत सिंह के सुपुत्र, महाराजा कश्मीर के दीवान के जामाता, उच्च कोटि के बैरिस्टर, अपने समय के शीर्षस्थ कम्पनी लॉ के वकील, कानपुर कॉमर्स चैम्बर के परामर्शदाता, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रान्तीय संघचालक, सनातन धर्म महामण्डल के अध्यक्ष तथा कई शैक्षिक संस्थाओं की प्रबन्ध समितियों के सदस्य थे।

पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त तथा अनेक पाश्चात्य देशों का भ्रमण किये हुए होने पर भी उन्हें भारतीय संस्कृति से प्रेम था। अपनी पुत्रियों को एक प्रतिष्ठित विद्यालय से उन्होंने इसीलिए हटा लिया था कि वहाँ स्कर्ट पहनना अनिवार्य था और उनकी पुत्रियों को सलवार कुर्ता पहनने की अनुमति नहीं दी गयी।

प्रति रविवार को मध्याह्न में वे छात्रावास में आते थे तो बच्चों से उनकी पढ़ाई, स्वास्थ्य, खेलकूद तथा पाठ्यक्रमेतर गतिविधियों के विषय में पूछताछ करते थे और उपयोगी सुझाव दिया करते थे।

व्यवस्थित रहन-सहन के बारे में उनका कथन था- 'A Place for everything and everything in its place.' जब मैं कोई वस्तु रखकर भूल जाता हूँ, जैसा कि मेरे साथ अब बहुधा होता है, तो उनका यह कतन मुझे अवश्य स्मरण हो आता है।

'सादा जीवन उच्च विचार' की बैरिस्टर साहब साक्षात् मूर्ति थे। छोटे से छोटे व्यक्ति का भी वे सम्मान करते थे। अभिजात अथवा सामन्त वर्ग का अभिमान उन्हें छू भी नहीं गया था। मिलने वालों का चाय-पानी से सत्कार करना तथा उसे द्वार तक छोड़ने जाना उनके स्वभाव का अङ्ग बन गया था। भगवद्गीता में वर्णित दैवी सम्पद के गुणों को अपने जीवन में ढालने का वे सदैव यत्न करते रहते थे।

बैरिस्टर साहब और मैं लगभग एक ही आयु के थे। उनका जन्म वर्ष १९११ था और मेरा भी। वे मई में पैदा हुए थे और मैं भी। वे मुझसे कुछ दिन ही बड़े थे। जब भी मिलते थे, मुझसे मेरे स्वास्थ्य के विषय में पूछते थे।

वे सन्त स्वभाव के राजर्षि थे। उनको मेरा शत-शत नमन।

❐ (नीराजन, श्रद्धांजलि अंक, १९९४)

चन्द्रपाल सिंह : अवकाश प्राप्त संस्थापक प्राचार्य, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

एक युग का पटाक्षेप

✍ जे० पी० श्रीवास्तव

आधी शताब्दी के लम्बे कालखण्ड तक जिनके सान्निध्य का सुख प्राप्त किया, जिनको अनेकशः सुना और सराहा, जिनके चरणों में बैठकर बहुत कुछ सीखा, जिनसे निरन्तर प्रेरणा पाई, जिनसे अनेक प्रकार के भौतिक-अभौतिक लाभ प्राप्त किए, जिनकी गुण-सम्पदा को देख अनुभव किया कि संसार की विद्रूपता के बीच ऐसे नर-रत्न भी होते रहते हैं, उन्हीं बैरिस्टर साहब पर आज जब श्रद्धांजलि लेख लिखने बैठा हूँ तो लगता ही नहीं कि वे हमसे दूर चले गये हैं। पर इस यथार्थ से कैसे मुख मोड़ूं कि उनकी कञ्चनकाया को अपने सामने अग्निसात् होते देख चुका हूँ। तो भी एक अर्थ में वे सतत् हम सबके साथ हैं और वह अर्थ है उनकी कीर्तिकाया का जो सर्वथा, सर्वदा अक्षुण्ण रहेगी।

मुझसे कहा गया है कि उनके बारे में अपने कुछ अनुभव लिखूँ। पाँच दशकों के अनुभव इतने तो हैं ही कि सहस्र पृष्ठ लिखूँ तब कहीं तुष्टि मिले। पर समय और सामर्थ्य की सीमाओं के होते यह सम्भव नहीं है, अतएव 'थोड़ा लिखा बहुत जानो' जैसी बात करनी है।

पूज्य बैरिस्टर साहब को सर्वप्रथम जब देखा, तब मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का बाल स्वयंसेवक था। राजकुमार सी काया, सुन्दर वस्त्र-विन्यास, शुभ-दर्शन व्यक्तित्व, मधुरिमा भरी सुस्पष्ट वाणी - इन सब ने मुझ पर मोहिनी सी डाल दी। अभी तक किसी बैरिस्टर को देखा तो था नहीं, सो बाल मन पर यही छाप पड़ी कि बैरिस्टर कोई देवतुल्य व्यक्तित्व होता है। बाद में कई बार बैरिस्टर साहब के पूरे परिवार के साथ एक ही मेज पर भोजन करने का अवसर मिला। भोजन रजत पात्रों में होता था। पर भोजन के समय बैरिस्टर साहब के व्यवहार की चमक उन रजत पात्रों से कहीं अधिक चर्चा योग्य है। वे उत्कृष्ट कोटि के 'टेबल-टॉकर' थे। ढेर सारी बातें वे खाते-खाते बता डालते थे। हँसने-मुस्कराने-गुदगुदाने के प्रसंग भी चलते थे और ज्ञानवर्धन की बातें भी। लगता था भोजन के बजाय अमृत पान हो रहा है।

मुझ पर बैरिस्टर साहब अतिशय कृपालु थे। इसमें मेरी पात्रता का कम उनकी विशालहृदयता का बिम्ब ही मुझे अधिक दिखता था। इसलिए कि एक दो प्रसंग हों तो अपनी पात्रता मानकर अहंकार भले ही कर लूँ, पर ढेरों प्रसंग हों तो बैरिस्टर साहब की गंगोदक जैसी सहृदयता की ही प्रशस्ति करनी होगी। इन प्रसंगों में एक झलक मिलती है उनके महतो महीयान व्यक्तित्व की, उनके सामाजिक प्रभाव, उनकी करुणा, पर-हित-सम्पादन के उदात्त भाव, अपनों को सुख देने की सतयुगी भावना और ऐसे ही अगणित अनेक गुणों की।

उदात्तता के सोपान दर सोपान ऊँची उठती उदारता उपकृत को कभी लज्जित या कृतज्ञता के भार से दबा नहीं देखना चाहती। बैरिस्टर साहब के अन्दर ऐसी ही उदात्त भावना की पुनीत मन्दाकिनी बहती थी। शब्द शिल्प की दृष्टि से अकिंचन मैं केवल उन्हें श्रद्धापूर्वक मस्तक झुका सकता हूँ। शब्दों में उनका वर्णन मेरे वश में नहीं। तुलसीदास जी के शब्द अवश्य दोहराये देता हूँ, 'कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।'

अपने देश और समाज के वर्तमान परिवेश से कौन परिचित नहीं है। पदक और पारितोषिक खरीदे जा रहे हैं। एक दूसरे को सुविधा पहुँचाने वाले संगठित वर्ग बन गये हैं। तिकड़म लगाकर अलंकरण प्राप्त किये जा रहे हैं। पद और प्रतिष्ठा पाने की होड़ में नैतिक मानदण्डों पर भी पदाघात किया जा रहा है। अपने शरीर के वजन से भी भारी माला पहनने में गौरव का अनुभव किया जाता है। धन की लूट मची है। लूटे गये धन में से कुछ अपने चहेतों को देकर चाटुकारों का समूह इकट्ठा किया जाता है। फिर इन्हीं चाटुकारों से अपना अभिनन्दन कराने के उपक्रम चलते हैं। मेरे कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सर्वत्र ऐसा ही होता है। पर ऐसा करने की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ रही है, जिसके कारण विवश होकर नकारात्मक सामान्यीकरण करना पड़ रहा है। पर अपने बैरिस्टर साहब इन सबके महिमा मण्डित अपवाद थे। केवल दो घटनाएं कह रहा हूँ, जिनका साक्षी रहा हूँ।

कई मित्र पूज्य बैरिस्टर साहब का अभिनन्दन करना चाहते थे। दो लोग, जिनमें एक मैं था, प्रतिनिधि बनकर गये। बैरिस्टर साहब के सामने प्रस्ताव रखा। उन्होंने एक ही वाक्य कहा, 'स्वयंसेवक अपना अभिनन्दन नहीं चाहते'। हम तो निर्वचनीकृत पाषाणवत् खड़े रह गये। ऐसी ही एक घटना याद आती है - १९६२ के चीनी आक्रमण का समय था। कानपुर में एक कवि सम्मेलन हुआ जिसकी अध्यक्षता महीयसी महादेवी वर्मा कर रही थीं। जब अन्य सब कवि कविता सुना चुके तो श्रोताओं ने महादेवी जी से भी कविता सुनाने का आग्रह किया। इसके बहुत पहले महादेवी जी मंच से कभी कविता न सुनाने की प्रतिज्ञा कर चुकी थीं। श्रोताओं के पुनः-पुनः आग्रह करने पर उन्होंने एक वाक्य में सारे अध्याय को समाप्त कर दिया, 'आज प्रतिज्ञा जोड़ने का दिन है, प्रतिज्ञा तोड़ने का नहीं'। चीनी आक्रमण के परिप्रेक्ष्य में कितना सटीक वाक्य था! बैरिस्टर साहब का वाक्य भी कितना सटीक था। कभी-कभी एक वाक्य एक समूची पुस्तक जैसा प्रभाव छोड़ जाता है।

दूसरी घटना - १२ जनवरी, १९९१ का दिन। प्रातर्वन्दनीय स्वामी विवेकानन्द की जन्म तिथि। कुछ सेवाभावी सज्जनों ने त्याग और सेवा का आदर्श लेकर स्थानीय रामश्याम पुरम् में समाज के विभिन्न लोगों की सेवा और विवेकानन्द जी के आदर्शों के प्रचारार्थ विवेकानन्द सेवा केन्द्र की स्थापना की। इसके उद्घाटन के लिए बैरिस्टर साहब से अधिक योग्य और कौन हो सकता था? लोगों ने मुझे संस्था का मंत्री बना दिया था। मैं प्रार्थना लेकर बैरिस्टर साहब के पास गया। उनकी स्वीकृति मिल गयी। संस्था से जुड़े सभी लोग बाग-बाग हो रहे थे। लोगों ने ढेर सारी मालाओं का स्वेच्छया प्रबन्ध किया था। मेरे बहुत अधिक अनुनय-विनय पर उन्होंने केवल एक छोटी माला स्वीकार की। शेष सभी मालायें उन्होने लाने वालों के द्वारा एक-एक करके विवेकानन्द जी के चित्र पर समर्पित करवा दीं। लोगों ने देखा और बिना कोई भाषण सुने सीखा भी कि सच्चे सेवक अपने लिए मालाओं की अभिलाषा नहीं रखते।

पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय जहाँ स्वनामधन्य पं. दीनदयाल जी के आदर्शों का जाज्वल्यमान कीर्तिस्तम्भ है, वहीं माननीया बूजी और माननीय बैरिस्टर साहब के शिक्षा-प्रेम का चिरस्थायी स्मारक भी। विद्यालय के विषय में वे अहर्निश विचार करते थे। मुहावरे की भाषा में कहूँ तो उनकी साँस-साँस में विद्यालय बसता था। इधर के वर्षों में मैं जब कभी उनके यहाँ जाता तो वे विद्यालय के विषय में वार्ता अवश्य करते। द्वादश कक्षा को मैं अंग्रेजी पढ़ाया करता था। पर जितने विद्यार्थियों के नाम मुझे याद रह पाते थे उससे कहीं अधिक बैरिस्टर साहब को याद रहते थे। वे नाम ले-लेकर छात्रों की प्रगति के विषय में पूछते, बोर्ड परीक्षा में पोजीशन की बात करते और विद्यालय के सर्वतोमुखी विकास की चर्चा करते। ३१ अक्टूबर, १९९३ को उन्होंने अपना पार्थिव शरीर छोड़ा। यों मैं ३० को भी गया था, पर वे पूर्णतया अचेतन थे। इसके पहले मैं २५ को गया था तब वे काफी अशक्त थे। उन्होंने हाथ जोड़कर नमस्कार किया था और अस्पष्ट वाणी में मुझसे यही पूछा था कि मैं विद्यालय जा रहा हूँ या नहीं। तभी तो मैंने कहा कि विद्यालय उनके हृदय की धड़कन था।

श्रद्धाञ्जलि लेखन की वेला में एक प्रश्न मन में कौंध रहा है - क्या ऐसा कोई अन्य महापुरुष इतनी निकटता से मैंने देखा है? नहीं! कभी नहीं देखा और न अब देख सकूँगा। जीना ही कितने दिन है और जीना भी हो तो अब तो मनुष्यता की निधि क्षीणप्राय है। 'न भूतो न भविष्यति' जैसी बात है। वे लक्ष्मीवान् थे पर जल भरे बादल जैसे विनत, वे सरस्वती के वरदान प्राप्त पुत्र थे पर अपनी ज्ञान गुरुता का दम्भी बोध उनमें नहीं था, वे सद्गुण सम्पन्न थे पर अपने गुणों को सेवा के लिए समर्पित करने वाले वन्दनीय सत्पुरुष। वे सबके अपने थे और सब उनके थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की प्रार्थना में ईश्वर से अपराजेय शक्ति के साथ शील की याचना की गयी है - 'सुशीलं जगद्येन नम्रं भवेत्'। बैरिस्टर साहब के पास इस शील की अकूत सम्पदा थी। ऐसी कि मानो सोने ने नवनीत का गुण भी धारण कर लिया हो।

आपके चरणों में अपनी वन्दना प्रस्तुत करते हुए मैं पुनः-पुनः भावविभोर हो रहा हूँ। आप चले गये पर आप अमर है।

☐ (नीराजन, श्रद्धांजलि अंक, १९९४)

जागेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव : अवकाशप्राप्त प्रवक्ता, बी.एन.एस.डी. इण्टर कॉलेज, कानपुर।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं...

✍ ओम शङ्कर

श्रद्धेय बैरिस्टर साहब आज इस असार संसार से परे हो गए हैं, किन्तु उनका यशः शरीर हम सबकी श्रद्धाभिव्यक्ति के लिए हमारी कल्पना भूमि में चिरकाल तक प्रतिष्ठा पाता रहेगा। उनकी कर्मानुरागी प्रकृति और विरक्त प्रवृत्ति उन्हें जीवन पर्यन्त जंगम तीर्थराज के रूप में प्रतिष्ठित किये रही। कतिपय अध्यात्म चिन्तकों का मानना है कि योगच्युत तपस्वी एक अन्तिम जन्म और लेते हैं और वह जन्म किसी सांसारिक ऐश्वर्य-मण्डित किन्तु सात्विक पितृ-गृह में होता है। उपर्युक्त बात बैरिस्टर साहब के जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देती थी।

वे बहुश्रुत थे, किन्तु अपने उस ज्ञान को अनुभव की कसौटी पर कसकर परखते भी थे। इसी कारण उनके विचार और कर्म प्रायः वैज्ञानिक रीति से व्यवस्थित और बुद्धि-तोषी होते थे।

अपने जीवन का लगभग सम्पूर्ण चैतन्य-काल उन्होंने शिक्षा जगत् में ही व्यतीत किया। निष्ठा-सिद्ध होने के कारण उन्होंने जितने भी काम किए, उनमें उनकी परिशोधित निष्ठा सदैव ही झलकती रहती थी। उनकी इस अहैतुकी निष्ठा का अनुभव उनसे सम्पर्कित पूरा शिक्षा जगत् करता था। शिशु मंदिर से लेकर महाविद्यालयों तक, सामान्य चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी से लेकर विश्वविद्यालय के कुलपति तक उनके आत्मीय परिक्षेत्र के अंग थे और उनसे सम्यक् रूप से प्रभावित भी।

उनके सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा रहा है, आगे भी लिखा जायेगा, मुझे तो सदैव ऐसा ही लगा कि उनकी जीवन शैली उनके सुस्पष्ट विचारों की अभिव्यक्ति थी और उनका चिन्तन उनकी भावनाओं का प्रकाश।

आत्मद्रष्टा ऋषियों की भाँति जहाँ उन्हें कभी सांसारिक विक्षोभ उद्विग्न नहीं करता था, वहीं जीवन मुक्त प्राणी के समान जल-कमलवत् जीवन जीते हुए कभी 'विशेष' दिखने की इच्छा भी उनके स्वभाव का अंग नहीं बनी। कभी-कभी वह सहज भाव से कहा करते थे, 'मैंने जेल-जीवन में गीता का अध्ययन किया। ऐसा प्रतीत हुआ कि गीता एक ऐसा महासागर है, जिसके तल तक पहुँचना तो मेरे जैसे प्राणियों के वश की बात नहीं, किन्तु उसके सहज आकर्षक स्वरूप से आकर्षित हो, थोड़े से श्रम से प्राप्य शंख और सीप एकत्र कर लेना भी अच्छा ही है। इसलिए मैंने गीता के तीन श्लोकों को अपनी क्षमता के अनुकूल पाया, जिन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयास करता आ रहा हूँ।'

श्लोक निम्नांकित हैं-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवं।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपोमानसमुच्यते।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।

शरीर, मन और वाणी का तप वास्तव में उन्हें सिद्ध हो गया था। देव, द्विज और गुरु ही क्या, एक सामान्य शिक्षक के प्रति भी उनके द्वारा जो विनम्रता प्रकट होती थी, इस युग में उनके स्तर के व्यक्ति के लिए अपवाद ही कही जायेगी। शुचिता और साख्य तो उनकी निधियाँ थीं। ब्रह्मचर्या के परिपोषक वे कैसे थे, यह उनके दैनंदिन जीवन एवं चिन्तन में सहज ही देखा जा सकता था। अहिंसा वृत्ति यहाँ तक उनमें थी कि किसी से बहुत अधिक रुष्ट होने पर भी 'अरे भाई, ये ठीक नहीं' के अतिरिक्त न ऊँचा स्वर और न ही कोई कठोर शब्दावली उनके मुँह से निकलती थी।

मन की 'प्रसाद' अवस्था के उदाहरण उनके जीवन में अनेक बार देखने को मिलते थे। श्रीनगर में उनका काफी बड़ा बंगला, खेती तथा बगीचे आदि थे। पहली बार जब उत्पातियों ने उन पर कब्जा करना प्रारम्भ किया और उसकी सूचना उनको मिली, उस समय परिवार के सभी सदस्य उद्विग्न थे, किन्तु हमारे बैरिस्टर साहब सहज बने रहे। श्री वीरेन्द्र जी (उनके कनिष्ठ पुत्र) आज भी उनकी उस स्थिति का साश्चर्य वर्णन करते हैं। 'सौम्यता' तो लगता है, उनके अन्तस् से निकलकर उनके मुखमण्डल पर छा गयी थी। मौनी भाव तथा मनोनिग्रह उनको इतने सिद्ध थे कि अनेक बार इस

अवस्था में वह बड़े भोले प्रतीत होते थे।

उद्वेग रहित, सत्य संवलित, मृदुल और हितकारी वाणी उनके आचरण और व्यवहार के साथ एकरूप हो गयी थी। आशय यह कि वह शरीर, मन तथा वाणी की तपाग्नि से परिशुद्ध करके जीवन पर्यन्त आत्मानन्द में लीन रहते हुए लोक कल्याण के लिए प्रयत्न करते रहे।

मैंने इसके पहले कहा था कि उनका सम्पूर्ण चैतन्य शिक्षा जगत् में ही विचरण करता रहा। इस परिप्रेक्ष्य में कहना न होगा कि उनका चिन्तन शिक्षार्थी के परितः घूमते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि छात्र को अपने जीवन में इन गुणों का समाहार करना ही चाहिए - श्रमनिष्ठा, देशप्रेम और परमात्मा पर विश्वास। उनका सहज विश्वास था कि इन सद्गुणों के रहते व्यक्ति दीन और निन्दनीय नहीं हो सकता। ये सद्गुण कैसे आएँ इसका प्रथम सोपान वह मानते थे व्यस्त और व्यवस्थित दिनचर्या। उनका कहना था कि छात्र को कम सिखाकर अधिक करने का अवसर देना चाहिए, किन्तु सिखाते समय दण्ड का भय किंचित् मात्र नहीं होना चाहिए, क्योंकि भय से कुण्ठा और कुण्ठा से अविवेक बढ़ता है। छात्र को शारीरिक दण्ड बिल्कुल ही नहीं देना चाहिए, यह कहकर वह प्रकारान्तर से शिक्षक को एक सफल मनोविज्ञानवेत्ता तथा गम्भीर दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इसीलिए वह शिक्षक को 'अभाव' तथा 'प्रभाव' दोनों से दूर रहने का परामर्श भी दिया करते थे।

शिक्षा संस्कार है और संस्कार प्रकृत को परिष्कृत करने की प्रक्रिया। इस बात को वह बड़ी गहराई से अनुभव करते थे। उनकी यही भावना उन्हें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे सांस्कृतिक संगठन की ओर खींच ले गयी। वह सन् १९४४ में संघ के सम्पर्क में आए। १९४७ में उत्तर प्रदेश के संघचालक के रूप में कार्यरत हुए और इसी पद पर वह जीवन पर्यन्त प्रतिष्ठित रहे। यों तो इसी प्रकार की और भी अनेक सामाजिक संस्थाओं के वह संरक्षक, अध्यक्ष आदि रहे, किन्तु उनकी पहचान संघ के प्रान्त संघचालक के रूप में ही अधिक रही। अहं शून्यता का परिचय उनके अनेक व्यवहारों से झलकता था। उदाहरण स्वरूप किसी ने उनसे किसी संस्था का पद स्वीकार करने का आग्रह किया तो सहज ही कह उठते 'माटी की भवानी टीका ही टीका'। उनका अभिप्राय होता था कि मेरा रूप तो जन भावना द्वारा मान्य मिट्टी की मूर्ति जैसा है, उसके विग्रह के अंश से टीका करने वालों की संख्या यदि बढ़ी, तो वह मृण्मय मूर्ति अपना अस्तित्व खो बैठेगी। वास्तव में उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा को परमात्मा की इच्छा और लोक भावना ही माना। अपने में कोई विशेषता है, इसका उन्हें कभी आभास ही नहीं हुआ।

बैरिस्टर साहब के एक प्रशंसक ने उन्हें एक दिन प्रसंगवश 'परम भागवत' कहा। पहले तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह उन सज्जन की मात्र भावुकता है, किन्तु कालान्तर में उनका वह सम्बोधन मुझे भी सटीक लगने लगा। भागवत उपासना पद्धति के सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के निर्माता एकमात्र भगवान हैं। भगवान के अनेक नाम हैं। इन नामों में विष्णु, नारायण, जनार्दन, वासुदेव आदि मुख्य हैं। वे अपनी योगमाया प्रकृति से समस्त जगत् की उत्पत्ति करते हैं। उन्हीं से ब्रह्मा, शिव आदि अन्य देवता प्रादुर्भूत होते हैं। जीवात्मा उन्हीं परमात्मा का अंश है जिसे भगवान का सायुज्य अथवा तादात्मय होने पर पूर्णता प्राप्त होती है। जब-जब परमात्मा का संसार संकटग्रस्त होता है वह स्वयं अवतरित होकर उसके संकटों को अपने सांसरिक प्रयासों से दूर करता है। भागवत धर्म की मान्यता ही दशावतारों की पृष्ठभूमि है। निष्काम कर्म से चित्त की शुद्धि और चित्त-शुद्धि से ही भावशुद्धि होती है। इस प्रकार भक्ति ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। भगवान के सम्मुख पूर्ण प्रपत्ति ही मोक्ष है। ये विचार और विश्वास भी भागवत धर्म के अंग हैं।

भागवत धर्म की उपासना पद्धति में अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग का विशेष महत्व है। इसी को आगे सरल करके स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पादसेवन, अर्चन तथा आत्मनिवेदन के रूप में प्रस्तुत किया गया। नवधा भक्ति का वर्णन भी भागवत धर्म के अन्तर्गत चार खण्डों में विभक्त है। ये हैं ज्ञान पाद (दर्शन और धर्म विज्ञान), योग पाद (योग सिद्धान्त और अभ्यास), क्रिया पाद (मंदिर निर्माण और मूर्ति स्थापना) तथा चर्या पाद (धार्मिक क्रियायें)।

इस परिप्रेक्ष्य में जब हम बैरिस्टर साहब के भागवत स्वरूप को कसौटी पर कसते हैं तो पाते हैं कि इन विधियों को वे अपनी मान्यता और निष्ठा के साथ समायोजित करके शिक्षा क्षेत्र में संस्कारक्षम वातावरण उत्पन्न करने के लिए प्रयोग में लाते रहे। ज्ञान पाद के

अंतर्गत उन्होंने अपने राष्ट्र का भ्रमण और दर्शन किया। योग पाद में उन्होंने गीता का अभ्यास किया। क्रिया पाद में विद्यालयों के निर्माण और उनके पवित्र संचालन में ही उनको संतोष मिला और चर्यापाद के अन्तर्गत उन्होंने उन विद्या मंदिरों में ही विविध संस्कारदायी धर्मानुष्ठानों की व्यवस्था की।

'ईशा वास्यमिदं सर्वं' सिद्धान्त के परम विश्वासी होने के साथ ही साथ कर्म के प्रति निष्ठा और प्रारब्ध के प्रति आस्था उनके चैतन्य में सदा-सर्वदा समन्वित रूप में विद्यमान रही। जीवन की सनातनता के साथ ही विचारों की अमरता का विश्वास भी उनमें सहज ही देखा जा सकता था। जीवन मुक्त अवस्था का अभ्यास करते-करते वह इस संसार से विदा हो गये। कदाचित् उन्हें उस कैवल्य की प्राप्ति में बाधा न हुयी होगी जिसके वह अधिकारी थे। उनकी जीवन शैली के प्रति सहज स्पृहा होना किसी भी सात्विक पुरुष के लिए स्वाभाविक है। उनको समर्पित स्मरणाञ्जलि हमारे जैसे संसारी जीवन के पथिकों का पाथेय बने, इसके अतिरिक्त परमात्मा से और कोई याचना करना उचित नहीं लगता। उस शिक्षाविद् शिक्षक और संस्कारी भक्त को मेरा विनम्र प्रणाम।

❐ (नीराजन, श्रद्धांजलि अंक, १९९४)

ओमशङ्कर : संस्थापक आचार्य, संप्रति प्राचार्य, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

नींव के पत्थर

बैरिस्टर साहब के देहावसान का समाचार पाकर मुझे अत्यंत दुःख हुआ। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और संघ परिवार के प्रभाव विस्तार में जिन्होंने नींव के पत्थर का काम किया है, उनमें बैरिस्टर साहब का नाम प्रमुख रूप से याद किया जायेगा। परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को चिरशांति प्रदान करे।

लालकृष्ण आडवाणी
अध्यक्ष, भारतीय जनता पार्टी

ईशावास्यमिदं सर्वं.....

✍ ओमशङ्कर

(नीरज कुमार को दिये गये साक्षात्कार के आधार पर)

प्रथम दर्शन

सन् ५९-६० की बात होगी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कानपुर विभाग के कार्यकर्ताओं की कानपुर में बैठक थी। जनवरी की बारिश में भीगकर उन्नाव के कई कार्यकर्ताओं के साथ मैं भी पहुँचा। बैरिस्टर साहब उन दिनों उत्तर प्रदेश (सम्पूर्ण) के संघचालक थे। बैठक उन्हीं के आवास पर थी। बैठक गुरु जी ने ली। बैठक में बैरिस्टर साहब ने कोई बातचीत नहीं की, लेकिन उनके बैठने-उठने, चलने के तरीके से लगता था, उनमें शील-सौजन्य के साथ-साथ बड़ी गम्भीरता है। व्यक्तित्व तो उनको भगवान ने दिया ही ऐसा था कि आँखें उनकी ओर बरबस उठ जाती थीं।

उनसे मेरी प्रत्यक्ष मुलाकात हुई विद्यालय की स्थापना के बाद जब मैं प्रथम प्रधानाचार्य श्री चन्द्रपाल सिंह के साथ आचार्य प्रतिनिधि के रूप में पहली बैठक में गया। बैठक के बाद उन्होंने मुझसे बातचीत की तो सहज ही मेरा उत्साह बढ़ा। फिर तो जैसे-जैसे विद्यालय बढ़ता गया, मेरी जिम्मेदारियों के साथ-साथ बैरिस्टर साहब से मुलाकातें भी बढ़ती गयी।

परिवार

बैरिस्टर साहब के पूर्वज पंजाब से ही सनातन धर्म की संस्थाओं से जुड़े रहे थे। उनके पिता रायबहादुर विक्रमाजीत सिंह अपने समय के अग्रगण्य एडवोकेट थे और कानपुर में एक प्रकार से सनातन धर्म के कर्णधार थे। सनातन धर्म उनके जीवन में रचा-बसा था। आचार-व्यवहार सधा-बँधा था - हर काम निश्चित समय से करना, कपड़े उतार कर, पटे पर बैठकर भोजन करना, बाहर फलों के अतिरिक्त कुछ न खाना इत्यादि। बैरिस्टर साहब को व्यवस्थित जीवन विरासत में ही मिला था।

पत्नी बैरिस्टर साहब को मिलीं 'बूजी' जैसी, जिन्होंने अपनी भावुकता, संवेदनशीलता, सादगी और त्याग से उनके सद्गुणों को परिपुष्ट ही किया। बूजी का जन्म कश्मीर में हुआ था, जहाँ उन्होंने पहले आक्रमण के समय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के योगदान को देखा था। गोखले जी से सम्पर्क के साथ-साथ निश्चय ही पिता के संस्कारों तथा बूजी के अनुभवों ने भी उन्हें संघ से जुड़ने को प्रेरित किया होगा। बूजी की आदर्श जीवन शैली का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि गांधी जी की हत्या के उपरान्त संघ पर प्रतिबन्ध लगने के कारण जितने दिन बैरिस्टर साहब जेल में रहे, घर पर बूजी ने भी उसी प्रकार का जीवन बिताया-भूमि पर सोना, रूखा-सूखा खाना इत्यादि। दीनदयाल जी को वे अपने छोटे भाई या पुत्र के समान देखती थीं। दीनदयाल जी की मृत्यु पर मैंने उनको ऐसे व्यथित देखा जैसे परिवार का जवान भाई या जवान बेटा चला गया हो। तभी उन्होंने संकल्प लिया कि ऐसा विद्यालय बनाना है, जहाँ दीनदयाल जी के विचारों का पल्लवन हो। इस काम के लिए उनके पास पर्याप्त धन भी नहीं था। यह ठीक है कि सम्पन्न थीं, लेकिन ऐसे तो कानपुर महानगर में इतने सम्पन्न लोग हैं, जिनके पास पैसा रखने का स्थान नहीं है। इतना पैसा अगर बूजी के पास होता तो जेवर बेचने की उनको आवश्यकता न पड़ती। गहना बेचा उन्होंने। कहा, 'विद्यालय बनना चाहिए और यथाशीघ्र बनना चाहिए'। नियमित रूप से देखने आती थीं जब विद्यालय बन रहा था। प्रभु की इच्छा कि विद्यालय का पहला बैच भी उनके सामने नहीं निकल पाया। इस प्रकार बूजी की भावना के आधार पर विद्यालय का मूर्त रूप बना जिसमें प्राण और रंग भरने का काम बैरिस्टर साहब ने किया, जो शिक्षाविद् थे और शिक्षा जगत से जुड़े हुए थे।

परिश्रम से पाई सफलता

बैरिस्टर साहब का जीवन सदैव नियमित रहा - नींद के घंटे कम न करना, प्रातः जागरण और स्नान, प्रतिदिन

खेलना। फिर भी वे पोज़ीशन होल्डर विद्यार्थी थे। दसवीं कक्षा तक साइंस नहीं पढ़ी थी। इण्टरमीडिएट में जब साइंस ली और पहली बार पिपेट उपयोग किया तो रसायन मुँह में चला गया। बंगाली अध्यापक बोले, 'अरे, मरेगा!' साइंस नहीं पढ़ी? जा, इकॉनॉमिक्स ले ले। नम्बर कैसे थे?'

'फर्स्ट क्लास।'

फर्स्ट कलास उन दिनों बहुत कम आते थे। फिर अध्यापक ने पानी से पिपेट का अभ्यास कराया। कहने का आशय यह कि बड़ी कक्षा में नया विषय लेकर भी उन्होंने प्रतिष्ठापूर्ण ढंग से उत्तीर्ण किया।

बाद में भी जब वे बैरिस्टर बनकर विलायत से लौटे तो निश्चय किया कि बहस हिंदी में करूँगा। इसके लिए प्रयासपूर्वक हिन्दी का अभ्यास किया। प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा इत्यादि के उपन्यास पढ़े। तो अपने सिद्धांतों पर चलकर सफलता पाने हेतु उन्होंने संघर्ष करने में कभी संकोच नहीं किया।

सिद्धान्तों की दृढ़ता

छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी किसी भी बात में अपने सिद्धान्तों से उन्होंने समझौता नहीं किया। एक बार चीनी की किल्लत आ गयी। उन्होंने ये पूछकर कि विद्यालय में अतिरिक्त चीनी है, कुछ चीनी मँगाई। इधर से चीनी गयी, उधर से उन्होंने पैसा भेजा। यहाँ तक कि विद्यालय से एक गमला मँगाया तो वहाँ से दो गमले भिजवाये। ये बातें छोटी नहीं है, बहुत बड़ी हैं। उनके इस आचरण और चरित्र का प्रभाव ही संचरित होकर विद्यालय के वातावरण और विद्यार्थियों की सोच को संस्कारित करता था।

उनकी पुत्रियाँ किसी अंग्रेजी स्कूल में पढ़ती थीं। उस समय तक लड़कों के लिए तो बी.एन.एस.डी. और जी.एन.के. जैसे हिन्दी माध्यम के अच्छे विद्यालय खुल गये थे, पर लड़कियों के लिए अंग्रेजी स्कूल ही थे। जब स्कूल से शिकायत आई कि आपके घर में अंग्रेजी नहीं बोली जाती तो बैरिस्टर साहब का कहना था कि स्कूल में आप अंग्रेजी पढ़ायें, बुलवायें पर हमारे घर की संस्कृति को बदलने का प्रयास न करें। घर में तो हिन्दी ही बोली जायेगी। लड़कियाँ जब बड़ी कक्षा में पहुँचीं तो बैरिस्टर साहब ने उन्हें स्कर्ट पहनाना उचित न समझकर वेश के ही रंग का सलवार-कुर्ता बनवा दिया। स्कूल में डाँट पड़ी। जब स्कूल वालों ने स्कर्ट पर ही जोर दिया तो लड़कियों को उन्होंने स्कूल से हटा लिया और घर पर ही योग्य अध्यापकों से पढ़वाया।

राष्ट्रीय सोच

जब गांधी जी की हत्या हुई और अनुचित रूप से संघ पर प्रतिबन्ध लगाया गया तो संघ ने सत्याग्रह किया। बैरिस्टर साहब के जेल जाने की बात आई। बड़े भाई साहब ने लिखा, 'देखो, अब पिताजी नहीं है और उनके स्थान पर मैं हूँ। मैं आदेश देता हूँ कि तुम जेल मत जाओ। परिवार बर्बाद हो जायेगा'। दो मिनट विचार किया कि पितृतुल्य भाई के आदेश का पालन करके परिवार चलाना है या देश के हित में अन्याय, अत्याचार का विरोध करना है, भारत माता की सेवा में लगी, निष्ठापूर्वक सर्वस्व समर्पण कर देने वाले कार्यकर्ताओं की देशभक्त संस्था पर लगे गलत आरोप का प्रतिकार करना है? थोड़ी देर ऊहापोह में पड़े रहे फिर निर्णय लिया, 'नहीं, हमको तो जेल जाना चाहिए। इस अन्याय के विरोध में यदि अपना परिवार भी समर्पित करना पड़े तो करना चाहिए' और जेल चले गये।

वे हमेशा कहते थे कि जीवन में अपनी जितनी भी उन्नति थे सके करनी चाहिये लेकिन वह उन्नति व्यक्तिगत न होनी चाहिये। जैसे हमारे देश के प्रतिभाशाली विदेशों में जाते हैं। ठीक है, विदेशों में जाना है पढ़ने के लिए, समझने के लिए, कमाने के लिए, लेकिन अन्ततः उन्हें यह समझना चाहिये कि हमारा देश और घर यहीं है।

कहते थे, अगर धरती से हमारा मोह छूट गया तो यह धरती हमें कष्ट देगी। धरती हमको कष्ट देगी तो व्यथा में हम कितने दिन तक रह सकेंगे? अमेरिका से लौटने वालों को यहाँ की धूल और गर्मी बहुत सताती है। इसलिए धरती से उनका मोह छूट जाता है। उनका कहना था कि विद्यार्थियों को यह सोचना चाहिये कि देश ने हमारे ऊपर बहुत खर्च किया है। हमारे देश को हमसे उम्मीदें भी बहुत हैं। हमारा उसका सम्पर्क केवल धन के खर्चे तक सीमित नहीं है। यह तो ऐसा ही हुआ कि हम जिस घर में पैदा हुए उसमें गरीबी है।फिर भी हमारे माता-पिता ने अपना पेट काटकर, अपने को कष्टों में डालकर, सब कुछ हमारे ऊपर वार दिया और हमको

इस लायक बना दिया कि हम कुछ हो सकें और संसार में स्वाभिमान से जी सकें। और हमने सुविधाओं की दौड़ शुरू कर दी। हमने यह सोचना छोड़ दिया कि यह माँ हमारी है, ये पिता हमारा है। और तरह-तरह के ताने देने लगे - लो हम घर आते हैं तो हमें ठीक से बैठने की भी जगह नहीं मिलती। हम उस जगह को ठीक करें यह प्रयास नहीं करते! हम ताना देते हैं। और माता-पिता यही कहते हैं, अच्छा बेटा, हम कोशिश करेंगे। यह नहीं कि तुम भी कुछ करो। और लड़का ऐसा निकला कि साहब सुविधा की जगह तो वहाँ पर है, हम वहीं रहेंगे। आयेंगे भी नहीं तो माता-पिता लड़के को बुरा तो न कहेंगे। लेकिन भीतर-भीतर घुटेंगे कितना? भारत माता की यही स्थिति है।

आज हमारे समाज की यही दशा है। जब किसी नौजवान से मिलते हैं तो शुरू में अगर विदेश जानें का अवसर मिलता है तो बहुत दीवाना हो जाता है। वहाँ जाने के बाद सुविधायें तो हैं ही। भौतिक सुख हैं। तो यह नहीं कहता कि हम सुख से वहाँ ललचा गये हैं। वह तर्क क्या देता है? अरे साहब, वहाँ तो हमारे अनुसंधान की सुविधायें हैं, हमारे विकास की सुविधायें है यह देश तो बिल्कुल हमारी बकत ही नहीं करता, काम करने का अवसर नहीं देता। साहब, वहाँ काम का सुख है। काम के दो अर्थ है - काम माने यह वो काम है उसका सुख तो है लेकिन इसका अर्थ Work' से लगाते हैं। यह सुविधाओं की अंधी दौड़ जो नौजवान की थी, उनको बुरी तो लगती थी लेकिन इसको वे प्रकारान्तर से कहा करते थे। कभी आवेश में नहीं बोलते थे - 'हम किसके लिये पढ़ रहे हैं? हमारा समाज, हमारी संस्कृति हमारा देशा'। और अगर ऐसा न होता तो जिस जमाने में वे विदेश गये थे, उस समय विदेशों में रहने की सुविधा बहुत थी। फिर भी वे लौटकर आये और यहीं अपना जीवन लगाया।

राजनीति के बारे में कहते थे कि राजनीति में चमक-दमक बहुत है। और जितनी चमक-दमक होगी, आदमी अपने उद्देश्य से उतना ही दूर हो जायेगा। राजनीति से जितनी समाज सेवा हो सकती है उससे ज्यादा अन्य संगठनों से हो सकती है। राजनीति शासन कर सकती है, सेवा नहीं कर सकती। और समाज, विशेषकर ऐसा दुर्बल और इतने दिन का सताया हुआ समाज बिना सेवा के स्वस्थ नहीं होगा। शासन से स्वस्थ नहीं होग, मर जायेगा।

इस सबके बावजूद उनका मत था कि चूँकि संगठन देश सेवा कर रहा है और हम उसके अंग हैं इसलिए संगठन यदि आदेश करता है कि राजनीति में जाना है तो जाना चाहिए। हमको सत्ता की इच्छा नहीं है, पर संगठन यदि सोचता है कि राजनीति में हमारी आवश्यकता है तो यही करना उचित है। यह था उनका संगठन के प्रति समर्पण का भाव।

त्याग के प्रतिदान की अपेक्षा नहीं

मैं उनके बहुत पीछे पड़ा रहता था कि इण्टरमीडिएट होना चाहिए। दसवें तक बच्चों से इतना लगाव हो जाता था कि उनको आगे की पढ़ाई की चिंता होती थी। तो उन्होंने कुछ अपने आप, कुछ मेरा मन रखने के लिए कहा कि जब तक इण्टर नहीं होता तब तक आप इन बच्चों को छात्रावास में रखकर बाहर पढ़ाइये) दो-तीन साल तक यह क्रम चलाया इण्टरमीडिएट की मान्यता के लिए प्रयास करने पर शासन की ओर से आपत्ति आई कि आपके यहां एक कमरा कम है। उस समय एक कमरे की लागत थी ३०००० रुपये। संयोग कि विद्यालय की कुल बचत उस समय करीब इतनी ही थी। बैरिस्टर साहब ने कहा कि एक कमरा बनवा लीजिए। मैंने कहा कि इतना व्यवस्थित भवन, इसमें एक कमरा कहाँ बनवाया जाये। इसमें तो पूरी एक विंग बनानी चाहिए। उन्होंने कहा, विंग बनाने में तो बहुत पैसा लगेगा। मैंने कहा, धीरे-धीरे हो जायेगा। बोले, अरे, कानपुर में कोई देता-चेता नहीं है।

तब तक मैं कुछ लोगों से सम्पर्क कर चुका था। उन्होंने उत्साह बढ़ाया था कि कानपुर में दीनदयाल विद्यालय के लिये पैसे की कमी नहीं पड़ेगी। आप योजना बनाइये, काम शुरू करिये। बैठक में कई लोगों के पूर्ण सहयोग की बात लिखित रूप में प्रस्तुत की गई। बैरिस्टर साहब को कानपुर की एक-एक नब्ज पता थी। फिर भी उन्होंने कहा कि ठीक है, आप शुरू

कराइये। अनेक बार वे यह कहते थे कि यदि कोई अच्छे उद्देश्य के लिए बहुत व्यग्र हैं तो उसे दो-चार बार दिशा देकर काम करने दिया जाय। जैसे तैरना सिखाते समय पानी में डाल दिया गया तो देखा जायेगा, बचाया जायेगा। अब मुहूर्त निकाला गया, नक्शा बनवाया गया। नक्शा बनवाने के लिए एक सज्जन ने बहुत कम पैसे में काम किया। फिर उनका बनाया नक्शा स्वीकार भी कर लिया गया। इसके बाद सचान साहब सम्पर्क में आये। HBTI में Maintenance के incharge थे। भवन निर्माण का भी काफी ज्ञान था। ये आये, काम शुरू हुआ। विद्यालय के ३०००० रु० और इकट्ठा किया हुआ रुपया नींव में ही खप गया। एक स्थिति ऐसी आई कि कमरा ऊपर तक बन गया और स्लैब बनाने के लिए पैसा नहीं रहा। तो मैं बैरिस्टर साहब के पास गया (क्योंकि मैं ही भवन निर्माण का संयोजक बनाया गया था)।

रास्ते में मैंने देखा कि ये जो एस.डी. कॉलेज है, यहाँ चुनाव चल रहे थे। यूनियन के चुनाव में जैसी कि प्रवृत्ति हो गई है, लोग बिल्कुल सस्ते स्तर पर उतर कर काम करते हैं। बड़े गन्दे किस्म के पोस्टर लगे थे। ऐसे में माहौल मैनेजमेंट बनाम विद्यार्थी का हो जाता है। वह तस्वीर मेरे दिमाग पर थी। बातचीत शुरू हुई। हमेशा मुस्करा कर बात करते थे। पता ही नहीं चलता था कि वे अस्वस्थ हैं। लेटे होने पर ही अस्वस्थता प्रकट होती थी। उन्हें स्थिति बताई कि छत के लिए पैसा नहीं है। उन्होंने कहा कि अच्छा देखिये कुछ व्यवस्था करते हैं। उन्होंने कहा कि बूजी की कुछ ज्वेलरी बची हुई है। उसे बेच देंगे। हमारे कुछ शेयर जे.के. सिन्थेटिक्स के हैं, उनको बेच देंगे। मैं थोड़ा भावुक हो गया। उन्होंने पूछा, क्या बात है। मैंने कहा, एक तरफ मैं आपका यह स्वरूप देख रहा हूँ। प्रत्यक्ष। और दूसरी तरफ इस तरह के गंदे पोस्टर देखकर आया हूँ। तो आखिर इस समाज सेवा से आपको क्या मिल रहा है?

मैंने तो अपने छोटे मन से बात कह दी। एक क्षण शान्त रहने के बाद वे बोले - 'समाज सेवा के बाद उसका प्रतिदान नहीं चाहा जाता'। इससे बड़ी और कौन सी उदात्त अवस्था होगी मनुष्य की? और फिर लोगों के लाख मना करने पर उन्होंने कोटा के शेयर बेचे। बहुत बड़ा भाग हमको दिया और बाकी होमियोपथिक चिकित्सालय के लिए दिया। अपने ऊपर खर्च नहीं किया। अब आप यह सोचिये कि हम क्या समाज सेवा कर रहे हैं?

विद्यालय से स्नेह और अपेक्षाएं

विद्यालय वे अक्सर आते थे। आते थे तो रुकते थे। काफी समय तक रहते थे। एए-एक चीज पर ध्यान देते थे - यहाँ जाला लगा है, कोने में गंदगी है, बच्चों को इस तरह रहना चाहिये। पहले वो ऊपर चढ़कर कमरों में भी जाते थे। यह पोंछा लगाने का सिस्टम उन्हीं का शुरू किया हुआ है। इसकी वजह से फर्श जो चमकता दिखता है, यह उन्हीं की देन है। अपने साथ पोंछा लाये थे। कर्मचारियों को पोंछा लगाना भी सिखाया। यह पोंछे का सिस्टम बाद में कर्मचारियों ने और विकसित किया जो और कहीं देखने को नहीं मिलता।

उनकी दृष्टि कहाँ-कहाँ तक जाती थी। ओमशंकर जी, लगता है हनुमान जी की मूर्ति आज साफ नहीं की गई। अमृतसर स्वर्ण मंदिर का उदाहरण देते थे, 'वहाँ सिख बन्धु अपने केशों से सफाई करते हैं। इतनी श्रद्धा होनी चाहिए। तब स्वच्छता होगी। हनुमान जी का यह मंदिर हमारा साधना स्थल तो है ही, हमारा शो पीस भी है। कोई आये तो वह प्रभावित हों। ऐसी छोटी-छोटी चीजें हमारे ऊपर असर करती थीं। छात्रों, अध्यापकों के नाम कोशिश करके याद करते थे। कभी हमें ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि ये हमारे अध्यक्ष हैं। लगता था हमारे परिवार के मुखिया हैं। इनसे हम अपना सारा दुख-दर्द कह सकते हैं। जब वे किसी भी समस्या का निराकरण देते थे तो किसी को खीझ नहीं लगती थी। अगर अच्छा नहीं भी लगा तो सोचते थे - 'चलो बैरिस्टर साहब ने कहा है तो ठीक ही होगा'।

बैरिस्टर साहब चाहते थे, छात्रों में ईश्वर के प्रति विश्वास हो, देशभक्ति हो। उसके पश्चात् हमारा व्यक्तित्व भौतिक दृष्टि से विकसित होकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख हो। विकास भौतिकता में हो किन्तु

उसका उद्देश्य आध्यात्मिक हो। क्योंकि वे कहते थे कि हम हिन्दू धर्म के चिन्तन के व्यक्ति हैं। हिन्दू संस्कृति यह बताती है कि हम शरीर नहीं हैं। यह सोच वे विद्यार्थी को देना चाहते थे। उनका कहना था कि अगर कार्यक्रमों की रचना इस प्रकार की बनाई जायेगी जिससे संकुचितता और स्वार्थपरता विद्यार्थी में कम से कम आये तो समझिये उद्देश्य में सफल हुए। इसीलिए बच्चों का चयन करवाते थे, कौन बच्चे अच्छे हैं। फिर आकर वे स्वयं उनसे बात करते थे। फिर अपने जीवन का उदाहरण बड़े आनन्द से बताते थे। छोटी-छोटी बात पूछते थे। गुस्सा उन्हें कभी आता ही नहीं था। कभी निराशा होती थी तो यही कहते थे- 'बड़ी चिंता की बात है बड़ी आवश्यकता है - देखिये यह विषय तो इन्हें आता ही नहीं' इत्यादि। दूसरों के सामने बड़ी प्रशंसा करते थे, लेकिन जब हम लोग बैठते थे तो फिर कहते थे - 'ये चीज और करनी है ...'। जब वे बीमार हुए तो बैठक में नहीं आ पा रहे थे। वीरेन्द्र जी ने उनसे पूछा कि आपको क्या निर्देश देना है। इतनी घोर बीमारी के बाद भी उन्होंने कहा, 'बस एक ही चीज कठोर परिश्रम, कठोर परिश्रम'।

'ईशावस्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।'

उनका कहना था कि उपनिषद का यह श्लोक अपने जीवन में उतारना चाहिए। एक-एक बात के बारे में स्वयं चिंतन भी करते थे। गीता का उनको अध्ययन था और गीता को अपने जीवन में उन्होंने ढाला भी था। उनका कहना था, विद्यालय देश को, समाज को दिशा देने वाले भावी नागरिकों का संस्कार केन्द्र है। देश को दिशा देने के लिए कैसे लोग चाहिये। न तो ऐसे जो पूरी तरह से अपरिग्रही, सर्वत्यागी, संन्यासी हों। रिजल्ट भी बताना है। पोजीशन भी लानी है। अर्थात् समाज के मापदण्डों पर सफल हो कर समाज की विकृत परम्पराओं से हटकर चलना। उनका कहना था कि पूर्ण मानवीय सफलता के लिए भौतिक सफलता भी जरूरी लेकिन भौतिक सफलता का उपयोग साधन के रूप में अपने उदात्त उद्देश्यों की प्राप्ति में होना चाहिए।

'वह बात'

एक बार बड़ी मजेदार बात हुई। हमारी प्रबन्ध समिति के सदस्य हैं - श्रीमान इन्द्रजीत जी जैन। उनसे जे.के. वालों ने सम्पर्क किया जे. के. का विद्यालय तब तक नहीं बना था। उन्होंने उनसे कहा, 'जैन साहब, हम दीनदयाल विद्यालय जैसा एक विद्यालय बनाना चाहते हैं'। 'कुछ हमारी मदद कीजिये'। जैन साहब बोले - 'अरे आप भवन बनवा दोगे, ज्यादा तनख्वाहें देकर अध्यापक पढ़े-लिखे ले आओगे, लेकिन वह बात कहाँ से लाओगे?' तो वे बोले कि यह 'वह बात' क्या है? जैन साहब ने कहा, कि यह तो मैं भी नहीं जानता लेकिन बात कोई जरूर है। अब बात तो हँसी की हो गई लेकिन मैं गहराई से सोचता रहा कि बात कोई जरूर है। यह इन्हीं लोगों के तप की बात है। इनके चिन्तन की बात है। पं. दीनदयाल उपाध्याय जैसे व्यक्तित्व का नाम, बूजी का त्याग, और इतने उच्चकोटि के दार्शनिक और समाजसेवी पूज्य गुरु जी के द्वारा शिलान्यास, हनुमान जी की मूर्ति की प्रतिष्ठापना, और बैरिस्टर साहब के सतत् चिन्तन का समर्पण। इन सारी बातों से जो परिणाम और निष्कर्ष निकल रहा है, वही 'वह बात' है जो लोगों की समझ में नहीं आती। इसका सूक्ष्मतर प्रभाव ही है जो विद्यार्थियों का चिन्तन बदलता है। यह रिज़ल्ट में समाहित नहीं होता। नौकरियों में समाहित नहीं होता। दीनदयाल विद्यालय इससे नहीं पहचाना जाता। दीनदयाल विद्यालय पहचाना जाता है विद्यार्थी के चिन्तन के प्रभाव से। उसके काम करने के तरीके के प्रभाव से। 'वह बात' से जो दीनदयाल विद्यालय को दीनदयाल विद्यालय बनाती है।

ओमशङ्कर : संस्थापक आचार्य, संप्रति प्राचार्य, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

एक दिव्य ज्योति का अवसान

✍ गया प्रसाद वर्मा

गत शरद पूर्णिमा की ज्योत्सना में धरती की भी एक ज्योति विलीन हो गई। माननीय बैरिस्टर साहब हमारे बीच से चले गये। पर उनकी स्मृति हम सब के मानस पटल में जो स्थान बना गयी है, वह अमिट है। उनके निधन ने यह सिद्ध कर दिया कि पार्थिव शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी कोई कैसे अमर रहता है। वास्तव में मनुष्य कोई शरीर नहीं, वह तो भावनाओं, विचारों, गुणों और कर्त्तव्य का एक समुच्चय या पुञ्ज होता है, यह बात चरितार्थ होती है बैरिस्टर साहब के जीवन से। उनका जीवन त्याग व साधना का पर्याय था। वह दया की मूर्ति थे। सादगी व शालीनता के प्रतिबिम्ब थे। उनका जीवन एक जीता-जागता खुला ग्रन्थ था। जो लोग उनके सम्पर्क में आये, इस ग्रन्थ के पृष्ठों को देखे बिना नहीं रहे। उनके जीवन ग्रन्थ से कुछ न कुछ सीखकर ही गये। जो उनके जितना निकट गया, उसने उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त किया। उनका हृदय सागर की भांति विशाल व उदार था। वह एक कर्मचारी से लेकर बड़े अधिकारी तक, बच्चे से लेकर वृद्ध तक सभी के साथ समान रूप से आदर का व्यवहार करते थे। जब किसी आदर्श पर वह स्वयं आचरण कर लेते थे, तभी दूसरों से करने के लिए कहते थे। यही कारण है कि उनकी बात का बहुत प्रभाव पड़ता था।

सम्पूर्ण गीता उनके जीवन में रच-बस गयी थी। गीता के आदर्शों को वे विद्यालय के छात्रों के जीवन में भी चरितार्थ होते देखना चाहते थे। इसलिए उन्होंने कुछ चुने हुए श्लोक याद करने के लिए छात्रों को प्रेरणा दी थी। विद्यालय में यत्र-तत्र लिखित गीता के श्लोक उनके ही दिए मंत्र हैं। विद्यालय वे बहुधा आया करते थे। विद्यालय उनके लिए एक बगीचे की तरह था और यहाँ के बच्चे उन्हें फूलों की भाँति प्रिय थे। एक कुशल माली की तरह वे पुष्प-रूप बच्चों की देख-रेख किया करते थे। बच्चों से बातचीत कर उनका मार्गदर्शन करते थे। मुझे भली-भाँति स्मरण है वह मार्गदर्शन जो छात्रों को प्रायः उनसे प्राप्त होता था। छात्रों से वह अपना शरीर स्वस्थ रखने और अध्ययन व खेल में बराबर ध्यान देने पर बल देते थे। यहाँ तक कि उनके सोने के घंटे भी निश्चित कर देते थे। वह चाहते थे कि अपने व्यक्तित्व का विकास तथा ज्ञानार्जन करने के साथ-साथ छात्र समाज व राष्ट्र से भी जुड़ें। उनका मानना था कि केवल डॉक्टरों या इंजीनियरों के निर्माण से राष्ट्र का उत्थान नहीं होगा। अच्छे डॉक्टरों, इंजीनियरों के साथ ही राष्ट्रोत्थान हेतु आवश्यकता है अच्छे वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, प्रशासकों, शिक्षकों, पत्रकारों की। अतः छात्र अपनी रुचियों के अनुरूप इन क्षेत्रों में भी जायें, यह उनकी सलाह हुआ करती थी। अपनी भाषा, अपने साहित्य, अपनी संस्कृति पर उन्हें गर्व था और यह गर्व वह हर भारतीय में अंकुरित होता हुआ देखना चाहते थे।

भौतिक रूप से आज वे हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनकी अमर वाणी, उनके संस्मरण आगामी पीढ़ियों को राह दिखाने में सक्षम हैं, ऐसा हम सभी का विश्वास है। वह ऐसे जादुई व्यक्तित्व थे कि उनके सम्पर्क में आया हुआ व्यक्ति उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। उनका ज्ञान-क्षेत्र अतिशय व्यापक था। वह दार्शनिक, मनीषी, शिक्षाविद और देशसेवी थे। वह ऐसे महापुरुष थे, जिन्हें छात्रों ने पुस्तकों में पढ़कर नहीं, प्रत्यक्ष देखकर समझा और अनुभव किया। विद्यालय के एक पूर्व छात्र ने उनके बारे में कहा कि महापुरुष कैसे होते हैं, कैसे जीते हैं और कैसे संसार से विदा लेते हैं, यह उसने बैरिस्टर साहब के सान्निध्य में रहकर प्रत्यक्ष अनुभव किया। उस परम पुरुष के जाने से जो शून्य उत्पन्न हुआ हैं, हम सब उनके अनुयायी अपने कर्तृत्व व आचरण से उसका शतांश भी यदि भर सकें तो यह उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

☐ (नीराजन, श्रद्धांजलि अंक, १९४४)

गया प्रसाद वर्मा : आचार्य, अंग्रेजी, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

डायरी से

बैरिस्टर साहब की डायरी के कुछ पृष्ठ जिनसे अवसर मिलता है उस महान व्यक्तित्व के मन में झाँकने का और यह जानने का कि उनका अंतर-बाहर अभिन्न था। ये पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं कि उन्होंने जो भी कहा, वह उनका कण्ठस्थ उपदेश नहीं वरन् उनके व्यावहारिक चिंतन, सार्थक कर्म एवं सतत् अभ्यास की फलश्रुति था।

विश्राम कैसा?

फरवरी, मार्च ८३

दि. २८ फरवरी - दून एक्सप्रेस से साकेत से जौनपुर पहुँचना
दि. १ से ४ मार्च जौनपुर जिला, ४ रात तक प्रयाग पहुँचना
दि. ५ - प्रयाग, रात की त्रिवेणी से वापस
दि. ६ - प्रातः बस द्वारा आजमगढ़
दि. ६, ७ - आजमगढ़
दि. ८ - गंगा यमुना से लखनऊ
दि. ९ से १३ - प्रातः - लखनऊ
दि. १३ - प्रातः ७.५० झांसी के लिए प्रस्थान
दि. १४, १५ - झांसी
दि. १५ दोपहर - छत्तीसढ़ से नागपुर
दि. १६ से २२ तक - नागपुर

कार्यकर्ता

ध्येयवादी से ध्येयजीवी तक

१. ध्येयवाद

सा नो भाता भारती भूर्विभासताम्।

२. समर्पण

समय, शक्ति, बुद्धि, गुण और श्रम का।
'उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।'

३. वाणी, आचार, व्यवहार

'आचारः परमोधर्मः।'
'न भूषयत्यलंकारो न राज्यं न च पौरुषम्।
न विद्या न धनं तादृक सौजन्य भूषणम्।'
'कः परः प्रियवादिनाम्
बहुभाषिणो न श्रध्यति लोकः।'
'मितं च सारं च को हि वाग्मिता'
'घट घट में वह साई रमता
कटुक वचन मत बोल रे।'
'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'
'With malice towards none, with charity for all.'

A. Lincoln

'किसी का द्वेष नहीं, आत्मीयता एवं उदारता सभी के लिए'
'Let me be a little kinder
Let me be a little blinder
to the faults of those around me.'
'Keep cool and you command everybody.'

४. कार्यपद्धति

सम्पर्क, संग्रह, संस्कार, व्यवहार
'मन्त्र रक्षणे कार्य सिद्धिर्भवति।'
'द्वितीयवान हि वीर्यवान्।'
'मंत्रमूलं च विजयं प्रवदन्ति मनस्विनः।'
'दीर्घौ बुद्धिमतो बाहूं।'
'यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत्।'
'अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्त्र दुर्लभः।।'

५. ध्येयजीवी

'मैं नहीं तू ही।'

'योगः कर्मसु कौशलम्।'

'मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुखं न च सुखम्।'

कवीन्द्र रवीन्द्र द्वारा स्वातंत्रय कल्पना

1. Where the mind is without fear and
जहाँ मस्तिष्क निर्भय है और
2. the head is held high;
मस्तक गर्व से उठा हुआ है,
3. Where knowledge is free;
जहाँ ज्ञान निःशुल्क है,
4. Where the world has not been broken up into fragments by narrow domestic walls;
जहाँ का संसार छोटे-छोटे जातिगत एवं पारिवारिक झगड़ों से टूटा एवं बँटा हुआ नहीं है,
5. Where words come out from the depth of truth,
जहाँ हर शब्द सच्चाई की गहराई से निकलता है,
6. Where tireless striving stretches its arms towards perfection,
जहाँ अथक एवं परिश्रमी हाथ हर काम को अच्छा एवं दोषरहित कहने में लगे हैं,
7. Where the clear stream of reason has not lost its way into the dreary desert sand of dead habit,
जहाँ हमारा विवेक जाग्रत है और रूढ़ियों एवं विकृतियों में फँसा नहीं है,
8. Where the mind is led forward by thee into ever widening thought and action
जहाँ मस्तिष्क सदैव ही व्यापक होते हुए विचार एवं कार्य के पीछे दौड़ता रहता है,
9. Into that heaven of freedom, my Father, let my country awake.
हे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर! मेरा देश जागे और स्वातंत्र्य के ऐसे स्वर्ग की ओर बढ़े।

वेद स्तुति

स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्
आयु प्राणं प्रजां पशु कीर्तिं
द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्
मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्
(अथर्व १९-७१-१)

स्तुति करते हम वेद ज्ञान की
जो माता है प्रेरक-पालक,
पावन करती मनुज मात्र की,
आयु, बल, सन्तति, पशु, कीर्ति,
धन, मेधा, विद्या का दान,
सब कुछ दे कर हमें दिया है,
मोक्ष मार्ग का पावन ज्ञान।

धर्म

'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।'
वैशेषिक दर्शन'

'लोक लाहु परलोक निबाहू।'

'धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।'
मनु

'धर्मो धारयति प्रजाः।'

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।'

'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर
पीड़ा सम नहिं अधमाई।'

'धरम न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुरान बखाना।'

'परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा।
पर निन्दा सम अध न गिरीसा।'

'आचारः परमो धर्मः।'
मनु

'दयाधरम का मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िये, जब लगि घट में प्रान।'

'धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा।'
महाभारत

(दुष्कर्म से सफलता प्राप्त करने की अपेक्षा सत्कर्म करते हुए मर जाना ही श्रेयस्कर है।)

'धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्मकः।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।'

(जो धर्म दूसरे धर्म का बाधक होता हो, वह धर्म नहीं कुधर्म है। सच्चा धर्म वही है, जो किसी दूसरे धर्म का विरोधी न हो।)
महाभारत

'न धर्म सदृशं मित्रम्।'

'धर्मो रक्षति रक्षितः'

'यतो धर्मस्ततो जयः।'

'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।'

'साधु बोले, बेटा! डंक मारना उसका धर्म है और बचाना मेरा धर्म है। वह अपना धर्म नहीं छोड़ता तो मैं ही अपना धर्म क्यों छोड़ दूँ?'

'हमारा जो धर्म है उसका हम पालन करें। वह हमारा कर्तव्य है। इस प्रकार देखें तो धर्म का अर्थ होता है कर्तव्य।'

'पर धर्म इतना ही नहीं है। धर्म का अर्थ इस से कहीं व्यापक है।'

'धर्म में कर्तव्य तो आता ही है, टिकाऊपन भी आता है, पवित्रता भी आती है, विश्वास भी आता है और श्रद्धा भी आती है।'

'श्रद्धा बिना धर्म नहीं होई।'

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।'
मनु

'सत्य बोले प्रिय बोले, ऐसा सत्य न बोले जो अप्रिय हो, ऐसा प्रिय भी न बोले जो असत्य हो। यही सनातन धर्म है।'

'तुलसी असमय के सखा धीरज धरम् विवेक।
सहित साहस सत्यव्रत राम भरोसे एक।'

व्यवहार

'The small courtsies sweeten life, the greater ennoble it.'

'People hate those who make them feel their own inferiority.'
(मनुष्य उससे घृणा करता है जो उसे उसके दोष-अल्पता, दर्शाता है।)

'Man reveals himself to man in love and sympathy'
(अपने से प्यार और सहानुभूति रखने वाले से ही व्यक्ति अपना दिल खोलता है।)

'Manners are like the zero in arithmatics. They may not be much in themselves but they are capable of adding a great deal to the value of everything.'

'Good manners are the small coins of virtue.'

'A mild answer breaks wrath; but a harsh word stirs up anger.'

'One should be great minded.'
Chhandogya Upanishad

'The family that prays together stays together.'

'I consider untouchability to be a heinous crime against humanity.'
Mahatma Gandhi

'Heaven gives it favourites early death.'

'A face that can not smile is never good.'
Martial

'A man is but the product of his thoughts, what he thinks that he becomes.'
Mahatma Gandhi

'No phase of life, whether public or private, can be free from duty.'
Cicero

'For what things as man shall sow, those also shall he reap.'

'He loves his country best who strives to make it best.'

'It is easy to flatter; it is harder to praise.'

'A slip of the foot you may soon recover;

But a slip of the Tongue.
you never get over

Franklin

'A man has no enemy worse than himself.'

Cicero

'If you are pleased in finding faults, you are displeased at finding perfection.'

'To handle yourself, use your head; to handle others use your heart.'

Way to Success

'Self-trust is the first secret of success.'

Emerson

'Trifles make perfection and perfection is no trifle.'

'God only asks you to do your best.'

'A slippery mouth works ruin.'

'Do not suppose that opportunity will knock twice at your door.'

'All succeeds with people who are sweet and cheerful.'

(मधुर वाणी और प्रसन्न मुद्रा (मुख) वाले अवश्य सफल होते हैं)

'It is better to wear out than to rust out.'

(हम काम तो आयें, पर जंग न खायें।)

'No men is rich enough to buy back his past.'

(कोई इतना धनवान नहीं...)

'Not to progress is to go back.'

Latin Proverb

(प्रगति न करना, याने पीछे हटना है।)

'Do your duty and do it as humanly as you can.'

Lord Mahavir

'None but a fool is always right.'

'Difficult to conquer oneself.

But when that is conquered
everything is conquered.'

Uttaradhyana Sutra

'Better to light one candle than to curse the darkness.'

'The sum of our decisions will bring us to heaven or to hell.'

'Take up one idea, make that one idea your life--think of it, dream of it, live on that idea be full of that idea and just leave every other idea alone. This is the way to sure success.'

Swami Vivekanand.

Education

'We have to replace the existing educational programme of our country by a new one, which will enable our people to remain loyal to their spiritual ideas and at the same time to master all that is necessary for making them as intensely practical in worldly affairs as any other nation. The objective of high and higher education should be to equip Bhartiya youth for the dual task of ensuring the material progress of his country as also of demonstrating effectively before the world the supreme worth of their heritage in securing world wside peace and harmony.'

दायित्व

'We should so live and labour, that what comes to us as seed may go to the next generation as bloom, and what comes to us as blossom may go to them as fruit.'

आशीर्वचन

पत्रिका हेतु माननीय बैरिस्टर साहब द्वारा भेजे गये संदेश

परमप्रिय बन्धु निदेश जी,

सप्रेम नमस्कार।

अपने विद्यालय की वार्षिक पत्रिका 'नीराजन' के लिए आपने मुझे अपना संदेश देने के लिए आमंत्रित किया है। इसके लिए मैं आपका हृदय से आभारी हूँ।

किसी भी अच्छे विद्यालय की पत्रिका न केवल उसकी गतिविधियों का दर्पण होती है; वरन् उसके छात्रों की सृजनात्मक शक्तियों को प्रोत्साहित कर उन्हें अपने जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रेरणा भी देती है।

मैं आशा करता हूँ कि आपके कुशल सम्पादकत्व में 'नीराजन' इस उत्तरदायित्व का वहन तो करेगा ही और उस महापुरुष के, जिनका नाम इस विद्यालय से जुड़ा है, जीवनादर्श को अपनाकर सच्चे अर्थों में भारत माता का 'नीराजन' सिद्ध होगा।

३.३.८३

भवदीय
बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह

प्रिय बन्धु डॉ० अवस्थी,

सप्रेम नमस्कार,

आपका पत्र मिला। 'नीराजन' का यह अंक 'नयी शिक्षा-नीति विशेषांक' के रूप में प्रकाशित हो रहा है, यह जानकर अतीव आल्हाद की अनुभूति हुई। लगता है कि नयी शिक्षा-नीति भारतीय जीवन-मूल्यों की एक बार पुनः उपेक्षा कर रही है। आज की शिक्षा के स्वरूप में भारतीयता का अनुप्रवेशन एक नितान्त अनिवार्य आवश्यकता है। वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में आयातित पाश्चात्य संस्कृति का बढ़ता हुआ प्रभुत्व अहितकर सिद्ध होगा। अब तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि भावी पीढ़ियाँ गीता और तुलसी तो क्या, प्रेमचन्द को भी भूल जायेंगी। वस्तुतः यह चिन्त्य है।

नयी शिक्षा-नीति के निर्धारकों को इस ओर अपेक्षित ध्यान देना चाहिए कि हिन्दी भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में उदारता का परिचय देते हुए स्वीकार किया जाना चाहिए। हाँ, अंग्रेजी का एक विषय व भाषा के रूप में अच्छा ज्ञान कराया जाये, यह अच्छी बात है। पर अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करना किसी भी दृष्टि से युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। मैं समझता हूँ कि नीराजन का यह अंक नयी शिक्षा-नीति के संदर्भ में एक सही दिशा प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकेगा। इसी आशा और शुभकामनाओं के साथ,

मार्च, १९८७

आपका
बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह

परम प्रिय डॉ० प्रेम नारायण जी,

सादर नमस्कार।

आपने विद्यालय की पत्रिका नीराजन के लिए संदेश माँगा है। हमारे यहाँ बालकों के लिए उपयुक्त साहित्य, जिससे वह अपने श्रेष्ठ पुरुषों का जीवन तथा उनके द्वारा स्थापित जीवन मूल्यों को समझ सकें, की बहुत कमी है। आपका प्रयास इस दिशा में महत्वपूर्ण रहता ही है। यदि आप पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रसङ्गों को विशेष रूप से लेकर प्रेरणाप्रद कहानियाँ प्रस्तुत करें तो मेरी समझ में अपनी संस्कृति को समझने में सुगमता होगी।

पत्रिका के सफल प्रकाशन हेतु शुभकामनाओं सहित

२२.२.८८

आपका
बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह

परम प्रिय दुबे जी,

सप्रेम नमस्कार।

आपका पत्र दिनांक ११ अप्रैल को प्राप्त हुआ। विद्यालय की वार्षिक पत्रिका निकालने वाली है ऐसा आपने सूचित किया। जानकर प्रसन्नता हुई।

शिक्षा की दिशा पर कुछ वर्षों से सुनने को तो बहुत मिल रहा है किन्तु सफल प्रयोग बहुत कम होते दिखाई दे रहे हैं। मैकाले की शिक्षा पद्धति का स्थान नई शिक्षा नीति लेगी, अब दोहरी शिक्षा नीति नहीं चलेगी, ऐसा हम सुन रहे हैं। यह सब नारों का ही स्वरूप ले रहे हैं, ऐसा लगता है।

शिक्षा स्वाभिमान, आत्म विश्वास, नैतिकता, साहस, स्वानुशासन जैसे गुणों के साथ शारीरिक और बौद्धिक क्षमता का विकास कर व्यक्ति को समाजोन्मुख बनाये इसका अभाव दिखता है। मुझे विश्वास है कि आपकी पत्रिका शिक्षा की सही दिशा पर प्रकाश डालेगी। आज देश में नैतिकता और चारित्रय का जो ह्रास दिखाई दे रहा है उसे उपयुक्त शिक्षा पद्धति ही दूर कर सकती है। ऐसी पद्धति कैसे विकसित हो, यह विचारणीय है।

समस्त शुभकामनाओं सहित,

आपका

अप्रैल, ९०

बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह

प्रिय दुबे जी,

सादर नमस्कार।

आप विद्यालय की पत्रिका को इस बार बलिदानी रामभक्तों के प्रति श्रद्धांजलि के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, जानकर प्रसन्नता हुई।

राम भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। उन्होंने शौर्य और धैर्य, सत्य और शील, त्याग और तपस्या के जो आदर्श हमारे सम्मुख रखे हैं, उन्हीं से आज एक हजार वर्ष के आक्रमणों के बाद भी हिन्दू समाज जीवित है। हमारी संस्कृति में ही वह बात है, जिससे हमारी हस्ती नहीं मिटी।

आक्रमणकारियों ने हमारे मनोबल को तोड़ने के लिए हमारे श्रद्धा केन्द्रों को ध्वस्त किया। राम के नाम पर सारा हिन्दू समाज आज एकात्मकता का अनुभव कर रामराज्य की स्थापना हेतु जाग्रत हो गया है। इसी कड़ी में अनेकों कष्टों और बाधाओं को पार करते हुए रामभक्त अयोध्या पहुँचे। वह रामराज्य की शिलायें स्वयं ही बन गये। अपना बलिदान दे दिया किन्तु उन्होंने जो नींव डाल दी है, उस पर जाग्रत समाज भव्य मंदिर बना कर रहेगा। यहीं से रामराज्य की भी नींव पड़ेगी।

ऐसे बलिदानियों के लिए श्रद्धा व्यक्त करने के लिए शब्द ढूँढ़ पाना अत्यन्त कठिन है। उन्हें हृदय से प्रणाम करता हूँ।

अप्रैल, ९१

आपका

बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह

परम प्रिय श्री सुमन,

सप्रेम नमस्कार।

विद्यालय की पत्रिका 'नीराजन' शीघ्र प्रकाशित होने वाली है, जान कर प्रसन्नता हुई। आज देश की एकता और अखण्डता का प्रश्न गम्भीर रूप से हमारे सामने है। अंग्रेजों ने तरह-तरह के भ्रम उत्पन्न करने वाले तथ्य हमारे शिक्षित वर्ग के दिमाग में डालकर विघटन के बीज बोये थे। आर्य बाहर से आये और उन्होंने यहाँ के आदिवासियों को दक्षिण में और जंगलों में खदेड़ दिया, बतलाकर आर्य और द्रविड़ का विभाजन किया; गिरिवासियों, वनवासियों को समाज से अलग किया। अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यक हिन्दू समाज से सुरक्षा की आवश्यकता है, बतलाकर, अल्पसंख्यकों को विशेष दर्जा देकर अलग किया। दुर्भाग्य यह है कि अंग्रेजियत में पला हुआ हमारा समाज इन भ्रामक धारणाओं को छोड़ नहीं सका है। वास्तविकता तो यह है कि भारत अत्यंत प्राचीन काल से एक राष्ट्र है।

इसकी एक प्राकृतिक भौगोलिक इकाई है। हिमालय और समुद्र से घिरा हुआ अपनी विशेषता रखने वाला यह प्रदेश है जिसमें कश्मीर से कन्याकुमारी तक एक ही संस्कृति पनपी और रग-रग में समाई हुई है। सर्वात्मैक्य, सहिष्णुता, त्याग, तपस्या, कर्म के आधार पर पुनर्जन्म - इस संस्कृति की यह मान्यता देश के किसी भी कोने में जाने पर जीवन का आधार दिखेगी। हमारा एक इतिहास, एक ही जीवन आदर्श तथा एक ही प्रेरणा देने वाले महापुरुष हैं। यह एकात्मता अनुभव न करके आज का विदेशी मानसिकता में पला शिक्षित व्यक्ति भी ऊपरी बातों को महत्व देकर, हमारा देश बहुराष्ट्रीय, बहुभाषा-भाषी, मिश्रित संस्कृति वाला, विभिन्न क्षेत्रों का एक गणराज्य है, ऐसा मानने लगता है। ऐसा समझने पर एकात्मता व अखण्डता कैसे रह सकती है। साम्यवादी रूस का उदाहरण हमारे सामने है। भावनात्मक एकता के बिना एकात्मता व अखण्डता सम्भव नहीं होती।

भ्रामक धारणाओं का निराकरण कर देश की मौलिक एकात्मता को उजागर करने का महत्वपूर्ण कार्य डॉ० मुरली मनोहर जोशी की एकता यात्रा ने किया है। कन्याकुमारी से कश्मीर तक इस देश की आत्मा एक है। यह हमारी मातृभूमि हिमालय से समुद्र पर्यन्त भारत माता के रूप में हमारी पूज्या है। यहाँ के सारे पर्वत-नदियाँ हमारी श्रद्धा के पात्र हैं, यही संदेश इस यात्रा ने देश के कोने-कोने में पहुँचाया है तथा सुप्त राष्ट्रीयता को जाग्रत किया है।

हमारा भी यही कर्तव्य है कि हम भारत की मूलभूत एकात्मता का अनुभव करें। सारा भारत एक है। हम कोई भी भाषा बोलें, हमारा रहन सहन कैसा भी हो हमारी आत्मा, जीवन मूल्य, आदर्श महापुरुष एक हैं। हम एक प्राचीन राष्ट्र हैं। यह आत्म विश्वास, आत्मानुभूति प्रत्यक्ष रूप से व्यवहार में आने पर हम एक शक्तिशाली, संगठित, अखण्ड, अनुशासित राष्ट्र के रूप में संसार में अपना सम्मानपूर्वक स्थान बना सकते हैं।

आपकी पत्रिका विद्यालय के छात्रों को जीवन की सही दिशा देने का प्रयास करती रहती है, यह आनन्द का विषय है। समस्त शुभकामनाओं सहित,

आपका

अप्रैल, ९५

बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह

यथार्थवादी परामर्शदाता

पूज्य बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह जी का निधन संघ और समाज की अपूरणीय क्षति है। अनेकों विद्यालय व अन्य सेवा कार्य उनकी देख-रेख में चलते थे। वे हमारे वरिष्ठतम प्रांत संघचालक थे और उनका यथार्थवादी परामर्श हम सबके लिए बड़ा लाभदायक था। हम उनके बताये हुए मार्ग पर चल सकें, यही प्रभु से प्रार्थना है। उनकी आत्मा तो सद्गति प्राप्त करेगी ही। ओम् शान्ति शान्ति शान्ति।

राजेन्द्र सिंह 'रज्जू भैया'

सरसंघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

पढ़ाई में सफलता कैसे प्राप्त करें?

'उद्धरेत् आत्मात्मानम्, न अवसादेत् आत्मनेम्'

'अपना मन कभी दुखी मत करो और सफलता के पीछे पड़ जाओ।'

किसी भी सफलता के लिए पाँच बिन्दु अनिवार्य हैं - कर्ता, करण, अधिष्ठान, चेष्टा, और प्रारब्ध।

किसी चीज को observe करके ही हम उसके बारे में गहन ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अतः- We must increase our grasping power.

इसके लिए जरूरी है कि - First listen, then grasp, then repeat and put it in your memory.

किसी वाक्य अथवा किसी question की गहराई तक जाना चाहिए। हम अपनी बौद्धिक शक्ति का जितना प्रयोग उस प्रश्न के विषय में करेंगे, उतनी ही उस विषय में हमारी समझ विकसित होगी।

'Speak, so that I may know you'; जब कालिदास शास्त्र पारंगत होकर घर लौटे तो विद्योत्तमा ने पूछा -'अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः'? उत्तर में कालिदास ने इन तीन शब्दों से प्रारम्भ कर क्रमशः तीन महान कृतियाँ मेघदूत, रघुवंश और कुमार सम्भव के रूप में साहित्य जगत् को प्रदान कीं। यानी इतनी प्रतिभा कि ज्ञान की निर्झरिणी फूट पड़ी।

छात्र को अपने विकास के लिए अपनी नियमित दिनचर्या बनानी चाहिए, जिसमें मुख्यतः अध्ययन, व्यायाम, मनोरंजन, विश्राम व संतुलित भोजन पर बल दिया जाये। भली-भाँति अध्ययन के लिए 'युक्त आहार-विहार' तथा '७ घण्टे अवश्य सोना' इनका विशेष महत्व है। सदैव स्वस्थ व प्रसन्न रहने का प्रयास करना अपने व्यक्तित्व के विकास में अत्यंत लाभकारी है। समय का सदुपयोग कैसे हो - Time of work is not important. More important is how much work we have done in a given time.

किसी भी कार्य के तीन पक्ष हैं-

Quanity, Quality, Direction अर्थात् कार्य कितना, कैसा (स्तर) एवं सही दिशा में हो रहा है अथवा नहीं। अतः निश्चित समय में एकाग्रचित्त होकर जमकर व जुटकर परिश्रम करना ही सार्थक होगा। यह नहीं सोचना चाहिए कि 'घण्टी बजने में अब केवल पन्द्रह मिनट बचे हैं। इतने समय में भला मैं क्या कर सकता हूँ'? वरन् हमको अपने उस समय का छोटे-छोटे कामों में सदुपयोग करना चाहिए।

पढ़ाई का तरीका क्या हो -In first reading main topics, in second some minor things, and in third very minor, then whole. If we make notes, in only a short time we can get total knowledge. We must have a systematic reading and a fine writing.

स्वच्छ लेख का एक अलग प्रभाव होता है। एक ही विषय को सुन्दर व स्पष्ट एवं गन्दा व अस्पष्ट लिखने पर अंकों में जमीन-आसमान का अन्तर हो जाता है। जब हम अपनी कॉपी आचार्य जी को दें, तो उनसे कॉपी (उत्तर) की अच्छाई पर नहीं, कमी पर Remark देने को कहें, वह भी Pointwise ताकि हमें अपने लेखन के कमजोर पक्ष का पता लग सके। तत्पश्चात् उसके Notes बनाकर उसे दोहराने के लिए रखें। चलताऊ काम से संतुष्ट न होकर अच्छे से अच्छा कार्य करने का प्रयास करना चाहिए।

ऐसी Will Power या इच्छा शक्ति अपने भीतर उत्पन्न करना चाहिए कि जो विचार किया है उसे कर के ही छोड़ेंगे। ध्यान रहे कि संकल्प कभी टूटने न पाये। हतोत्साहित तो होना ही नहीं चाहिये, व संघर्ष से कभी हार नहीं माननी चाहिए। कवि शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने लिखा है-

'जिस दिन सपनों के मोल भाव पर उतरूँगा,
जिस दिन संघर्षों पर जाली चढ़ जायेगी,
जिस दिन लाचारी मुझ पर तरस दिखायेगी,
उस दिन जीवन से मौत कहीं बढ़ जायेगी।'

बोर्ड परीक्षा व प्रत्येक गृह परीक्षा में हमारी पकड़ एक-एक अंक पर होनी चाहिए। कोशिश यह करनी चाहिए कि एक अंक भी न कटे।

वास्तव में Geni us व्यक्ति के अन्दर जितनी बुद्धिमत्ता होती है, उतना ही वह परिश्रम भी करता है। अतः योग्यता बढ़ाना, सही ज्ञान पाना, तत्पश्चात् बुद्धि कुशाग्र करना। इस प्रकार यदि हम शिक्षा की सीढ़ी पर चढ़ेंगे तो विकास अधिक होगा।

❐ (नीराजन, १९८७-८८)

अपना जीवन भारतीय संस्कृति के अनुरूप बनाएँ

(१९९१ में २१ वें वार्षिकोत्सव पर अटल जी के साथ पूर्व छात्रों के प्रश्नोत्तर कार्यक्रम का बैरिस्टर साहब द्वारा समापन)

अभी एक प्रश्न आया है कि क्या दीनदयाल विद्यालय जैसी और संस्थायें खोली जाएंगी? यह तो आप पर निर्भर करता है। ऐसा होता है न कि एक दिया जला दिया और उस दिये से और दीपक जलाये जाते हैं। जलते रहते हैं। जितनी हम लोगों की सामर्थ्य है उतना तो हम करना ही चाहते हैं। कुछ किया है, कुछ करना चाहते हैं। पता नहीं कितनी सफलता मिलेगी? समाज की बड़ी भारी शक्ति है। आज समाज यह निश्चय कर ले, हमारे पूर्व छात्र ही यह निश्चय कर लें कि ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है, ऐसी संस्थायें जिले-जिले में हों, कानपुर नगर में भी ऐसी और संस्थायें हों तो मैं समझता हूँ कि ऐसा हो जाना कोई कठिन बात नहीं है। देखा जाये तो हम लोगों ने यह विद्यालय इसी दृष्टि से प्रारम्भ किया था कि आज एक होड़ मच गयी है अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों की जिनमें भारतीय संस्कृति का नाम कोई महत्व नहीं रखता। नैतिकता का भी वहाँ कोई स्थान नहीं है। तो इस विद्यालय की स्थापना का उद्देश्य था कि किस प्रकार से अपने नवयुवकों द्वारा अपनी संस्कृति का कुछ महत्व समझा जा सके, उसके अनुरूप अपना जीवन बनाया जा सके, किस प्रकार समाज और राष्ट्र के प्रति व्यक्ति अपनी सारी शक्ति को लगाने के लिए इच्छुक हो सके।

अपने यहाँ कहा गया है कि यज्ञ, दान और तप - ये तीन काम करणीय हैं। यज्ञ का मतलब यही रखा गया है कि जो कुछ काम करते हो, लोक कल्याणार्थ करो। समाज के हित में क्या होगा, यह समझ कर ही काम करो।

अभी एक और प्रश्न आया कि हम काम करते हैं, हम चाहते हैं कि हम संघ कार्य में अधिक लग सकें, राष्ट्र कार्य में अधिक लग सकें, लेकिन हमारी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ भी रहती हैं। तो पारिवारिक जिम्मेदारियों के साथ भी आदमी बहुत कुछ कर सकता है। अपने समाज में तमाम लोग ऐसे हैं जो अपना कार्य भी करते हैं, राष्ट्र का कार्य भी करते हैं। सभी ऐसे नहीं है कि जिन्होंने सम्पूर्ण जीवन दे रखा हो। जिन्होंने अपना कार्य आवश्यक समझा है, वे अपना कार्य भी करते हैं और साथ-साथ जितना हो सकता है, उतना समाज का कार्य भी करने का प्रयास करते हैं।

यदि मन में यह इच्छा है कि जो कुछ भी हम काम करें वो समाज कल्याणार्थ होना चाहिए, तो मैं यह समझता हूँ कि रास्ता अवश्य निकलेगा। भगवान् ने जब कहा कि यज्ञ, दान और तप ये काम करने के हैं - 'यज्ञो दानं तपश्चैव भावनानां मनीषिणां...' तो तप का आशय था मन, वाणी, शरीर से संयम; दान का अर्थ था त्याग; और यज्ञ की भावना थी कि हम अपनी सारी शक्ति को समाज के प्रति समर्पित करें। ये जो अपनी संस्कृति के मूल तत्व हैं, उनके अनुरूप ही हमें अपना जीवन बनाना चाहिए। यही हमारी संस्कृति का संदेश है।

आज देश में बड़ा संघर्ष है इस बात पर कि भारतीय संस्कृति क्या होती है? यहाँ भारतीय संस्कृति का क्या सवाल, यह तो मिश्रित संस्कृति है। यह मिश्रित संस्कृति क्या होती है?

हमारी संस्कृति सहिष्णुता की है। दूसरी संस्कृतियाँ असहिष्णुता की हैं। इस्लाम ने, जहाँ-जहाँ गया वहाँ, तलवार के बल पर धर्म-परिवर्तन किया। हमने धर्म-परिवर्तन किया ही नहीं, विचार-परिवर्तन किया। तो इन दो प्रवृत्तियों का कैसे आप मेल बैठायेंगे? मिश्रित संस्कृति कैसे बनायेंगे ? इसी प्रकार की और अनेकों बातें हैं जिनका मेल बैठ नहीं सकता। हिंसा, अहिंसा को ही लीजिए। हमारी संस्कृति अहिंसा प्रधान है और आज जो संस्कृतियाँ फैल रही हैं, वे हिंसा प्रधान हैं। दोनों का मेल कैसे बैठाइयेगा?

अतः भारत में भारतीय संस्कृति के अनुरूप जीवन चलेगा, तभी हमारा जीवन भी सुख एवं शान्ति का हो सकता है और तभी हम संसार को सही दिशा दिखा सकते हैं।

हमें यही देखना है कि हम कैसे अपना जीवन अपनी संस्कृति के अनुरूप बना सकें। हमारी जो कुछ भी क्षमता, योग्यता है वह हमारे समाज और राष्ट्र के उपयोग में कैसे लग सके। इस दृष्टि से ही आप को अपनी समस्यायें समझने व सुलझाने की दिशा मिलेगी। और जैसा कि अटल जी ने कहा - जो अपना साक्षी अन्तरात्मा है, उससे पूछो कि हम क्या करें? क्या कर्म है, क्या अकर्म है, क्या कर्तव्य है, क्या कर्तव्य नहीं है, क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या पाप है, क्या पुण्य है? अपने आप से पूछो और तुम्हें उत्तर मिलेगा कि भाई ये कार्य करो, ये सब समाज के कल्याण एवं राष्ट्र के कल्याण का है। स्वयं उत्तर खोजोगे, तभी तुम्हें संतोष होगा। तुम ऊपर उठोगे और जिन्होंने मर्यादायें दी हैं, उन महापुरुषों के जीवन के अनुरूप अपने जीवन को ढाल सकोगे।

❐ नीराजन, श्रद्धांजलि अंक, १९९४

पितृतुल्य स्नेहछत्र

मा० श्री बैरिस्टर साहब जी के देहावसान की खबर पाकर असहनीय ऐसा तीव्र दुःख हुआ है, जिसको व्यक्त करने के लिए शब्द असमर्थ हैं।

वृद्धावस्था, अस्वास्थ्य तथा इस प्रकार के कष्ट सहन करते हुए भी उन्होंने अपना दायित्व व कर्तव्य अंत तक निभाया और अंत में मृत्यु ने ही उनको अपने कार्य से और हम सभी से अलग किया है। इससे हिन्दुत्ववादी शक्तियों की अपूरणीय क्षति हुयी है।

एक सुप्रतिष्ठित, गणमान्य तथा सुसम्पन्न परिवार के होते हुए भी बैरिस्टर साहब जी ने संघ-सिद्धांतों के प्रति अपनी अविचल निष्ठा के कारण ही संघबंदी के समय प्रत्यक्ष कारावास के कष्ट भी सानंद स्वीकार किए थे। उत्तर प्रदेश के छोटे-बड़े, पढ़े-लिखे - अनपढ़ तथा गरीब-श्रीमान ऐसे सभी प्रकार के स्वयंसेवकों से उनके अत्यंत स्नेहपूर्ण व आत्मीयता के संबंधों के कारण ही स्वयंसेवकों सहित संघ संबंधित संस्थाओं के सभी कार्यकर्ताओं को वे पितामह जैसे ही लगते थे। संघकार्य के साथ ही संघ-विचार से प्रेरित विविध कार्यों में भी बैरिस्टर साहब जी के योगदान व मार्गदर्शन से अनेक कठिन समस्याएं सहजता से सुलझती थीं। आज उत्तर प्रदेश में जो सरस्वती शिशु मंदिर व विद्या निकेतन चलाए जा रहे हैं उनकी शुरुआत करने में तथा बाद में पूरे प्रदेश में ऐसे सैकड़ों शिशु मंदिर स्थापित करने में मा० बैरिस्टर साहब जी का विशेष योगदान रहा है। उनकी दिवंगत पत्नी का भी इन सभी सामाजिक कार्यों में उनको पूर्ण सहयोग ही नहीं तो प्रोत्साहन भी रहता था। अतः उनके घर पर संघ तथा संघ संबंधित विविध संस्थाओं के सभी कार्यकर्ताओं का आना-जाना तथा निवास होता रहता था। आज संघ का जो व्यापक व प्रभावपूर्ण स्वरूप उत्तर प्रदेश में दिख रहा है यह बैरिस्टर साहब जी जैसे तपस्वी व निष्ठावान कार्यकर्ताओं की अथक साधना का ही फल है। अतः उनकी मृत्यु से मैंने एक अत्यंत आदरणीय व ज्येष्ठ सहयोगी तथा उत्तर प्रदेश के स्वयंसेवकों ने अपना पितृतुल्य स्नेहछत्र खो दिया है।

मधुकर दत्तात्रेय 'बाला साहब' देवरस
पूर्व सरसंघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

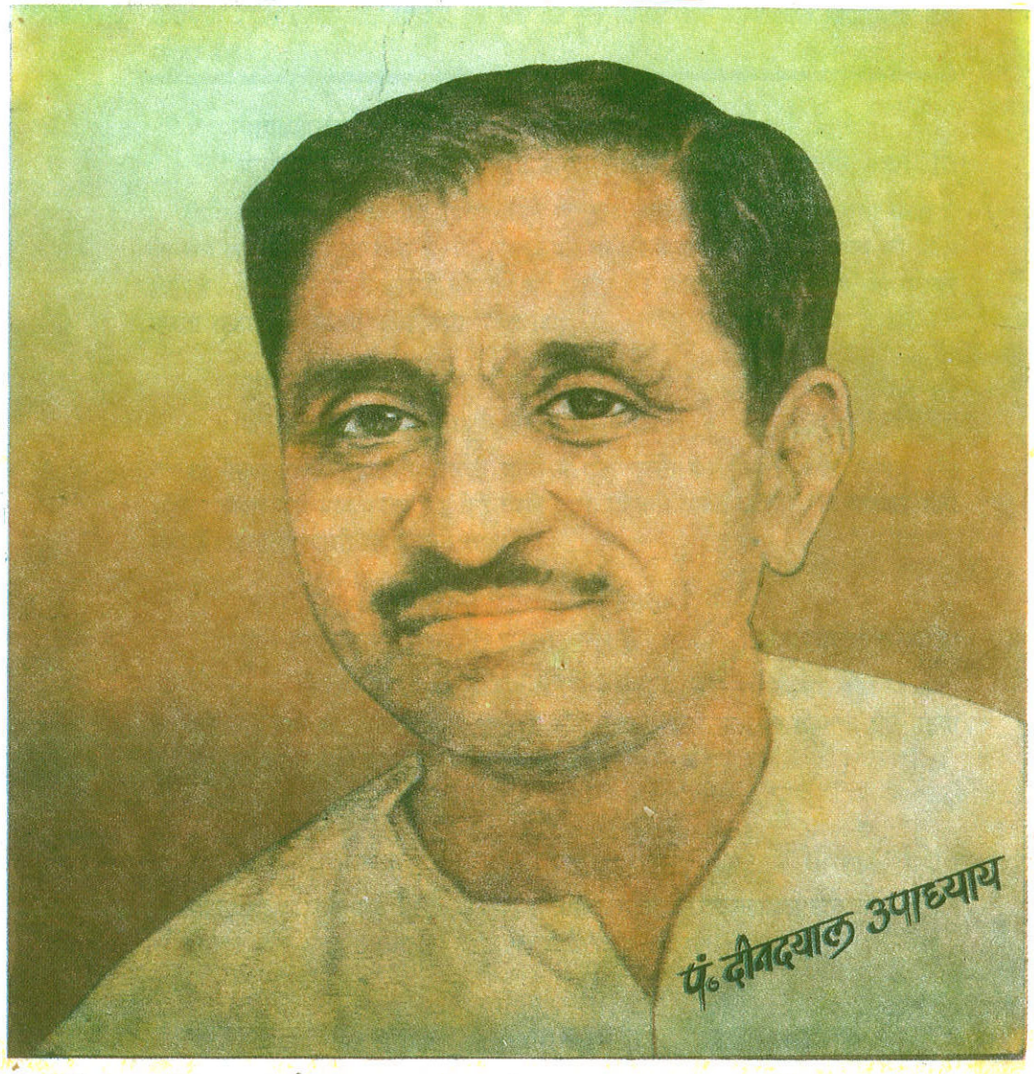

चरैवेति ! चरैवेति!

✍ रंजना शुक्ल, संकलनकर्त्री

वैदिक ग्रन्थ 'ऐतरेय ब्राह्मण' के 'चरैवेति! चरैवेति!' शीर्षक मंत्र पं० दीनदयाल उपाध्याय के जीवन में प्रमुख प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। इन मंत्रों का मूल स्वरूप और सहज-सरल भावानुवाद यहाँ प्रस्तुत है।

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरोजन इन्द्र इच्चरतः सखा ।। चरैवेति ! चरैवेति!

(हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित को उपदेश करते हुए इन्द्र कहते हैं) हे रोहित! हम ऐसा सुनते हैं कि श्रम करने से जो नहीं थका है, ऐसे मनुष्य को श्री की अथवा ऐश्वर्य और वैभव की प्राप्ति होती है। बैठे हुए आलसी आदमी को पाप धर दबाता है। इन्द्र उसका ही मित्र है, जो बराबर चलता रहता है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्मुरात्मा फल ग्राहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ।। चरैवेति ! चरैवित!

जो मनुष्य चलता रहता है, उसकी जांघों में फूल फूलते हैं। उसकी आत्मा भूषित और शोभित होकर फल प्राप्त करती है। ऐसे चलने वाले परिश्रमी व्यक्ति के सारे पाप थककर सोये रहते हैं। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ।। चरैवेति! चरैवेति!

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है और खड़े होने वाले का सौभाग्य उठकर खड़ा हो जाता है। पड़े रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तुः द्वापरः ।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ।। चरैविति! चरैवेति!

सोने वाले का नाम कलियुग है, अंगड़ाई लेने वाला द्वापर है, उठकर खड़ा होने वाला त्रेता है और चलने वाला सतयुगी होता है। इसलिए चलते रहो! रहते रहो!

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो तन्द्रयते चरन् ।। चरैवेति! चरैवेति!

चलता हुआ मनुष्य ही मधु (अमृत) प्राप्त करता है, चलता हुआ मनुष्य ही स्वादिष्ट फलों को चखता है। सूर्य के परिश्रम को देखो, जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

❐ उत्तर प्रदेश संदेश, पं० दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक, सितम्बर १९९१

जीवन-झाँकी

✍ रामशंकर अग्निहोत्री ★ भानुप्रताप शुक्ल

११ फरवरी १९६८ को भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष पं० दीनदयाल जी उपाध्याय का मृत शरीर मुगलसराय स्टेशन के यार्ड में पड़ा गया गया। इस षड्यंत्रकारी घटना का रहस्य अभी तक अज्ञात है। भविष्य में इसका रहस्य प्रकट होगा। रहस्य जो भी हो, भारतीय प्रजातंत्र के राजनीतिक क्षितिज पर विचार, कार्य और प्रगति की महान् आशायें लेकर जो अति दिव्य जीवन उभर कर सामने आ रहा था और अति प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन के आधार पर युगानुरूप नूतन व्यवस्थायें, मौलिक चिन्तन और दार्शनिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण व्यावहारिक व्याख्यायें प्रस्तुत कर रहा था, वह सहसा ओझल हो गया। देश के गौरवशाली अतीत से भव्य भविष्य को जोड़ने वाले वर्तमान का महान शिल्पी चिर-निद्रा को प्राप्त हो गया। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में जन-साधारण के सुख-दुःख में समरस होते हुए नेतृत्व का सूत्र धारण करने वाला महान नेता दिवंगत हो गया। समस्याओं से भरे देश में सब प्रकार के समाधान निकाल सकने का विश्वास दिलाने वाला प्रकाश पुंज बुझ गया। सरल व्यवहार, सादा जीवन, उच्च विचार, प्रदीप्त अन्तःकरण और कर्मठता की मूर्ति सहसा विगलित हो गयी। इसीलिए जनसंघ के वर्तमान अध्यक्ष पं० अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा, "सूर्य ढल गया। अब हमें तारों के प्रकाश में मार्ग खोजना होगा।" निस्संदेह पं० दीनदयाल जी इतने नम्र और सरल थे कि उनकी महानता पहचान पाना कठिन था और वे इतने महान् थे कि उनके आस-पास की हर वस्तु ध्येय-समर्पित थी।

पं० दीनदयाल उपाध्याय का जन्म आश्विन मास वि०सं० १९७३ में कृष्णपक्ष की त्रयोदशी तदनुसार २५ सितम्बर १९१६ को हुआ था। उनके नाना पं० चुन्नीलाल शुक्ल जयपुर-अजमेर रेलवे लाइन पर स्थित ग्राम धनकिया में स्टेशन मास्टर थे। पं० दीनदयाल जी का जन्म नाना के घर इसी ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम श्री भगवती प्रसाद उपाध्याय था और वे उत्तर प्रदेश में जलेसर रोड रेलवे स्टेशन पर स्टेशन मास्टर थे। आपके पितामह पं० हरीराम जी शास्त्री ज्योतिष शास्त्र में अपने समय के अति प्रसिद्ध विद्वान माने जाते थे। बताया जाता कि पं० हरीराम जी शास्त्री की मृत्यु पर आगरा और मथुरा में उनके सम्मानार्थ शोक हड़ताल भी हुई थी।

बाल्यकाल में उनकी आयु लगभग ७ वर्ष की ही थी कि उनके माता-पिता का देहान्त हो गया और उनका पालन-पोषण उनके मामा श्री राधारमण शुक्ल के घर में हुआ। विपत्तियों एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने का क्रम इस प्रकार बाल्यकाल से ही उनके लिए प्रारम्भ हो गया।

बाल्यकाल में माता-पिता की स्नेह छाया से वंचित होने का दुःख सम्पूर्ण जीवन को जर्जर कर देने के लिए पर्याप्त होता है। दुर्भाग्य की इस चपेट से बिरले ही उभर पाते हैं। कोमल आयु में स्वावलम्बन और कष्ट सहने की परीक्षा निस्संदेह कठोरता ही गिनी जायेगी। नन्हे बच्चे जब प्यार-दुलार से थपकियाँ पा रहे हों, तब कोई एकाकी बालक सिसकियों को पीकर मुट्ठी में दुर्भाग्य को दबोचने का यत्न करे तो यह उसकी अपने प्रति कठोरता ही मानी जायेगी। सचमुच अपने प्रति कठोरता बरतने और कर्म में ध्यान एकाग्र करने का मंत्र पं० दीनदयाल जी ने बाल्यकाल में ही ग्रहण किया। विद्यार्जन की सीढ़ियाँ सफलतापूर्वक चढ़ते गये और उन्होंने अजमेर बोर्ड की मैट्रिक की परीक्षा सीकर के कल्याण हाईस्कूल से जब उत्तीर्ण की तो उन्हें स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। वे सम्पूर्ण बोर्ड में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए थे। एकाग्रता के साथ मन और बुद्धि को नियोजित कार्य में लगाने से भला कौन-सी बाधा है जो जीती न जा सके और कौन-सी परीक्षा है जिसमें सफल न हुआ जा सके। यही क्रम चल पड़ा। दो वर्ष पश्चात् पिलानी (राजस्थान) से जब उन्होंने इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की तो वे प्रथम श्रेणी में ही थे। कानपुर के सनातन धर्म कालेज से बी०ए० की परीक्षा भी उन्होंने प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण की।

यह वह समय है जब कानपुर में सन् १९३७ में

उनका सम्पर्क राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से हो गया। उत्तर प्रदेश में संघ कार्य की नींव रखने वाले माननीय भाऊराव देवरस से उनका परिचय उनके लिए राष्ट्र समर्पित जीवन जीने का व्रत अंगीकार करने का महामंगल क्षण बन गया। मेधा को लक्ष्य मिला और उनकी शक्तियाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य में अधिकाधिक नियोजित होने लगीं।

कानपुर के सनातन धर्म कॉलेज से बी०ए० उत्तीर्ण करने के बाद वे आगरा से अंग्रेजी साहित्य में एम०ए० करने के लिए सेण्ट जॉन कालेज में प्रविष्ट हुए। प्रथम वर्ष उन्होंने उत्तीर्ण किया किन्तु द्वितीय वर्ष की परीक्षा न दे सके। इस समय वे आगरा में अपनी आजी और बहन (सगी नहीं) के साथ रहते थे। बहन का स्वास्थ्य खराब हो गया और उसकी सेवा-शुश्रूषा के लिए उन्हें उसे पहाड़ पर निसर्गोपचार हेतु ले जाना पड़ा। इसी कारण उन्होंने एम०ए० के द्वितीय वर्ष का अध्ययन स्थगित कर दिया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक के नाते वे सन् १९४२ में लखीमपुर जिले में नियुक्त हुए। शिक्षा कार्य में योगदान देने के लिए यदा-कदा वे वहीं के एक हाई स्कूल में निःशुल्क अध्यापन का कार्य भी किया करते थे। उनकी अद्वितीय प्रतिभा, उच्च चरित्र और व्यवहार कुशलता से प्रभावित होकर स्कूल के प्रबन्धकों ने उन्हें मुख्याध्यापक का स्थान देने की इच्छा प्रकट की किन्तु श्री दीनदयाल जी ने उसे अमान्य कर दिया। तीन वर्ष के कार्यकाल में ही वे उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह प्रान्त प्रचारक बन गये। सन् १९५१ में जनसंघ के निर्माण तक वे इसी क्षेत्र में इसी दायित्व से कार्य करते रहे।

इस बीच पं० दीनदयाल जी ने न केवल संघ शाखाओं के विस्तार का संगठन कार्य किया वरन् संघ पर प्रतिबन्ध लगने के काल-खण्ड में समाचार-पत्र तथा पुस्तक प्रकाशन का साहित्यिक कार्य भी सफलतापूर्वक किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त, जगद्गुरु शंकराचार्य नामक दो पुस्तकें आपने लिखीं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रधर्म (मासिक) और पाञ्चजन्य (साप्ताहिक) का भी सम्पादन किया। लखनऊ में राष्ट्रधर्म प्रकाशन लिमिटेड के संस्थापक भी आप बने।

भारत की राजनीति में कांग्रेस की राष्ट्र विघातकी और अदूरदर्शी नीतियों के परिणाम स्वरूप पाकिस्तान का निर्माण होने के बाद कांग्रेस में सत्ता की दौड़ प्रारम्भ हो गयी। देश की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, औद्योगिक सभी क्षेत्रों में गिरावट के आसार प्रकट होने लगे। ऐसे क्षणों में राजनीतिक क्षेत्र में नये नेतृत्व की आवश्यकता गूंज उठी। इसी महती आवश्यकता की पूर्ति में जब १९५१ में डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय जनसंघ के निर्माण का विचार किया जा रहा था तब पं० दीनदयाल उपाध्याय ने २१ सितम्बर १९५१ को लखनऊ में प्रादेशिक सम्मेलन बुलाकर प्रदेश जनसंघ की स्थापना की। ठीक एक मास बाद २१ अक्टूबर १९५१ को दिल्ली में डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय जनसंघ की भी स्थापना हुई। १९५२ में जनसंघ का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन कानपुर में आयोजित किया गया। पं० दीनदयाल जी की संगठन कुशलता से जनसंघ का यह पहला अधिवेशन ही अत्यन्त सफल हुआ। इसी अधिवेशन में पं० दीनदयाल उपाध्याय को अखिल भारतीय महामंत्री का पद सौंपा गया जिसे उन्होंने जनसंघ के कालीकट अधिवेशन सन् १९६७ तक निभाया। कानपुर से कालीकट तक जनसंघ के शीर्ष स्थान पर डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, आचार्य रघुवीर जैसे अखिल भारतीय विद्वान विराजमान हुए किन्तु दुर्भाग्य से वे अल्पकाल में ही छिन गये। पं० दीनदयाल उपाध्याय ही ऐसे व्यक्ति थे जो इस रिक्तता के समय आशा और विश्वास के ज्योति-स्तम्भ बनकर मार्गदर्शन का दायित्व निभाते रहे। कश्मीर का आन्दोलन हो या किसान मजदूरों का मोर्चा; पंचवर्षीय योजना हो या सामाजिक गुत्थी, सभी स्थानों पर एवं कार्यों में पं० दीनदयाल जी का मार्गदर्शन देश को प्राप्त होता रहा। पं० दीनदयाल जी ने देश के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए गंभीर सारयुक्त विचार-मंथन किया। इस सब में भी उनकी विशेषता यह थी कि वे तात्कालिक और छोटे से विषय को भी एक स्थायी सैद्धान्तिक अधिष्ठान देकर लिखा-बोला करते थे। उनका जीवन राष्ट्रहित समर्पित हुआ और राष्ट्र चिन्तना में ही निमग्न हो गया।

विधाता ने उन्हें जन्म से ही विपत्तियों में ढकेलने के जाल रच रखे थे किन्तु पं० दीनदयाल जी ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और कष्ट सहिष्णुता के बल पर सदैव प्रगति करने का ही संकल्प ले रखा था। वे अपने दैवीय गुणों के बल पर सदैव परिश्रम, त्याग, लगन का परिचय देते

हुए ऊपर उठते गये। यह क्रम बाल्यकाल से प्रारम्भ हुआ और उनकी मृत्यु तक सतत् चलता रहा। विधाता ने उन्हें बाल्यकाल में अनाथ बना दिया, विद्यार्थी जीवन में उनके स्नेह के एकमात्र आश्रय स्थान उनकी बहन को मृत्यु-मुख में भेजकर उन्हें विक्षिप्त बना देने की ठानी और जब कि वे यश, गरिमा के क्षितिज पर अध्यक्ष रूप में प्रतिष्ठित हुए थे, उन पर चिरनिद्रा डालकर उन्हें लावारिस बना दिया। विधाता की क्रूरता ने उन्हें गुमनाम लाश तक बना दिया ताकि कोई उनका पता भी न पा सके। किन्तु हर बार वे अपने कर्तव्य के बल पर कुछ और ही बनते चले गये। दीनदयालु तो वे जन्म से ही थे, विधाता ने उन्हें जब अनाथ बना दिया तो वे कर्मयोगी बन गये। उन्हें विक्षिप्त किया, तो वे समाजसेवी कार्यकर्ता के रूप में सर्वत्यागी संन्यासी बन गये और अन्त में उन्हें लाश की गठरी बनाकर भुलाना चाहा तो वहाँ भी उनकी जीवन-साधना उनकी यशःकाया बनकर कौंध उठी। प्रातः ६ बजे तक उनकी लाश लावारिस थी और १० बजे घटना का पता लगते ही सम्पूर्ण देश के आँसुओं एवं पुष्पांजलियों से पूजी जाने लगी। विधाता ने उन्हें एक मुट्ठी राख बनाना चाहा और वे चिता भस्म से उठकर जन-जन की स्मृतियों में सदैव-सदैव के लिए समा गये। विधाता की क्रूरता हाथ मलती हुई रह गई और श्री दीनदयाल जी ने अमरत्व का वरण कर लिया।

सचमुच वे जन्मतः नहीं कर्मतः महान् थे। अपने कर्मों के आधार पर ऊपर उठने का संदेश जन्म से लेकर मृत्यु तक उनके जीवन की प्रत्येक घटना में सतत् गुंजित हुआ। एक वाक्य में यदि पं० दीनदयाल उपाध्याय के जीवन का सार व्यक्त करना हो तो इससे अधिक सार्थक और कुछ नहीं कि, "व्यक्ति अपने कर्मों के द्वारा पूजित होता है।"

उन्होने संघर्षपूर्ण जीवन में सदैव कर्म की श्रेष्ठता को प्रस्थापित किया। कालीकट के अधिवेशन में उन्होंने सम्पूर्ण राष्ट्र को 'चरैवेति! चरैवेति!!' का जो संदेश दिया उसे उन्होंने स्वयं अपने जीवन में साकार कर लिया था।

❐ 'राष्ट्रजीवन की दिशा'से

रामशंकर अग्निहोत्री : लेखक, पत्रकार; पूर्व संपादक, राष्ट्रधर्म, पांचजन्य।
भानुप्रताप शुक्ल : लेखक, पत्रकार; पूर्व संपादक, राष्ट्रधर्म, पांचजन्य।

पिपीलिका (चींटी)

✍ **कमलेश वाजपेयी, अष्टम**

"उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।"

पिपीलिकां पश्यत। सर्वं दिनं सा परिश्रमं कुर्वती तिष्ठति। आलस्याभिभूता न भवति। ग्रीष्मर्तावन्नं सञ्चिनोति, यतः प्रावृषि शरदि च सुखेनास्ते। वर्षारम्भेऽसौ स्वाण्डानि नीत्वा क्वचिदुच्चस्थाने निवेशयति। युष्माभिः कदापि कीटं कर्षन्ती पिपीलिका दृष्ट्वा भवेत्। कतिधा सा मुहुः पततः कीटस्य आकर्षणाय यतते। अन्ततोगत्वा तस्या श्रमः सफलो भवति। यूयमपि तथैव सव्यपि विघ्ने स्वाध्यायं मास्म त्यजत, अन्ते अवश्यं सफल मनोरथा भविष्यथ।

गच्छन् पिपीलिको याति योजनानां शतान्यपि।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति।।

हमारे दीनदयाल जी

✍ **श्रीगुरुजी**

'पोलिटिकल डायरी' नाम से पं० दीनदयाल उपाध्याय के लेखों के संग्रह का प्रकाशन १७ मई, १९६८ को बम्बई में श्रीगुरुजी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ था। उस अवसर पर श्री गुरुजी द्वारा दिया गया भाषण यहाँ प्रस्तुत है।

पं० दीनदयाल जी ने 'पोलिटिकल डायरी' नाम से अंग्रेजी साप्ताहिक 'आर्गनाइजर' में जो लेख लिखे हैं, उसी नाम से पुस्तक के रूप में वे प्रकाशित हो रहे हैं। उस पुस्तक को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए मेरी जो योजना हुई है, वह बहुत योग्य है, ऐसा अपने मित्रवर श्री राम बत्रा जी ने बताया। उन्होंने पर्टिनेंट (प्रसंगोचित) शब्द का प्रयोग किया। उसी शब्द का प्रयोग कर मैं कहता हूँ कि मेरे लिए यह काम इंपर्टिनेंट (अनधिकार) होगा। कारण भी बताता हूँ।

अपने देश के एक अति श्रेष्ठ पुरुष के बारे में ऐसा कहा जाता है कि एक बार एक वृद्ध सज्जन उनसे मिलने गये। वे श्रेष्ठ पुरुष देश के मान्यता प्राप्त, बहुत प्रसिद्ध, जनसाधारण के नेता थे। भेंट होते ही उन्होंने उक्त वृद्ध सज्जन को अतीव नम्रतापर्वक प्रणाम किया। जब लोगों ने पूछा तो उन्होंने बताया कि ये वृद्ध सज्जन प्राथमिक शाला में उनके गुरु थे। उन्होंने ही पढ़ाया और आशीर्वाद दिया कि बुद्धिमान बनो। उन्हीं के आशीर्वाद से वे बड़े बने हैं।

वे अध्यापक जानते थे कि उनकी योग्यता केवल प्राथमिक शाला में पढ़ाने की थी और ये श्रेष्ठ पुरुष जितने विद्वान हुए, जितनी श्रेष्ठता उन्होंने प्राप्त की, उतनी विद्वत्ता, श्रेष्ठता प्रदान करने की क्षमता उनके अन्दर नहीं थी। मेरा भी पण्डित दीनदयाल उपाध्याय से जो कुछ सम्बन्ध आया, वह उस प्राथमिक शाला के शिक्षक के रूप में ही समझना चाहिए, उससे अधिक नहीं।

अब यह लेख-संग्रह! डा० सम्पूर्णानन्द जी जैसे ख्यातिमान विद्वान और देश की राजनीति के अग्रगण्य पुरुष ने प्रस्तावना लिखकर इस लेख संग्रह की महत्ता को बहुत बढ़ाया है। मुझे इसका संतोष भी है कि डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने एक बहुत ही अच्छी परम्परा का अनुसरण किया है। जनतंत्र का उदय इंग्लैण्ड में हुआ। वहाँ के जनतंत्र के एक बहुत बड़े समर्थक ने कहा है, "मेरे विचारों से विपरीत विचार करने का तुम्हें अधिकार है, यह मैं मानता हूँ और केवल इतना ही नहीं, तुम्हारे इस अधिकार का मैं समर्थन और रक्षण करूँगा।" "आई विल डिफेंड योर राईट"। यह जो भाव है, वह जनतंत्र की सफलता के लिए अनिवार्य है। मैं समझता हूँ कि डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने इसी शुद्ध भावना से प्रेरित होकर प्रस्तावना का यह उपक्रम किया है।

इस संग्रह में जितने लेख हैं, वे मैंने शायद ही पढ़े होंगे। मैं वृत्तपत्र पढ़ने में बहुत कच्चा हूँ। कभी-कभार दिखाई दे गया तो पढ़ लेता हूँ- जो भी हाथ लग जाये। एक बार एक वृत्तपत्र पढ़ रहा था। लोगों ने कहा - ये क्या पढ़ रहे हो! मैंने कहा, क्या हुआ? तो उन्होंने बताया कि यह तो तीन माह पुराना है! फिर, मेरा दुर्भाग्य यह है कि देश के हित की दृष्टि से जो आवश्यक हो, देश के लिए कोई अहितकर बात हो, सावधान करने वाली घटना हो, उसी पर पहले मेरी दृष्टि पड़ जाती है। लोग कहते हैं- तुम दोष देखते हो। बात सच भी है। अब इस संग्रह में जो छपा है, वह मैंने देखा। बिलकुल प्रारम्भ में डा० सम्पूर्णानन्द के प्राक्कथन में संस्कृत का जो उद्धरण है, उसे देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये। कारण यह कि वह ठीक नहीं छपा। ऐसा दिखाई देता है कि अंग्रेजी छापे-खाने का यह गुण ही है कि संस्कृत वचनों को वे अवश्यमेव गलत छापेंगे। ऐसा क्या विधिलिखित है?

मूलगामी विचारों के अभ्यासक

आज के इस कार्यक्रम का प्रबंध करने वाले एक महानुभाव ने इस लेख-संग्रह की कच्ची प्रतिलिपि मुझे दी थी। यह सोचकर कि बुद्धि में अन्धकार रखकर खड़े

होना योग्य नहीं, मैंने यहाँ से राजकोट जाते समय और वहां से विमान से लौटते समय पूरी पुस्तक पढ़ ली। पुस्तक में अनेक विषय तो तात्कालिक ही हैं, परन्तु हमारे दीनदयाल जी की एक विशेषता यह थी कि तात्कालिक विषय को भी एक स्थायी सैद्धान्तिक अधिष्ठान देकर वे लिखा करते थे, बोला करते थे। केवल तात्कालिक बात कहकर उसे छोड़ देना उनका स्वभाव नहीं था। कई वर्षों तक निकट सहकारी के नाते में उन्हें जानता हूँ। मुझे पता है कि वे मूलगामी विचारों के अभ्यासक थे। तात्कालिक समस्या पर बोलते या लिखते समय भी, उसके पीछे कोई न कोई चिरंतन सिद्धान्त है, इसका विचार कर उसके अधिष्ठान पर ही वे शब्द प्रयोग किया करते थे।

यह ठीक है कि राजनीतिक विरोधी दल के कार्यकर्ता-नेता के नाते शासनारूढ़ दल के अनेक कार्यों पर, उनकी नीतियों पर उन्होंने टीका-टिप्पणी की है। कभी-कभार कुछ व्यक्तियों के संबंध में भी कोई बात न आई हो, ऐसा भी नहीं। परन्तु उनके लेखों को हम सहृदयता से देखेंगे, तो दिखाई देगा कि टीका-टिप्पणी करते समय भी उनके समूचे हृदय में किसी दल और किसी व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार के अनादर की, दूरता की भावना नहीं थी। जो कुछ उन्होंने लिखा है, वह आत्मीयता से लिखा है। आत्मीयता इसलिए कि कोई भी दल हो, अपने ही यहाँ का क्यों न हो, यदि अनिष्ट मार्ग से चलता है, तो दल का जो भला बुरा होने वाला हो, वह तो होगा ही, परन्तु अन्ततोगत्वा देश का ही नुकसान होता है। विभिन्न दलों में - कांग्रेस कहें, सोशलिस्ट, प्रजा सोशलिस्ट कहें, जनसंघ, हिन्दू सभा या रामराज्य परिषद् कहें, सभी दलों में लोग अपने ही हैं। अपने लोग यदि कोई त्रुटि, कोई भूल करते हैं, अनिष्टकारी नीतियाँ अपनाते हैं, कोई कृत्य करते हैं जो देश के लिए लाभकारी न हो, तो उसके सम्बन्ध में बोलना, सचेत करना देश की भलाई के लिए आवश्यक ही रहता है।

शासन कोई भी चलाये

शासन कांग्रेस चलाती है या और कोई चलाता है, इससे मुझे कोई सुख-दुःख नहीं। शासन अच्छा चलता है, देश की रक्षा होती है, जनसाधारण सुरक्षा अनुभव करता है, सुख की वृद्धि होती है, आत्मविश्वास, राष्ट्रभक्ति आदि पवित्र गुणों का विकास होकर सर्वसाधारण मनुष्य चारित्र्यसम्पन्न, शीलसम्पन्न, आत्मसमर्पण की भावना से युक्त बनता है, इसमें मेरी रुचि है। मुझे इसमें कोई रुचि नहीं कि कुर्सी पर कौन बैठता है।

शिखर पर बैठने की सबकी इच्छा होती है, परन्तु मैंने कहा कि भाई शिखर पर बैठने की इच्छा क्यों? बड़े-बड़े मंदिरों के शिखर पर तो कौवे भी बैठते हैं। हमें तो, उस नींव का पत्थर बनने की आकांक्षा करनी चाहिए जो अपने कंधों पर मंदिर को भव्य स्वरूप देता है। वहाँ मुझे सन्तोष होता है। अपने स्वदेशी लोगों द्वारा चलाया हुआ राज्य जब तक रहेगा तब तक हम तो तुलसीदास जी के वचन में यह कहेंगे- 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी'। अर्थात् विदेशी नहीं चलेंगे। परकीय, आक्रमणकारी, राष्ट्रविरोधी नहीं चलेंगे स्वकीय कोई भी हो, अपना ही है। आनन्द से बैठे। हमें उसमें क्या चिन्ता है। परन्तु मन को खटकने वाली, राष्ट्र की दृष्टि से अपमानकारक कोई बात दीखती है, तो उसका उल्लेख करना मेरा धर्म है। इसमें राजनीति वगैरह का कोई झंझट नहीं, और जब कोई ऐसा कहता हो तो मानना चाहिए कि उसे राजनीति की समझ ही नहीं। बेकार ही राजनीतिक दल में काम करता है।

युधिष्ठिर की परम्परा के अनुगामी

पं० दीनदयाल जी एक विरोधी दल के प्रमुख व्यक्ति थे। उनका तो यह कर्तव्य ही था कि जो अनिष्ट दिखे, जो कुछ त्रुटिपूर्ण दिखाई दे, उसके विषय में अपने मत वे असंदिग्ध शब्दों में प्रकट करें। यह उन्होंने किया भी। परन्तु उनके सब लेखों को देखें, तो हमें दिखाई देगा कि उनके हृदय के अन्दर कोई कटुता नहीं थी। शब्दों में भी कटुता नहीं थी। बड़े प्रेम से बोला करते थे। मेरा तो बहुत सम्बन्ध रहा उनसे। कभी किसी पर जरा भी नाराज नहीं हुए। बहुत खराबी होने पर भी खराबी करने वाले के प्रति अपशब्द का प्रयोग नहीं किया। ये युधिष्ठिर के समान थे। दुर्योधन में दुराक्षर था इसलिए वे 'दुर्योधन' नहीं 'सुयोधन' कहा करते थे। दीनदयाल जी भी इसी परम्परा के थे। इसीलिए उनमें कटुता दिखाई नहीं देती थी। शब्दों में नहीं, हृदय के अन्दर नहीं और वाणी में भी नहीं।

प्रजातंत्र : कम दोषों वाली राज्य-पद्धति

अपना यह जो जनतांत्रिक ढांचा है, वह एक विशेष प्रकार का है। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के कारण उन्होंने जैसी प्रजातंत्र की पद्धति अपनाई, विकसित की, उसी को हमने ग्रहण किया, उसी का अनुसरण किया। स्वयं हमने तो यह पद्धति बनाई नहीं। लोग कहते हैं कि आजकल की यही सर्वश्रेष्ठ पद्धति है और राज्य चलाने की जो भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं, उनमें से यह पद्धति अन्तिम सत्य के रूप में प्रकट हुई है।

राज्य चलाने की और भी भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं। सामान्य व्यवहार के क्षेत्र में जहाँ कोई चीज कभी भी स्थायी नहीं रहती, नित्य बदलती रहती है, वहाँ यही एक पद्धति अन्तिम है, सत्य है - यह बात जँचती नहीं। इसके बारे में कोई यह कह नहीं सकता कि यही एक श्रेष्ठ है! फिर भी आज हम लोगों ने यह मान लिया है कि यह अच्छी है। अपने सामने चलने वाली अन्य विभिन्न पद्धतियों की तुलना में इसमें दोष कम हैं। कुछ दोष तो अवश्य ही हैं। परन्तु कम से कम हैं। दोष हों भी, तो उनको दुरुस्त करने की कुछ सम्भावना भी रहती है। इसीलिए यह अच्छी है। परन्तु अच्छी कब है? वह अच्छी तभी है, जब उसके जो पथ्य हैं, उन्होंने समझकर तदनुसार हम सब लोग मिलकर व्यवहार करने के लिए कटिबद्ध हों। यदि किसी ने कहा कि अन्य लोग पथ्यों का पालन करें, मैं नहीं करूँगा, कोई कहे कि वह इस पद्धति को भी नहीं मानता, देश को भी नहीं मानता, तब तो यह बड़े खतरे की बात है। इसी बात का विचार कर पं० दीनदयाल जी ने जनतंत्र के विषय में अपना मत प्रकट किया है कुछ गुण बताये हैं यह बताया कि मताधिकार का प्रयोग कैसे करना चाहिए। उसमें कुछ अंश तो अपने दल के प्रचार का है।इसमें कोई दोष भी नहीं, क्योंकि कोई भी आदमी अपने दल का प्रचार तो करेगा ही। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने स्थायी सिद्धान्त भी दिये हैं जो सदा के लिए, सभी दलों और सभी दलों के सभी व्यक्तियों के लिए हैं। सम्पूर्ण समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इन पर विचार करना चाहिए। सफल प्रजातंत्र के लिए यह आवश्यक है, लाभदायक है।

विचारों का खाद्य

आर्थिक समस्या, पंचवर्षीय योजना आदि की दृष्टि से भी इसमें अनेक प्रकार के विचार दिए गये हैं। मैंने पढ़ने का प्रयत्न किया। इसमें राजनीति है, अर्थनीति भी है। इनके विषय में मैं कुछ बोल नहीं सकता, परन्तु इतना कह सकता हूँ कि अत्यन्त मनन से, देश का ही भला हो, इस प्रकार हृदय से गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद जो मत बने, वे ही इन लेखों में उन्होंने अभिव्यक्त किये हैं। सब लोग यदि थोड़ा-सा पठन करेंगे तो विचार के लिए कुछ खाद्य मिलेगा, स्वतंत्र रूप से विचार की अनुकूलता प्राप्त होगी, देश के सम्पूर्ण जनतांत्रिक ढाँचे में अपनी ओर से भी कुछ योगदान करने की अपनी क्षमता बढ़ेगी।

असामान्य कर्तृत्व

उनके व्यक्तिशः सम्बन्ध में मैं कुछ बोलूंगा नहीं। अभी तक मैंने कुछ कहा नहीं। मुझे बहुत ही दुःख होता है। वे संघ के एक प्रचारक थे। मैं संघ का एक स्वयंसेवक हूँ। संघ यानी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ। उसका कुछ उत्तरदायित्व लोगों ने मुझ पर रखा है। इस कारण उनसे अपना एक प्रचारक के नाते सम्बन्ध था। अब तो मैं 'पण्डितजी' वगैरह कहता हूँ, क्योंकि सर्वसामान्य समाज में उन्होंने जो प्रतिष्ठा प्राप्त की, उस नाते मुझे वैसा ही कहना चाहिए। परन्तु वह एक बालक, एक विद्यार्थी इस नाते बढ़ा। केवल बढ़ा ही नहीं, तो बड़ा हुआ। इस प्रकार का हमारा सम्बन्ध

मेरे देखते-देखते वह चला गया। मैं उससे १०-१२ साल बड़ा हूँ। वह गया बिलकुल तारुण्य उम्र में। इसका दुःख है।

कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि वह संघ का प्रचारक ही रहता तो अच्छा था। हमारे स्व० डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी एक बार मेरे पास आये और उन्होंने कहा, 'मैं राजनीति का एक दल चलाना चाहता हूँ। मुझे कुछ कार्यकर्ता दो।' इस पर हमारे सब मित्रों ने कहा कि 'दीनदयाल अच्छा आदमी है। उनको एक अच्छा आदमी चाहिए। डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी से अपना निकट सम्बन्ध है, तो उनको एक सहयोगी देना कठिन नहीं है।' इसलिए उनसे कहा कि अच्छा, दीनदयाल आपको देते हैं। उन्हें वह प्राप्त हो गया। जनसंघ की वृद्धि से हम समझ सकते हैं कि उन्हें कितना बड़ा कार्यकर्ता प्राप्त हुआ। थोड़े ही समय में उसने जो प्रतिष्ठा कमाई, एक नाम कमाया, उससे हम समझ सकते हैं कि उनमें कितना कर्तृत्व था।

समय से पूर्व ही चला गया

मैं जानता था कि वह कर्तृत्ववान है। मैं जानता था कि वह गुणवान है, बुद्धिमान है। मुझे इस बात का भी प्रत्यक्ष अनुभव था कि संघ के प्रचारक के नाते वह संगठन के शास्त्र में कुशल है। मैं यह भी जानता था कि अपनी मधुर वाणी, स्निग्ध व्यवहार और सब प्रकार के मानसिक, बौद्धिक सन्तुलन से उस क्षेत्र में वह असामान्य स्थान प्राप्त करेगा। देश में तो उसे बहुत बड़ा स्थान प्राप्त हो चुका था। और भी बड़ा स्थान मिल सकता था, मिलने वाला था। मुझे दुःख यही होता है कि जगत में सामने आने पर, असामान्य स्थान प्राप्त करने के पहले ही वह चला गया। जगत में भी उसका नाम हमेशा के लिए स्थायी रह सके, ऐसा बनने के पहले ही वह चला गया।

जो ईश्वर को प्रिय होते हैं

अपने घर का लड़का बुद्धिमान हो, होशियार हो, खूब उत्तम रीति से परीक्षा उत्तीर्ण कर रहा है, इधर-उधर नाम कमा रहा हो, ऐसा लड़का चट से चला जाये तो माँ-बाप को कैसा दुःख होता है? आपमें से बहुत परिवार चलाने वाले लोग हैं। आप उसकी कल्पना कर सकते हैं। मैं परिवार नहीं चलाता, इसलिए मेरी जो दुःख की भावना है, वह शतगुणित है। इसीलिए उसके वैयक्तिक सम्बन्ध में कुछ नहीं कहूँगा। इतना ही कहूँगा कि ईश्वर ने ले लिया है। अंग्रेजी की एक पुरानी कहावत मैंने पढ़ी है, "दोज़ हूम गॉड लव्ज़, डाई यंग"। भगवान् को शायद उस पर अतीव प्रेम था, इसी कारण हम लोगों के प्रेम की अवहेलना करके, वह उसे उठाकर ले गया।

रोने के लिए समय कहाँ

परन्तु 'गतं न शोच्य', आगे की सोचो। मैं रोने नहीं बैठा, कभी बैठूंगा भी नहीं। परन्तु अन्य कार्यकर्ता उसके शरीर को देखते ही कटे पेड़ की तरह हो गये। गिरते हुए इन कार्यकर्ताओं को पकड़कर मैंने कहा-

"क्या कर रहे हो, भाई? आप तो एक कार्य के पीछे लगे हुए हो। रोने के लिए समय किसके पास है? अपने पास समय नहीं। शरीर जब कार्यक्षम नहीं रहेगा, कार्य की वृद्धि नहीं कर पायेंगे, तब बुढ़ापे में और मृत्युशय्या पर जितने भी दुःख हैं, उनके लिए रो लेंगे। अभी रोने के लिए समय नहीं है। यह तो काम का समय है।"

दीनदयाल कोई अन्तिम नहीं

इसलिए हमें सोचना चाहिए कि गया तो जाने दो। एक गया, तो क्या होता है? यह तो बहुरत्ना वसुन्धरा है हमारी परम्परा, हमारे समाज ने एक के बाद एक कितने ही असामान्य पुरुष पैदा किए हैं। दीनदयाल कोई अन्तिम नहीं है। वैसे पुनः उत्पन्न हो सकते हैं, ऐसा विश्वास दिलाने वाली एक विभूति इस नाते से वह अपने सामने है। इसी आश्वासन के साथ, हम अपने अन्तःकरण में यह आशा और विश्वास लेकर चलें कि अपनी लगन से, अपनी ध्येयनिष्ठा से, अपने प्रत्यनों से, अपने समाज में एक से बढ़कर एक कार्यकर्ता फिर से खड़े होंगे। विचार करने वाले खड़े होंगे। व्यक्तिगत परिवार-संसार की सब चिन्ताओं को छोड़कर केवल राष्ट्र का ही परिवार चलाने की दृढ़ता हृदय के अन्दर लेकर चलने वाले और जिन्हें त्यागमूर्ति नहीं अपितु त्याग का परिपूर्णरूप कहा जा सके, इस प्रकार के लोग खड़े होंगे, इसके लिए प्रयत्न करना अपना प्रथम कर्तव्य है। हृदय के अन्दर ऐसा दृढ़ विश्वास लेकर हम लोग चलें, तो ऐसा समझा जाएगा कि उनके स्मारक इत्यादि की दृष्टि से हम लोगों ने अच्छा कार्य किया।

❐ उत्तर प्रदेश संदेश,
पं० दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक,
सितम्बर १९९१

स्व० माधव सदाशिव गोलवलकर 'गुरु जी' : सरसंघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

वे एक समर्पित कार्यकर्ता थे

✍ भाऊराव देवरस

मैंने लखनऊ नगरी में एक जुलाई १९३७ को पदार्पण किया था। तिरपन वर्ष से अधिक समय हो गया है। इस कालखण्ड में सहयोगी के नाते जिनका सबसे बड़ा सहयोग है, वह पंडित दीनदयाल जी हैं।

मैं नहीं जानता कि महत् कार्य के लिए किस प्रकार से व्यक्ति जुड़ जाते हैं। उ०प्र० में हम दोनों का प्रवेश एक ही समय हुआ। मैं उसी वर्ष नागपुर से आया, पंडित दीनदयाल जी राजस्थान से आये। मैंने विद्यार्थी के नाते लखनऊ में प्रवेश किया और उन्होंने कानपुर में। मैंने कानपुर में आना-जाना प्रारम्भ किया, संघकार्य प्रारम्भ करने के उद्देश्य से, और पहले ही प्रयास में मेरा सम्बन्ध पंडित दीनदयाल जी से हो गया। यानी वे कानपुर शाखा के मानो पहले स्वयंसेवक थे। कानपुर की शाखा प्रसिद्ध विद्वान पं० सातवलेकर जी की उपस्थिति में प्रारम्भ हुई। संघ की जो प्रतिज्ञा हुई, उसमें पहले स्वयंसेवक दीनदयाल जी थे।

इस प्रकार उनका सम्बन्ध जुड़ गया। परन्तु मेरे कारण सम्बन्ध नहीं जुड़ा, यह तो निमित्त मात्र है। मुझे ऐसा लगता है कि दुनिया में कुछ व्यक्ति बड़ा कार्य करने के लिए ही जन्म लेते हैं। पं० दीनदयाल जी ने भी किसी बड़े कार्य के लिए ही जन्म लिया था, ऐसी मेरी धारणा है। कभी-कभी मैं उनकी तुलना संघ-संस्थापक डॉ० केशवराम बलिराम हेडवेवार से करता हूँ। डॉक्टर जी के माता-पिता का स्वर्गवास बाल्य-काल में हुआ, उसी प्रकार दीनदयाल जी के माता-पिता का देहान्त भी बाल्यकाल में ही हो गया था। समाज जिसे 'अनाथ' कहता है। वे ऐसे बालक रहे। परन्तु अनाथ बालक ने अपनी बुद्धिमत्ता से, अपनी योग्यता से जितनी अधिक से अधिक पढ़ाई उस समय हो सकती थी, की। केवल पढ़ाई नहीं की, एक बुद्धिमान व श्रेष्ठ विद्यार्थी का उनका जीवन रहा। वे सदैव प्रथम श्रेणी में प्रथम आते रहे और अपनी सारी पढ़ाई, शिक्षा-दीक्षा, उन्होंने 'स्कॉलरशिप' द्वारा पूर्ण की।

कानपुर से वे आगरा पढ़ने गये। मैं भी उनके पीछे-पीछे आगरा गया, क्योंकि मेरा विद्यार्थी जीवन समाप्त हो गया था। आगरा का विद्यार्थी जीवन समाप्त कर जब वे प्रयाग आये, तो मैं भी उनसे मिलने प्रयाग जाता रहा। १९३७ में जो सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ, वह बराबर चलता ही रहा। मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि संघकार्य के लिए सम्पूर्ण समय देकर प्रचारक के नाते काम करना चाहिए, उनसे ऐसा कभी कहने का मुझे स्मरण नहीं आता। परन्तु एक दिन विद्यार्थी जीवन समाप्त होने के बाद वह मेरे पास पहुँचे और कहा कि मैं संघकार्य के निमित्त जाने के लिए प्रस्तुत हूँ। आप जहाँ कहेंगे, वहाँ जाने को मैं तैयार हूँ। इस प्रकार उत्तर प्रदेश से पहला प्रचारक जीवन प्रारम्भ करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। विद्यार्थी जीवन समाप्त करने के बाद किसी न किसी प्रकार से सामाजिक ध्येय में अपना जीवन लगाना चाहिए, इस प्रकार की कुछ न कुछ भावना उनके मन में थी। इसी भावना के कारण संघ के माध्यम से समाज-सेवा करने का अवसर उनको प्राप्त हुआ। मैं तो एक निमित्त मात्र बना।

आगे चलकर जो देश के नेता के रूप में विख्यात हुए, ऐसे श्री अटल बिहारी वाजपेयी- जैसे व्यक्ति भी हमारे कार्य के साथ जुट गये। उन्होंने कानपुर में अपना विद्याध्ययन समाप्त किया और वे भी एक दिन इसी तरह मेरे सम्मुख खड़े होकर बोले, "मेरे लिए जो योजना हो, उसके लिए मैं तैयार हूँ।" मैं उनको बाल्यकाल से जानता था। वे ग्वालियर के रहने वाले थे। जब वे शायद नौवीं कक्षा के विद्यार्थी थे, तभी उनका कवित्व प्रभावित करने वाला था। अतः ग्वालियर व कानपुर से सारी पढ़ाई पूरी करने के बाद, जब वे यहाँ (लखनऊ) आये, तो पंडित दीनदयाल जी व हम सबने मिलकर विचार किया कि अटल जी का अधिक से अधिक उपयोग किस प्रकार हो सकता है। सचमुच अटल बिहारी जी जैसे व्यक्ति का उपयोग करने तथा अपना कुछ प्रकाशन विभाग स्थापित करने और साहित्य-निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव करने के कारण ही राष्ट्रधर्म प्रकाशन प्रारम्भ करने का विचार हुआ था।

हमने 'राष्ट्रधर्म प्रकाशन' व्यवसाय के रूप में प्रारम्भ नहीं किया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा जितने भी कार्य चलते हैं, उनमेंसे एक भी कार्य हमने व्यवसाय के नाते नहीं चलाया है। समाज चेतना के अंग के नाते, जनजागृति की दृष्टि से जो-जो काम हमने देश में खड़े

किए, 'राष्ट्रधर्म प्रकाशन' उसी प्रकार की एक परम्परा है। पं० दीनदयाल उपाध्याय, अटल जी व नाना जी सरीखे व्यक्तियों ने यह सारा कार्य खड़ा किया है।

इस 'राष्ट्रधर्म प्रकाशन' के ऊपर अनेक प्रकार की विपत्तियाँ आयीं, इतनी कि सचमुच इन आपत्तियों से बीच-बीच में लगा कि सारा काम छोड़ दिया जाए।उनमें सबसे बड़ी आपत्ति थी गाँधी जी की हत्या का संघ के ऊपर आरोप। संघ के अनेक कार्यकर्ता जेल में बन्द हुए। हमारे सब कार्य बंद हो गये, प्रेस में भी ताला पड़ गया।

उस काल में सब कुछ चलाने के लिए, अनेक प्रकार के कामों के लिए आर्थिक व्यवस्था करना बड़ा कठिन काम था। गाँधी जी की हत्या का आरोप होने के कारण कोई परिवार हमको स्थान देने के लिए तैयार नहीं था। ऐसे काल-खण्ड में, मैं तो जेल में था। पंडित दीनदयाल जी ही जेल से बाहर रहकर सारा काम करते रहे।

राजनीति क्यों?

परन्तु राष्ट्रधर्म प्रकाशन जैसे कार्य कैसे प्रारम्भ हुए? देश स्वतंत्र होने के बाद संघ कार्य का पुनर्विचार अर्थात् अपने को और क्या-क्या काम करने की आवश्यकता है, इस प्रकार का भी विचार संघ-कार्यकर्ता करते रहे। उसमें ऐसा भी विचार प्रारम्भ हुआ कि राजनीति राष्ट्र-जीवन का महत्वपूर्ण काम है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह विचार प्रारम्भ होने के कारण डॉ० श्यामा प्रसाद मुखर्जी जैसा व्यक्तित्व आगे आया। उन्होंने परम पूज्य गुरुजी से मिलकर कहा कि मैं इस प्रकार का काम खड़ा कर सकता हूँ, परन्तु मुझको जब तक सहयोग नहीं मिलेगा, यह संभव नहीं है। तब डॉ० मुखर्जी के सहयोगी के नाते ऐसे व्यक्ति का चयन किया गया, जो राजनीति में रहकर भी, राजनीति से अलिप्त होकर काम कर सकता हो, जिसे सत्ता का मोह न हो और जो किसी भी प्रकार पद-प्राप्ति व स्वार्थ की ओर न जाए। वह व्यक्ति थे पं० दीनदयाल उपाध्याय।

उन्हें भारतीय जनसंघ का अखिल भारतीय महामंत्री बनाया गया। नेता होने के बाद भी वे, नेता नहीं है, इस भावना से कार्य करते थे। संघ शिविरों में आने पर वे सामान्य कार्यकर्ता जैसा ही व्यवहार करते थे। कोई भेदभाव उनके अंदर नहीं रहता था। उन्हीं लोगों में रहना, उन्हीं के साथ भोजन करना और उन्हीं से गपशप मारना उनका स्वभाव था। उनके यश का श्रेय उनकी इस प्रकार की जीवन-रचना को था। आज राजनैतिक दलों में काम करने वाले जो नेता हैं, पंडित दीनदयाल जी का स्मरण करने वाले जो नेतागण हैं, उनसे मेरा निवेदन है कि उनको पंडित जी के जीवन को समझने की आवश्यकता है।

वे जैसा बोलते थे, उसके अनुसार ही आचरण करते थे। ऐसे व्यक्ति को ही सचमुच में संत कहते हैं। पंडित दीनदयाल जी गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले संत भले ही न हों, परन्तु जो बोलते थे, जो समाज के सामने रखते थे, उसी के अनुसार वे आचरण करते थे। अपने यहाँ संत राजनीति नहीं करते थे, ऐसी कोई बात नहीं थी। सारे महाराष्ट्र की जो परम्परा है, उसमें रामदास संत भी थे और रामदास राजनीतिज्ञ भी थे। महाराष्ट्र में जगह-जगह, छोटे-छोटे स्थानों पर हनुमान जी की मूर्ति स्थापित करते हुए उन्होंने अखाड़े प्रारम्भ किए, जहाँ लोग व्यायाम करते थे और संगठित होने का काम करते थे। अर्थात् उन्होंने सम्पूर्ण महाराष्ट्र के अन्दर जनजागृति का काम किया। किन्तु प्रसंग पड़ने पर शिवाजी को और शिवाजी के उपरान्त उनके पुत्र संभाजी को उपदेश करने का काम भी किया है। इसलिए संत यानी हिमालय पर जाने वाला और समाज जीवन से अपना सम्पूर्ण उच्छेद कर केवल मोक्ष को प्राप्त करने वाला, इस प्रकार की जो धारणा है, उसे बदलने की आवश्यकता है।

विवेकानन्द की परम्परा में

इस देश में आधुनिक काल में स्वामी विवेकानन्द व महर्षि अरविन्द ने साधु-संतों की उसी परम्परा में होने के बावजूद जन-जागृति की दृष्टि से काम किया है। उसी परम्परा में लोकमान्य तिलक व संघ के संस्थापक डॉ० हेडगेवार जी भी थे। पं० दीनदयाल जी भी उसी परम्परा के व्यक्ति हैं। उनको केवल राजनीतिक व्यक्ति के रूप में समझना बड़ी भूल होगी। उन्होंने राजनीति में काम किया और जनजागृति का भी काम किया और जनजागृति का काम करते हुए स्वयं कोई पद नहीं चाहा। परन्तु काम करते-करते जो कुछ पद प्राप्त हुआ, उसे उन्होंने लिया और १९६७ में सबके आग्रह के कारण उन्होंने कालीकट अधिवेशन में अध्यक्ष होना स्वीकार किया।

केरल में कम्युनिस्टों की सरकार थी। सभी को यह लगता था कि कालीकट में जनसंघ का अधिवेशन कैसे होगा? क्या मार-पीट आदि का प्रसंग आयेगा? परन्तु कार्यकर्ता वहाँ पहुँचे, उसके कारण अधिवेशन बहुत

सफल और यशस्वी हुआ। अधिवेशन समाप्त होने के बाद वे बड़ी प्रसन्नता के साथ, कुछ इधर-उधर अपने परिचितों से मिल-मिलाकर लखनऊ आये। मैं भी लखनऊ में था। उस समय उत्तर प्रदेश में कुछ लड़खड़ाती हुई संविद (संयुक्त विधायक दल) सरकार चल रही थी। उसमें हमारे कुछ कार्यकर्ता मंत्री के रूप में कार्य कर रहे थे। जब हमारे मंत्री केरल (अधिवेशन) की ओर प्रस्थान कर गये थे, तो मुख्यमंत्री चौधरी चरण सिंह ने सबके पोर्टफोलियो बिना किसी से पूछे बदल दिए थे। पं० दीनदयाल जी इस बात की चर्चा कर रहे थे कि इस स्थिति में जो लोग जनसंघ के मंत्री के रूप में कार्य कर रहे हैं, उनको मंत्री-पद त्यागकर बाहर निकल आना चाहिए। सत्ता का लोभ उनको नहीं रहना चाहिए। परन्तु उन्होंने अपना कोई अंतिम निर्णय नहीं दिया और वे दूसरे दिन पटना में आयोजित कार्यकर्ताओं की बैठक के निमित्त प्रस्थान कर गये।

वह काली रात!

उस समय प्रान्त के अन्दर परम पूज्य गुरुजी का प्रवास चल रहा था, इसलिए मैं भी उनके पीछे-पीछे दूसरी ट्रेन से उसी ओर गया। किसी को कोई कल्पना नहीं थी।.. ११ फरवरी,१९६८ उनकी हत्या का अशुभ दिन सिद्ध हुआ। ११ फरवरी की रात को जौनपुर स्टेशन तक वे जीवित थे यह समाचार हमें मिला था। कारण यह था कि उस समय राजा साहब जौनपुर (श्री यादवेन्द्र दत्त दुबे) ने, जो उस समय भारतीय जनसंघ के कार्यकर्ता थे, दीनदयाल जी को एक पत्र उस गाड़ी में भिजवाया। उन्होंने रात को सोते हुए पं० दीनदयाल जी को जगाकर वह पत्र उनको दिया है, यह समाचार मुझे मिला।

इसलिए हत्या का षड्यंत्र जौनपुर और मुगलसराय स्टेशन के बीच हुआ है, यह निर्विवाद है। परन्तु हत्या किसने की? वह हत्या साधारण थी या राजनीतिक, इसके बारे में कुछ भी निर्णय नहीं हो पाया। ऐसी हत्याओं के बारे में शंका होना स्वाभाविक है। विश्व के अन्दर राजनीतिक कारण से इस प्रकार की हत्या होने वाली बहुत सी घटनायें हैं। मैं ऐसा मानने वाला हूँ कि पं० दीनदयाल जी की हत्या भी ऐसे ही कुछ कारणों से हुई है। वे इतने अच्छे स्वभाव के थे कि उनको अजातशत्रु कह सकते हैं, उनसे किसी का झगड़ा या शत्रुता हो ही नहीं सकती। ऐसे अजातशत्रु की हत्या तो कुछ राजनीतिक कारणों से ही हो सकती है।

११ फरवरी की रात में जब यह घटना हुई, मैं जौनपुर में था। जौनपुर में रहने के कारण लखनऊ से सबसे पहले मुझे सूचना मिली। सब कार्यक्रम छोड़कर मैं मुगलसराय गया। यदि रेलवे स्टेशन में रहने वाला मुगलसराय नगर का एक कार्यकर्ता और उसी के बाद मैं वहाँ न पहुँचता, तो किसी लावारिस व्यक्ति की हत्या हुई है, ऐसा समझकर पुलिस उस शव को कहाँ ले जाती, क्या करती, कुछ कहा नहीं जा सकता। परन्तु मैं पहुँचा और वह कार्यकर्ता मुझे स्थान पर ले गया। वे बड़े शान्त प्रकार से पड़े थे। बाद में तो धीरे-धीरे लोगों का ताँता शुरू हो गया।

जैसे मैंने उनको सामाजिक जीवन में लाने का काम किया, वैसे ही उनको अंतिम विदाई देने का काम भी मैंने ही किया। अल्पायु में उनकी मृत्यु हुई। मेरी आयु और उनकी आयु लगभग समान थी। यदि वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का ही कार्य करते रहते, तो आज देश के अन्दर संघ के सबसे बड़े कार्यकर्ता होते, क्योंकि मैं जब प्रान्त में आया और नागपुर से आने के कारण प्रान्त प्रचारक बना, तब उनकी योग्यता मुझसे बहुत अधिक थी।

उनकी विशेषता थी कि वे पद के पीछे नहीं दौड़ते थे, अपितु यह प्रयत्न करते थे कि देश में उनके समान कार्यकर्ता कैसे खड़े हों।

दीनदयाल जी के विचारों से जो प्रेरणा लेने वाले हैं, जिन्होंने उनका जीवन देखा है, उनको देश की वर्तमान राजनीति में बदलाव करने के लिए, उनके जैसा सरल व ध्येयनिष्ठ जीवन अपनाना होगा, जिसमें नेतापन की कोई भावना नहीं, अपने लिए किसी पद-मान-सम्मान की चाह नहीं। इसी संकल्प की आवश्यकता है।

☐ उत्तर प्रदेश संदेश,
पं० दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक,
सितम्बर १९९१

स्व० भाऊराव देवरस : पूर्व सह सरकार्यवाह, सदस्य, अखिल भारतीय कार्यकारी मंडल, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ; संरक्षक, विद्या भारती।

स्थितिप्रज्ञ दीनदयाल जी

✍ बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह

दीनदयाल जी ने कभी ये इच्छा नहीं की कि वो बड़े ग्रन्थ लिखें, ग्रन्थ लिखकर ख्याति प्राप्त करें। लेकिन उनके जो लेख निकलते रहे हैं, जगह-जगह भाषण हुए हैं, उनसे उनके विचारों का, उनके व्यवहार का, उनकी रीति का, नीति का जो संकलन दीनदयाल शोध संस्थान के माध्यम से हुआ है, वह समाज के लिए अत्यन्त प्रेरणाप्रद और मार्गदर्शक होगा।

दीनदयाल जी का चित्र जब कभी भी मेरे सामने आता है तो मुझे वे दिन याद आते हैं जब उनका और मेरा सहयोग महीना-महीना भर होता था। संघ के वर्ग होते थे, उनमें वो और हम साथ मिलकर उत्तरदायित्व का निर्वाह करते थे। मुझे वर्ग का सर्वाधिकारी बना दिया जाता था और वो रहते थे वर्ग के कार्यवाह। काम सारा वो करते थे किन्तु आदर और नाम मेरा होता था।

सबेरे ५ बजे से लेकर रात ११ बजे तक वो सारी व्यवस्थायें बड़ी गहराई से, सूक्ष्मता से देखते थे और हर तरफ उनका ध्यान रहता था। एक-एक अस्वस्थ स्वयंसेवक के पास जाकर वो देखते थे कि उसका उपचार ठीक से हो रहा है कि नहीं। बौद्धिक शिक्षण ठीक प्रकार चल रहा है कि नहीं। चर्चाओं के जो बिन्दु लिये जा रहे हैं वो ठीक है कि नहीं। एक बार हम लोग सोये हुए थे। रात को करीब डेढ़ बजे मेरी आँख खुली। बिजली शायद चली गयी थी, पंखा तो था ही नहीं। मैंने देखा कि दीनदयाल जी लालटेन की रोशनी में कुछ लिख रहे हैं। मैंने दीनदयाल जी से कहा कि आप रात में डेढ़ बजे क्या लिख रहे हैं। कहने लगे कि पत्र (शायद स्वदेश) के लिए अग्रलेख मुझे सुबह पहुँचवाना है ताकि कल या परसों छप सके, जल्दी से जल्दी, तो उसको लिख रहा हूँ। दिन भर उनको समय नहीं मिला था जरा भी क्योंकि वर्ग के कार्य में लगे रहते थे। इसलिए आधी रात को लालटेन की रोशनी में वो अग्रलेख लिख रहे थे।

जैसा अभी डा. देवेन्द्र स्वरूप ने बताया, उनका इतना सरल स्वभाव था जिसको हमारे यहाँ कहा जाता है कि स्थितिप्रज्ञ। वे ऐसे व्यक्ति थे जिनको कहते हैं कि 'विद्याय कामाय न सर्वाणि निस्वयेः, निर्मोह निरहंकार सः शान्ति गच्छति'। जिनको किसी प्रकार की व्यक्तिगत इच्छा नहीं, आकांक्षा नहीं, मान-अपमान की कोई चिंता नहीं और अपना जो कुछ भी कार्य है, सो करते रहना। हमारे ऋषि-मुनियों की परम्परा ही यही रही है।

हमारे समाज में आदर उसी का हुआ, जिसने सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं की। अपनें चिंतन में, राष्ट्र के प्रति समर्पण में संतोष व आनन्द प्राप्त करना, इस प्रकार का, ऋषि-मुनियों वाला जीवन दीनदयाल जी का था। भारतीय संस्कृति, भारतीय राष्ट्र के बारे में जो विचार उन्होंने दिए आज वो अत्यन्त महत्व के हैं। उन्हीं के आधार पर भारत खड़ा हो सकता है, एक राष्ट्र के रूप में शक्ति सम्पन्न हो सकता है। भारतीय आदर्शों के अनुरूप जीवन बना कर ही राष्ट्र को सही दिशा दी जा सकती है। इस दृष्टि से दीनदयाल जी का जो भी चिंतन है वो मनन करने योग्य है, अनुकरणीय है, व्यवहार में लाने योग्य है समाज को उसके अनुरूप बनाने की आवश्यकता है।

☐ नीराजन, १९९३-९४

स्व. बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह : शिक्षाविद; प्रान्त संघचालक, राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ; संस्थापक, पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतीक

✍ मोरारजी देसाई

पंडित दीनदयाल भारतीय संस्कृति के केवल समर्थक ही नहीं बल्कि इसके सच्चे प्रतीक थे। वह आदर्श लोकसेवक थे। उनकी निर्भयता का मूल उनकी सेवा की भावना में था। पद या वैभव के प्रति उनकी आसक्ति नहीं थी। अगर उनकी दिलचस्पी सत्ता या धन में होती तो वे इन दोनों को प्राप्त कर सकते थे। लेकिन उन्होंने सादा जीवन बिताया और 'एकात्म मानववाद' का अत्युत्कृष्ट दर्शन प्रतिपादित किया। उनका जीवन निःस्वार्थ सेवा, बलिदान और परिश्रम की भावना का उदाहरण था। इन्हीं कारणों से दीनदयाल जी भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतीक थे। एकात्म मानववाद का लक्ष्य व्यक्ति-व्यक्ति के बीच एकात्म सम्बन्ध के आधार पर सामाजिक विकास है, केवल सामाजिक बराबरी नहीं। यह इस बात पर जोर देता है कि सभी व्यक्तियों के बीच एक अंदरूनी बराबरी है, और यही अंदरूनी बराबरी सामाजिक प्रगति का आधार बन सकती है। यही गरीबों और समाज के दबाये गये तबकों के बारे में उनकी चिन्ता का आधार था, जिनके कल्याण के लिए वे जीवन भर प्रयास करते रहे। उनकी आकांक्षा एकात्मक समाज की थी। ग्राम-विकास ही भारत के विकास का पैमाना है। गाँधी जी ने भी सत्ता की आकांक्षा न करके अपना जीवन ग्रामीण पुनर्निर्माण और समाज के निचले स्तर के जीवन को सुधारने के लिए समर्पित किया था। वे स्वराज प्राप्ति के लिए जिए। दीनदयाल जी ने भी उसी निःस्वार्थ तरीके से स्वराज को सु-राज में बदलने और एकात्म मानववाद के दर्शन को प्रचारित करने के लिए काम किया। निःस्वार्थ समाज सेवा में उन्हें आनन्द मिलता था। महात्मा गाँधी और दीनदयाल जी के जीवन मूल्यों में यही बुनियादी समानता है। हमें भिन्नतायें नहीं खोजना चाहिए। स्वराज की प्राप्ति और स्वराज को सु-राज में बदलने के लिए जरूरी दृष्टिकोंण एक और समान हैं। आज भी हमारा देश ऐसे निःस्वार्थ सेवा करने वालों के कारण ही जिन्दा है। गांधी जी के अन्त्योदय की कल्पना और एकात्म मानववाद के तत्व समान हैं। हमारे गाँव हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के प्रतीक हैं। अगर वे कमजोर रहेंगे तो देश मजबूत नहीं हो सकता। हर गाँव आत्म-निर्भर बने, हर घर में छोटे कुटीर उद्योग हों, सब लोग इस प्रयास में हाथ बँटायें। हमारे देश में मुख्यतः ग्रामीण संस्कृति है। आज गाँव गरीब तथा पर-निर्भर हैं। शहरी संस्कृति में दी जाने वाली शिक्षा अनुत्पादक है। ऐसा लगता है कि हम ग्रमोत्थान की जरूरत भूल गये हैं। हर जगह शहरी संस्कृति की बात होती है। ये हमारे आर्थिक नियोजन के प्रमुख दोष हैं। जब तक हम उन्हें समाप्त नहीं करते और ग्राम अभिमुखी योजना नहीं बनाते तब तक ग्रामोत्थान सम्भव नहीं होगा। इसके लिए हमें दीनदयाल जी द्वारा दिखाये रास्तों पर चलना होगा। अगर हर सामाजिक कार्यकर्ता एक गाँव चुन ले और उसके विकास के लिए अपने को समर्पित करे तो हम बहुत विकास कर सकते हैं। हर मामले में सरकार की मदद पर निर्भर रहने वाला समाज आत्म-निर्भर नहीं बन सकता। सेवा की भावना व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाती है। आत्मनिर्भरता ही समाज को मजबूत बनाती हैं। इसलिए यही एकमेव रास्ता है।

☐ पांचजन्य, अप्रैल १९९१

स्व० मोरारजी देसाई : पूर्व वित्त मंत्री, पूर्व प्रधानमंत्री।

सादगी की प्रतिमूर्ति

✍ प्रो० राजेंद्र सिंह 'रज्जू भैया'

दीनदयाल जी अत्यनत मेधावी विद्यार्थी थे। उन्होंने राजस्थान में मैट्रिक तथा इण्टर में सर्वोच्च स्थान पाया, यह सभी जानते हैं। इतने मेधावी होते हुए भी उन्होंने उसका कभी व्यक्तिगत सुख-सुविधा प्राप्त करने में उपयोग नहीं किया। वे कैरियरिस्ट नहीं थे। उन्हें जो भी विषय ध्यान में आता गया, उसे वे पढ़ते गये। उन्होंने दो विषयों में एम०ए० प्रीवियस किया पर फाइनल किसी में भी नहीं किया, क्योंकि नौकरी करना उनका उद्देश्य नहीं था। प्रयाग में एल०टी० कर उन्होंने अपने आपको देश कार्य के लिए समर्पित कर दिया। जब वे गोला में संघ कार्य के लिए गये तब विद्यार्थियों से सम्पर्क बढ़ाने के लिए उन्होंने वहाँ के विद्यालय में जाना शुरू किया। प्रधानाचार्य से उन्होंने कहा कि जिस भी विषय का अध्यापक अनुपस्थित हो, वह उनको पढ़ाने के लिए दे दिया जाय। गणित से लेकर संस्कृत तक पढ़ाने की उनमें ऐसी क्षमता थी कि विद्यार्थी उनसे बड़े निकट से जुड़ गये। विद्यालय की कार्यसमिति ने उनसे प्रधानाचार्य बनने का प्रस्ताव रखा, तो उपाध्याय जी ने उनसे कहा कि मुझे तो २० रुपये की मासिक की आवश्यकता है तो २०० रुपये लेकर क्या करूँगा। मैं तो मुख्यतया संघ कार्य करने के लिए आया हूँ। उनके कारण लगभग पूरा स्कूल ही संघ शाखा पर आने लगा। उन्होंने गोला में विद्यार्थियों के साथ अनेक प्रमुख व्यापारी, वकील और अध्यापकों को संघ से जोड़ा।

दीनदयाल जी अपने वेश के विषय में बिल्कुल चिंता नहीं करते थे। उनके खद्दर के कुर्ते बिना इस्त्री के, सलवटों से भरे हुए रहते थे। धोती धोने का कभी अवकाश मिला न मिला तो उस मैली धोती में ही काम चलाते थे। मुझे स्मरण है कि साकेत में, जो कि मेरे क्षेत्र में था, वे प्राथमिक शिक्षा वर्ग के समारोह के लिए आये तो उनके पास एक भी धुली हुई धोती नहीं थी। मेरे द्वारा आपत्ति करने पर उन्होंने कहा कि लोग मेरी धोती देखेंगे कि मेरा भाषण सुनेंगे। उनका भाषण स्वयं इतना प्रेरणादायक था कि शायद ही किसी का ध्यान उनके वस्त्रों पर गया हो। इस प्रकार अपनी निजी सुख-सुविधा से वे निर्लिप्त थे।

विश्व में उस समय दो प्रणालियाँ बड़े जोरों पर थीं- एक जनतंत्र, जिसमें व्यक्ति - स्वातंत्र्य, फलस्वरूप अत्यधिक संग्रह करने की छूट और दूसरी समाजवाद जिसमें सरकार के नियंत्रण से सारे समाज की रचना और व्यक्ति - स्वातंत्र्य का पूर्ण अभाव। कांग्रेस ने लोकतांत्रिक समाजवाद की घोषणा की, जो अपने में ही एक दूसरे के विरोधी शब्द हैं। इसीलिए आज कांग्रेस को विश्व में साम्यवाद के बिखराव के बाद धीरे-धीरे लोकतंत्र के सहारे पूंजीवाद की ओर बढ़ना पड़ रहा है। दीनदयाल जी ने पूंजीवाद का उत्तर समाजवाद को नहीं माना बल्कि अपने देश की प्राचीन पद्धतियों का चिंतन कर एकात्म मानववाद के सिद्धान्त पर जनसंघ को आगे बढ़ाया। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों का ही अपना-अपना स्थान है और दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं। यह रचना अखिल मण्डलाकार रचना है। जहाँ व्यक्ति, परिवार, गाँव, प्रान्त, देश और विश्व ही नहीं समस्त सृष्टि के साथ एकात्मकता है। यह वास्तव में भारतीय चिंतन का सार है; "सर्वे भवन्तु सुखिनः", "वसुधैव कुटुम्बकम्" का व्यावहारिक रूप है।

दीनदयाल जी के इस विचार को हमें आगे बढ़ाना है, जिससे जहाँ व्यक्ति की गरिमा भी नष्ट न हो तथा गरीबी की पंक्ति में खड़े हुए सबसे पीछे के व्यक्ति की भी चिंता हो। दीनदयाल जी का यही योगदान राष्ट्र जीवन को सबसे बड़ा योगदान है। वह ५१ वर्ष की छोटी अवस्था में ही हमारे बीच से उठ गये, अब उनके विचारों को आगे बढ़ाना ही हम सभी का काम है।

☐ मध्य प्रदेश संदेश, सितम्बर १९९२

घट टूटा, अमृत फूटा

✍ हो० वे० शेषाद्रि

नेतृत्व के अगणित गुणों के धनी! जिनके इशारे पर हजारों सहयोगी अपने प्राण तक न्योछावर करके को तैयार हो जाते थे- ऐसा दैदीप्यमान व प्रेरणादायक व्यक्तित्व! जिसने एक बार भी उन्हें देखा या उनकी वाणी सुनी, बस उनका हो गया। उनमें अत्यादरपूर्वक स्मरण करने योग्य असामान्य बुद्धिमत्ता तथा सागर-सदृश हृदय की विशालता थी। विचार-मंडन करने बैठते, तो साक्षात उपनिषद-ऋषियों जैसे विभूतिमत्व!

सुगंध बिखेरने वाले पुरुष

इतने सारे गुणों के भंडार होने पर उनके चारों ओर "बड़प्पन का तेजोवलय" जरूर चमक रहा होगा न? उस महानता का आभास भी लोगों को होता होगा न? नहीं, बिल्कुल नहीं। ऐसी सारी धारणाओं के बिल्कुल विपरीत था उनका अत्यन्त सादगीपूर्ण तथा सरल व्यक्तित्व। अपने "बड़प्पन" को बनाये रखने की कौन कहे, उसका आभास तक दूसरों को न होने पाया था। अपनी महानता का बोध उनको था ही नहीं। वे सूर्य-जैसे थे, जिसका स्वभाव ही प्रकाश देना है। वे फूल जैसे थे, जिसका स्वभाव ही सुगंध बिखेरना है।

वे उदयोन्मुख अखिल भारतीय राजनैतिक दल के प्राण स्वरूप थे। अपने जन्म के समय जो दल नगण्य माना जाता था, उसको देश के दूसरे सबसे बड़े दल के रूप में उन्होंने ही विकसित कर दिखाया था। भविष्य में अपने दल को सबसे अग्रिम पंक्ति में लाकर खड़ा करने की क्षमता उनके अन्दर थी। इसके लिए आवश्यक राजनैतिक पटुता में भी वे अद्वितीय थे।

कीचड़ में कमल

राजनीति में उनकी इतनी सफलता देखकर वे राजनैतिक प्रवृत्ति के होंगे, ऐसा हमें लगता होगा न? नहीं ! उन्होंने हमारा वह अनुमान सर्वथा गलत साबित कर दिया। उनका व्यक्तित्व राजनैतिक पार्टी के दायरे में सीमित होने वाला बिल्कुल नहीं था। जब परमपूज्य श्री गुरुजी ने उनको संघ के दायित्व से मुक्त करके राजनीतिक क्षेत्र में काम करने का आदेश दिया था, तो वे विह्वल होकर बोल उठे थे- "मुझे क्यों उस कीचड़ में डालना चाहते हैं? मुझे तो संघ की हाफ पैंट पहनकर स्वयंसेवकों के साथ चलने-फिरने में ही जीवन का परम आनन्द है।" श्री गुरुजी ने भी उत्तर दिया था- "बस इसी कारण से तुमको उस क्षेत्र में भेजा जा रहा है। जो कीचड़ में रहकर भी कमल-पत्र जैसा अलिप्त रहता है, वही उस क्षेत्र में काम करने योग्य है।"

जब कोझिकोड (कालीकट) में अध्यक्षीय शोभा यात्रा में उनके ऊपर फूलों और जय-जयकारों की वर्षा हो रही थी, तब वे सड़क के दोनों ओर की दुकानों के फलकों (बोर्ड) के मलयालम अक्षरों के अध्ययन में तल्लीन थे। ऐसे निर्लिप्त थे वे! उनकी परम सात्विक प्रवृत्ति के सामने राजनीतिक पद और सम्मान की लालसा पूर्ण रूप से हार चुकी थी। उनका निर्मल राष्ट्र-समर्पित चारित्र्य-कमल, राजनैतिक स्पर्धा और ईर्ष्या के दलदल में कभी मैला नहीं हुआ- किसी चाणक्य के समान, विद्यारण्य के समान!

वे उच्चकोटि के दार्शनिक थे। किसी प्रकार का वैयक्तिक माया-मोह उनको छू तक नहीं सका। वे ऐश-आराम व घरबार आदि सभी बातों से बहुत दूर रहे- निस्संग तथा अनिकेत! अपने शरीर-निर्वाह के लिए जितना आवश्यक था, मात्र उतने से सदा संतुष्ट। आत्म श्राद्ध सम्पन्न कर संन्यास को स्वीकार किए हुए एक पूर्ण विरक्त जैसा जीवन! अपने सारे आचारों-विचारों में शुचिता और पवित्रता के जाज्वल्यमान व मूर्तिमंत स्वरूप।

तब क्या वे जंगल जाकर बैठे हुए तपस्वी थे? नहीं! उनका भी एक वृहत् परिवार था। उनके मन में उसकी अपार चिन्ता थी। अपने सर्वाधिक प्रिय समाज को सुख-सम्मान दिलाने हेतु उन्होंने अपने खून के एक-एक कण को भी सुखाया और फिर उसी जीवन-यज्ञ में अपने खून की अंतिम बूंद की भी आहुति दे दी।

भावी भारत सच्चे अर्थों में "भा-रत" अर्थात् प्रकाशमान व्यक्ति के रूप में खड़ा हो सके, इस हेतु वे

यहाँ के राष्ट्र जीवन के सारे क्षेत्रों को आलोकित करने वाले भारतीय दर्शन के व्यावहारिक रूप को अत्यन्त प्रभावी ढंग से प्रतिपादित करने वाले महान प्रज्ञा-पुरुष थे। वे इस धरती के विशिष्ट जीवन दर्शन के इस बीसवीं सदी में अद्वितीय भाष्यकार बने हुए थे। जैसे अपने वैयक्तिक जीवन में, वैसे ही राष्ट्रीय स्तर पर भी वे उस परमोच्च जीवनादर्श के एक जीते-जागते सुन्दर प्रतीक थे।

शारीरिक दृष्टि से देखा जाये, तो उनका व्यक्तित्व बिल्कुल ही सामान्य था। बाह्य दृष्टि से अपने को सजा-सँवारकर आकर्षक बनने का उन्होंने रत्ती भर भी प्रयास नहीं किया। ऐसा व्यक्ति साज शृंगार के इस युग में तो 'अनाकर्षक' ही सिद्ध होगा?

गलत साबित हुए अनुमान

परन्तु यहाँ भी उन्होंने सबके अनुमान को गलत सिद्ध कर दिया। उन्होंने सामान्य जनमानस में अपने प्रति कल्पनातीत श्रद्धा अंकुरित कर दी थी। वे न देश के प्रधानमंत्री थे, न राष्ट्रपति। सभी प्रकार की पद-प्रतिष्ठा से अलिप्त थे वे। पत्र-पत्रिकाओं में प्रसिद्धि-प्रचार पाकर अपनी छवि बनाने के चक्कर में वे कभी नहीं पड़े। उन्होंने किसी भी प्रकार के राजनीतिक चमत्कार, नारेबाजी में भी कभी रुचि नहीं ली। किन्तु फिर भी दिल्ली में उनके पार्थिव शरीर को अपने अंतिम प्रणाम करने पाँच लाख से भी अधिक जनता उमड़ पड़ी थी।

फिर उनकी तेरहवीं के दिन प्रयाग में उनके अस्थि-विसर्जन के समय दो लाख लोग अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि चढ़ाने एकत्रित हुए थे। देश के कोने-कोने में सैकड़ों नगरों और ग्रामों में लोग उनकी स्मृति में नतमस्तक हुए। गाँव-गाँव में, बसों-रेलों में लोग आपस में कहने लगे, "कोई उपाध्याय नाम के बहुत बड़े महात्मा थे, उनको किसी दुष्ट ने मार डाला।" ऐसा बोलते हुए उन लोगों ने आँसू बहाये, जिन्होंने उनको कभी देखा तक नहीं था। हत्यारे के हाथों उन पर पड़े प्राणांतक प्रहारों ने लाखों, करोड़ों लोगों के दिलों पर आघात किया। उधर उनका सिर फूटा, और इधर करोड़ों लोगों के दिल फट गये- आँसू की धार बह निकली। 'अनाकर्ष क' व्यक्ति का यह अद्भुत जादू क्या किसी तर्क में फिट हो सकता है?

ऐसे लाखों प्रिय जनों की मानो आँखों का तारा छीनकर किसी हत्यारे ने उनको मार डाला, उनकी सारी पसलियाँ चूर-चूर कर डालीं, हाथ-पाँव मरोड़ दिये और उनके शव को मुगलसराय रेलवे यार्ड में रात्रि में लावारिस फेंककर चले गये। हत्यारों ने चैन की साँस ली होगी कि हमने उनके जीवन-कार्य को समाप्त कर दिया।

लेकिन उन्होंने उन हत्यारों को भी झुठला दिया। उनके फटे सिर से बह निकले खून की एक-एक बूँद से एक-एक दीनदयाल पैदा होना शुरू हुआ। एक विद्यार्थी स्वयंसेवक ने अपने संघ प्रमुख को पत्र लिखा- "कई दिनों से मेरा मन डाँवाडोल था कि आगे क्या करूं? लेकिन दीनदयाल जी की हत्या का समाचार सुना और तुरन्त मैंने और मेरे कुछ साथियों ने निर्णय लिया कि हम भी उन्हीं की तरह देश के लिए संन्यस्त जीवन का व्रत अपनायेंगे।" उस महान मेधावी के कुचले गये दिमाग के एवज में अब हजारों दिमागों में उनकी बुद्धि-प्रतिभा झलकने लगी है। लाखों हृदयों में उनकी राष्ट्रनिष्ठा की ज्वाला धधकने लगी है। लगता है, उन्होंने सोचा होगा कि इस धरती के जड़ होकर पड़े हृदयों में त्याग और तपस्या की ज्योति उद्दीपित करने के लिए अपने जीवन से मरण ही अधिक परिणामकारी उपाय है।

बादलों से बाहर निकला सूर्य

किन्तु बार-बार हमारे व अपने हत्यारों का भी अनुमान गलत सिद्ध करने वाले पं० दीनदयाल जी का अंदाज भी एक बार चूक गया। लेकिन उनके जीवन-काल में नहीं, अपितु मरण के बाद। वह कैसे? अपने जीवन-काल में वे राजनीतिक नभमंडल में चमकते सितारे कभी नहीं रहे। जिन्होंने उनसे प्रेरणा पाई, उन्होंने ही बड़े-बड़े जननेताओं के नाते प्रसिद्धि पाई। इसके पीछे उन्हीं का मान परिश्रम था। परदे के पीछे के हाथों के रूप में अथवा अपने बच्चों को आगे बढ़ाने में ही संतोष मानने वाली माता के समान। उनकी स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा- "दीनदयाल जी हमारी सारी गल्तियों को स्वयं पचाकर हमीं को प्रकाश में लाये।" इस वाक्य को पूर्ण करने से पहले ही उनका गला रुँध गया था। लेकिन पं० दीनदयाल जी को अपनी इस प्रसिद्धि-पराङ्मुख वृत्ति को भी अपने सहयोगियों के आग्रह के सामने छोड़ना पड़ा। उन लोगों ने उन्हीं को अपने दल का अध्यक्ष चुन लिया

और प्रसिद्धि के जगमगाते प्रकाश में लाकर खड़ा कर दिया। भारतीय जनसंघ के कालीकट (केरल) अधिवेशन में हजारों नर-नारियों ने अब तक दबे हुए अपने प्रेम और श्रद्धा को फूलों के रूप में उन पर बरसाया। कौन जाने दीनदयाल जी को वह रोशनी सहन न हुई हो। अब मैं परदे के पीछे छिपा नहीं रह सकता, इसलिए मैं कहीं अपने सहयोगियों की प्रसिद्धि में बाधक तो नहीं बन रहा हूँ? यह सोचकर वे अन्ततः इस रंगमंच से ही विदा ले गये।

बस, उनका अंदाज जो गलत निकला, तो यहीं पर। वे मरकर परदे के पीछे छिपने के बजाय बाहर निकल आये, जैसे बदलों से बाहर निकला हुआ सूरज। तब तक उन्होंने अपनी महानता के ऊपर जो परदा ओढ़ रखा था, मृत्यु ने उसे चीरकर हटा दिया। उस जीवन घट में जो दिव्य सुगंध भरी थी, शायद वह ज्यादा भर गई हो, इसलिए घड़ा टूट गया और अन्दर भरी सुगन्ध यकायक बाहर बह निकली। उसने भारत की मिट्टी को तो सुगन्धित कर ही दिया, वह समूचे विश्व में भी फैल गयी।

❐ उत्तर प्रदेश संदेश,
पं० दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक,
सितम्बर १९९१

डोंगसंद्र वेंकटरमैया शास्त्री : अकादमी पुरस्कार प्राप्त कन्नड़ साहित्यकार; सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

जवानी

✍ रवीन्द्र जैन 'राजा', द्वादश

चतुर्दिक छा रहे बादल निराशा के
जवानी लिप्त क्यों रंगरलियों में।
भुलाकर क्यों पहचान अपनी वह
भटकती वासना की तंग गलियों में ।

सभी कहते हुआ क्यों आवारा यौवन?
जवानी सब की दृष्टि में लगती उपेक्षित है।
परिश्रम की धरोहर को भुलाकर क्यों?
कटोरा भीख का उसको अपेक्षित है।।

जवानी जो कभी थी क्रान्ति की अगुआ,
बेढंगा बस प्रदर्शन आज करती है।
नहीं बदलाव से मतलब रहा उसको न जाने क्यों?
चमक चाँदी की पाने को बेताब दिखती है।।

उच्छृंखल दिग्भ्रमित भोली जवानी को
अंधेरे से दिलाकर त्राण सच्चा पथ दिखा देना।
इसे दो प्रेरणा नव क्रान्ति की फिर से प्रभु मेरे!
सुलगता आग से इसको पथ कोई दिखा देना

जवानी नव सृजन की नींव हो फिर से
फिर उसी संकल्प का आह्वान करना है।
फिर उसी आक्रोश के नव सिंहनादोंसे,
नया निर्माण फिर इस राष्ट्र का हम सबको करना है।

पं० दीनदयाल जी के सान्निध्य में

✍ अटल बिहारी वाजपेयी

दीनदयाल जी का स्मरण आते ही हृदय भर आता है, आँखे छल-छला उठती हैं। जीवन में इतने बड़े अभाव का अनुभव अभी तक नहीं हुआ। पंडित जी नेता और मार्गदर्शक ही नहीं, सहोदर और सखा भी थे। जब तक वे बैठे थे, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। सारी चिन्ताओं और सारे चिन्तन का भार उन पर डालकर हम निश्चिन्त थे। विश्वास था कि यदि कोई गलती भी हो गई तो उसे अपने माथे लेकर पीठ पर हाथ रख कर, वह आगे बढ़ने की प्रेरणा देंगे।

आँखों में वह आग!

मैंने उपाध्याय जी के प्रथम दर्शन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के शीत शिविर में किए थे। वह आगरा से अन्य स्वयंसेवकों को साथ लेकर आये थे। देखने में सीधे तथा सरल, किन्तु उनकी आँखों में एक आग की अनुभूति उस समय भी मुझे हुई थी। बाद में सन् १९४२ में उन्हें तब देखा और सुना जब मैं संघ के शिक्षण शिविर में द्वितीय वर्ष की शिक्षा लेने गया था। उस समय से स्थापित स्नेह का सम्बन्ध ११ फरवरी को अचानक टूट गया।

आँखों के आगे अनेक स्मृति-चित्र उभरते और आँसुओं में डूब जाते हैं, किसे भूलू, किसे याद करूँ?

जब राष्ट्र धर्म प्रकाशित हुआ!

उपाध्याय जी के साथ रहने का अवसर पहली बार सन् १९४७ में मिला। लखनऊ से मासिक 'राष्ट्रधर्म' प्रकाशित करने का निश्चय किया गया था। मैं डी०ए०वी० कॉलेज कानपुर से सीधा लखनऊ पहुँचा था। लिखने-लिखाने का शौक जरूर था, किन्तु पत्र का सम्पादन करना पड़ेगा, यह सुनकर ही सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी थी। मेरे साथ श्री राजीव लोचन अग्निहोत्री भी थे जो सम्पादन कला में मेरी तरह कोरे थे। किन्तु यह देखकर ढाढ़स बंधा कि सम्पादन केवल नाम का था, काम करने एवं करवाने के लिए उपाध्याय जी स्वयं मौजूद थे। 'राष्ट्रधर्म' का पहला सम्पादकीय उपाध्याय जी ने ही लिखा था। यह बात नहीं कि उपाध्याय जी को पत्रकारिता का कोई पुराना अनुभव था। एक दृष्टि से उनके लिए यह क्षेत्र नया ही था, किन्तु अपने अध्ययन और अध्यवसाय से उन्होंने न केवल स्वयं सम्पादन का कार्य सीख लिया, अपितु साथ-साथ हमें भी सिखा दिया। उनके लिए सीखना और सिखाना एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया थी। काम करते-करते वे सीखते जाते और सीखते-सीखते सिखाते थे। प्रेस में सामग्री देने से लेकर कम्पोज़ करने और प्रूफ पढ़ने तक के सभी कार्य उन्होंने किये, यहाँ तक कि छपाई की मशीन पर काम करने वाले कारीगरों के थक जाने या न आने पर वे वहाँ भी खड़े हो जाते और हाथ बँटाते।

वे जब बेहोश हो गये!

एक दिन की बात है। राष्ट्रधर्म के साथ साप्ताहिक 'पाञ्चजन्य' और दैनिक 'स्वदेश' का भी प्रकाशन होने लगा था। सम्पादकीय विभाग में काम ज्यादा, लोग कम थे। उपाध्याय जी दिन-रात जुटे रहते। हम लोग थक कर चूर हो जाते, किन्तु उन्होंने जैसे थकना जाना ही नहीं था। न खाने का ध्यान न सोने की सुधि। एक बार लगातार कई रात जागना पड़ा। शरीर ने जवाब दे दिया। सवेरे जब वे मशीन पर खड़े आखरी फॉर्म निकलवा रहे थे, तो गिर पड़े और बेहोश हो गये।

उपाध्याय जी एक सच्चे कर्मयोगी थे। उनका कर्म में विश्वास था और कर्म को कुशलता पूर्वक करके उसे योग का रूप देने का गुण भी उनमें विद्यमान था। कर्म करते हुए उन्होंने फल की कभी कामना नहीं की। वह कहा करते थे, बीज की चिन्ता करो, फल अपनी चिन्ता आप कर लेगा।

पंडित जी का जीवन एक समर्पित जीवन था। शरीर का कण-कण, जीवन का हर क्षण उन्होंने राष्ट्रदेव के चरणों में चढ़ा दिया था।

सम्पूर्ण देश उनका था, सारा समाज उन का परिवार। उनकी आँखों में एक ही सपना था। उनके जीवन का एक ही व्रत था।

राजनीति उनकी मंजिल नहीं थी

राजनीति उनके लिए साधना थी, साध्य नहीं। मार्ग था, मंजिल नहीं। वे राजनीति का आध्यात्मीकरण चाहते थे। भारत के उज्ज्वल अतीत से प्रेरणा लेते थे तथा उज्ज्वलतर भविष्य का निर्माण करना चाहते थे। उनकी आस्था सदियों पुराने अक्षय राष्ट्र जीवन की जड़ों से रस ग्रहण करती थी किन्तु वे रूढ़िवादी नहीं थे। भविष्य के निर्माण के लिए वे भारत को समृद्धिशील आधुनिक राष्ट्र बनाने की कल्पना लेकर चले थे।

वे महान चिन्तक थे। चिन्तन के क्षेत्र में बंधे-बंधाये रास्ते से चलने के हामी नहीं थे। इसलिए उन्होंने भारतीय जनसंघ का ऐसा स्वरूप विकसित किया जो अतीत की गौरव गरिमा को लेकर चला और जो आने वाले कल की चुनौतियों का सामना करने के लिए भी सन्नद्ध रहा। जनसंघ जो कुछ भी हुआ, वह सब उन्हीं की देन थी।

चलो विन्ध्याचल के पार!

उन्हें कभी किसी पद ने मोहित नहीं किया। वे संसद के सदस्य नहीं थे लेकिन संसद सदस्यों के निर्माता थे। उन्होंने कभी पद नहीं चाहा। बड़ी मुश्किल से उन्हें अध्यक्ष पद का भार सम्भालने के लिए तैयार किया गया था। उन्होंने प्रेरणा दी कि चलो विन्ध्याचल के पार कन्याकुमारी पर जहाँ भारत माता के चरणों को सिन्धु धो रहा है। भारत की एकता का जागरण-मंत्र फूँकें। उनके नेतृत्व में हमने आसेतु हिमाचल भारत की एकात्मता को गुँजाने का संकल्प किया। कालीकट अधिवेशन हुआ, हम वहाँ गये। उनकी अध्यक्षता में अधिवेशन सफल हुआ। लोगों ने कहा कि जनसंघ ने कार्यसिद्धि का ऐतिहासिक दृश्य उपस्थित किया। जनता की आँखें आशा और विश्वास के साथ उन पर आ लगीं थीं देश और विदेश के लोगों ने कहा कि कालीकट में जनसंघ ने नया रूप धारणा किया है। परन्तु जनसंघ ने नया रूप धारण नहीं किया था, वरन् देखने वालों की आँखों में बदल आया था।

चिता से निकली चिनगारियाँ!

पंडित जी जिस कार्य के लिए जन्मे, जिए और जूझे, उसी के लिए हुतात्म्य (शहादत) स्वीकार कर उन्होंने अपना जीवन-व्रत पूर्ण कर लिया।

नन्दा दीप बुझ गया, हमें अपने जीवन दीप जलाकर अन्धकार से लड़ना होगा। सूरज छिप गया, हमें तारों की छाया में अपना मार्ग ढूँढ़ना होगा।

किन्तु उनका स्वप्न अभी अधूरा है। उन का कार्य अभी अपूर्ण है।

आइए! पंडित जी के रक्त की एक-एक बूँद को माथे का चन्दन बनाकर ध्येय-पथ पर अग्रसर हों। उनकी चिता से निकली एक-एक चिनगारी को हृदय में धारण कर परिश्रम की पराकाष्ठा और प्रयत्नों की परिसीमा करें। उस दधीचि की आस्थियों का वज्र बनाकर आधुनिक वृत्रासुरों पर टूट पड़ें और इस पवित्र भूमि को निष्कंटक बनायें।

☐ (परम्परा, सितम्बर १९९२)

अटल बिहारी वाजपेयी : पूर्व सम्पादक, राष्ट्रधर्म; पूर्व अध्यक्ष, भारतीय जनसंघ; पूर्व विदेश मंत्री; पूर्व अध्यक्ष, भारतीय जनता पार्टी; सांसद।

ऋषि परम्परा के महापुरुष

✍ चन्द्रशेखर

अज्ञान को मिटाने के लिए ज्ञान की मशाल उठाओ और गरीबी खत्म करने के लिए आर्थिक विकास की रोशनी फैलाओ। हमारे प्राचीन ऋषियों और संतों का यही निरंतर उपदेश है। दीनदयाल जी जीवन भर हमारे प्राचीन ऋषियों के आदेश पर चलते रहे। इसके लिए उन्होंने सामाजिक सेवा के क्षेत्र को चुना और अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया। ऐसे व्यक्ति महामानव होते हैं। वे प्राचीन ऋषियों-मुनियों की कोटि में थे। वे जनता के सेवक थे। दीनदयाल जी ने 'एकात्म मानववाद' का अपना दर्शन एक सामाजिक मिशन के नाते प्रतिपादित किया। यह विचार गाँधी जी की विचारधारा के साथ नजदीकी से जुड़ा है। दीनदयाल जी द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानववाद व्यक्ति के भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक पहलुओं का एकात्म विकास प्राप्त करने की कोशिश है। देश को यह उनका बहुमूल्य उपहार है। उन्होंने खुद को इस विचार के प्रति पूरी तरह अर्पित कर दिया। गाँधी जी की तरह ही उन्होंने भी अपने लिए कुछ नहीं चाहा। उनकी कोई व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा नहीं थी। जिस व्यक्ति का लक्ष्य केवल आनन्द है, वह जानवर से भिन्न नहीं है। लेकिन केवल आध्यात्मिकता के लक्ष्य से शरीर जिंदा नहीं कर सकता। अगर आप वैभव की आकाक्षा करेंगे तो यह लालच और शोषण पर जाकर खत्म होगा। इसीलिए हमें आत्मा और शरीर के संतुलित विकास को जरुरत है। तभी संतुलित मानव प्रगति को प्राप्त किया जा सकेगा। इसीलिए दीनदयाल जी ने एकात्म मानववाद का गंभीर दर्शन प्रतिपादित किया।

शरीर का किसी एक अंग का आवश्यकता से अधिक विकास पूरे शरीर का विकास रोक देता है। इसी तरह समाज का कोई वर्ग अगर कष्ट भोगता है और कमजोर रहता है तो सामाजिक विकास असंभव है, इसलिए सबसे पहले कमजोर को ही मदद मिलनी चाहिए। दीनदयाल जी का आर्थिक दर्शन समाज जीवन के इस पहलू पर ही केन्द्रित था।

हमारे प्राचीन ग्रंथ भी इस बात पर जोर देते हैं कि हमें उपेक्षितों और गरीबों की सम्पन्नता के लिए कोशिश करनी चाहिए। यह तब तक सम्भव नहीं है, जब तक हम एकात्म मानवतावादी दृष्टिकोण न रखें। इसीलिए महात्मा गाँधी के 'अंत्योदय' और दीनदयाल जी के एकात्म मानववाद के पीछे चलना जरूरी है, जो हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों की कोटि में आते हैं।

समकालीन चिन्तन में दो धारायें हैं। एक विचार यह है कि अगर व्यक्ति में परिवर्तन आ गया तो सामाजिक परिवर्तन अपने आप हो जाएगा। दूसरा विचार हर व्यक्ति को बदलना जरूरी नहीं समझता। लेकिन हमें व्यक्ति और समाज दोनों में परिवर्तन का प्रयास करना चाहिए। दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद भी व्यक्ति और समाज के विकास के समन्वित दृष्टिकोंण पर जोर देता है। वह केवल एकात्म मानववाद का सिद्धान्त देने वाले ही नहीं बल्कि कुशल संगठन कर्ता भी थे। उन्होंने समर्पित कार्यकर्ताओं की एक कतार खड़ी की।

महापुरुष किसी एक दल के नहीं होते। महापुरुष समाज के ऐसे नेता होते हैं जो पूरे समाज के लिए स्थायी मार्गदर्शन देते हैं। दीनदयाल जी भी सामाजिक नेताओं की इसी कोटि में थे।

❐ पांचजन्य, अप्रैल १९८६

चन्द्रशेखर : पूर्व प्रधानमंत्री; अध्यक्ष, समाजवादी जनता पार्टी; सांसद।

पं० दीनदयाल : व्यक्ति और विचार

✍ मुरली मनोहर जोशी

पंडित दीनदयाल एक व्यक्ति मात्र नहीं थे। व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अद्भुत समन्वय यदि देखना हो तो उनका जीवन उसका जाज्वल्यमान प्रतीक था। दर्शन एवं वर्तन, विचार एवं आचार, वृत्ति एवं कृति में यदि कहीं अभेद और संगीत का साक्षात्कार करना हो तो स्वर्गीय पं० दीनदयाल जी के जीवन-चरित्र से अधिक उत्तम उदाहरण ढूँढ़ना सम्भव न होगा। विशेषकर जब आज के युग में राजनीतिज्ञों के आचरण एवं तात्विक आदर्शों में भारी विप्रतियत्ति दृष्टिगोचर हो रही है, तब तो उन जैसे कर्मयोगी का पुण्य स्मरण और भी आवश्यक है।

११ फरवरी १९६८ को उनका पार्थिव शरीर मुगलसराय स्टेशन के यार्ड में पड़ा पाया गया। विधाता के उस क्रूर प्रहार से भारतीय राजनीतिक शिक्षित का प्रकाशमान नक्षत्र अस्त हो गया। किन्तु उसकी चिता से निकले स्फुल्लिंग राष्ट्र-प्रेम की ज्वाला बनकर दिग्दिगन्त को प्रकाश एवं तेज से चिरकाल तक परिपूर्ण करते रहेंगे।

प्रायः दीनदयाल जी का स्मरण उनकी कर्म साधना के संदर्भ में किया जाता है। अखंड कर्मसाधक के रूप में वे अहर्निश प्रवास में रहते थे, और उसी तपश्चर्या के पुण्य फल के रूप में भारतीय जनसंघ का विस्तार भारत के कोने-कोने में संभव हो सका। उनकी सरलता, सादगी, सौम्य एवं मृदु छवि, एक शांत एवं तटस्थ दार्शनिक वृत्ति की छाप आज भी उनके हजारों अनुयायियों की स्मृति-मंजूषा में सुरक्षित है। वे अच्छे लोकसंग्रही एवं संघटनशास्त्र के पारंगत थे। किन्तु इस सबके साथ वे मूर्धन्य विचारक भी थे। भारतीय जीवन का उन्होंने जैसा साक्षात्कार किया था, वह उन्हें विश्व के महानतम विचारकों की श्रेणी में स्थापित कर देता है। राजनीति एवं अध्यात्म का जो अपूर्व एवं जीवनदायी समन्वय उन्होंने प्रस्तुत किया वह उनकी पारदर्शी दृष्टि, स्फटिक-निर्मल बुद्धि एवं प्रखर राष्ट्रभक्ति की पावन त्रिवेणी का प्रवाह बनकर लाखों हृदयों को सिक्त कर गया।

मैं जब छात्र था, तभी से दीनदयाल जी के साथ मेरा सम्बन्ध था। उन दिनों भी हम उन्हें पंडित जी कहा करते थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है, जब से मैं इलाहाबाद में रहता हूँ, तब से जब कभी पंडित जी इलाहाबाद आये, शायद ही एकाध अवसर पर वे कहीं और ठहरे हों, अन्यथा वे मेरे ही घर पर ठहरा करते थे। इसलिए उनके सामान्य जीवन के विषय में काफी कुछ ज्ञान मुझे है। बहुत ही सादे व्यक्ति, देखकर यह अनुभव नहीं होता था कि इतने गंभीर विचारक होंगे। इतना महान् राजनीतिज्ञ, इतना बड़ा तत्वदर्शी और इतना अधिक सादा! यह कई बार हुआ कि रिक्शा पर बैठे हुए पंडित जी चले आ रहे हैं सबेरे ६ बजे, कोई पूर्व सूचना नहीं। घर पर आयेंगे, स्नान करेंगे और कहेंगे- भई, जल्दी से मुझको उड़द की दाल और दही में चीनी डालकर भोजन तैयार कराओ। उन दिनों मैं अविवाहित था, और जब तक मैं कहीं से घूम-घाम कर वापस आऊँ, तब तक पंडित जी तो रिक्शा पर बैठकर स्टेशन चले भी जाते थे।

उन दिनों प्रायः यह हो जाया करता था कि पंडित जी को लाने-ले-जाने के लिए मोटरकार का प्रबन्ध करने में विलम्ब हो जाता तो- "नहीं, कोई आवश्यकता नहीं, तुम्हारे पास मोटर साइकिल है, इसी पर चलेंगे", कहते हुए वे मेरी मोटर साइकिल पर जा विराजते थे। १९६२ के आम चुनावों में तो यह कई बार हुआ कि उनकी सभा का समय हो रहा है और जो कार्यकर्ता उनके लिए मोटर का प्रबंध करने गये हैं उन्हें आने में विलम्ब हो गया है, तो - "चलो, मोटर साइकिल से ही चलते हैं। जहाँ रास्ते में मोटर मिलेगी, वहाँ उसको ले लेंगे।" आठ-आठ, दस-दस, बारह-बारह मील देहात में भी वे मोटर साइकिल पर मेरे साथ बैठकर चले जाते थे। भारतीय जनसंघ के वे उस समय महामंत्री थे, पर अपने व्यवहार से कभी यह अनुभव होने ही नहीं दिया कि वे इतनी बड़ी संस्था के महामंत्री हैं। एक बिलकुल छोटी सी मोटर साइकिल पर पीछे बैठकर बहुत बड़ी सार्वजनिक सभाओं में भाषण करने के लिए जा रहे हैं।

ऐसा निश्छल व्यवहार कि कहीं किसी प्रकार की कोई ग्रन्थि नहीं।

उनके कपड़ों और अन्य वस्तुओं के बारे में तो जितना कहा जाये, वह उतना ही मजेदार है। उन्हें देखकर कोई यह पता नहीं लगा सकता था कि इस प्रकार की बिल्कुल सादी ग्रामीण वेशभूषा वाले व्यक्ति पं० दीनदयाल उपाध्याय हैं। वे सही अर्थ में वीतरागी थे और यही कारण था कि उनकी आकृति और उनके चेहरे से लोग परिचित नहीं थे। भारतीय जनसंघ से परिचित थे, जनसंघ के अनेक नेताओं से परिचित थे, किन्तु दीनदयाल जी को देखकर उनको पहचानने में लोगों को कुछ कठिनाई होती थी। एक घटना तो स्वयं उन्होंने ही सुनायी। दिल्ली स्टेशन पर एक कार्यकर्ता उनसे मिले। वे चार-पाँच मिनट तक उनसे बातचीत करते रहे। इतने में उन कार्यकर्ता महोदय के एक और मित्र भी आ गये। दीनदयाल जी की ओर संकेत करके कार्यकर्ता बन्धु ने अपने मित्र से कहा- "क्या तुम इन्हें पहचानते हो?" उत्तर मिला, "नहीं।" "अरे, ये भारतीय जनसंघ के इतने बड़े नेता हैं, तुम इन्हें पहचानते भी नहीं? ये ही तो हैं श्री अटल बिहारी वाजपेयी।" दीनदयाल जी से वे सज्जन इस प्रकार बात कर रहे थे कि उनसे बहुत घनिष्ट परिचय है। किन्तु नाम याद आया उनको, तो अटल बिहारी वाजपेयी का। दीनदयाल जी को नाम व अपनी सार्वजनिक प्रसिद्धि से कोई मोह नहीं था। इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। वे स्वयं बहुत आनन्द लेकर उस घटना को सुनाते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसिद्धि पराङ्मुखता, प्रसिद्धि से कोई लोभ नहीं, यह वृत्ति उनमें कूट-कूटकर भरी थी। देश में यह स्थिति है कि राजनीतिक पुरुष यह नित्य देखता है कि मेरी प्रसिद्धि आज कितनी हुई है? आज समाचार-पत्र में कितनी बार मेरा नाम छपा है? जहाँ ऐसा राजनीतिक वायुमंडल हो कि नाम प्रतिदिन छपना ही चाहिए, वहाँ एक ऐसा व्यक्ति, जो इस बात से इतना निरपेक्ष, तटस्थ रहता हो कि प्रसिद्धि के लिए आग्रह तो दूर की बात, बल्कि उससे एक प्रकार की वितृष्णा रखे, तो आश्चर्य ही कहा जाएगा। कई बार मैं कहता था कि पंडित जी, आप सभा में जा रहे हैं, यह आपका जो कुर्ता है, जरा इसको दीजिए, इस पर मैं प्रेस करवा दूँ। तो कहते थे कि लोग मेरी बात सुनने आ रहे हैं या मेरा कुर्ता देखने आ रहे हैं? और प्रायः यह होता था कि जब जाड़ा समाप्त हुआ तो अपनी शाल और अपना गर्म कुर्ता किसी एक कार्यकर्ता के घर छोड़ दिया और कहा कि मेरी वह धोती, जो पिछले वर्ष छोड़ गया था, जो बहुधा फटी हुई भी होती थी, वह कहाँ है? फिर गर्मी समाप्त हुई तो कभी पहुँच गये कि वह शाल कहाँ है? सामान इतना कम कि एक छोटी अटैची भी उनकी पूरी भरती नहीं थी। अपरिग्रह वृत्ति का एक साधक- अहर्निश भ्रमण करने वाला, देश के कोने-कोने में जाने वाला - हर प्रान्त के हर नगर में घूमते-घूमते अनेक गाँवों के कार्यकर्ताओं के घर ही मानो उनके अपने घर बन गये थे।

वे आते थे, लोग कहते थे, "पंडित जी आ गये", यानी बिल्कुल अपने घर का ऐसा व्यक्ति जो हम सबका मार्गदर्शन करने वाला, हम सबकी चिन्ता करने वाला, हमारा अपना, वह घर में आ गया। जिन लोगों के साथ वे ठहरते थे, उनके साथ ऐसा तादात्म्य उनका था। कालीकट अधिवेशन के लिए भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष के रूप में जाते समय जिस डिब्बे में वे थे, उसी में मैं भी था। दिल्ली से लेकर कालीकट तक जय-जय दीनदयाल जी की ध्वनि प्रत्येक स्टेशन पर होती थी। स्थान-स्थान पर कार्यकर्ता रात को एक बजे भी पहुँचते थे, मालाओं से उनको लादने की चेष्टा करते थे, परन्तु दीनदयाल जी पर मैंने उसका तनिक भी प्रभाव नहीं देखा। जिस समय कालीकट अधिवेशन से वे लौटकर लखनऊ स्टेशन पर आये तो वहाँ एक कार्यकर्ता मिले। वह कार्यकर्ता बाद में उत्तर प्रदेश की मंत्रिपरिषद् के एक सदस्य भी बने। पंडित जी उनसे कहने लगे- मौलिक अधिकारों के विषय में आपने जो सुझाव दिया था, उसका मैंने अपने अध्यक्षीय भाषण में समावेश कर दिया है। और समाचार-पत्रों के जितने भी संवाददाता आये हुए थे, उनको मिलाते हुए कहने लगे कि देखिये ये हमारे इलाहाबाद हाईकोर्ट के वकील हैं और इन्होंने ही यह महत्वपूर्ण सुझाव मुझे दिया था। ऊपरी तौर पर यह बहुत छोटी-सी बात थी, शायद वे कार्यकर्ता भी भूल गये थे कि उन्होंने कभी पंडित जी को ऐसी बात बतायी भी थी, किन्तु दीनदयाल जी के लिए यह महत्वपूर्ण था कि यदि किसी व्यक्ति ने कोई अच्छी बात बतायी तो उसके प्रति कृतज्ञता का भाव रखना चाहिए। यह भाव सामान्यतः आजकल देखने को नहीं मिलता। ऐसी अनेक घटनाएं हैं जो उनकी अहंकार-शून्यता का परिचय

देती हैं। जीवन में इतनी विनम्रता कि दीनदयाल जी कभी-कभी दीनता की साक्षात् प्रतिमूर्ति ही बने दिखाई देते थे।

स्टेशन पर कभी उन्हें ढूँढ़ने जाइये और यदि आपने पहले देखा न हो तो यह जानना कठिन होता था की दीनदयाल जी कहाँ मिलेंगे। आवश्यक नहीं कि वे प्रथम श्रेणी के डिब्बे में ही आपको मिलें। यह हो सकता था कि वे जाड़ों में रात को टू टायर में या बिना आरक्षित डिब्बे में भी कहीं बिल्कुल गठरी बने हुए रजाई के अन्दर बैठे हुए मिल जायें और आप बहुत आवाज दें तब पता लगे कि दीनदयाल जी इस डिब्बे में एक गठरी में से प्रकट हो रहे हैं।

वे सामान्य भारतीय की भाँति विदेश गये। कहने लगे कि मैं तो वहाँ पगड़ी बाँधूँगा। "क्यों? ठंड होती है इसलिए?" "नहीं, बल्कि इसलिए कि एक सामान्य भारतीय कृषक पगड़ी बाँधता है, इसलिए मैं भी वही पहनूँगा।" पंडित जी का भारतीय नागरिक के साथ इस सीमा तक तादात्मय था। अनेक घटनायें हैं इस प्रकार की, जो उनके जीवन के इन्द्रधनुष का वर्ण स्पष्ट करती हैं हर क्षेत्र में।

बुद्धि के क्षेत्र में उनकी सामर्थ्य का तो मुझे भोपाल अधिवेशन में एक नया अनुभव मिला। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर को दीनदयाल जी का भाषण सुनाने के लिए मैं ले गया। भाषण सुनकर लौटे तो वह कहने लगे, "डॉ० जोशी, यह आदमी आदमी कहाँ है? यह तो बुद्धि है साक्षात्। इसमें मुझे शरीर नजर नहीं आता, ऊपर से नीचे तक केवल बुद्धि-ही-बुद्धि है। और कुछ है ही नहीं।" मैंने कहा- अभी तक तो आपने केवल बहिरंग का ही स्पर्श किया है, आगे चलेंगे तो आपको शायद पता लगेगा कि पंडित जी में बुद्धि से और आगे तो 'तत्व' नाम की वस्तु है, केवल वह तत्व ही तत्व भरा है, वह बुद्धि से भी परे है। उनकी बुद्धि की प्रगल्भता, विद्वत्ता, उनका अध्ययन, विषय का प्रतिपादन करने के उनके निराले ढंग में प्रकट होती थी। उनकी अपनी एक विशेष शैली थी। वे प्रकृति से, मेरे विचार में अध्यापक थे। वे अध्यापन-कार्य करते होते तो निश्चय ही आज भारत के सर्वाधिक सफल अध्यापकों में उनका नाम रहा होता। कठिन से कठिन विषय को सरल शब्दों में और ऐसे सहज भाव में जटिल से जटिल विचार वे समझा देते थे कि सामान्य व्यक्ति भी उसे अच्छी तरह समझ जाता था। बड़े से बड़े अधिवेशन में, आठ-आठ, दस-दस हजार कार्यकर्ताओं के समूह में उलझे से उलझे विषय को जहाँ पंडित दीनदयाल जी ने स्पर्श किया, ऐसा लगता था मानो विषय निर्मल हो गया। स्फटिक की भाँति स्वच्छ हो गया। उसमें कहीं कोई उलझाव नहीं रहा, कहीं कोई जटिलता नहीं रही। लोग कहते थे- अरे, यह तो एक बिल्कुल सरल बात है इतनी सीधी बात हम पहले क्यों नहीं समझ पाए, वाह! मेरे विचार से ऐसा तभी संभव होता है जब व्यक्ति विचार के साथ अत्यन्त गहरा तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, जब उसमें और विचार में कोई अन्तर नहीं रह जाता, तब वह उस तात्विक मीमांसा के हर पहलू को, उसके पक्ष को बड़ी सरलता के साथ सबके सामने स्पष्ट कर सकता है।

दीनदयाल जी पार्थिव रूप में अवश्य चले गये हैं, किन्तु विचार के रूप में वे अमर हैं। सामान्यतः लोग समझते हैं कि दीनदयाल जी ने किसी राजनीतिक दल के लिए एक विचारधारा दी। मैं ऐसा समझता हूँ कि ऐसा मूल्यांकन उनको बहुत सतही तौर पर देखना होगा। भारतीय जनसंघ के प्रारम्भ में ही डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा था-"यदि मुझे दो दीनदयाल मिल जायें तो मैं इस सारे भारतीय रंगमंच का नक्शा बदल दूँ।" ऐसी थी उनकी कर्म-साधना। पंडित जी का कर्तृत्व तो बहुत विशाल था, किन्तु इससे भी अधिक व्यापक था उनका जीवन-दर्शन। एकात्म मानववाद के रूप में एक समग्र जीवन-दर्शन, जगत् को दीनदयाल जी की अद्भुत देन है।

एकात्म मानववाद कोई एक नारे के रूप में विकसित नहीं किया गया था। यह कोई ऐसा नारा नहीं था कि धन और धरती बँटके रहेगी, या कमाने वाला खायेगा आदि। यह तो समूचे मानव-समाज का एकात्म रूप में दर्शन करने का एक अभिनव प्रयास है।

मानव समाज क्या है? क्या यह मनुष्यों का समूह मात्र है? कुछ व्यक्तियों की केवल एक भीड़ है? दैवयोग से कुछ लोग एक साथ आ गये किसी ट्रेन के डिब्बे में या होटल में या किसी प्रदर्शन में, तो क्या ऐसे मनुष्यों के एकीकरण को समाज की संज्ञा दी जा सकती है? या समाज की कोई निश्चित पहचान होनी चाहिए? दीनदयाल जी ने यह बताया कि मानव-समाज एक सावयव जीवमान् तत्व है, इसे आप केवल जड़ में नहीं

देख सकते, वरन् जैसे मानव-शरीर को आप एक जीवमान् रूप में देखते हैं, सावयव रूप में देखते हैं, मानव-समाज को भी हमें उसी रूप में देखना चाहिए। यह कितनी अटपटी सी बात है कि यदि हम किसी से पूछें कि क्या आप समाजवादी हैं और वह उत्तर दे कि नहीं, तो तत्काल यह समझ लिया जाएगा कि बस यह तो पूंजीवादी है और यदि कोई पूंजीवादी होने से इनकार कर दे तो सामान्यतः यह समझा जाएगा कि वह समाजवादी है। प्रश्न है कि क्या इन दो के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं हो सकता? एकात्म मानववाद सबको इन दो के बीच में ही बाँट देने का समर्थक नहीं है। सारे समाज को एक भिन्न दृष्टि से देखने के कारण एकात्म मानववाद समाज-रचना का एक अत्यन्त गतिशील प्रतिमान प्रस्तुत करता है। वस्तुतः हुआ यह था कि बहुत पहले हमारे देश के अनेक मूर्धन्य नेताओं का परिचय सम्पूर्ण योरोपीय राजनीतिक आन्दोलन से हुआ। ऐतिहासिक कारणों से वे राजनीतिक आन्दोलन दो रूपों में विकसित हुए थे। फ्रांस की राज्य क्रांति के पश्चात् सम्पूचे पश्चिमी जगत् में स्वतंत्रता, समता और बंधुता के विचार चले, उनमें स्वतंत्रता पर आग्रह करने के कारण जनतंत्र और फिर केवल स्वतंत्रता के बारे में अधिक आग्रह के परिणाम-स्वरूप आर्थिक क्षेत्र में शोषण की भी स्वतंत्रता को मान्य करने वाले पूंजीवाद का भी विकास हो गया। समाज का ऐसा प्रतिमान (मॉडल) विकसित हो गया, जिसमें 'समता' या 'बंधुता' तो बिल्कुल नकार दी गयी और केवल स्वतंत्रता के नाम पर अबाधित, अमर्यादित, उच्छृंखल स्वतंत्रता जन्म हुआ। वह प्रतिमान आज भी विश्व के कुछ देशों में है।

दूसरी ओर केवल 'समता' पर बहुत अधिक आग्रह करने से 'स्वतंत्रता' और 'बंधुता' आँखों से ओझल कर दी गयी, और फिर, समता में से समान वितरण, उत्पादन - प्रणालियों पर शासकीय एकाधिकार और अंततोगत्वा राजकीय तानाशाही का जन्म हो गया। किन्तु इन दोनों ने ही 'बंधुता' नामक तत्व को आँखों से पूरी तरह ओझल कर दिया। इसलिए सारे पश्चिमी जगत् में प्रधान रूप से केवल दो ही विचारधारायें पनप सकीं और परिणामतः एक ओर जनतंत्रवादी - पूंजीवादी और दूसरी ओर 'समाजवादी तानाशाही' समाज-रचनायें विकसित होती चली गयीं।

दीनदयाल जी के अनुसार इन दोनों से भिन्न एक ऐसा विकल्प भी हो सकता है जो व्यक्तियों को केवल राजनीतिक प्राणी या केवल आर्थिक प्राणी न मानकर तथा समाज को केवल किसी विशेष उत्पादन-प्रणाली का पिष्ट-पेषण करने वाला जन-समूह न मानकर, इसको एक जीवमान् संकल्पना के रूप में ग्रहण करता है। इसलिए उन्होंने व्यष्टि और समष्टि के बीच में जो सम्बन्ध होना चाहिए, उसको भारतीय पृष्ठभूमि में परिभाषित करने का प्रयत्न किया। व्यक्ति क्या है? यदि पश्चिम के विचारकों से पूछा जाए तो उनके यहाँ कालक्रम से 'व्यक्ति' की भिन्न-भिन्न परिभाषा की गयी है। किसी ने कहा कि व्यक्ति तो मात्र शरीर है और इसलिए यह शारीरिक एषणाओं का पुंज है। यदि आपने किसी प्रकार से भी इनकी संतुष्टि कर दी तो व्यक्ति सुखी हो जाता है। और समाज क्या है? तो उत्तर मिलेगा कि वह विभिन्न व्यक्तियों में अपनी शारीरिक एषणाओं को पूरा करने के लिए एक समझौता मात्र है। साथ आना, मिलना और फिर उसके बाद एक विशेष आर्थिक प्रणाली का जन्म लेना- बस यही समाज-जीवन है, इसके आगे है ही क्या? स्पष्ट है कि यह समाज-व्यवस्था का एकांगी प्रतिमान (मॉडल) है। कहीं विचारकों ने यह कहा कि 'व्यक्ति' मात्र एक धार्मिक अस्तित्व है, यह तो धार्मिक विचारों से अनुप्राणित होता है। संभवतः इससे कुछ कठमुल्लापन का, धार्मिक अंधविश्वासों का, मतांधता का, एक विशेष दुराग्रह निर्मित हुआ और उसने भी विश्व में विनाश किया। कुछ ने कहा कि नहीं, व्यक्ति तो एक राजनीतिक अस्तित्व है, इसकी कुछ विशिष्ट राजनीतिक आकांक्षायें हैं, उनकी पूर्ति के लिए ही विभिन्न समाजों का उदय होता है इत्यादि-इत्यादि और उसमें से साम्राज्यवाद पैदा हुआ।

भिन्न-भिन्न प्रकार से 'व्यक्ति' को परिभाषित करने की प्रक्रिया में उसकी किसी एकांगी प्रवृत्ति को ही समग्र जीवन मान लेने के कारण अनेक प्रकार के अधूरे विचार देखने में आते हैं।

फ्रायड ने भी एक प्रकार के 'व्यक्ति' को सामने रखा। उसने मानव की अधिकांश क्रियाओं और कार्य-व्यापारों का उद्गम उसकी ग्रंथियों के साथ जोड़ा और कहा कि व्यक्ति में जो वासनाएं हैं, जो भी उसके अन्दर प्रेरणायें हैं, उन सबका उद्गम व्यक्ति के यौन-व्यवहार पर निर्भर है। फ्रायड ने व्यक्ति के इस रूप पर ही बल दिया।

कहीं-कहीं 'व्यक्ति' एक आर्थिक प्राणी के रूप में ही समझा गया। तब व्यक्ति और समाज का परस्पर संबंध उत्पादन-प्रणाली के आधार पर ही समझने का प्रयत्न किया गया। तो, तरह-तरह से व्यक्ति को परिभाषित

करने के प्रयत्न किए गये और उन पर आधारित अनेक राजनीतिक-आर्थिक दर्शन प्रस्तुत करने के प्रयत्न किए गये। पर वे सभी अधूरे हैं। अब जिस प्रकार पश्चिम में जीवन-दर्शन उत्पन्न हुए हैं, जिस प्रकार एक संस्कृति का जन्म वहाँ हुआ है, तो क्या वही एकमात्र संस्कृति है जो मानव-जीवन के लिए कल्याणकारी है या उसके कुछ विकल्प भी हो सकते हैं? दीनदयाल जी ने वैज्ञानिक एवं दार्शनिक आधार पर एक विकल्प हमारे सामने प्रस्तुत किया। इससे पहले कि वे इस विचार के प्रत्येक पक्ष को लोकप्रिय बना पाये होते, वे काल के क्रूर प्रहार से असमय ही हमारे बीच से चले गये। आज आवश्यकता है कि हम उस एकात्म मानववाद के सभी पक्षों पर विचार करें। उस पर गहराई से चिंतन करें और यह देखें कि किस प्रकार वह आधुनिक परिप्रेक्ष्य में एक जीवन्त दर्शन के रूप में मानवीय समस्याओं का निराकरण कर सकता है।

एकात्म मानववाद के अनुसार, व्यक्ति केवल शरीर नहीं है, बल्कि शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय है। क्योंकि समष्टि व्यक्तियों से मिलकर बनती है, इसलिए उसमें भी इन तत्वों का किसी न किसी रूप में दर्शन होना चाहिए। इसलिए समष्टि के लिए भी देश, जन, संस्कृति और चिति की आवश्यकता है। व्यष्टि-समष्टि-सम्बन्धों की इस व्याख्या में चिति को ठीक से समझना महत्वपूर्ण है।

समाज-रचना के संबंध में दीनदयाल जी की चिति की अवधारणा एक श्रेष्ठ देन है। स्थूल रूप में यदि आप कहें तो जैसे व्यक्ति की एक आत्मा है, वैसे ही समाज की भी कोई आत्मा है, उसमें भी कोई चैतन्यभाव है और इस चिति का प्रकटीकरण, इसका सम्यक् रूप से अनुभव ही किसी समाज को स्वस्थ एवं गतिमान बनाता है। यह चिति ही उसके विराट रूप को प्रदर्शित करती है, यही समाज को ठीक प्रकार से संचालित कर सकती है, उसके ताप को ठीक प्रकार से नियंत्रित कर सकती है और समाज को समाज रूप में अपनी स्थिति बनाये रखने में समर्थ करती है। जैसे आत्मा एक भावात्मक संबोध है, वैसे ही चिति भी एक भावात्मक संबोध है। उसके आप यदि स्थूल रूप में पकड़ना चाहें, मुट्ठी में बंद करना चाहें, तो कठिन होगा। किन्तु बिना आत्मा के मनुष्य की कल्पना भारतवर्ष में करना तो कठिन है। इसी प्रकार समाज की भी चिति का, इस चैतन्य तत्व का, समाज के रूप में रहने की इस नैसर्गिक इच्छा का अनुभव करना ही संभव होगा, किन्तु उसको पकड़कर किसी एक स्थूल रूप में दिखा पाना कठिन होगा। दीनदयाल जी का यह विश्लेषण था कि इस सामाजिक चेतना को, इस चैतन्य को यदि समाज में नहीं बनाये रखा जाता तो समाज अपनी सारी मूल प्रकृति को खो बैठता है। अतएव व्यष्टि का नैसर्गिक सम्बन्ध परस्पर सहयोग का है। व्यक्ति की आत्मा और समाज की सामूहिक चेतना का साक्षात्कार ही सच्चा जीवन-दर्शन प्रदान करेगा।

कई बार हम लोग उनसे पूछते रहते थे कि पंडित जी संस्कृति क्या होती है? वे बड़े ही सरल ढंग से समझा देते थे कि "भई देखो, प्रकृति तो बिल्कुल बोधगम्य है। मनुष्य को भूख लगती है, यह उसकी प्रकृति है। दूसरे के साथ बाँट कर खाना चाहिए, यह भूख लगने वाली नैसर्गिक प्रकृति का एक विकास है- मानवीय समाज को स्वस्थ रखने के लिए, इसको ठीक रखने के लिए, यही संस्कृति है। दूसरे से छीनकर खा जाओ, यह विकृति है। यदि मनुष्य अपने आत्मा और विश्वात्मा का अनुभव करता है तो वह संस्कृति की ओर स्वभावतः ही चल पड़ता है।" इसलिए पंडित जी कहते थे कि व्यष्टि और समष्टि का सम्यक् सम्बन्ध होना चाहिए। व्यक्ति यदि सूक्ष्म है तो समष्टि विराट है। व्यष्टि यदि बूंद है तो समष्टि सागर है।

शिक्षा के बारे में वे यह बताते थे कि भई, शिक्षा वह प्रणाली है, वह प्रक्रिया है, जिससे कोई समाज अपने सदस्यों को अपने अनुरूप ढालता है। इसलिए शिक्षा व्यष्टि और समष्टि का सम्बन्ध जोड़ने वाला प्रमुख तत्व है। शिक्षा वह प्रक्रिया है जिससे समष्टि अपने आपको पुनरुत्पादित करती है, अपने लिए योग्य नागरिक बनाती है। नागरिक शिक्षित होकर अपने समाज के लिए उपयोगी बनने की चेष्टा करता है तथा आवश्यकतानुसार उत्तम समाज का निर्माण भी करता है ताकि व्यष्टि के प्रति समाज ने शिक्षा का अभी तक जो दायित्व निभाया है, उसका प्रतिफल समाज को दे सके। अर्थात् समाज ऐसी शिक्षा व्यक्ति को दे कि वह व्यक्ति उसके लिए उपयोगी इकाई बन सके और जब व्यक्ति कर्म करेगा तो कर्मफल के रूप में परिणाम समाज को मिलना चाहिए।

और फिर, जैसे कि व्यक्ति कर्म भी करता है, कर्मफल भी मिलता है तो उसको यज्ञ करना चाहिए, यह भारतीय संस्कृति का एक तत्व है। समाज का हम फिर से भंडार भरें, फिर से कुछ ऐसा त्याग करें कि समाज के स्रोत सूखें नहीं और शिक्षा, कर्म एवं कर्मफल के लिए निरंतर प्रयत्नशील, समृद्ध समाज बनता रहे। उसके

लिए यज्ञ करना चाहिए और फिर वे हँसी-मजाक में कहते थे, अन्ततः आज की जो कराधान प्रणाली है, वह क्या है? यह भी तो यज्ञ का रूप है। जो मैंने कमाया, उसका एक अंश मैं समाज के लिए दे रहा हूँ। इस कराधान को क्यों नहीं आप आजकल यज्ञ के रूप में स्वीकार करते? जैसे यज्ञ एक पवित्र कार्य माना जाता है, ऐसे ही समाज को अंश प्रदान करना, समाज के स्रोतों को भरते जाना, अपनी आय में से एक अंश समाज के लिए बराबर, विधिवत् देते जाना- यह यज्ञ की भावना से होना चाहिए। इसलिए कर-वंचना नहीं होनी चाहिए। समाज-रचना की व्यवस्था करने वाले इस प्रकार के प्रतिमान हम बनायें।

वे प्रायः कहते थे कि प्राणायाम की आवश्यकता पड़ती है शरीर के हर अंग में पोषक 'ऑक्सीजन' पहुंचाने के लिए। जीवन के लिए जो सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, प्राणवायु, यह यदि आप शरीर के हर जीवकोष (सेल) में पहुँचाना चाहते हैं तो उसके लिए आपको प्राणायाम करना पड़ता है। उसी प्रकार से भौतिक क्रिया-कलापों के लिए पोषक तत्व 'अर्थ' है (जिसमें उत्पादन और उपभोग दोनों ही सम्मिलित हैं), अतः समाज को अर्थायाम करना चाहिए।

प्राणायाम है नियंत्रित श्वास लेना, उसको क्षणिक रोकना और फिर उसका निश्वास, अर्थात् ऑक्सीजन लेना, रक्त के प्रत्येक कण तक पहुँचाना और दूषित वायु को बाहर निकालना। निरन्तर इस बात का प्रयत्न करना कि यह पोषण प्रत्येक जीवनकोष में पहुँचता रहे। तो जैसे व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए यह प्राणायाम आवश्यक है, वैसे ही समाज के स्वास्थ्य के लिए 'अर्थायाम' आवश्यक है। यह स्वाभाविक है कि जैसे आप केवल साँस खींचकर ही बहुत देर तक नहीं बैठे रह सकते (समाधि वालों की बात छोड़ दीजिए, सामान्य व्यक्ति के लिए तो साँस रोककर बैठना कठिन है), वैसे ही आप अर्थ को एक स्थान पर जकड़कर नहीं बैठ सकते। यदि रक्त कहीं शरीर के एक कोने में जाकर जमने लग जाये तो थक्के बनने लगते हैं, जीवन के लिए खतरा बन जाता है। इसी प्रकार यदि अर्थ एक ही व्यक्ति के पास बहुत अधिक मात्रा में संचित हो जाये तो यह भी सामाजिक स्वास्थ्य के लिए प्रदूषण पैदा करता है, अवरोध उत्पन्न करता है। प्राणायाम की भाँति अर्थायाम सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है और इसमें से फिर उपभोग पर संयम, उत्पादन कैसा और उपभोग कितना और किस सीमा तक, ये सारे सिद्धान्त बिल्कुल स्वाभाविक रूप में प्राप्त होते चलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एकात्म मानववाद किसी एक विशेष राजनीतिक नारे में नहीं बंधा है, वरन् मानव और मानव-समाज की मूल प्रकृति के विश्लेषण पर आधारित है। मनुष्य की चार मोटी विधायें - मन, बुद्धि, शरीर और आत्मा भारत में अभी तक सर्वमान्य हैं (महर्षि अरविन्द के सिद्धान्त के अनुसार यदि कभी अतिमानव का प्रादुर्भाव हुआ तो किसी अन्य विधान को ही हम देख सकेंगे, तब शायद बात भले ही बदल जाए) और जब तक ये चार तत्व सर्वमान्य हैं, तब तक ऐसा समग्र चिन्तन, जिसमें व्यक्ति याने मन, बुद्धि शरीर और आत्मा तथा समाज माने देश, जन, संस्कृति और विति, जिसमें व्यष्टि और समष्टि के सम्यक् सम्बन्ध शिक्षा, कर्म, कर्मफल और यज्ञ द्वारा परिभाषित हैं, जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चारों पुरुषार्थों का विचार है, एक स्वस्थ समाज-रचना के लिए जीवन-दर्शन एवं विचार-दर्शन के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। इस एकात्म मानववाद का हम गहराई से अनुशीलन करें, इसके आलोक में अच्छे, स्वस्थ, समतामूलक समाज का निर्माण करें।

पंडित जी कहा करते थे कि केवल नारेबाजी से कोई काम नहीं चलेगा। जिस दिन तक उस मानव को, जो ऐसे क्षेत्रों में रहता है, जहाँ आज प्रकाश नहीं है, जहाँ दरिद्रता और दैन्य का साम्राज्य है, जहाँ उसके पाँव की बिवाई फटी हुई है, जिसे जूता पहनने के लिए प्राप्त नहीं है, जिसे रोग होने पर ओषधि नहीं है, उस निरक्षर, निरुत्साही और किंकर्तव्यविमूढ़ मानव को जब हम एक स्वस्थ और सुन्दर समाज का दर्शन करा सकेंगे समय जहाँ अचल खड़ा है, वहाँ उसे जब हम गति दे सकेंगे, उस समय तक प्रत्येक विचारशील व्यक्ति, संवेदनशील व्यक्ति को ऐसे समाज के निर्माण के लिए सतत् कार्यरत रहना चाहिए। उसके कार्यों का जो भी कुछ उपास्य है, वह वही दरिद्रनारायण, वही पीड़ित, वही शोषित मानव है, उसके उद्धार के लिए भी उत्तम प्रकार की समाज-रचना विकसित की जानी चाहिए। मैं समझता हूँ कि इस तत्व को समझने के लिए और अच्छी, स्वस्थ, सबल, योग्य समाज रचना के लिए एकात्म मानववाद का अनुशीलन, उस पर विचार-विमर्श करना ही शायद उनके प्रति सबसे महत्वपूर्ण श्रद्धांजलि होगी।

❐ उत्तर प्रदेश संदेश, पं० दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक, सितम्बर १९९१

दो प्लेटफॉर्मों के मध्य : एक अपराजेय मुस्कान

✍ शैवाल सत्यार्थी

इटारसी स्टेशन। संध्या का समय। ग्वालियर के लिए ट्रेन की प्रतीक्षा।

मैं करेली से वापस लौट रहा था। रश्मि और ऋचा साथ थे। प्लेटफॉर्म - किसी आने वाली ट्रेन के कोलाहल की प्रतीक्षा में शांत-निस्तब्ध था।

मैं धीरे-धीरे चहलकदमी कर रहा था। तभी, थोड़े से फासले पर, एक जानी - पहचानी सी आकृति मुझे दिखाई दी, विशुद्ध भारतीय परिवेश में।यकायक मैं चौंका। मैंने एक बार फिर गौर से देखा और रश्मि को बताया कि यह पं० दीनदयाल जी उपाध्याय हैं, मैं मिलकर आता हूँ।

उन्हें इस तरह एकाकी पाकर मैं आश्चर्य में भर गया था। उनकी ओर बढ़ गया। अपनी ओर आने के मेरे निश्चित लक्ष्य को समझकर, वे चलते-चलते ठिठक गए।

मैंने सादर प्रणाम किया। अपनी सुपरिचित निर्मल मुस्कान से उन्होंने अभिवादन का उत्तर दिया।

'पांचजन्य', 'राष्ट्रधर्म' आदि के संदर्भ में मैंने अपना परिचय देना चाहा, जिसकी उन्हें आवश्यकता न थी। वे मुझे पहचान गये थे। मेरा नाम उनकी विराट स्मृति में था। मुझे यह सुखद लगा। ग्वालियर संबंधी दो-चार बातें होने के पश्चात् मैं पूछ बैठा- 'आप कहाँ जा रहे हैं?' उन्होंने बताया कि वे जबलपुर में होने जा रही पार्टी की बैठक में सम्मिलित होने जा रहे हैं। 'अकेले ही?', मैंने सहसा पूछ लिया।

'हाँ, अकेले ही',वही शांत, स्निग्ध और अपराजेय मुस्कान- जैसे कि पूछा हो- 'क्यों, क्या हुआ अकेले जाने में?' आज सोचता हूँ, उनका यह 'अकेले जाना' समूची मानवता के लिए कितना महंगा पड़ गया!!

एक यह इटारसी का सौभाग्यशाली प्लेटफॉर्म, जो उनके चरणों के स्पर्श से धन्य हो गया, और एक वह मुगलसराय का अभागा प्लेटफॉर्म, जो उनकी घृणित हत्या के महापाप से सदा-सदा के लिए कलंकित।

तब स्वप्न में भी इस कल्पना का जन्म नहीं हुआ था कि निम्न पीड़ापरक श्रद्धांजलि भी मुझे देनी होगी। पंडित जी के महाप्रयाण के वेदनापूर्ण क्षणों में मैंने लिखा-

पेड़ की
सबसे ऊँची टहनी पर
खिले हुए
सबसे सौम्य, सुन्दर, सुवासित
गुलाब को-
किन्हीं अंधी, अपावन, अपराधी
हवाओं के झोंकों ने तोड़ लिया है!

तुम्हें खोकर,
उपवन सिसकता है!
पत्ता-पत्ता बिलखता है!!
किन्तु,
खिलना-मुरझाना,
मुरझाकर फिर खिलना-
यह शाश्वत क्रम है!
मृत्यु तो एक पड़ाव है,

एक क्षणिक भ्रम है!!
इस देश की माटी का कण-कण
तुम्हारे जन्मने की,
फिर खिलने की,
अनवरत प्रतीक्षा में क्षण-क्षण
सिसकेगा, तरसेगा!
भारत माता के आकुल नयनों से
प्रति पल सावन बरसेगा!!

❐ मध्य प्रदेश सन्देश, सितम्बर, १९९२

शैवाल सत्यार्थी : साहित्यकार।

एक समर्पित व्यक्तित्व

✍ गुलाब दत्त त्रिपाठी

पं० दीनदयाल जी एक व्यक्ति मात्र नहीं थे। राष्ट्र एवं समाज के लिए पूर्ण समर्पित व्यक्तित्व थे। व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अद्‌भुत समन्वय यदि देखना हो उनका जीवन जाज्वल्यमान प्रतीक था।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के विचारों को स्वामी विवेकानन्द ने सारे जगत के सामने प्रचारित एवं प्रसारित किया। उसी प्रकार पूज्य डा० हेडगेवार द्वारा प्रतिपादित एवं पूज्य गुरु जी द्वारा प्रसारित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा का प्रचार-प्रसार दीनदयाल जी ने सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में सफलता पूर्वक दिया। उनका जीवन बहुत कुछ संघ के स्थापक पू० डा० हेडगेवार से मिलता है। डाक्टर जी के माता-पिता का स्वर्गवास उनके बाल्यकाल्य में ही हो गया था। उसी प्रकार दीनदयाल जी के माता-पिता का देहान्त भी बाल्यकाल में ही हो गया था। समाज ऐसे बालक को तो अनाथ कहता है। परन्तु अनाथ बालक ने अपनी बुद्धिमत्ता व अपनी योग्यता से जितनी अधिक से अधिक पढ़ाई करनी थी वह प्रत्येक कक्षा में प्रथम श्रेणी व प्रथम स्थान पाकर की। प्रत्येक कक्षा में उनको स्कॉलरशिप मिलती थी।

सन् १९३७ के जुलाई मास में दीनदयाल जी कानपुर आये और वी०एस०एस०डी० कॉलेज में बी०ए० कक्षा में प्रवेश लिया। उसी समय भाऊ राव देवरस लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ने आये। साथ ही संघ के प्रचारक का भी कार्य करने लगे। भाऊराव जी का सम्पर्क दीनदयाल जी से कानपुर में हुआ। पंडित जी कानपुर की प्रथम संघ शाखा (नवाबगंज) में प्रथम स्वयंसेवक के रूप में जाने लगे। उनके साथ श्री सुन्दरसिंह भण्डारी जो आज कल भारतीय जनता पार्टी के उपाध्यक्ष हैं, भी उसी शाखा में आते थे। सन् १९३८ में दीनदयाल जी ही उत्तर प्रदेश के पहले संघ प्रचारक हुए।

मेरा व्यक्तिगत संपर्क पं० दीनदयाल जी से सन् १९४३ के जून मास में वाराणसी के संघ शिक्षा वर्ग में हुआ। मैं गोरखपुर से द्वितीय वर्ष की संघ शिक्षा हेतु वाराणसी आया था। दीनदयाल जी नागपुर से तृतीय वर्ष की संघ शिक्षा में भाग लेकर आये थे। उस समय वे लखीमपुर जिले के प्रचारक थे। वाराणसी के संघ शिक्षा वर्ग में एक दिन दीनदयाल जी का भगवा ध्वज पर बहुत ही ओजस्वी, भावनात्मक एवं प्रेरणादायक बौद्धिक हुआ। मैं सन् १९४१ में श्री नानाजी देशमुख के मार्गदर्शन में संघ का स्वयंसेवक बना था। तब सेण्ट एण्ड्रयूज कॉलेज गोरखपुर में प्रथम वर्ष विज्ञान का छात्र था। वाराणसी में जब द्वितीय वर्ष के संघ शिक्षा वर्ग में भाग लेने मैं आया तो गोरखपुर में ही द्वितीय वर्ष विज्ञान का छात्र था।

सन् १९४३ में मैं डी०ए०वी० कॉलेज कानपुर में बी०एस०सी० करने आया उस समय भी पंडित जी लखीमपुर के प्रचारक थे। संभवतः कानपुर विभाग में उस समय लखीमपुर भी था। दीनदयाल जी विभाग प्रचारक श्री अनंतराव गोखले जी से मिलने संघ कार्यालय में आया करते थे और वहाँ मेरी भेंट उनसे हो जाया करती थी। विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं पर उनसे चर्चा भी हुआ करती थी। उस समय तो संघ का उद्‌देश्य 'हिन्दू राष्ट्र का' संघटन करना ही कहा जाता था। इसी को पंडित जी अपने शब्दों में कहते थे कि "इस राष्ट्र को राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़, सामाजिक दृष्टि से उन्नत तथा आर्थिक दृष्टि से समृद्ध करना होगा तथा राष्ट्र को सर्वांगीण शिखर पर लाना होगा। इसके लिए हिन्दू समाज का संगठन आवश्यक है। हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है।"

सन् १९४५ में श्री अटल बिहारी वाजपेयी (जो आजकल भारतीय जनता पार्टी की ओर से लोकसभा में विपक्ष के नेता हैं) अपने पिता कृष्ण बिहारी बाजपेयी के साथ कानपुर के डी०ए०वी० कालेज में एम०ए० राजनीति शास्त्र एवं एल०एल०बी० करने आये। एल०एल०बी० में मैं भी उनका सहपाठी था। उनके पिता जी भी एल०एल०बी० के छात्र थे। उस समय मैं दयानंद शाखा (जो डी०ए०वी० छात्रावास के पीछे लगती थी) का मुख्य शिक्षक था और श्री अटल बिहारी

वाजपेयी उस शाखा पर जाते थे। संघ के प्रति निष्ठा श्री अटल जी में बढ़ती गई और सन् १९४७ में शिक्षा पूर्ण करने के बाद एक पूर्ण समर्पित कार्यकर्ता के नाते वे भाऊराव के पास मार्गदर्शन के लिए लखनऊ पहुँचे। भाऊराव जी ने पंडित दीनदयाल जी से परामर्श कर श्री अटल जी को साहित्य के क्षेत्र में लगाया और राष्ट्रधर्म का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जिसमें वे दीनदयाल जी के सहयोगी बनकर प्राण-पण से जुट गये। गाँधीजी की हत्या के बाद राष्ट्रधर्म पर भी अनेक विपत्तियाँ आयीं। प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर प्रतिबन्ध लगा। हजारों संघ कार्यकर्ता जेल गये। इस काल में भी दीनदयाल जी ने अपना साहस व धैर्य नहीं खोया। भूमिगत रहते हुए भी वे स्वयं लिखते थे, कम्पोज करते थे, छापते थे और उन संघ संबंधित समाचारों को स्वयं वितरित भी करते थे।

प्रतिबंध काल के बाद राष्ट्रधर्म (मासिक), पाञ्चजन्य (साप्ताहिक), दैनिक स्वदेश, फिर बाद में दैनिक तरुण भारत का प्रकाशन दीनदयाल जी के मार्गदर्शन में होने लगा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संघ कार्य पर पुनर्विचार हुआ और यह निश्चय हुआ कि राजनीति भी राष्ट्र जीवन का एक आवश्यक पहलू है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने परम पूज्य गुरु जी से मिलकर राजनीतिक पार्टी की रचना का निश्चय किया। उनके सहयोगी के नाते संपूर्ण देश में ऐसे व्यक्ति का चयन करना था जो राजनीति में अलिप्त रहकर राजनीति में कार्य कर सके। वह व्यक्ति थे पं० दीनदयाल उपाध्याय। भारतीय जनसंघ नाम की राजनीतिक पार्टी की रचना की गयी।१९५२ में कानपुर के प्रथम अधिवेशन में डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने पंडित दीनदयाल उपाध्याय को अखिल भारतीय महामंत्री चुना। इतने बड़ा पद होते हुए भी उनका व्यवहार एक साधारण संघ स्वयंसेवक जैसा ही रहता था।

कानपुर में प्रथम अधिवेशन के बाद भारतीय जनसंघ द्वारा कश्मीर आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उसका नेतृत्व डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने किया। प्रमुख मुद्‌दा था "एक देश में दो विधान, दो निशान और दो प्रधान नहीं चलेंगे।" डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी पहले ही जत्थे में सत्याग्रह में कूद पड़े। उन्हें श्रीनगर की जेल में रक्खा गया और शेख अब्दुल्ला की साजिश से जेल में ही उनका स्वर्गवास हो गया। जनसंघ के प्रथम शहीद के रूप में हम लोग उन्हें याद करते हैं। पंडित जी ने फिर पूरा कार्य संभाला। डा० प्रेमनाथ डोगरा जनसंघ के अध्यक्ष हुए, फिर पं० मौलिचंद्र शर्मा, डा० देवप्रसाद घोष, रामाराव जी, बलराज मधोक, श्री अटल बिहारी व डाक्टर रघुवीर कालान्तर में अध्यक्ष हुए।

अंतिम समय-वज्राघात

कार्यकर्ताओं के आग्रह के कारण सन् १९६७ में कालीकट (केरल) के अखिल भारतीय अधिवेशन में दीनदयाल जी अध्यक्ष बने। वह अधिवेशन अत्यन्त सफल एवं अभूतपूर्व था। फरवरी १९६८ को पंडित जी कई स्थानों पर होते हुए कानपुर में परम पूजनीय गुरु जी से बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह (उस समय के प्रान्त संघचालक) के निवास पर मिलने आए। मैं भी अन्य कार्यकर्ताओं के साथ वहाँ उपस्थित था। पूज्य गुरुजी ने उनसे पूछा, "पंडित जी, कालीकट का अधिवेशन कैसा रहा?" पंडित दीनदयाल जी ने उत्तर दिया "गुरु जी, यह अधिवेशन तो अभूतपूर्व एवं अत्यन्त सफल रहा"। गुरुजी ने कुछ चिंतित होते हुए कहा कि "पंडित जी, आपके लिए यह अच्छा नहीं हुआ"। सायंकाल निकट की एक शाखा पर सब लोग प्रार्थना हेतु गये। हममें से एक कार्यकर्ता ने पूछा "दीनदयाल जी, प्रारम्भ से अब तक तो आप जनसंघ के महामंत्री रहे। अब अध्यक्ष कितने साल तक रहेंगे?" पंडित जी अपनी सहज मुद्रा में केवल मुस्करा दिये। कौन जानता था कि उनका यह अंतिम दर्शन था। उन्हें रात्रि में ही लखनऊ जाना था। मैंने एक कुर्ता व धोती प्रेस करके उनके छोटे से ब्रीफकेस में डाल दिया। पंडित जी ने जाते समय वह ब्रीफकेस खोल कर देखा और मुझसे बोले, "भाई, प्रेस करने की क्या आवश्यकता थी।" मैंने कहा, "देखने से थोड़ा अच्छा लगेगा।" उसके बाद पंडित जी लखनऊ कार से प्रस्थान कर गये।

सब की कल्पना के विपरीत ११ फरवरी १९६८ की रात्रि में मुगलसराय में पंडित जी की क्रूर हत्या कर दी गई। १२ ता० को हम सबको इस व्रजाघात की सूचना मिली। यहाँ के हजारों कार्यकर्ता [illegible] मार्केट से शोक जुलूस के रूप में सरसय्या घाट पहुँचे। दिवगंत आत्मा की शांति के लिए भगवा [illegible] प्रार्थना की

गयी। उस शोक जुलूस में स्व० सुशीला नरेन्द्र जीत सिंह (स्व० बैरिस्टर साहब की धर्म पत्नी) भी थीं। उसी जुलूस में बूजी ने दीनदयाल जी के नाम पर एक विद्यालय खोलने का संकल्प किया और शीघ्र ही उनके प्रयास से पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म इण्टर कालेज का निर्माण हुआ जो आज एक आदर्श विद्यालय के रूप में चल रहा है जहाँ प्रत्येक छात्र, प्राचार्य अध्यापकगण पंडित जी के विचारों को अपने जीवन में उतारने का प्रयास करते रहते हैं।

आज की परिस्थितियों के अनुरूप अपने धर्म की विशेषता का नामकरण पंडित जी ने अपनी एकात्म मानववाद किया। यह हम सभी के लिए एक आदर्श जीवन-दर्शन है। इस दर्शन को एवं उनके अन्य विचारों को हम सभी अपने जीवन में उतारें, यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

गुलाबदत्त त्रिपाठी : पूर्व अध्यक्ष, रसायन विज्ञान विभाग, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय, कानपुर।

सविनय निवेदन है प्रभु ! लौट आओ

✍ रोहित कपूर 'व्योम', द्वादश

हे राम!
जीवन एक कटु यथार्थ है,
और तुम एक महाकाव्य
परन्तु
तुम्हारे बस की नहीं,
उस अविवेक पर विजय
जिसके दस-बीस नहीं,
लाखों सिर, लाखों हाथ हैं।
न जाने किस-किस के साथ हैं?
इससे बड़ा भी क्या हो सकता है,
हमारा दुर्भाग्य,
एक विवादित स्थल में सिमटकर
रह गया तुम्हारा राज्य
अयोध्या इस समय तुम्हारी नहीं,
योद्धाओं की लंका है
'मानस' तुम्हारा 'चरित' नहीं
चुनाव का डंका है

हे राम कहाँ यह कलियुग,
कहाँ तुम्हारा त्रेतायुग,
कहाँ तुम मर्यादा पुरुषोत्तम
कहाँ यह नेता युग
सविनय निवेदन है प्रभु,
लौट आओ,
किसी पुराण, किसी धर्मग्रन्थ में,
सकुशल, सपत्नीक
जंगल को जाओ,
परन्तु अब के जंगल वे जंगल नहीं
जिनमें घूमा करते थे बाल्मीकि
वे तो डाकू से ऋषि बने थे,
पर आज तो नेता उल्टी गंगा बहा रहे हैं
'घाटों' पर चढ़ाकर फूल
तंदूर में 'मूल' जला रहे हैं।

SOME REMINISCENCES

✍ Chandra Pal Singh

Some people are born great, some acquire greatness and on some greatness is thrust. Pandit Deen Dayal Upadhyaya belonged to the second category of people. In his family circle known as Deenu and among his Sangh friends and acquaintances called Deen Dayalji, he came to be known as Pandit Deen Dayal Upadhyaya or Panditji only when he became General Secretary and later President of the Bharatiya Jansangh.

It was some time in 1943. A shakha or branch of the Rashtriya Swyamsewak Sangh had been started at Hardoi one year earlier. I happened to be its first karyavah or secretary. Hardoi was one of the districts included in Lakhimpur vibhag or administrative circle from the Sangh point of view. The late Pt. Shyam Narayan Mishra was the Vibhag Sangh Chalak. One fine morning a medium sized young man, still in his twenties, of wheatish complexion and spare build, greeted me with a broad smile. He had brought a letter of introduction from the Vibhag Sangh Chalak, which informed me that he was our Vibhag Pracharak, Pandit Deen Dayal Upadhyaya.

Now as Vibhag Pracharak Deen Dayalji began to visit Hardoi quite frequently. Sometimes he would stay with us for days together. He became quite intimate with all the members of my family. As he hailed from the district of Mathura, to which my wife also belonged and as Mathura is contiguous to my home district Agra, I naturally felt drawn towards him. Moreover, both of us were Brajbhashi, speaking the same dialect, though it was very seldom that we exchanged words in our home tongue.

Deen Dayalji was about six years younger to me. He called me Master Sahib as I was then a lecturer at the local intermediate college and paid due regard to me, I being his senior in age. And yet he commanded my respect as he did of other elderly swayamsewaks by dint of his conduct, character and intellect. His had been a first class academic career. He could very easily compete for the most coveted Government Service, the I.C.S. He, however, in keeping with his innate nature had chosen to be a teacher and had obtained a double first class in L.T. at the Central Pedagogical Institute, Allahabad. He could very easily rise to be a Deputy Director of Education, if not the Director of Education. But this career , too, he had spurned in order to become a simple Pracharak of the R.S.S. Being a Pracharak means adopting a life of celebacy, asceticism and utter self effacement. For Deen Dayalji, who had lost both his parents in his infancy and had been brought up in almost penury by his maternal uncle who expected so much from him, to deny

all wordly prospects was really a very great sacrifice on his part. It was this spirit of self-sacrifice and dedication, combined with utter simplicity, sincerity and sharpness of intellect which impressed us all. Soft spoken and sweet tempered, he was able to disarm all those who differed from him with his sweet reasonableness and clear thinking. Shri Radha Krishna, the ex-Vice chanceller of Kanpur University, who was then a congress M.L.A. at Hardoi, was one of the great admirers of young Deen Dayal.

As a swayamsewak he had passed the third-year course from Nagpur, but though well-versed in the philosophy of the Sangh, he was rather indifferent to his personal appearance and efficiency in physical culture course. He was essentially a thinker and had clear concepts about the object of the Sangh and its working. But possessing, as he did, a frail constitution, he could never make his mark in games, or physical drill. Though he was not smart in his dress and bearing, he did not lack in mental smartness. Though very simple in his manners and behaviour, he could not be easily bamboozled. He could easily get at the motives of the people he came into contact with. As a speaker, he was not a rabble-rouser, but a sedate persuasive dealer in words appealing to the heart of his audience through its head.

Whatever time Deen Dayalji could snatch from his otherwise busy programme of organisational work, which consisted of visiting the various shakhas and addressing rallies of swyamsewaks and meetings of Sangh workers, he devoted to the study of books, which he borrowed from different sources. Once he took from my personal library books of such divergent subjects as Upanishad prakash, Sumitranandan's 'Pallav' and Lajpat Rai's 'Young India'. That shows the variety of his interests. By the way, I may mention here that he was very particular in returning the books borrowed by him to their owners in time, a rare quality in book- lovers. Usually he got time for reading while travelling by train or at night, when the others had gone to sleep.

It was as a Vibhag Pracharak that Deen-Dayalji wrote his first book, 'Chandra Gupta Maurya'. Once an idea got hold of his mind, he was able, not long after, to give it a shape. He felt the need of good biographies for young swayamsewaks and he started writing them. Soon he completed his second biography, 'Shankaracharya'. He advised me, too, to write a short biography of Swami Vivekanand in Hindi. With this end in view he brought for me a biography of the Swami in English. But lethargic as I was, I wrote a few pages, but could not complete the assignment.

Deen Dayalji was a liberal to the core . Intolerance in word, thought or deed was quite foreign to his nature. Though firmly rooted in Sangh ideology, he kept the windows of his mind open to the four winds. Before being drawn into the Sangh, I had been a Gandhiite and habitual wearer of

khadi, which I kept using till 1948. Once when addressing the swayameswaks, I exhorted them to make it a point to use only swadeshi goods as far as possible. Deen Dayalji very much appreciated my viewpoint. In those days Acharya Vinoba Bhave's literature had begun to appear and I found some of his works included in the few books which Deen Dayalji always carried in a bag with him. He always welcomed new ideas which were in consonance with his fundamental beliefs.

It was about 1946-47 that Deen Dayalji was deputed to Lucknow where he was put in charge of the publication work of the R.S.S. For some time he was by turn on the editorial board of the monthly 'Rashtra Dharma', the weekly 'Panchajanya' and the short-lived daily 'Swadesh'. In those days he had to work eighteen hours a week, doing all kinds of work, from that of a compositor to that of writing the leading article, never caring at the same time that his name should appear in the print. It was a noble example of self abnegation.

It will not be out of place if I give here one of my recollections of that noble soul, which sheds a flood of light on his spirit of sacrifice. Once I was suprised to find that though I was earning a little over one hundred rupees per month and Deen Dayalji did not get a single paisa by way of salary, he was able to offer Rs. 51/- as guru dakshina, whereas I could offer only Rs. 25/-. When by me how he could manage to do so, he told me that this sum consisted of the small sums he had been receiving from his maternal uncles and aunts whenever he had visited them.

Soon after independence of the country I became Principal and was to some extent detached from the active working of the Sangh and Deen Dayalji's services too were being utilised exclusively for some important ancilliary activities of the Sangh like publication, journalism and later on politics. Consequently, the occasions of our meeting became few and far between. After the coming into being of the Bharatiya Jansangh in 1950, he became its General Secretary and as such had to undertake long all-India tours. But whenever he met me by chance he was the same simple, unassuming Deen Dayal which he was as Vibhag Pracharak, accosting me as "Master Sahib" or "Principal Sahib" with his usual broad smile. He never failed to enquire about my children on these occasions. Soon after his triumphal return from Kalikat in the South where he had gone as President-elect of the Bhartiya Jansangh and only a few days before his tragic departure from the worldly stage I chanced to meet him one night at Varanasi Cantonment station. He was waiting for a broad gauge down train and I for a meter gauge one for Balia. Without feeling the weight of the president-ship of an all-India party like the Jansangh and discarding all formalities he greeted me most cordially and in his inimitable homely way, inquired about me and my children - Sumita, Rajju and

Munna and condoled for the passing away of their mother who had died some time back. Little did I know that it was to be our last meeting. When some time later the tragic news came, it was to me a terrible shock like that of the passing away of a near and dear one.

❐ Neerajan, 1974-75

Chandra Pal Singh : Founder Principal, Pt. Deen Dayal Upadhyaya Sanatan Dharm Vidyalaya, Kanpur.

अति मानव को शत नमस्कार

आच्छन्न तिमिर जड़ता का चारों ओर, किन्तु
मानस में मेरे जलती पावन ज्योति प्रखर
संत्रस्त क्षुब्ध मानवता भरती आह, किन्तु
मेरा सम्बल उत्साह दे रहा बैठ शिखर।

जो टकराया चट्टानों से फिर भी न डिगा,
जिसके उर में बहती रहती थी रसधारा,
जो कभी नहीं विचलित होता था वैभव में,
थी बाँध सकी जिसको न कभी मोहिल-कारा,

जो मुस्काता रहता था दुःख में खुशियों सा,
जिसके मुख मालिन्य कभी भी रुक न सका,
जो सदा पिरोता रहता मानव की कड़ियाँ,
जिसके अन्तर में द्वैत एक पल टिक न सका,
उस महिमामय मानव को शत-शत नमस्कार,
उस गरिमामय अतिमानव को शत नमस्कार।

थी सरस्वती सहचरी सिद्धि अनुचरी बनी,
वैभव ने हाथ पसार कोटि मनुहारें की,
आराध्या थी साधना किन्तु उनकी हर-पल,
शैशव से ही विष पीकर मस्त बहारें दी,
साधनाभाव जिसके पथ से मुँह मोड़ चले
दुविधायें अपनी असफलता पर रोती थीं,
उस मूर्तिमन्त साधना शक्ति को नमस्कार।
उस प्राणमयी साकार भक्ति को नमस्कार।
विश्वास भरा अन्तस् में, उसकी ज्योति प्रखर
उर में लेकर पहुँचेंगे गिरि की चोटी पर,
है लक्ष्य दूर इसका भय किंचित् मात्र नहीं,
पथ देती है प्रेरणा सूर्य कोटि बनकर,
उत्साह, शील, संयम की पावन गंगा में
अवगाहन करता रहा सूर्य प्रेरणा जहाँ,
उतरा हूँ ले विश्वास उसी के सम्बल का
हे शक्तिमान्! पहुँचा दे मेरे गान वहाँ
नीराजन कर लूँ एक बार बैरागी का
पहुँचा दे मेरे नमन प्रेरणा के प्रसून
श्रद्धा बह चली भक्ति बन कर उस सिन्धु हेतु
उमड़े चलते हैं प्रमुदित होकर उभय कूल
उस तपः मूर्ति को मेरा शतशः नमस्कार।
उस त्याग मूर्ति को मेरा वन्दन बार-बार।

ओमशङ्कर : संस्थापक आचार्य, संप्रति प्राचार्य, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

A TRIBUTE

✍ J.P. Srivastav

When on the sad day of 30th January, 1948, Mahatma Gandhi passed away, Pt. Jawaher Lal nehru, the then Prime Minister, during the course of his broadcast to the nation, observed, "The light is gone and there is darkness everywhere". At the sad demise of Pt. Deen Dayal Upadhyaya, Sri Atal Behari Vajpayee, too, almost in a similar vein, rightly bemoaned, "The Nandadeep has been put out and we see no light." No doubt we are disillusioned at the agonising and sudden demise of men like Gandhiji and Pt. Deen Dayalji and feel as if we have been forced to grope in the dark. But in reality, great men pass away only physically; their words echo for ages to come. These words guide us and inspire us. The words give us a sort of divine light. Panditji's words echo in our hearts and give us light to guide our path.

Panditji's words came out from the depth of his heart. He said what he meant and meant what he said. In this respect, he was not at all a political man. Politics was forced upon him and when it was forced upon him he took it in the truest sportsman like spirit and tried to sublimate it. Of coruse, his life was cut short, otherwise he must have given new and sublime dimensions to politics. For so many years, he remained the General Secretary of the then Jansangh, now BJP, and was elected its President. Ignorant critics termed the Janasangh as a party of status quo, or may be they deliberately did so to malign the party and its leaders. But Deen Dayalji often said, "Don't be afraid of change. Face it boldly and try to shape it in such a way that it may become a blessing for the future." I would emphatically assert that he was far more progressive than the so called progressives.

When Upadhyayaji propounded the theory of Integral Humanism, he was humble enough to submit that whatever he said was nothing new and that he was indebted to the seers, saints and sages of India for what he propounded, although to many of us he himself was a saint and seer. How prophetic his words were when he used to say that communism was only an incomplete philosophy and as such could never succeed. Events of the eighties have justified his prophecy. Though a critic of communsim, he always appreciated its emphasis on equality, but with reservations, of course. Prejudice and ill - will were foreign to his nature.

Deen Dayalji was a thinker, a writer, a journalist, an organiser, a leader, and much more, blended into one. Unfortunately, Panditji's life and his ideas have not yet received the propagation they deserve for the good of the country. The more the country comes to know of him, the better it will be for its own good.

When Deen Dayalji paid a visit to America, an admirer of his gave him a

cheque worth ten thousand dollars. Panditji did not even look at the amount and kept it safely in his briefcase. The money had been given to him so that he might buy certain things of his choice. But the cheque remained with him as it was. When he returned home to India, he gave it away as Guru Dakshina in the Gurupuja festival of the RSS. The anecdote shows the mould in which Panditji's life was shaped. He was a 'veetaragi', having no attachment for worldly possessions. He knew that money has a corrupting influence both on individuals and on institutions. So it is that he never hankered after money for the Jansangh. He wanted only just what was enough for furthering the cause of the Party. To me it appears to be spiritualisation of politics.

Panditji was a man of letters and yet he was humble to the extreme. He was a versatile genius and yet he made absoluely no show of his being a genius. He was a leader and yet he was unimposing to the extreme. For him no one was so unimportant as to be neglected and no one so important as to draw his attention more than his due. He was a man of very high thinking and it is no exaggeration when I say that he was simplicity incarnate. In spite of his extremely busy schedule of work in connection with the Jansangh and the RSS, he used to wash his clothes with his own hands and even sew them up when torn. He paid scant attention to his dress which to him was an index of the barber-and - tailor civilisation of the west. Once he paid a visit to a town, where he had to address a public meeting. The workers had arranged for him a new dress. He had no objection to wearing the same. But he would have been in the same form of his mental and intellectual self in his rather simple and not so clean dress as in the new one.

Anger to Panditji was something alien, but he could assert effectively, when it became necessary to asserrt. Once Panditji was addresaing a press conference here at Kanpur. I was also present in the conference. A correspondent, with a view to making Panditji answerless, proudly asked him, "Panditji, you talk of Indian technology. Isn't technology universal?" Prompt came Panditji's reply without even a second's pause, "No, technical laws are universal; technology is regional." Such a rare presence of mind and minute understanding of things Deen Dayalji pssessed.

It was our good fortune to be associated with such a personality. But it was our misfortune to lose him at a time when he had not completed even fifty two years of his life. He was an 'ajat shatru' a man having no enemies and yet he was killed in ghastly and tragic circumstances, leaving his country men shocked and stunned. We remember him sorrowfully and cherish his memory most devoutly.

Neerajan, 1989-90

J. P. Srivastav : Retired Lecturer, B.N.S.D. Inter College, Kanpur.

पण्डित जी

✍ ओमशङ्कर

तुम आये और चले गये। गये भी इतना रूठकर जितनी तुमसे आशा नहीं थी। कभी रूठे होते, कभी क्षुब्ध, क्रुद्ध, अथवा कुपित हुये होते, तो आज भी हम कल्पना कर सकते थे। किन्तु। क्या कहें? कभी स्वप्न में भी तो उदास नहीं हुए। और हुए तो ऐसे कि..। एक 'विडम्बना' ही ऐसा शब्द मुझे आता है, जिसका प्रयोग चाहूँ न चाहूँ, तुम्हारा स्मरण आते ही बार-बार भीतर के बाहर तक अपने ही द्वारा किया जाने लगता है। और उसका समापन कहाँ होता है? कह नहीं सकता।

तुमने शिक्षा के सच्चे अर्थों को उजागर करने का संकल्प लिया था, किन्तु यह क्या? अनुशासन और समर्पण का पर्याय तुम, कहाँ से कहाँ पहुँच गये? 'संस्कार' से 'नीति' में। खैर वह भी उसी संस्कृति का एक अङ्ग है, जिसके विकास का संकल्प तुम्हारी उर्वर मेधा ने किया था। शिक्षा के माध्यम से। और फिर सिरजनहार की यही इच्छा है तो फिर यही सही। कर्तव्य तो तुम्हारे रोम-रोम में बसा था और दृढ़ता रग-रग में। इसलिए उन रपटीली राहों पर भी पहले सम्हल-सम्हल कर और थोड़े ही समय बाद बड़े वेग और विश्वास के साथ बढ़ चले। कदाचित् इसीलिए किसी के आदर्श, किसी के आराध्य और किसी-किसी के आश्चर्य का कारण भी बन गये।

तुम्हारा आना अभी 'मेधाओं' तक ही पहुँच पाया था, हृदयों तक तो केवल गति के स्वर और गात गंध ही पहुँच पाई थी कि यह क्या? कराल काल के हाथ भिंच गये। और क्यों ..?

उस से कोई पूछे कि उसकी रुक्ष मूर्ति को भी तुमने कभी उपेक्षा या व्यंग्य से नहीं देखा तो एकात्मता के स्वरूप मानव से प्रारम्भ कर चराचर तक पहुँचाने प्रत्यत्नों में ही संलग्न तुम्हारी वह परम शान्त मूर्ति उसे खटक क्यों गई? क्या तुम उसे इतने सरल तो नहीं दिखाई दे गये कि बस अनचाहे ही अपने स्वभावानुसार तुम पर झपट पड़ा हो।

अपरिग्रह के मूर्तिमान् स्वरूप तुम जब विजयवाड़ा अधिवेशन में जाते समय अपने प्रेरणास्रोत से मिले और उनकी सर्वभेदी दृष्टि से तुम्हारी गँठियायी धोती और छिद्रदार कुर्ता न छिप सका, तो जिस सहज भाव से कंधे सिकोड़ते हुए 'कोई विशेष फटा नहीं है' कहकर धोती की गाँठ मुट्ठी में कस ली थी, वह भाव-भङ्गी भले ही तुम्हारे लिए संकोच रही हो किन्तु बहुतों का सर्वस्व बन कर रह गयी है। साथ ही साथ उन अतिमानव के अन्तःकरण में इसी प्रकार के इतने छायाङ्कन जम गये थे कि तुम्हारे चलते ही अपनी सहज दृढ़ता के कारण चिल्लाकर तुम्हें पुकार तो नहीं सके, किन्तु वियोग भी न सहन कर पाये और पीछे-पीछे सधे पैरों से बढ़े चले गये कदाचित् चुपचाप बाँह पकड़कर वापस लौटाने के लिए ही।

कहाँ तक कहूँ? लखीमपुर से लखनऊ और कानपुर से कालीकट तक के अनेक चित्र उभरते हैं और न जाने क्यों चुपचाप तरलित होकर बरबस ही ढुलक-ढुलक कर मिट जाते हैं। बहुत समझाता हूँ इस दुर्बल मन को किन्तु उसे तो पता नहीं क्या हो गया है?

तुम्हारा आना 'सत्' को उल्लास और 'तम' को एक 'वेदना' देने लगा था और जाना इसका ठीक विपरीत परिणाम।

अब क्या कहूँ? अपनी सीमित शक्तियों से तुम्हारा स्वरूप बड़े भारी भरकम उपादानों-उपकरणों से बनाकर उसमें शतधा, सहस्रधा तुम्हें ही अवस्थित करने की चेष्टा कर रहा हूँ। कभी-कभी ऐसा लगता है कि तुम मेरी बेबसी पर उदास हो जाते हो, कभी उत्साह पर आह्लादित तथा कभी अहं पर मुस्करा भर देते हो। बस, इन्हीं भावचित्रों पर आधारित होकर बढ़ रहा हूँ। आज पहली बार साहस बटोर कर माँग रहा हूँ।

❐

ओमशङ्कर : संस्थापक आचार्य, संप्रति प्राचार्य, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

लो श्रद्धांजलि राष्ट्रपुरुष ...

राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी

फिर रक्त-रंजिता हुई दिशा
दिन में ही छायी निविड़ निशा
कैसा यह वज्र-निपात हुआ?
वह चला छोड़कर कौन साथ?
हम लगते हैं जैसे अनाथ,
कैसा आकस्मिक घात हुआ?

प्रो० राजेन्द्र सिंह 'रज्जू भैया'
(सरसंघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ)

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के निकट बैठने पर ब्रह्मपुत्र जैसी महानदी के तट पर बैठकर हहराते, घबराते और मन को आतंकित करने वाले जल के प्रचंड प्रवाह का अनुभव नहीं होता था, अपितु कलकल-झलझल करते, सहज गति से बहते शीतल निर्झर में स्नान करने का आनन्द मिलता था। अर्थात् वे गूढ़ विषय का प्रतिपादन करते समय भी उसे बौद्धिक बोझिलता से दुरुह नहीं होने देते थे, बल्कि अत्यन्त सरल और सहज ढंग से प्रतिपादित करते थे- जिससे मन और मस्तिष्क दोनों को वैचारिक ऊर्जा और दिशा प्राप्त होती थी।

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी
(संस्थापक अध्यक्ष, राष्ट्रीय जनसंघ)

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जैसे कार्यकर्ता पर मुझे गर्व है। मुझे ऐसे दो दीनदयाल दे दीजिए, मैं सारे देश का नक्शा बदल दूँगा।

स्व० भाऊराव देवरस
(सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ)

हमारे समाज में आज ऐसे लोगों के बीसियों उदाहरण मिलेंगे, जो बोलते एक बात हैं और करते दूसरी ही। सिद्धान्त भले ही कुछ भी बताते हों, किन्तु आचरण में वे उनका अंश भी नहीं लाते। ऐसी विसंगति पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के जीवन में मिलना असम्भव थी। निःसन्देह वे बुद्धिमान तो थे ही, किन्तु संघकार्य की दृष्टि से वे इसलिए आदर्श कार्यकर्ता थे कि प्रसिद्धि से सदा दूर ही रहते थे। सच्चे अर्थ में वे सन्त थे।

दत्तोपंत ठेंगड़ी
(चिंतक; संस्थापक, भारतीय मजदूर संघ)

दीनदयाल जी एक द्रष्टा थे। किसी कालचक्र की भाँति स्वयं को शताब्दियों के आर-पार ले जा सकते थे। वे प्राचीन द्रष्टाओं तथा आने वाली पीढ़ियों - दोनों का ही सामना कर सकते थे। वे प्राचीन ऋषियों की बुद्धिमत्ता के सहारे, आधुनिक समस्याओं का हल हमारे लिए निकाल देते थे। वे पहले से जान गये और पहचान गये थे कि सुदूर भविष्य में मानव के समक्ष कौन-सी समस्यायें आयेंगी और उनके लिए उन्होंने सनातन धर्म के आधार पर अचूक उपचार बतलाये।

कहा गया है कि अदूरदर्शी लोग नष्ट हो जाते हैं। बिना किसी द्रष्टा के कोई राष्ट्र पतित होकर अन्त में नष्ट हो जाता है। परन्तु हमारा धर्म सनातन है, अर्थात् वह अनादि एवं अनन्त है। इसलिए भारत-माता कृपा करके प्रत्येक युग में एक ऐसे द्रष्टा को जन्म देती है जो गलत आदर्शों का अनुसरण करने वाली निराशायुक्त मानव-जाति को आशा का सन्देश दे। आधुनिक युग में पंडित दीनदयाल उपाध्याय त्रस्त मानवता के लिए इस धर्म-भूमि की भेंट थे।

बाबा साहब आपटे
(कार्यकर्ता, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ)

पंडित दीनदयाल जी के परिवार में कोई बीमार था। बीमारी क्या थी, स्मरण नहीं। किन्तु काफी लम्बे अरसे से चिकित्सा चल रही थी। हकीम, कविराज और डॉक्टर कोई यशस्वी नहीं हुआ। पंडित दीनदयाल जी ने चिकित्सा एवं सेवा का भार अपने ऊपर ले लिया था। घर वालों को उनकी बुद्धिमत्ता और लगन पर पूरा भरोसा था।

पंडित दीनदयाल जी ने प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति से उपचार करने का निर्णय लिया। उसके लिए उन्होंने कई ग्रन्थ पढ़े। कॉलेज की पढ़ाई में अथवा कर्तव्यनिष्ठ स्वयंसेवक के रूप में संघकार्य पर यत्किंचित भी आँच न आने देते हुए यह नया भार पंडित जी स्वयं वहन कर रहे थे। अपने भावी सफल जीवन की नींव इस प्रकार ईश्वरप्रदत्त बुद्धिमता और अविश्राम परिश्रम के द्वारा मानो वे तैयार कर रहे थे। धीरे-धीरे सैकड़ों को आधार देने वाले किसी वट-वृक्ष के समान वे अपना जीवन बना रहे थे। उनकी प्रतिभा असामान्य थी और उद्योग करने की शक्ति विलक्षण!

कुप्० सी० सुदर्शन
(सर कार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ)

भारत की क्रांति 'सम्यक क्रांति' अर्थात् संक्रांति हो, इस हेतु पंडित दीनदयाल के ये शब्द याद रखना आवश्यक है- "संसार में एकता का दर्शन कर, उसके विविध रूपों के बीच परस्पर पूरकता को पहचान कर, उनमें परस्परानुकूलता का विकास करना तथा उसका संस्कार करना ही सुसंस्कृति है। प्रकृति को ध्येय की सिद्धि के अनुकूल बनाना संस्कृति और उसके प्रतिकूल बनाना विकृति है। संस्कृति प्रकृति की अवहेलना और उसकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं करती, बल्कि प्रकृति में जो भाव सृष्टि की धारणा तथा उसको अधिक सुखकर तथा हितकर बनाने वाले हैं, उनको बढ़ावा देकर दूसरी प्रवृत्तियों की बाधा को हट ही संस्कृति है।'

शचीन्द्रनाथ बख्शी
(क्रांतिकारी)

वे गये! हमेशा के लिए चले गये। अब अभी उनसे मुलाकात नहीं हो सकेगी। कभी-कभी अकेले में उनकी याद आती है तो 'दादा' का सम्बोधन आज भी सहसा मुझे विभ्रम में डाल देता है। तब मैं अपने को ही लताड़ते हुए कहना चाहता हूँ- बख्शी, तुझे दादा कहने वाला वह महान् हुतात्मा इस दंभ-द्वेष से परिपूर्ण दुनिया से रूठकर चला गया। जैसे एक दिन भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव और रामप्रसाद बिस्मिल रूठकर चले गये थे।

उनकी निराली मुस्कान से युक्त चेहरा मेरे सामने साफ दिखाई देता है। वह मेरे मानस-पटल पर इतना नजदीक और इतना साफ दिखता है कि भ्रम होने लगता है कि अभी सशरीर वे दिखाई पड़ जायेंगें। कभी-कभी ऐसा आभास होने लगता था कि वे जीवित हैं- उनका निधन होना गलत खबर है।

यह सही है कि दीनदयाल जी की आत्मा सच्चे राष्ट्र-भक्तों के करोड़ों हृदयों में आज भी जीवित है और नित्य जीवित रहेगी।

माधवराव मुले
(कार्यकर्ता, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ)

प्रसिद्धि और कीर्ति दीनदयाल जी के मन में कभी अहम् भाव पैदा न कर सकती थी, न अपने स्वयंसेवकत्व का विस्मरण। एक साधारण स्वयंसेवक के नाते नेकर पहनकर स्वयंसेवकों की पंक्ति में मिट्टी में बैठने में उनको न कभी संकोच हुआ, न लज्जा का अनुभव।

लालकृष्ण आडवाणी
(अध्यक्ष, भारतीय जनता पार्टी)

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के असाधारण व्यक्तित्व में सहजता, चिन्तन में मौलिकता और अद्भुत क्षमता थी। उन्होंने राजनीति में मूल्यों को सर्वाधिक महत्व दिया था। वह राजनीति को नैतिकता से जोड़ना चाहते थे।

यशवंतराव बलवंतराव चव्हाण
(पूर्व रक्षा मंत्री एवं गृह मंत्री)

पंडित जी से मेरा पुराना परिचय था- लंबी दोस्ती थी। इस परिचय से मेरे मन पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे एक ऐसी हस्ती हैं कि जो काम हाथ में लेंगे, उसे या तो पूरा करेंगे या फिर खुद खत्म हो जायेंगे। उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसी ताकत थी कि वे अपने साथियों को साथ रख सकते थे। यही नहीं कि वे अपनी बात उन सब तक पहुँचा सकते थे। अपितु उनके साथी भी यह मानते थे कि वे अपने हैं- इतने अपने कि उनसे कुछ भी कहा जा सकता है और हर बात की उनके यहाँ सुनवाई होगी।

वे देश की एक महान् प्रतिभा थे। वे सरल, विनम्र और कुशल राजनीतिज्ञ थे। देश को नेतृत्व प्रदान करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। उनके महान् व्यक्तित्व का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा।

बाबू जगजीवन राम
(पूर्व उपप्रधानमंत्री)

प्रकृति का यह नियम है कि जो कोई पुराना रह जाएगा, वह जीवित नहीं रह सकता। हिन्दू संस्कृति की विशेषता यह रही है कि उसमें शाश्वत आधुनिकता है। जो आधुनिकता का संदेश देता है और जो संदेश शाश्वत से निकलता है, वह युग-युग रहता है। इस मापदण्ड से हम देखें, तो पं० दीनदयाल उपाध्याय युग-पुरुष थे।

श्रीनाथ पै
(प्रजा समाजवादी नेता)

दीनदयाल जी केवल मौलिक चिंतक ही नहीं थे, वरन् मानव को ईश्वरत्व का नया सन्देश देकर तो वे युग पुरुष हो गये। मानव-जीवन के सभी पहलुओं और विषयों का उन्होंने गहरा अनुशीलन किया और जो विचार दिए वे मानव जीवन की अनेक उलझनों को सुलझाने में समर्थ थे। उन्होंने प्राचीन और नवीन, विज्ञान और दर्शन, अध्यात्म और भौतिकता के बीच अत्यन्त मौलिक ढंग से समन्वय स्थापित कर यह प्रतिपादित किया कि मानव-जीवन को वास्तविक सुखी बनाने के लिए केवल रोटी ही नहीं, उसके साथ अध्यात्म की भी जरूरत है। अपनी अल्पायु में ही हिन्दू-संस्कृति की विशेषता के अनुरूप शाश्वत आधुनिकता का मंत्र देकर हमें और समूचे मानव समाज को चिरन्तन सुख का मार्ग दिखाया। आवश्यकता है उनके विचारों के प्रचार की और उन्हें जीवन में उतारने की।

भारत के राजनीतिक क्षितिज का दैदीप्यमान नक्षत्र अस्त हो गया। पं० दीनदयाल उपाध्याय को मैं केवल इसलिए महान नहीं कहता कि वे बहुत बुद्धिमान थे, निश्चय ही वे हृदय और मस्तिष्क से पूर्ण भारतीय थे। पूर्ण भारतीय! और कुछ भी नहीं। आज की राजनीति में बड़े से बड़े नेता अपने को छोटे-छोटे घरों में आबद्ध कर लेते हैं। कोई महाराष्ट्रवादी तो कोई बंगाली, कोई गुजराती, तो कोई मद्रासी। पर पं० दीनदयाल उपाध्याय के रूप में हमारे बीच एक ऐसा व्यक्तित्व विद्यमान था, जो इन घेरों से ऊपर उठकर सच्चा भारतीय था। भारत की आज की विघटित अवस्था में हमें ऐसे ही नेताओं की, मार्गदर्शकों की आवश्यकता थी। किन्तु परमेश्वर ने ऐसे महान नेता से हमें वंचित कर दिया।

प्रो० हीरेन मुखर्जी
(भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी)

श्री उपाध्याय अपने समय के सबसे अद्वितीय व्यक्ति थे। वे अजातशत्रु थे। मैं उनसे प्रथम परिचय में ही प्रभावित हो गया था। जनसंघ की राजनीतिक विचार-धारा से मतभेद होने के बाद भी दीनदयाल जी जैसे व्यक्तियों की देश को बहुत आवश्यकता है।

पी० राममूर्ति
(मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी)

दीनदयाल जी से प्रत्यक्ष परिचय न होते हुए भी केवल गुणों का वर्णन सुनकर मैं उन पर श्रद्धा करता था। उन्होंने अपना जीवन ध्येय के प्रति समर्पित कर दिया था। उनकी ध्येय-निष्ठा सभी के लिए अनुकरणीय हैं।

विनायक वासुदेव नेने

सन् १९५१ में एक नव स्थापित राजनीतिक दल का दायित्व पंडित दीनदयाल जी के कंधों पर आ गया था, जिसे राष्ट्रनिर्माण के नाना कार्यों में से एक कार्य मानकर विशुद्ध भावना से उन्होंने स्वीकार किया था। अति प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी ज्वलंत ध्येय-निष्ठा, विशुद्ध चरित्र, स्नेहपूर्ण व्यक्तित्व तथा असाधारण संगठन-कुशलता के बल पर उस दल को केवल पन्द्रह-सोलह वर्ष की कालावधि में उन्होंने द्वितीय क्रमांक के अखिल भारतीय दल का स्थान प्राप्त करा दिया था।

चन्द्रशेखर परमानन्द भिशीकर

पंडित दीनदयाल उपाध्याय स्वतंत्रता के बाद के काल के एक वर्द्धमान राजनीतिक दल के प्रमुख नेता एवं संगठक थे। राजनीतिक नेता होते हुए भी उन्होंने सदैव राष्ट्र-निर्माण का ही समग्र विचार किया। राजनीतिक दल के कार्य को भी उन्होंने राष्ट्र निर्माण के कार्य का अंग ही माना और साधना भी। इसीलिए उनका राष्ट्र-चिंतन मूलगामी भी है। अनेक प्रचलित मान्यताओं एवं धारणाओं को झकझोरते हुए उन्होंने यहाँ के राष्ट्र-जीवन की स्वाभाविक धारा का दर्शन कराया है।

भालचन्द्र कृष्णाजी केलकर

दीनदयाल जी के राजनीतिक जीवन का उद्देश्य था- भारतीय राजनीति में उसकी सनातन संस्कृति का आधुनिक रूप दिखाना। दीनदयाल जी सत्यशोधक एवं सृजनशील विचारक के रूप में राजनीति में आये, सत्ताशोधक बनकर नहीं।

शरद अनंत कुलकर्णी

आज विश्व विकास का एक चरण पूरा कर खड़ा है। भौतिक समृद्धि के साथ ही मानसिक स्वास्थ्य एवं संतोष प्राप्त करा देने वाली संजीवनी की उसे तलाश है। दीनदयाल जी द्वारा प्रस्तुत एकात्म मानव दर्शन और उसके अन्तर्गत आने वाली एकात्म अर्थनीति में इस संजीवनी को अनुभव किया जा सकता है।

विश्वनाथ नारायण देवधर

दीनदयाल जी का रहन-सहन बहुत ही सादगी भरा था। वेशभूषा भी सादी हुआ करती थी। उल्लेखनीय बात यह है कि यह सब वे अकृत्रिमता से करते थे। ध्येयनिष्ठा एवं साधुता के साथ ही, जहाँ आवश्यक हो वहाँ कठोरता बरतने की सामर्थ्य भी उनमें थी। एक अखिल भारतीय दल का, उसकी स्थापना के समय से संवर्द्धन करने वाले, उसके लिए लोक-संग्रह, संभाषण-कुशलता और मुख्यतः अपने आदर्श आचरण द्वारा हजारों कार्यकर्ताओं का घना जाल देश भर में बुनने वाले वे एक जादूगर थे।

बलवन्त नारायण जोग

पंडित दीनदयाल जी ने बहुत ही अल्पावधि में देश की राजनीति में एक नया विचार प्रस्तुत किया। उन्होंने जनमानस में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, आर्थिक विकेन्द्रीकरण और शिखर-तल से धरातल तक जाने वाली जनपद लोकतंत्रीय प्रणाली का बीज बोया। उन्होंने इस सत्य का आकलन भली-भाँति कर लिया था कि विचार के बिना कृति अंधी होती है और कृति के बिना विचार पंगु।

वचनेश त्रिपाठी
(क्रांतिकारी, साहित्यकार)

सन् १९४३ के दिनों में वर्षा के वक्त कितनी ही बार उपाध्याय जी को एक गीत गुनगुनाते सुना था, जिसकी पहली पंक्ति अभी भी याद आती है-

"सिर बाँध कफनिया,
शहीदों की टोली निकली।"

कोई बड़ी या छोटी टोली न मिलने पर हमें अकेले चलना चाहिए- यह आग्रह भी उनके मुख से सुना था। इस दिशा में उन्हें रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह गीत बड़ी स्फूर्ति प्रदान करता था-

"यदि तोर डाक शुने केऊ नाये आशे,
तबे एकला चलो रे!"

अर्थात् अगर तेरी आवाज सुनकर कोई साथ नहीं आता, तो अकेला चल।

वास्तव में वह कर्मनिष्ठ योगी समाज और राष्ट्र-सेवा का व्रत लेकर बढ़ता रहा-आगे बढ़ता रहा।

डॉ० एस.एम.एच. रिजवी 'पुण्डरीक'

पं० जी ने भारतीय जीवन दर्शन का सूक्ष्मता पूर्वक अध्ययन, चिन्तन और मनन किया था। उनके मौलिक विचारों, प्रतिभा और कुशल नेतृत्व से भारतीय जनमानस को दैदीप्यमान अपेक्षायें थीं। दुर्भाग्यवश जब वह समय आया कि वह अपने चिन्तन की ज्योति को जन-जन में भर सकते, किसी की स्वार्थलिप्सा ने उनका जीवन दीप गुल कर दिया। यही तो परिणति है हमारे देश के ईमानदार नेतृत्व की। भारतीय जनसंघ में वे एक ऐसे सुधारवादी नेता थे जिसकी तुलना वर्तमान सोवियत संघ में साम्यवादी दल के नेता मिखाइल गोर्बाचोव से की जा सकती है। मुझे तो पंडित जी के कथन "राष्ट्र के चिर जीवन के लिए समष्टि-भाव का जागरण आवश्यक है।" में यष्टि दिखलाई पड़ती है। काश! आज वह हमारे बीच होते तो शायद वह कड़वाहट वातावरण में न होती जिसे हमें भोगना पड़ रहा है।

मैनचेस्टर गार्जियन, लंदन
(७ नवम्बर १९६३)

जबकि लाक्षणिक छत टूटकर गिर जाये- उस समय "मैंने तुमसे यह कहा था"- यह कहने से अधिक सुख राजनीति में और कभी नहीं होता। एक व्यक्ति, जिसने ऐसे सुख का अनुभव किया है, भारत के प्रमुख विरोधी दलों में से एक के महामंत्री, आजकल लन्दन आये हुए हैं। श्री दीनदयाल उपाध्याय का कहना है कि पहले ही

सन् १९५० के बाद के दशक के प्रारम्भ में जबकि नेहरू शासन तिब्बत में चीन को मान्यता प्रदान कर रहा था, उनका जनसंघ दल चीन के खतरे के प्रति चेतावनी दे रहा था। जनसंघ का उद्देश्य है एक एकात्मक राज्य, जिसमें एक महान् राष्ट्रीय परम्परा के सम्बन्ध में देशभक्ति-पूर्ण भावना वृद्धिगत करने का अधिक वेग से प्रयास किया जाये। विगत दो चुनावों में जनसंघ ने जनता से प्राप्त होने वाले स्थान(सीटें)दुगुने कर लिए हैं और उसका विश्वास है कि तरुण भारत उसकी राष्ट्रवादी अपील की ओर झुक रहा है। श्री उपाध्याय दृष्टि में रखे जाने योग्य व्यक्ति हैं।

रतनलाल जोशी
संपादक, 'हिन्दुस्तान'

राजनीति में अनेक नेता आगे आयेंगे। पर यह अभागा राष्ट्र दीनदयाल के लिए तरसेगा और वे उसे नहीं मिलेंगे।

समर्पण

✍ **ओमशङ्कर**

ध्येय पथ का सजगतम अविराम राही
साधना भी रही जिसकी हृदयग्राही
देव-दुर्लभ प्रकृति संस्कृति का उपासक
'राष्ट्र-धर्म' जगा बना उसका प्रकाशक ।
मोहतम में पड़े भारत को उठाया
घोष 'पाञ्चजन्य' का उसको सुनाया
जटिल उलझी विचारों की वीथिका में
सम्हल कर बैठा सदा गुरु पीठिका में ।
राजनैतिक फिसलते पंकिल मगों पर
जो चला समभाव से विश्वास कर अपने पगों पर
देश घर था देशवासी ही सदा थे गृही जिसके
उस तपस्वी को प्रथम नीराजना के पुष्प मेरे
उस मनस्वी को हमारी आरती के प्रथम फेरे
उस जयस्वी के लिए यह आज नीराजन हमारा
उसे ही अर्पित उसी का कर्म-फल भण्डार सारा ।

❐ नीराजन, १९७३-७४

ओमशङ्कर : संस्थापक आचार्य, संप्रति प्राचार्य, पं० दीनदयाल उपाध्याय, सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

चरैवेति ! चरैवेति !

(जनदीप स्मारिका में पं० दीनदयाल जी द्वारा लिखा गया अन्तिम सम्पादकीय)

आम चुनाव के बाद देश की राजनीति ने मोड़ लिया है। कांग्रेस का युग समाप्त हुआ। नये युग का आविर्भाव हो रहा है। उसके लिए नये विचार, नयी नीति, नये नेतृत्व की आवश्यकता है। पुरानी पीढ़ी अपना काम कर गई, अब नई पीढ़ी को आगे आना होगा।

आज की राजनीति दो युगों के संधिकाल की राजनीति है। संक्रमण की काम चलाऊ व्यवस्था है। उसे टिकाऊ समझने की भूल न करें और न ही उसे भावी राजनीति का नमूना ही समझें।

अतीत एक तथ्य है, वर्तमान अस्थिर है और भविष्य अज्ञात। अज्ञात से कुछ लोगों को डर लगता है, इसलिए वे वर्तमान से चिपके रहना चाहते हैं या बीते को वापस लाना चाहते हैं। प्रकृति के नियम और काल के क्रम के विपरीत काम करने वाले सफल नहीं हो सकते।

भविष्य से डरिए मत, बल्कि उसके निर्माण में रुचि लीजिए। संजोये सपनों को सँवारिये, कल्पना को कर्म में गढ़िये और योजना को युक्ति से पूरा कीजिए। यदि कृतयुग का निर्माण करना है, तो इस आर्ष वचन को याद रक्खें -

कलिः शयानो भवति संत्रिहानस्तुद्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेतामाप्नोति कृतं सम्पद्यते चरन् । ।
चरैवेति, चरैवेति । ।

वादों के विवादों में फँसने की जरुरत नहीं। अपने अन्तःकरण की प्रवृत्ति को ही प्रमाण मानकर चलिए। वही धर्म है। उसी में से तप की प्रेरणा मिलेगी और कर्म को दिशा प्राप्त होगी।

जो प्रवृत्ति और व्यवस्था, जो राजनीति और अर्थनीति, जो सामाजिक नियम और शिक्षा पद्धति हमें कर्म-विहीन, आलसी और निद्रालु बनावे वह कलयुगी है। उसे बदलना होगा। कृतयुग का उद्घोष है :

चरैवेति ।

अतः राजा और रंक, पूंजीपति और श्रमिक, अमीर और गरीब सबको श्रम की साधना में जुटना होगा। श्रम के लिए फड़कती भुजाओं को काम देना होगा। जहाँ राष्ट्रव्यापी श्रम है, वहाँ निर्धनता और विषमता टिक नहीं सकती। जहाँ समता और सम्पन्नता हैं, वहाँ सत्य है और वहीं शिव और सुन्दर है। नया युग श्रम युग हो, तभी कृतयुग होगा। हममें से प्रत्येक इस युग निर्माण में जुट जाए, यही कामना है।

व्यामोह का युग समाप्त हुआ। मोह-निद्रा समाप्त होकर जागरण कुलबुला रहा है। आज की उथल-पुथल इसका द्योतक है। कुछ लोग फिर से थपथपी देकर, अफीम पिलाकर सुलाना चाहते हैं। उनसे सावधान रहें। आँख खोलकर खड़ा होना होगा और चलने की तैयारी करनी होगी।

हम किस ओर चलें, इसका विचार करना होगा। देश में अनेक ऐसे दल और शक्तियाँ काम कर रही हैं, जिनके सिद्धान्त, नीतियाँ और कार्यक्रम हमें पसन्द नहीं। वे देश के लिए हितकारी सिद्ध नहीं होंगे। जीवन के सत्य अधिक प्रभावी हैं। विकृति पर प्रकृति की और प्रकृति पर संस्कृति की विजय सुनिश्चित है। भारत की मिट्टी का मुझे भरोसा है।

जो राह का डर बताकर चलने की सलाह देते हैं, उनकी मत सुनिये। गलत राह पर भी चलें, तो कुछ नहीं बिगड़ेगा पर चलने की शक्ति जाती रही तो ठूँठ बनकर रह जायेंगे। और हमें तो अपनी राह बनानी है, जिस ओर हम चलेंगे, वही रास्ता होगा।

❐

एकात्म मानववाद की अवधारणा

✍ दत्तोपंत ठेंगड़ी

भारत में कोई आस्तिक है, कोई नास्तिक है, कोई द्वैतवादी है, कोई विशिष्टाद्वैतवादी है, कोई ईश्वरवादी है, कोई अनीश्वरवादी है, कोई मूर्तिपूजक है, कोई निराकार की उपासना करता है। पर सभी इसी परम्परा के हैं, सभी इसी रचना के अंगभूत हैं। ईश्वरवादी हैं, तो ईश्वर भी कितने हैं? जितने आदमी उतने देवता। यहाँ ३३ करोड़ देवता हैं। मानो जिस समय ३३ करोड़ की कल्पना की गयी, उस समय हमारी जनसंख्या ३३ करोड़ रही होगी। प्रत्येक के लिए उसकी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार मनोवैज्ञानिक, शारीरिक, आध्यात्मिक अवस्था के अनुसार अलग-अलग मार्ग होंगे। पश्चिम में वैचारिक आबद्धता है। हमारे मार्ग से ही भगवत् प्राप्ति हो सकती है, ऐसा जहाँ सोचने का अभ्यास है,वहाँ यह लगना अस्वाभाविक नहीं कि भारत में कितना परस्पर विरोध है। यह सब उनको विचित्र लगता है। इसी भाँति व्यक्ति की दृष्टि से परिवार, राष्ट्र, समाज, अन्तर्राष्ट्रीय आदि की जो भूमिकाएं हमारे यहाँ हैं, उनमें भी उन्हें अन्तर्विरोध दिखाई देता है।

अपने यहाँ यह माना गया है कि व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास होना चाहिए और उसे पूर्ण सुख प्राप्त होना चाहिए। अतः इस तरह की सामाजिक, आर्थिक रचना होनी चाहिए, जिससे सम्पूर्ण सुख और विकास प्राप्त हो सके। इसी नाते व्यक्ति को मान्यता देने के साथ-साथ परिवार को भी मान्यता दी गयी है। "मातृदेवो भव" कहा गया है। यह भी कहा गया है, "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे"- कुल के लिए एक व्यक्ति का त्याग किया जाए, वह आत्मनाश करे। साथ ही यह भी कहा गया है, "आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत",आत्मा के लिए कुल को, सम्पूर्ण पृथ्वी को छोड़ दो। पश्चिम की विचारधारा से प्रभावित व्यक्तियों को इसमें बड़ा अन्तर्विरोध दिखता है। अन्तर्विरोध वह नहीं है, यह हम सभी जानते हैं।

व्यक्ति और समाज

यह स्थिति राष्ट्रीय समाज और व्यक्ति की अपने यहाँ है। पश्चिम में इस क्षेत्र में बड़ा संघर्ष है। वहाँ यह समस्या उग्र हो उठी कि व्यक्ति और समाज का दायरा, उसकी मर्यादा क्या हो? यदि व्यक्ति का दायरा बड़ा होगा तो समाज की मर्यादा उसी मात्रा में छोटी होगी और यदि समाज का दायरा बड़ा होगा तो उसी मात्रा में व्यक्ति की मर्यादा,उसका दायरा छोटा हो जायेगा। इस तरह पश्चिमी देशों में दोनों के बीच रस्साकशी चल रही है।

भारत में व्यक्ति को भी मान्यता है और समाज को भी। दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं। जहाँ यह सिद्धान्त माना गया कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण सुख और सम्पूर्ण विकास प्राप्त हो- इस तरह की पूरी सुविधा समाज को देनी चाहिए- वहाँ यह भी माना गया कि समाज का अनुशासन प्रत्येक व्यक्ति पर लागू हो। प्रत्येक व्यक्ति एक ओर अपने सुख और विकास की ओर बढ़े और दूसरी ओर स्वेच्छा से स्वयं को समाजाभिमुख, समाज-केन्द्रित एवं समाज-समर्पित करे। अपने परिपक्व सुख और परिपक्व विकास को समाज पुरुष के चरणों पर अर्पित करे। इस प्रकार अपने यहाँ व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं सामाजिक अनुशासन में पूर्ण तादात्म्य दिखाई देता है, यद्यपि पश्चिम को इस पर आश्चर्य होता है।

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

यही बात राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की भी है। पश्चिम में राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद का जन्म प्रतिक्रिया से हुआ। अतः दो देशों की राष्ट्रीयताओं में एक दूसरे के साथ समन्वय नहीं हो पाता और अन्तर्राष्ट्रीयता का तालमेल राष्ट्रीयता के साथ सम्भव नहीं होता। हमारे यहाँ एक राष्ट्रवादी प्रार्थना है : "प्रादुर्भूतः सुराष्ट्रेस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे' - मुझे सुख और कीर्ति दो, क्योंकि मेरा राष्ट्र अच्छा है। आगे सम्पूर्ण विश्व के लिए भी शुभ कामनायें हमारी प्रार्थना में मिलती हैं। मुझे स्मरण है जब विश्व हिन्दू परिषद का अधिवेशन चल रहा था तो प्रश्न उठा कि हिन्दू की परिभाषा क्या होगी? मैं उसकी गहराई में नहीं जाना चाहता। किन्तु उसमें एक पहलू यह था कि हिन्दी को राष्ट्रीय माना जाये या अन्तर्राष्ट्रीय या वह उससे भी ऊपर है? उसकी परिभाषा कैसी की जाए? इसका उत्तर यह दिया गया कि जब सम्पूर्ण संसार असंस्कृत था, हम ही केवल संस्कृत थे। उस समय हिन्दू राष्ट्रवाद जग की संस्कृति था। उस समय भी हमने अपने राष्ट्रीय हित के लिए दूसरे राष्ट्रों का शोषण करना नहीं सोचा। "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"- हम आर्य हैं तो सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनायेंगे- हम संस्कृत हैं तो सबको संस्कारित करेंगे, उनके स्तर को ऊँचा उठायेंगे। यह हमारा प्राथमिक भावात्मक राष्ट्रवाद है, जो एक ऐतिहासिक तथ्य है और जिसमें राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में विरोध न होकर वह अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार बन जाता है। कोई व्यक्ति राष्ट्रीय है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय न हो, और अन्तर्राष्ट्रीय है तो राष्ट्रीय न हो, ऐसा हमारे यहाँ नहीं दिखता। पश्चिम के लोगों को यह बड़ा विचित्र लगता होगा। वे कहते हैं कि परस्पर विरोधी बातें कैसे करते हो, एक ही व्यक्ति राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, दोनों कैसे हो सकता है? किन्तु इस विचार में विरोधाभास नहीं है, यह हम देख चुके हैं।

मानवता से भी आगे का विचार

अब इसके बाद जो धारणा आती है, पश्चिम के लोग तो उस पर विचार करते नहीं। वे अधिक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीयतावादी या मानवतावादी हैं। अपने यहाँ मानवता से भी ऊपर विचार किया गया है। मानवेतर सृष्टि की मान्यता अपने ही देश में है। मछलियों, गायों, चींटियों आदि का भरण-पोषण और उनको अपने ही समान मानने वाले लोग यहाँ हैं। उनको भी चीनी, आटा देने वाले लोग हमारे देश में है। इतना ही नहीं, जो देखने में निर्जीव सृष्टि है, उसको भी अपना एक अंग मानकर, उसमें भी भगवान का अस्तित्व है, ऐसी समझ अपने देश में है। आगे चलकर ऐसा भी साक्षात्कार अपने यहाँ के लोगों ने किया है कि मनुष्य क्या है? मानवेतर प्राणी क्या है? बाकी सृष्टि क्या है, निर्जीव चराचर क्या है? यह जो अस्तित्व है- सारी सृष्टि है, वह एक ही है। पर एकता और एकरूपता इन दोनों में अन्तर है। सब एकरूप हैं, यह अपने यहाँ नहीं कहा गया। लेकिन यह अवश्य कहा गया कि सब मिलकर एक हैं और वह एकता कितनी दृढ़ है इसको यदि अच्छी तरह बताना हो तो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" कहा जा सकता है। सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करने की क्षमता अपने देश में है। ऐसे कुछ नियम हैं जो सनातन और चिरन्तन हैं, अतः अपरिवर्तनीय हैं। उन्हीं के प्रकाश में, उन्हीं के आधार पर, बदलती हुई परिस्थितियों में देश, काल, परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तनशील रचनाओं का उद्घोष करने वाला धर्म हमारे यहाँ है। कितनी ही परस्पर विरोधी बातें हों, उनमें सामंजस्य हुआ है। यदि एक-एक सूत्र का विचार करें तो परस्पर बहुत विरोधी बातें दिखाई देती हैं। कहीं कहते हैं कि कर्म करो, कहीं कहते हैं, संन्यास लो। कभी कहते हैं कि जो कुछ है वह मोक्ष है फिर कहते हैं, जो कुछ है, सब व्यर्थ है। कभी कहते हैं कि - "धर्मस्यमूलं अर्थः"। किन्तु इन सबमें सामंजस्य ही नहीं वरन् इससे बढ़कर समन्वयात्मक पद्धति का निर्माण और इससे भी ऊपर जिसे सहज बुद्धि से समझा नहीं जा सकता और जो अपनी अक्षमता है- इस प्रकार की चुनौती देने वाला धर्म अपने यहाँ विकसित हुआ है। स्वामी विवेकानन्द के कथन को प्रमाण मानकर इस धर्म के विषय में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें समाज को धारण करने की क्षमता है।हजारों साल तक समाज की धारणा इससे हुई है। यह बात ठीक है कि पिछले बारह-तेरह सौ वर्षों में बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार समाज की रचना में कौन-कौन से परिवर्तन होने चाहिए, इस पर विचार नहीं हुआ। इस परिवर्तन शब्द से चौंकने की जरूरत नहीं। क्योंकि ऐसे परिवर्तन समाज में समय-समय पर विशुद्ध दर्शन एवं धर्म के आधार पर होते ही रहे हैं। जैसे कि हमारे यहाँ कहा गया है कि "वेदाः विभिन्नाः स्मृतयोर्विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचनः प्रमाणम्" अर्थात् वेद विभिन्न हैं, स्मृतियाँ भी विभिन्न हैं, और एक भी मुनि ऐसा नहीं है, जिसके वचनों को प्रमाण माना जाये। इस तरह के परिवर्तन करने के लिए जो शान्ति का समय

चाहिए था वह बारह-तेरह सौ वर्षों तक न मिलने के कारण कुछ विकृतियाँ, कुछ दोष अपने यहाँ अवश्य उत्पन्न हुए हैं। किन्तु इन विकृतियों का आपरेशन किया जा सकता है। जैसा कि महात्मा गाँधी ने कहा कि "रोग का निदान करो किन्तु रोगी को समाप्त न करो।" जो मूल रचना है, वह निर्दोष है। जो विकृति आ गयी है, उसका ऑपरेशन कर दीजिए किन्तु व्यवस्था को कायम रखिए। इसी भाँति समाज की धारणा सहस्रों वर्षों से बराबर चली आ रही है। अपरिवर्तनशील सनातन नियम तथा परिवर्तनशील रचना, इस प्रकार का मेल अपने यहाँ रहा।

अब प्रश्न यह है कि पश्चिम की विभिन्न विचारधारायें नयी हैं तो क्या इसीलिए उन्हें प्रगतिशील, आधुनिक और श्रेष्ठ मान लिया जाये? उचित तो यह होगा कि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये। जो अच्छा हो, वही लिया जाये। इस दृष्टि से अपनी जो पद्धति है, अपना जो सनातन धर्म है, वह अन्य पाश्चात्य विचारों की तुलना में आज भी महिमामय है। उसकी विशेषतायें तो बहुत हैं किन्तु आज के सन्दर्भ में उसको स्पष्ट करते हुए स्व० पं० दीनदयाल जी ने कहा था कि "हम एकात्म मानववाद के पुजारी हैं।"

उपाध्याय जी का स्पष्ट निर्देश

दोनों में जो अन्तर है, वह सम्भवतः स्पष्ट हो गया है। आज की परिस्थितियों के संदर्भ में अपने धर्म की विशेषता का नामकरण पंडित जी ने "एकात्म मानवदर्शन" से किया। इसी आधार पर सनातन धर्म की रचना है। यही रचना सम्पूर्ण मानव समाज को सभी कालखण्डों में सुख व सम्पन्नता का आश्वासन दे सकती है।

अब हम इस तथ्य को भी ध्यान में रखें कि यहाँ की वैचारिक प्रक्रिया अलग ढंग की है। इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शन की धारणाओं और अभारतीय विचारकों के विचारों में कुछ मौलिक अन्तर विद्यमान है। उस अन्तर की ओर स्पष्ट निर्देश करते हुए पण्डित जी ने बताया कि पश्चिम में इकाइयों, संस्थाओं एवं कल्पनाओं का विचार पृथक-पृथक आधार पर किया गया। व्यक्ति का व्यक्ति के नाते, परिवार का परिवार के नाते, समाज का समाज के नाते और मानवता का मानवता के नाते वहाँ विचार किया गया। किन्तु इन समस्त इकाइयों में कुछ सम्बन्ध है, इसका विचार नहीं किया गया। व्यक्ति का विचार करते समय अन्य सामाजिक अवयवों को भुला दिया गया। यही बात परिवार, समाज और मानवता का विश्लेषण करते समय हुई। पाश्चात्य प्रकृति है कि एक ही अवयव को वे देखते हैं। एक रिलीजन का ही उदाहरण हम ले लें। पश्चिम में अनेक प्रकार के मत-मतान्तर या रिलीजन होंगे। किन्तु एक बात में वे समान हैं। प्रत्येक रिलीजन वाला कहता है कि "मेरा रिलीजन सही है, बाकी सब गलत है।" अब हम अपने देश में देखें। यहाँ भी अनेकानेक संप्रदाय हैं। किन्तु यहाँ प्रत्येक व्यक्ति कहता है कि "मेरा सम्प्रदाय सही है, तुम्हारा भी सही है।" "मेरे रिलीजन द्वारा ईश्वर प्राप्ति सम्भव है।"- यह पाश्चात्य पद्धति है। "तुम्हारे सम्प्रदाय द्वारा भी ईश्वर प्राप्ति सम्भव है'- यह भारतीय पद्धति है। उनके यहाँ सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में भी इसका दर्शन होता है। उनके यहाँ एक-एक इकाई का विचार हुआ। समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि बीच में एक बिन्दु है जो व्यक्ति है। उसको आवृत करने वाला उससे बड़ा घेरा परिवार का है। परिवार को आवृत करने वाला किन्तु पिछले घेर से असम्बद्ध एक दूसरे बड़ा घेरा समुदाय का है। उसको आवृत करने वाला उससे बड़ा घेरा राष्ट्र का है और उससे ऊपर जो घेरा है वह मानवता का है। यहाँ तक वे लोग पहुँच गये हैं।

यह रचना संकेन्द्री है। इसमें व्यक्ति या मानव केन्द्र बिन्दु है। उससे सम्बन्ध रखते हुए अन्य घेरे- परिवार, समुदाय, राष्ट्र और मानवता के हैं। यह एक दूसरे को आवृत अवश्य करते हैं, पर एक - दूसरे से निर्गमित नहीं होते।

अपने यहाँ जो रचना दी गयी है, वह सनातन रचना है और नवीन नहीं है। इसे कुंडलित, सर्पित या उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाली अखण्ड मण्डलाकार रचना कहा जाता है। इसका प्रारम्भ व्यक्ति से होता है और व्यक्ति को लेकर व्यक्ति से सम्बन्ध न तोड़ते हुए, उस से सम्बन्ध कायम रखते हुए अगला घेरा परिवार का है। उसे खण्डित न करते हुए उससे बड़ा घेरा समाज का है। उसे खण्डित न करते हुए उसी से सम्बद्ध दूसरा घेरा राष्ट्र है। शाश्वत रूप में उससे ऊपर का घेरा मानवता का है और चरम शिखर पर चराचर विश्व का घेरा है।

दोनों रचनाओं का अन्तर

इन दोनों रचनाओं का अन्तर हम ध्यान में रखें तो अच्छा होगा। व्यक्ति, परिवार, समुदाय, राष्ट्रीय समाज, मानवता - यह विचार हमने किया और उन्होंने भी किया। उनकी रचना में असम्बद्धता दिखाई देती है। उनकी रचना अलग-अलग इकाइयों में है और एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि वे एक दूसरे को आवृत करती हैं। उनका यह विचार एकांतिक होने के कारण रचना संकेन्द्री है। हमारी रचना में पहली इकाई से दूकरी इकाई निकलती है, दूसरी से तीसरी और इस तरह यह क्रम चलता रहता है। उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाली अखण्ड मण्डलाकार रचना के कारण इन इकाइयों के हितों में परस्पर विरोध नहीं दिखता। व्यक्ति और परिवार के हित में विरोध नहीं है। परिवार और समुदाय के हित में असंगति नहीं है। समुदाय और राष्ट्र, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीयता में कहीं भी विरोध नहीं दिखता। अपनी मान्यता यह है कि विभिन्न इकाइयाँ एक दूसरे की विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। उदाहरणार्थ बच्चा जब छोटा होता है, वह कुछ भी नहीं जानता। उस अवस्था में उसके लिए एक ही इकाई है- "अहम्" - मैं हूँ। वह थोड़ा बड़ा होता है। माता-पिता, भाई-बहन को पहचानता है तो परिवार उसके लिए एक इकाई बन जाता है। पर वह अहम् का निषेध नहीं करता। "मैं" भी सत्य हूँ, परिवार भी सत्य है। वह और बड़ा होता है। समान गुण-कर्म रखने वालों के साथ समुदाय स्थापित करता है। उनके साथ एकात्म होता है। समुदाय के बारे में सोचता है। इसी क्रम में विकास करते हुए बाद में वह सोचता है कि केवल समुदाय ही नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र मेरा है। फिर अन्तिम संन्यास अवस्था आती है। "स्वदेशो भुवनत्रयम्" से सम्पूर्ण मानवता का विचार आरम्भ कर वह चराचर जगत् से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और विश्व नागरिक ही नहीं, चराचर सृष्टि का नागरिक बनने की महिमामय स्थिति को प्राप्त कर लेता है। बचपन के अहंकार से लेकर संन्यासी जीवन के चरमोत्कर्ष तक का यह जो सुदीर्घ वैचारिक प्रवास है, उसमें जैसे-जैसे आत्मचेतना बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसके लिए पुरानी इकाई सब तरह से सत्य होते हुए भी नयी इकाई के सत्य का साक्षात्कार उसको होता जाता है। अंतिम साक्षात्कार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का साक्षात्कार संन्यास अवस्था में होता है।

अराजकता में विकास-क्रम

दूसरे शब्दों में सभी इकाइयाँ सत्य हैं। हमारी आत्मचेतना का जैसे-जैसे विस्तार होगा वैसे-वैसे हमारे साक्षात्कार का विकास होगा। सभी सत्य हैं, इस कारण दूसरे का तिरस्कार नहीं, उसका परित्याग नहीं और निषेध नहीं होगा, जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से पौधा निकलता है तथा वहीं से शाखायें एवं पल्लव निकलते हैं। उसमें से फूल और फल निकलते हैं। हर एक का आकार अलग है। अंकुर अलग है, फल अलग है। एक दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं दिखता। प्रतीत होता है कि यह अत्यन्त अराजक स्थिति है। लेकिन यह अराजक न होकर एक विकास क्रम है। बीज और अंकुर में कोई विरोध नहीं। इन सबमें कोई विरोध नहीं है। सबसे छोटी इकाई से लेकर सबसे बड़ी इकाई तक एकात्मकता है। सभी अपने-अपने दायरे में सत्य हैं, कोई एक दूसरे का विरोध नहीं करता। यह भारतीय विचार पद्धति की विशेषता है।

एकात्म जीवन की महत्ता

हमने सबसे छोटी इकाई- व्यक्ति पर बल दिया और उसका संगठन किया। हमारे यहाँ व्यक्ति के स्वरूप को जिस प्रकार संगठित और एकात्म किया गया, वैसा पश्चिम में नहीं है। वहाँ पर केवल भौतिक प्रगति को ही महत्व दिया गया है। सर्वाधिक प्रगतिशील राष्ट्र- अमेरिका है। वहाँ भौतिक प्रगति काफी लोगों की हो गयी है किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि वहाँ के सर्वसाधारण व्यक्ति के अंदर सुख, सन्तोष और समाधान का पूर्णतया अभाव है। वहाँ पर व्यक्ति के जीवन में परस्पर विरोध, असमाधानता, असंतोष, सर्वाधिक अपराध और आत्महत्यायें दिखाई देती हैं। वहाँ प्रगति हुई है, उच्च रक्तचाप की, हृदय रोग की और अपराध प्रवृत्ति की। सम्पूर्ण संसार को खरीद सकने की क्षमता

रखने वाला अमेरिका भौतिक समाधान से मानसिक समाधान नहीं प्राप्त कर सका। आखिर व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य क्या है? सुख - जो चिरन्तन हो, घनीभूत हो। सब कुछ करने के बाद भी यूरोपीय देशों में समाधान व सुख का अभाव है। ईसा ने कहा था कि "सम्पूर्ण संसार का साम्राज्य भी प्राप्त कर लिया परन्तु आत्मा का सुख खो दिया तो उससे क्या लाभ।" आज पश्चिम में चंद्रमा पर साम्राज्य के लिए होड़ मची है। किन्तु वह अपना सुख-समाधान खो बैठा है। अपने यहाँ, छोटी से छोटी इकाई व्यक्ति संगठित और एकात्म है। यहाँ उसे खण्डों में विभक्त समझने की बुद्धिमत्ता प्रदर्शित नहीं की गयी। लेकिन अमेरिका के एक मनोवैज्ञानिक ने वर्णन किया है कि सड़कों पर एक ऐसी बड़ी भीड़ हमेशा लगी रहती है, जो आत्मविहीन, मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ, एक दूसरे से अपरिचित और निःसंग स्थिति में है। उनका अपने ही साथ समन्वय नहीं तो दुनिया के साथ क्या होगा? व्यक्ति का समाज के साथ समन्वय नहीं। व्यक्ति भी संगठित और एकात्मक इकाई नहीं। केवल भौतिक स्तर पर विचार करने के कारण वहाँ व्यक्ति को भौतिक एवं आर्थिक प्राणी माना गया। यदि भौतिक-आर्थिक उत्कर्ष मानव को मिले तो उससे सुख की प्राप्ति होगी, यह माना गया। किन्तु भौतिक-आर्थिक उत्कर्ष की चरम सीमा होने पर भी वहाँ सुख का अभाव है और इसका कारण यही है कि वहाँ खण्ड-खण्ड में विचार करने की प्रणाली है, जिसमें व्यक्ति को केवल भौतिक-आर्थिक प्राणी मान लिया गया है और व्यक्ति के सभी पहलुओं को ध्यान में रखकर संगठित एवं एकात्म रूप में विचार नहीं किया गया है।

मर्यादित सुखोपभोग की व्यवस्था

हमारे यहाँ भी कहा गया है कि व्यक्ति आर्थिक प्राणी तो है ही, इसमें कोई सन्देह नहीं। "आहार, निद्रा, भय,मैथुनं च" की तृप्ति की बात हमारे यहाँ भी कही गयी है। उनकी पूर्ति तो होनी ही चाहिए। किन्तु मनुष्य के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्य आर्थिक-प्राणी से ऊपर भी कुछ है। वह शरीरधारी, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक प्राणी भी है। उसके व्यक्तित्व के अनेकानेक पहलू हैं। अतः यदि सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सभी पहलुओं का संगठित और एकात्म रूप से विचार न हुआ तो उसको सुख-समाधान की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। अपने यहाँ इस दृष्टि से संगठित एवं एकात्म स्वरूप का विचार हुआ है। व्यक्ति की आर्थिक, भौतिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर यह कहा गया है कि इन वासनाओं की तृप्ति होनी चाहिए लेकिन यह भी कहा गया कि उन पर कुछ मर्यादा भी आवश्यक है। केवल फ्रायड ने ही काम का विचार अत्यन्त गंभीरता से किया, ऐसी बात नहीं है। हमारे यहाँ भी काम को मनुष्य के अपरिहार्य आवेग के रूप में स्वीकार कर उस पर गम्भीरता से विचार किया गया है। गीता के तृतीय अध्याय के ४२ वें श्लोक में कहा गया है कि -

इन्द्रियाणी पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परमनः।
मनसस्तु परा बुद्धियो बुद्धेः परतस्तु सः।।

अर्थात् इन्द्रियाँ (विषयों से) ऊपर स्थित हैं, इन्द्रियों से मन उत्कृष्ट है। बुद्धि मन से भी ऊपर अवस्थित है। जो बुद्धि की अपेक्षा भी उत्कृष्ट है- उससे भी गम्य है-वही आत्मा है। परन्तु इस श्लोक में 'सः' का अर्थ काम अनेक विद्वानों ने बताया है। लेकिन काम को स्वीकार करने पर भी उसे अनियंत्रित नहीं रहने दिया। भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा कि मैं काम हूँ। पर यह भी कहा कि "धर्माविरुद्धोभूतेषु कामोस्मिन् भरतर्षभ।' अर्थात् मैं काम हूँ, काम की पूर्ति भी होनी चाहिए, पर वह धर्म विरुद्ध न हो।

धर्माधिष्ठित जीवन-रचना

अर्थ को भी अपने यहाँ स्वीकार किया गया है। अर्थशास्त्र की भी रचना हुई है। सबकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति इतनी अवश्य होनी चाहिए कि उसके कारण अपना पेट पालने के लिए व्यक्ति को २४ घंटे चिन्ता करने की आवश्यकता न हो। उसे पर्याप्त अवकाश मिल सके, जिससे वह संस्कृति, कला, साहित्य और भगवान आदि के बारे में चिन्तनशील हो सके। इस प्रकार अर्थ और काम को मान्यता देकर भी यह कहा गया कि एक-एक व्यक्ति का अर्थ और काम उसके विनाश का कारण न बने या समाज के विघटन का कारण न हो। इस दृष्टि से हमारे यहाँ के प्राचीन द्रष्टाओं ने विशिष्ट दर्शन दिया था। उसमें विश्व की धारणा के लिए शाश्वत नियम और सार्वजनीन नियम देखे थे, उनका दर्शन किया था। उन्हें उन्होंने खोजा, लिखा

अथवा संग्रहीत नहीं किया था अपितु उनका मानस दर्शन किया था। व्यक्ति को विनाश से बचाने के लिए, समाज को विघटन से बचाने के लिए, व्यक्ति के परम उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक एवं सार्वदेशिक नियमों के प्रकाश में जो व्यवस्था उन्होंने बनायी,उसके समुच्चय को धर्म कहा गया। इस धर्म के अन्तर्गत अर्थ और काम की पूर्ति का भी विचार हुआ, हर एक व्यक्ति परमसुख यानी मोक्ष प्राप्त कर सके, इसका चिन्तन हुआ। इस प्रकार धर्म और मोक्ष के मध्य, अर्थ और काम को रखते हुए चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना अपने यहाँ रखी गयी। इस समन्वयात्मक, संगठित और एकात्मवादी कल्पना में व्यक्ति का व्यक्तित्व विभक्त नहीं हुआ। वह आत्मविहीन एवं मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ प्राणी न बन सका। इस चतुर्विध पुरुषार्थ ने प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक क्षमताओं के अनुसार अपना जीवनादर्श चुनने का अवसर दिया और साथ ही व्यक्तित्व को अखण्ड बनाये रखा।

एकात्म मानव दर्शन क्या है?

यह स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्वरूपी विभिन्न पहलू संगठित नहीं हैं या व्यक्ति संगठित नहीं है, वहाँ समाज संगठित कैसे हो सकता है? इस संगठित आधार पर ही अपने यहाँ व्यक्ति से परिवार, समाज, राष्ट्र, मानवता और चराचर सृष्टि का विचार किया गया। एकात्म मानव दर्शन इसी का नाम है।

इसके तार्किक अनुक्रम के रूप का भी हम विचार करें तो इस सम्बन्ध में हमें यही दिखा कि इसके कारण अलग-अलग इकाइयों से संघर्ष की तो बात है ही नहीं। वे तो एक दूसरे से निकलने वाले विकास क्रम का ही आविष्कार हैं। ऐसी स्थिति में सभी इकाइयाँ अपने-अपने क्षेत्र में स्वायत्त किन्तु अपने से ऊपर की इकाइयों के साथ एकात्म होते हुए चल रही हैं। जहाँ तक मानव समाज-रचना का प्रश्न है, इसका अन्तिम अनुक्रम यही हो सकता है- व्यक्ति, परिवार, समुदाय - इसी में आगे बढ़ते-बढ़ते राष्ट्र का राष्ट्रीय शासन और फिर इसी एकात्म मानव दर्शन के आधार पर विश्वराज्य का आविष्कार होगा। वैचारिक जगत् में उसका दूसरा तार्किक अनुक्रम अद्वैत सिद्धान्त का साक्षात्कार है।

एकात्म मानव दर्शन की फलश्रुति

अपने इस एकात्म मानव दर्शन के अन्तर्गत अस्तित्व में आने वाला विश्वराज्य कम्युनिस्टों के विश्वराज्य से बिल्कुल भिन्न है। कम्युनिस्टों का विश्वराज्य एक केंद्र पर आश्रित है। हमारा विश्वराज्य अनेक केंद्रों पर निर्भर होगा। कम्युनिस्ट व्यवस्था में वैचारिक आबद्धता के अन्तर्गत एकरूपता दिखाई देगी। किन्तु अपने विश्वराज्य में ऐसी थोपी गयी एकरूपता नहीं होगी। एकात्म मानव दर्शन प्रत्येक राष्ट्र को अपनी-अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार विकास करने की स्वतंत्रता देगा। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण-कर्म के अनुसार विकास कर, विकास का सम्पूर्ण फल समाज-पुरुष को अर्पित करता है, उसी तरह प्रत्येक राष्ट्र अपने को मानवता का एक अंग समझेगा। हम सभी मानवता के साथ अपने को एकात्म समझ लें और सम्पूर्ण मानवता की प्रगति के लिए अपने राष्ट्र की जो विशेषतायें होंगी, प्रगति की जो विशेषतायें होंगी, उसका परिपक्व फल मानवता के चरणों पर अर्पित करें। इस तरह हर एक राष्ट्र स्वायत्त रहते हुए अपना विकास भी करेगा, किन्तु विश्वात्मा का भाव मन में रहने के कारण एक दूसरे का पोषक, सम्पूर्ण मानवता का पोषक विश्व राज्य, यह पं० दीनदयाल जी के एकात्म मानव दर्शन की रचना की दृष्टि से चरम परिणति होगी। इसी भाँति वैचारिक क्षेत्र में अद्वैत का साक्षात्कार तर्क सिद्ध परिणति है। इतना हम आज ध्यान रखें तो आज की परिस्थिति में जो वैचारिक संभ्रम चारों ओर दिखाई दे रहा है, उस कुहासे को दूर करना कठिन न होगा।

☐ उत्तर प्रदेश संदेश,
पं० दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक,
सितंबर १९९१

दत्तोपंत ठेंगड़ी : चिन्तक; संस्थापक, भारतीय मजदूर संघ।

क्रांतिकारी आर्थिक चिन्तन

✍ महेश चन्द्र शर्मा

पं० दीनदयाल उपाध्याय प्रणीत एकात्म मानववाद, समाजशास्त्र के विखण्डित अध्ययन को अनुचित मानता है। समग्रता की उपेक्षा करके किया जाने वाला अध्ययन हमें विशेषीकरण के कुछ लाभ अवश्य देता है, लेकिन इसके कारण उत्पन्न होने वाली खण्ड-दृष्टि समाज के लिए अहितकारी सिद्ध होती है। अतः दीनदयाल उपाध्याय उन लोगों से सदैव असहमत रहते हैं, जो समाज को केवल अर्थशास्त्रीय, राजनीति शास्त्रीय अथवा दर्शनशास्त्री दृष्टि से विवेचित करते हैं। वे अर्थशास्त्र के जिज्ञासु अध्येता व गंभीर चिंतक थे। समाज अर्थात् 'विराट पुरुष' के 'धर्मायाम', 'अर्थायाम', 'कामायाम' व 'मोक्षायाम' में वे संतुलन के समर्थक थे। समग्रतावादी चिन्तन उन्हें अभिप्रेत था। इस संदर्भ में उपाध्याय लिखते हैं:

"भारतीय जनसंघ के पास एक स्पष्ट आर्थिक कार्यक्रम है। किन्तु उसका स्थान हमारे संपूर्ण कार्यक्रम में उतना ही है जितना भारतीय संस्कृति में अर्थ का। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवादी होने के कारण, अर्थ प्रधान है। हम भौतिकवाद और आध्यात्मवाद, दोनों का समन्वय करना चाहते हैं। अतः यह निश्चित है कि जनसंघ उन अर्थशास्त्रियों व दलों से, जो अर्थ के सामने जीवन के प्रत्येक मूल्य की उपेक्षा करके चलना चाहते हैं, इस मामले में सदैव पीछे रहेगा। जनसंघ, हृदय, मस्तिष्क और शरीर, तीनों का सम्मिलित विचार करता है। इसी कारण कुछ लोग जनसंघ पर यह आरोप भी लगाते हैं कि जनसंघ आध्यात्मिकता की उपेक्षा करता है, महर्षि अरविन्द आदि महापुरुषों की भाषा नहीं बोल पाता। हम दोनों ही प्रकार के आरोपों का स्वागत करते हैं और इतना ही कहना चाहते हैं कि अर्थ समाज की धारणा के लिए उतना ही आवश्यक है, जितने मात्र से व्यक्ति अपना भरण-पोषण करके अन्य श्रेष्ठ मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास कर सके और उतने को ही हमने अपने कार्यक्रम में स्थान दिया है।"

अपने आर्थिक चिंतन को व्याख्यायित करने के लिए दीनदयाल उपाध्याय ने "भारतीय अर्थनीति - विकास की एक दिशा" नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक में अर्थनीति की विवेचना करते हुए उन्होंने अपने 'एकात्म मानव' के अर्थायाम की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है - "समाज से अर्थ के अभाव व प्रभाव, दोनों को मिटाकर, उसकी समुचित व्यवस्था करने को 'अर्थायाम' कहा गया है।"

भारतीय संस्कृति के अर्थ

भारतीय संस्कृति में 'धर्म' को आधारभूत पुरुषार्थ माना गया है। 'सुखस्य मूलम् धर्मः' चाणक्य के इस कथन के अनुसार 'अर्थ के बिना धर्म नहीं टिकता'। १९५३ में लिखे अपने प्रथम अर्थनीति प्रलेख में उपाध्याय जी लिखते हैं-

"...हम जानते हैं कि भारतीय ढंग सदा से ही धर्म का ढंग रहा है (मजहब का नहीं) और धर्म के इस ढंग पर ही आर्थिक नवनिर्माण के नक्शे को तैयार करने की जरूरत है ... धर्म की ... वेदों की व्याख्या हम लेते हैं, जिसमें उसके १२ लक्ष्य गिनाये गये हैं। इनमें धर्म का आद्य क्षण सबसे महत्वपूर्ण है (श्रमेण तपसा सृष्टा...) और वह है 'श्रम'। ...'श्रम' को धर्म का पहला लक्षण बताया। श्रम की महत्ता का ज्ञान मार्क्स और एंजिल्स के जन्म तक रुका नहीं रहा, वह अति पुरातन काल में, सहज अनुभूति से, हमने मानवता को दे दिया था। ... श्रम करना मनुष्य का मूलभूत कर्तव्य है (Duty to work)।इसी प्रकार मनुष्य को श्रम करने का अधिकार देना, राज्य का मूलभूत कर्त्तव्य है। ... अतः श्रम का अधिकार (Right to work) मनुष्य का संवैधानिक अधिकार है। राज्य का यह पहला कर्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिक को उसकी योग्यता व क्षमता के अनुसार काम करने का अवसर दे। इन अवसरों में किसी प्रकार का भेदभाव, न जाति का, न रंग का और न लिंग का होने दे। राष्ट्र के पुनर्निर्माण की जो भी योजना बनाई जाए, उसका उद्देश्य सभी व्यक्तियों को काम दिलाना होना चाहिए (Full employment)।" इसी आधार पर दीनदयाल उपाध्याय पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण के संदर्भ में सदैव यह आग्रह करते रहे कि हमें अपना आयोजना लक्ष्य घोषित करना चाहिए - 'सब को काम।'

धन का मनोविज्ञान

धन का अभाव मनुष्य को चोर बनाता है। अभाव के क्षणों में की गई चोरी को भारतीय शास्त्रकार अपराध नहीं वरन् 'आपद् धर्म' की संज्ञा देता है।

"उन्होंने (विश्वामित्र ने) धर्म की अनेक मर्यादाओं को भंग किया। आपद् धर्म की संज्ञा देकर शास्त्रकारों ने उनके इस व्यवहार को उचित ठहराया है। यदि अर्थ के अभाव की स्थिति बनी रहे, तो फिर आपद् धर्म अर्थात् चोरी ही धर्म बन जाए। यदि यह आपत्ति समष्टिगत हो जाए अथवा समष्टि का बहुतांश इससे व्याप्त हो जाए, तो वे एक-दूसरे की चोरी करके अपने आपद् धर्म का निर्वाह करेंगे।"

अर्थात् समाज में अर्थ का अभाव अथवा अभावमूलक नियोजन समाज में अधर्म को धर्म बना देता है। वैसे ही "अर्थ का प्रभाव भी धर्म का नाश करता है ... अर्थ जब अपने में या उसके द्वारा प्राप्त पदार्थों में और उससे प्राप्त भोग-विलास में संग (आसक्ति) उत्पन्न कर देता है तब अर्थ का प्रभाव कहा जाता है। 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयंति' ... जब समाज में सभी 'धनपरायण' हो जाएं, तो प्रत्येक कार्य के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होगी। धन का यह प्रभाव भी प्रत्येक के जीवन में अर्थ का अभाव उत्पन्न कर देगा।"

इसलिए वे यह प्रतिपादित करते हैं कि "समाज के मानदण्ड ऐसे बनाये जाएं कि हर वस्तु पैसे से न खरीदी जा सके। ... (पैसे से ही मूल्य आँकने का परिणाम यह होगा कि) दुर्बल की रक्षा ही नहीं हो पाएगी। शरीर शक्ति में दुर्बल, अपनी बुद्धि का उपयोग कर, धूर्तता से धन कमाकर, अपनी रक्षा का मूल्य चुकाएगा (घूसखोरी होगी)। श्रम का रुपये-पैसे में मूल्य आँकना असंभव है। ... श्रम और पारिश्रमिक दोनों का, अर्थ शास्त्र के क्षेत्र में घनिष्ठ संबंध होने पर भी, व्यवहार जगत के लिए सर्वमान्य मूल्य सिद्धान्त निश्चित करना न तो सरल है और न उपादेय ही। वास्तविकता तो यह है कि दोनों का मूल्यांकन पृथक मानदण्ड से होता है। श्रम की प्रतिष्ठा उससे मिलने वाले अर्थ के कारण नहीं, अपितु उसके धर्मत्व से है। इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति को दिया गया पारिश्रमिक उसके द्वारा किए श्रम का प्रतिदान नहीं वरन् उसके 'योगक्षेम' की व्यवस्था है।"

उपाध्याय इस प्रकार के समाजशास्त्र व मनोविज्ञान के हिमायती हैं, जिसमें कर्म की प्रेरणा का आधार लोभ वृत्ति नहीं, वरन् 'कर्तव्य सुख' है। वे उस अर्थशास्त्र के खिलाफ हैं, जो मानव जीवन के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पहलुओं की उपेक्षा करता है -

"... व्यक्तियों की अबाध व असीम प्रतिस्पर्धा को न तो हम सामाजिक जीवन का नियामक मान सकते हैं और न सुरक्षापूर्ण ही। ... यह मान्यता 'मात्स्य न्याय' का प्रतिपादन करने वाली है। हमने इस न्याय को कभी धर्मसंगत नहीं माना। ... समाज में मानव की कुछ स्वंत्रताओं पर मर्यादा आवश्यक होती है। अनियंत्रित स्वतंत्रता केवल कल्पना की वस्तु है। हाँ, यह नियंत्रण जितना बाहरी होगा, मानव को कष्टदायी होगा। शिक्षा और संस्कार, दर्शन और आदर्शवाद व्यवहार में मनुष्य को आत्म-नियंत्रण सिखाते हैं।"

अपनी ही गति से चलने वाले अर्थशास्त्र के हवाले, समाज को नहीं किया जा सकता। अर्थचक्र को समाजशास्त्र व धर्मशास्त्र के अनुकूल नियोजित करना आवश्यक है। इसलिए वह कहते हैं, "अपनी ही गति से बराबर गतिमान अर्थव्यवस्था असंभव है, उसे गति देने के लिए और बाद में भी, कम से कम रुकावट के साथ, सुचारु रूप से चलाते रहने के लिए, व्यक्ति और समाज के जीवन में प्रेरणा का स्रोत अर्थ के अतिरिक्त कही अन्यत्र ढूँढ़ना होगा। राष्ट्र की राजनैतिक महत्वाकांक्षाएं, व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा की अभिलाषा, कुटुम्ब का प्रेम आदि अनेक प्रेरणायें वांछित अर्थरचना को बनाने व टिकाने में सहायक होती हैं।

उपाध्याय की मान्यता है कि उपभोगवाद, स्पर्धावाद व वर्ग संघर्ष, इन सबका आधार अनियंत्रित उपभोग है। "पश्चिम ने अधिकाधिक उपभोग के अपने पुराने सिद्धान्त को ही चलने दिया और उसमें संशोधन की जरूरत नहीं समझी। वास्तविकता यह है कि अधिकाधिक उपभोग का सिद्धान्त ही मनुष्य के दुखों का

कारण है। उपभोग की लालसा यदि पूरी की जाए, तो वह बढ़ती चली जाती है। वर्ग संघर्ष, जिसके ऊपर समूचा साम्यवाद खड़ा है, ऐसे उपभोग के कारण ही उत्पन्न होता है। भारतीय मतवाद जब वर्ग संघर्ष का खंडन करता है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसने उपभोग को नियंत्रित कर लिया है तथा अधिकाधिक उपभोग की बजाए न्यूनतम उपभोग को आदर्श बनाया है। मनुष्य की प्राकृत भावनाओं का संस्कार करके उसमें अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण तथा संयमित उपभोग की प्रवृत्ति पैदा करना ही, आर्थिक क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्य है। इसमें ही तीनों का संतुलन है।

साम्यवादी व पूंजीवादी विचारधाराएं समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, विधिशास्त्र - सभी को अर्थशास्त्र के हवाले कर देती हैं। अर्थशास्त्र उनकी समस्त गतियों का नियामक है। अर्थशास्त्र की औद्योगीकरण प्रवृत्ति ने, वित्तीय सत्ता के केन्द्रीकरण को पोषण प्रदान किया है। इससे मानव जीवन का ही मशीनीकरण हो गया है। उपाध्याय जी धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र में पारस्परिक संतुलन के हिमायती हैं।इस संतुलन कार्य को वे "सांस्कृतिक" कार्य मानते हैं तथा इस दृष्टि से अनुकूल अर्थायाम की स्थापना के हिमायती हैं।

स्वामित्व का सवाल

"सम्पत्ति किसकी?" यह सभ्य समाज का आदिकालिक प्रश्न है। सम्पत्ति को सम्पूर्ण समाज चक्र का नियामक मान लेने से, इस सवाल की अहमियत और बढ़ गई। व्यक्तिवाद व समाजवाद के विचारधारात्मक संघर्ष ने इसे एक नवीन आयाम दे दिया। सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार अथवा सम्पत्ति पर समाज का अधिकार? उपाध्याय 'सम्पत्ति' के स्वामित्व के लिए व्यक्ति व समाज के द्वंद्व को ही गलत मानते हैं, अतः इस सवाल का सीधा उत्तर नहीं देते।

हर व्यक्ति समाज का प्रतिनिधि है, अतः वह समाज की सम्पत्ति के एक हिस्से का 'न्यासी' या संरक्षक है। उपाध्याय व्यक्ति को श्री विहीन करने के खिलाफ हैं, व्यक्ति स्वयं 'समाज पुरुष' का अंग है, अतः वह स्वयं ही समाज की धरोहर है, इसलिए सम्पत्ति पर अमोघ अधिकार तो समाज का ही है, लेकिन वे समाज की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था के नाते 'राज्य' को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। अतः निजी सम्पत्ति के अधिकार के नाम पर, समाज के कुछ लोगों के हाथ में सम्पत्ति का केंद्रीकरण या सम्पत्ति के सामाजिक अधिकार के नाम पर राज्य के हाथ में सम्पत्ति के केंद्रीकरण दोनों को वे समान रूप से गलत मानते हैं। आम आदमी को, पूंजीपतियों अथवा राज्य संस्था का मजदूर या गुलाम बना देना वे मानवता का अपमान समझते हैं। उपाध्याय जी सम्पत्ति पर न तो व्यक्ति का अमर्यादित स्वामित्व स्वीकार करते हैं न ही अमर्यादित राज्याधिकार। वे स्वामित्व के केंद्रीकरण के खिलाफ हैं। अतः वे विकेन्द्रित राज्य व विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था के समर्थक हैं।

उपाध्याय जी कहते हैं, "... समाजवादी निजी सम्पत्ति को ही समाप्त करने की बात कहते हैं। उनका सिद्धान्त व व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से समर्थन करना कठिन है। यद्यपि सृष्टि के आरम्भ से ही 'अपरिग्रह' एवं 'मागृधः कस्यस्विद्धनम्' का उपदेश मिला है। किन्तु यह संसार मेरे और तेरे का ही नाम है। साम्यवादी, जो निजी सम्पत्ति की भावना को जड़मूल से समाप्त कर देना चाहते थे, पहले व्यक्तिगत और फिर कुछ-कुछ अंश में निजी सम्पत्ति को भी स्वीकार करने लगे। निजी सम्पत्ति के कारण बुराइयाँ उत्पन्न होने पर भी हम उसका बहिष्कार नहीं कर सकते। हाँ, हमें निजी सम्पत्ति की मर्यादाएं अवश्य स्थापित करनी होंगी।"

व्यक्तिगत सम्पत्ति के नियमन एवं अर्थोत्पादकीय आयोजन के लिए उपाध्याय राज्याधिकार को भी स्वीकार करते हैं।जहाँ कुछ हाथों में पूंजी के केंद्रीकरण का खतरा हो, वहाँ राष्ट्रीयकरण को वांछनीय मानते हैं-

"... जहाँ तक कुटीर उद्योगों का सवाल है, यह खतरा बहुत कम है लेकिन जहाँ बड़े उद्योगों का क्षेत्र शुरू होता है, वहाँ यह खतरा उत्पन्न होता है। सुरक्षा उद्योगों का तो राष्ट्रीयकरण अनिवार्य है। अब प्रश्न बचता है पूंजी उद्योगों का, उनका भी अंतिम रूप से राष्ट्रीयकरण कर देना उद्देश्य होना चाहिए। आज पूंजी उद्योग व्यक्तिगत क्षेत्र में आते हैं। उनसे व्यक्तिगत क्षेत्र का क्रमिक उन्मूलन किया जाना चाहिए। जब तक यह राष्ट्रीयकरण अंतिम रूप से सम्पन्न नहीं हो जाता, तब तक बड़े उद्योगों के गुट बनने देने की प्रवृत्ति को रोकना चाहिए। जिन उद्योगों में ये गुट बन गये हैं, उनका राष्ट्रीयकरण कर लिया जाए। कुटीर उद्योगों का विकास

करते समय भी इस बात का ध्यान रखना होगा कि उनके गुट बनाकर पूंजीपति उन पर नियंत्रण स्थापित न कर लें। जापान में वितरण तथा सम्पत्ति की असमानता का कारण वहाँ के कुटीर उद्योगों पर पूंजीपतियों का नियंत्रण ही है।"

स्वामित्व के सवाल को जिस प्रकार पूंजीवादी व समाजवादी लोग प्रस्तुत करते हैं, उसे वे उनकी विभक्त दृष्टि का परिचायक मानते हैं। उपाध्याय जी की नजर में सम्पत्ति के 'स्वामित्व' की बजाय 'केंद्रीकरण' का सवाल ज्यादा अहम् है। साथ ही 'उपभोगवाद' की अवधारणा का सवाल भी महत्वपूर्ण है। अतः वे लिखते हैं :

"स्वामित्व के साथ अनिर्बंध नियंत्रण एवं मनमाने उपभोग की धारणाओं ने इस विषय को गलत पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। किसी भी वस्तु पर मेरा स्वामित्व होने के बाद भी, मुझे यह अधिकार प्राप्त नहीं कि मैं उसका चाहे जैसा उपभोग करूँ। स्वामित्व एवं उपभोग की दोनों भावनाओं को जब तक हम अलग-अलग नहीं करेंगे तब तक हम उनसे उत्पन्न होने वाली बुराइयों को नहीं रोक सकेंगे। जिस वस्तु का मैं स्वामी हूँ, उसका उपभोग समाज हित में ही करने का मुझे अधिकार है, यह विचार प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख होना चाहिए। ... राज्य भी जब स्वामित्व ग्रहण कर लेता है, तो वह व्यक्तियों द्वारा ही व्यवस्था करता है। ... जो व्यक्ति आज अपनी चीज का मनमाना उपयोग करने से नहीं डरता, वह समाज की वस्तु का उपयोग भी वैसा ही नहीं करेगा, इसकी गारंटी नहीं दी जा सकती। यदि उसके दुरुपयोग को रोकने के लिए दण्डनीति आवश्यक समझते हैं, तो वह उसके पास स्वामित्व का अधिकार रहते हुए भी काम में लाई जा सकती है।"

दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति के निजत्व को कुचलने वाले राज्यधिकार व समाज की उपेक्षा करने वाले वैयक्तिक अधिकारों के खिलाफ हैं। वे इसे मानव की अस्वस्थ अवस्था का परिचायक मानते हैं। सम्पत्ति पर व्यक्ति या राज्य के अनिर्बंध नियंत्रण के अधिकार का सवाल भी, इस अस्वस्थ अवस्था की उपज है। उनका मत है, "गंभीरता से देखें तो स्वामित्व का अधिकार वास्तव में निश्चित मर्यादाओं तथा निश्चित उद्देश्यों के लिए किसी वस्तु के उपयोग का अधिकार ही है। समय के साथ इन अधिकारों में परिवर्तन होता रहता है। अतः हम सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यक्ति और समाज के झगड़े में नहीं पड़ेंगे। ... सम्पत्ति का उपभोग कुटुम्ब (समाज) के हित में होता है, मनमाने ढंग से नहीं। 'ट्रस्टीशिप' का यह भारतीय सिद्धान्त गाँधी जी, गुरु जी आदि विचारकों ने समाज के सम्मुख रखा है।"

'ट्रस्टीशिप' का सिद्धान्त हर व्यक्ति को समाज का दायित्ववान घटक मानता है। समाज में दायित्व बोध का शिथिलन न आये तथा दायित्व का संस्कार, सामाजिक परिवेश का स्वाभाविक परिणाम हो, ऐसी समाज रचना 'मानवी' समाज रचना है। व्यक्ति की शैतानियत पर राज्य का अंकुश एवं राज्य की हैवानियत के खिलाफ व्यक्तियों का विद्रोह, संस्कारहीन समष्टि का परिचायक है। 'अंकुश' व 'विद्रोह' मजबूरी के हथियार हैं। उनका यदा कदा प्रयोग व्यावहारिक माना जा सकता है, लेकिन अखंड अंकुश एवं अखंड विद्रोह की व्यवस्थाओं का नियोजन विवेकसम्मत नहीं माना जा सकता। व्यष्टि व समष्टि के साझेपन में ही मानवता का सुख अन्तर्निहित है। अतः सम्पत्ति पर यह साझा अधिकार ही, उपाध्याय के एकात्म मानववाद को अभिप्रेत है।

पूंजीवाद का निषेध

दीनदयाल उपाध्याय पश्चिम की विचार-सरणी से उत्पन्न, व्यक्तिवाद के लोकतंत्रीय पक्ष के समर्थक हैं, लेकिन पूंजीवाद को व्यक्तिवाद की विकृति मानते हैं। उन्मुक्त आर्थिक स्पर्धा पूंजीवाद का आधार है। स्पर्धा स्वातंत्र्य को ही पूंजीवादी लोग व्यक्ति स्वातंत्र्य कहते हैं, लेकिन उपाध्याय जी इससे पूरी तौर पर असहमत हैं उनका कहना है :

"कहा जाता है कि स्वतंत्र एवं प्रतिस्पर्द्धी-पण, व्यक्ति को उपभोग की स्वतंत्रता प्रदान करता है। (यह सही नहीं है) ... विरोधियों (स्पर्धियों) के समाप्त होने पर, एक या कुछ उत्पादकों का उस क्षेत्र में एकाधिपत्य हो जाता है, तो वे उपभोक्ता से उसके प्रजातंत्रीय अधिकारों को छीन लेते हैं। फिर मूल्य, मांग और पूर्ति के नियमों के आश्रय न होकर, उत्पादकों की अपनी इच्छा और योजना से तय होते हैं। आर्थिक क्षेत्र में यह एक प्रकार की 'डिक्टेटरशिप' है। प्राप्त शक्ति तथा प्रचार तंत्र के सहारे उत्पादकों के स्वामी सामान्य जन को, उसके अधिकार से वंचित करते हैं। एतदर्थ आवश्यक है कि उत्पादन के सामर्थ्य की मर्यादा निश्चित की जाए, जो

कि विकेन्द्रीकरण से ही संभव है।''

उपाध्याय कुछ व्यक्तियों के हाथों में असीमित उत्पादन के सामर्थ्य के केंद्रीकरण के प्रबल विरोधी हैं – "...यदि एक व्यक्ति द्वारा उत्पादन की स्वतंत्रता दूसरे के मार्ग में बाधक बनती है, तो वह नहीं दी जा सकती। एक बड़े कारखाने का मालिक, यद्यपि स्वयं उत्पादन की स्वतंत्रता का उपभोग करता है, किन्तु वह छोटे-छोटे उद्योगों को समाप्त कर, उनकी स्वतंत्रता का अपहरण करता है। फिर कई बार उसके कारखाने में मजदूरों की स्वतंत्रता भी बहुत सीमित हो जाती है। अतः नियमन आवश्यक है।''

पूंजीवाद की प्रवृत्ति, वित्तीय सत्ता को कुछ हाथों में केंद्रीकृत कर देने की है। अपनी समाज निरपेक्ष मानसिकता के कारण, वह मनुष्यों के हित की बजाय अपने स्वामित्व के केन्द्रीकरण पर ही अधिक बल देता है। यह केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति ही पश्चिम के औद्योगीकरण में दिखाई देती है, जहाँ मशीन मनुष्य के लिए सहयोगिनी बनकर नहीं वरन् स्पर्धिनी बनकर आई। नित नये यांत्रिक अभिनवीकरण ने पूंजीवाद को बल प्रदान किया, अतः उपाध्याय जी बेतहाशा मशीनीकरण व औद्योगीकरण के खिलाफ हैं। वे कहते हैं : "... 'उत्पादन' पर अधिक बल देने के कारण अमेरिका आदि में पूंजीवाद का विस्तार हुआ। नवाविष्कृत यंत्र, इस वृद्धिगत उत्पादन के कारण बने और इन यंत्रों के स्वामी ही, उत्पादन के स्वामी भी बन गये। लाभ में जब श्रमिकों को भाग नहीं मिला, तब उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, उन्होंने एक नई प्रणाली समाजवाद या साम्यवाद का विकास किया, जिसमें पुनः 'वितरण' पर बल दिया और इसके लिए राज्य द्वारा व्यक्ति को कुचलकर रख दिया गया।'' पूंजीवादी व्यवस्था समाज में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, सम्यक् जीवन का नियोजन नहीं करती। समाज के सांस्कृतिक मूल्यों को नष्ट कर उसे 'उपभोगवाद' के दुष्चक्र में फँसाकर 'लोलुप' बनाती है। पूंजीवाद द्वारा प्रस्तुत की गई 'आर्थिक मानव' की कल्पना भी भ्रमपूर्ण है। उपभोगवाद व आर्थिक मानव की कल्पनाओं ने आर्थिक जीवन एवं मानव्य को विभक्त कर दिया है, श्रम एवं आनन्द के बीच एक गहरी खाई पैदा कर दी है। यंत्र को मनुष्य का सहयोगी बनाने के बजाये मनुष्य को यंत्र का पुर्जा बना दिया है। उत्पादन कार्य में से शिल्प व सृजन के सुख का अपहरण कर लिया है। दीनदयाल जी आगे कहते हैं :

'' ..एक स्वतंत्र जुलाहे को समाप्त कर उसे विशाल कारखाने का मजदूर बना दिया गया। बजाज के स्थान पर एक विभागीय स्टोर्स बना दिया गया। दर्जी के स्थान पर रेडीमेड कपड़ा लाकर रख दिया गया। मनुष्य यानी एक जन्तु, जो आठ घंटे यंत्रवत् मजदूरी करे और सोलह घंटे खाये। कार्य और जीवन के बीच एक दीवार खड़ी हो गई। पश्चिम के कई देशों में कहा जाता है, पाँच दिन काम के और दो दिन छुट्टी के। उन दो दिनों में केवल मस्ती, केवल खाना-पीना और मौज, काम की बात भी नहीं। अर्थात् वे पाँच दिन कमाई करते हैं तथा दो दिन जीवित रहते हैं। अतः हमें मनुष्य के कमाई के साधनों का इस प्रकार निर्धारण करना होगा कि उसके कार्य और वास्तविक जीवन के बीच कोई खाई न रहे। हाड़-मांस के मनुष्य के पास हृदय, मस्तिष्क व शरीर तीनों की भूख है। इन तीनों का ही विचार करना होगा। अन्यथा कार्य के आठ घंटों का जो अमानवीय प्रभाव होता है, उसे समाप्त करने में ही उसके शेष सोलह घंटे व्यतीत हो जाते हैं। उनके समाप्त होते ही वह पुनः आठ घंटों के चक्र में फँस जाता है।''

समाजवाद का निषेध

व्यक्तिवाद के समानान्तर समाजवाद का विचार भी पश्चिम में पैदा हुआ। समाजवाद का प्रतिनिधि अंततोगत्वा 'सर्वहारा की तानाशाही वाला साम्यवाद' बन गया, जो अलोकतांत्रिक राज्यवाद एवं वर्गवाद के साथ ही, पूंजीवाद के समान औद्योगीकरण व केंद्रीकरण का समर्थक है। उपाध्याय जी समाजवादी वृत्ति के प्रशंसक हैं, लेकिन उसके राज्यवाद व केंद्रीकरण के व्यावहारिक उपायों के सर्वथा खिलाफ हैं।

समाजवाद, व्यक्तिवाद के अतिवाद का निषेध करता है। वह व्यक्ति की बजाय व्यवस्था में परिवर्तन का हामी है, व्यक्ति को अव्यवस्था की ही उपज मानता है। उसका यह व्यवस्थावाद ही उसे अंततः 'राज्यवादी' बना देता है। उपाध्याय व्यक्ति बनाम व्यवस्था के विवाद को भी गलत मानते हैं। कोई व्यवस्था व्यक्ति निरपेक्ष नहीं होती तथा कोई व्यक्ति व्यवस्था-निरपेक्ष नहीं हो सकता। वे इस प्रकार की समाज व्यवस्था के पोषक हैं, जो अपने 'मनुष्य' की चिंता करती है:

"... बुराई का वास्तविक कारण व्यवस्था नहीं, मनुष्य है। मनुष्य ही प्रथम आता है। बुरा व्यक्ति अच्छी से अच्छी व्यवस्था में घुसकर बुराई फैला देगा। समाज की प्रत्येक परंपरा और व्यवस्था किसी न किसी अच्छे व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ की गयी है। परन्तु उसी अच्छी परंपरा पर जब बुरा व्यक्ति आ बैठा, तो वहाँ बुराई आ गई। ... इसकी क्या गारंटी है कि यदि कोई व्यक्ति निजी क्षेत्र में स्वतंत्र रहकर बुराई करता है, तो उसके स्थान पर राज्य का व्यक्ति बैठा देने पर बुराई न फैलेगी? अतः हमारा ध्यान व्यक्ति की कर्तव्य भावना को जगाने पर केंद्रित होना चाहिए था।''

केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति मनुष्य के कर्त्तव्य भाव को मारती है। उसमें 'मजदूर' का भाव जगाती है। 'मजदूरी' का भाव 'मजबूरी' का भाव है, इसमें कर्ता को सम्मान एवं कर्त्तव्य का सुख नहीं रहता। उपाध्याय जी मानते हैं कि समाजवाद में केंद्रीकरणवादी पूंजीवाद के सब दोष विद्यमान रहते हैं। साथ ही राज्यवादी नौकरशाही का एक अतिरिक्त दोष और जुड़ जाता है। अतः वे पूंजीवाद व समाजवाद, दोनों की साझी आलोचना करते हैं :

''वर्तमान साम्यवाद तथा पूंजीवाद दोनों में स्वामित्व के स्वरूप का अंतर छोड़कर और कोई फर्क नहीं है। अतः दोनों में ही व्यक्ति के विकास की कोई सुविधा नहीं है।'' दोनों ही प्रत्यक्ष या परोक्ष अपनी केन्द्रित सत्ता की सुरक्षा के लिए, राज्य पर अपना अधिकार जमाते हैं। उपाध्याय जी विवेचित करते हैं कि ''... पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पहले आर्थिक क्षेत्र पर आधिपत्य जमाकर, फिर परोक्ष रूप से राज्य पर अधिकार करती है, तो समाजवाद राज्य को ही सम्पूर्ण उत्पादनों का स्वामी बना देता है। दोनों व्यवस्थाएं व्यक्ति के प्रजातंत्रीय अधिकार एवं उसके स्वस्थ विकास के प्रतिकूल हैं।''

उपाध्याय जी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को ही अमानवीय मानते हैं। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना व्यक्ति-व्यक्ति में, व्यक्ति और समाज में, प्रकृतिक और व्यक्ति में तथा कर्ता और कृति में, परस्पर 'आत्मीयता' का संचार करती है। ये दोनों व्यवस्थाएं इस 'आत्मीयता' के संचार को समाप्त कर, संबंधों में एक यांत्रिकता पैदा कर देती हैं। 'केन्द्रीय व्यवस्थाएं' मानव को मानव न मानकर, उसके एक 'टाइप' के साथ व्यवहार करती हैं। इनमें मानव की विविधताओं और विशेषताओं के लिए कोई स्थान नहीं। फलतः वे उसे ऊँचा उठाने के स्थान पर एक मशीन का पुर्जा मात्र बना देती हैं, उसका अपना व्यक्तित्व मर जाता है। अतः विकेंद्रीकरण ही हमारी संस्कृति के अनुकूल है।'' केन्द्रीकृत औद्योगीकरण में श्रद्धा रखने वाली पूंजीवादी, समाजवादी व्यवस्थाओं को उपाध्याय जी मानव-विरोधी मानते हैं। अतः वे 'समग्र मानववाद' के आधार पर आर्थिक लोकतंत्र व विकेंद्रित अर्थनीति का निरूपण करते हैं। उनके अनुसार पूंजीवाद व समाजवाद, दोनों ही 'लोकतंत्र' व 'संस्कृति' का व्यवहारतः निषेध करते हैं।

आर्थिक लोकतंत्र

दीनदयाल उपाध्याय लोकतंत्र को केवल राजनीतिक जीवन का आयाम नहीं मानते। उनका मत है कि "प्रत्येक को वोट' जैसे राजनैतिक प्रजातंत्र का निकष है, वैसे ही 'प्रत्येक को काम' यह आर्थिक प्रजातंत्र का मापदण्ड है।'' 'प्रत्येक को काम' के अधिकार की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं : "काम, प्रथम तो जीविकोपार्जनीय हो तथा दूसरे व्यक्ति को उसे चुनने की स्वतंत्रता हो। यदि काम के बदले राष्ट्रीय आय का न्यायोचित भाग उसे नहीं मिलता हो, तो उस काम की गिनती 'बेगार' में होगी। इस दृष्टि से न्यूनतम वेतन, न्यायोचित वितरण तथा किसी न किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था आवश्यक हो जाती है।'' उपाध्याय आगे कहते हैं :

''जैसे बेगार हमारी दृष्टि में काम नहीं है, वैसे ही व्यक्ति के द्वारा काम में लगे रहते हुए भी, अपनी शक्तिभर उत्पादन न कर सकना काम नहीं है। 'अंडर इम्प्लायमेंट' भी एक प्रकार की बेकारी है।'

उपाध्याय जी उस अर्थव्यवस्था को अलोकतांत्रिक मानते हैं, जो व्यक्ति के उत्पादन स्वातंत्र्य या सृजन कर्म पर आघात करती है। अपने उत्पादन का स्वयं स्वामी न रहने वाला मजदूर या कर्मचारी, अपनी स्वतंत्रता को ही बेचता है। आर्थिक स्वतंत्रता व राजनैतिक परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। "राजनैतिक प्रजातंत्र बिना आर्थिक प्रजातंत्र के नहीं चल सकता। जो अर्थ की दृष्टि से

स्वतंत्र है, वही राजनैतिक दृष्टि से अपना मत स्वतंत्रतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकेगा - 'अर्थस्य पुरुषो दास :' (पुरुष अर्थ का दास हो जाता है)।"

मनुष्य के उत्पादन स्वातंत्र्य पर सबसे बड़ा हमला पूंजीवादी औद्योगीकरण ने किया है। अतः उपाध्याय जी औद्योगीकरण का इस प्रकार से नियमन चाहते हैं, जिससे कि वह स्वतंत्र लघु एवं कुटीर उद्योगों को समाप्त न कर सके - "आज जब हम सर्वांगीण विकास का विचार करते हैं तो संरक्षण की आवश्यकता को स्वीकार करके चलते हैं। यह संरक्षण देश के उद्योगों को विदेशी उद्योगों की प्रतिस्पर्धा से तथा देश के छोटे उद्योगों को बड़े उद्योगों से देना होगा।" उपाध्याय जी यह महसूस करते हैं कि पश्चिमी औद्योगीकरण की नकल ने भारत के पारंपरिक उत्पादक को पीछे धकेला है तथा बिचौलियों को आगे बढ़ाया है। हमने पश्चिम की तकनीकी प्रक्रिया का आँख बंद करके अनुकरण किया है। हमारे उद्योग का स्वाभाविक विकास नहीं हो रहा है। वे हमारी अर्थव्यवस्था के अभिन्न व अन्योन्याश्रित अंग नहीं, अपितु ऊपर से लादे गये हैं। ... (इनका विकास) विदेशियों के अनुकरणकर्ता, सहयोगी अथवा अभिकर्ता कतिपय देशी व्यापारियों द्वारा हुआ है। यही कारण है कि भारत के उद्योगपतियों में, सबके सब व्यापारी तथा सटोरियों में से आए हैं। उद्योग एवं शिल्प में लगे कारीगरों का विकास नहीं हुआ है।"

देश के आम शिल्पी व कारीगर की उपेक्षा करने वाला औद्योगीकरण अलोकतांत्रिक है। पूंजीवाद व समाजवाद के निजी व सार्वजनिक क्षेत्र के विवाद को उपाध्याय जी गलत मानते हैं। इन दोनों ने ही स्वयंसेवी क्षेत्र का गला घोंटा है। आर्थिक लोकतंत्र के लिए आवश्यक है स्वयंसेवी क्षेत्र का विकास करना। इसके लिए विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था जरुरी है :

"राजनैतिक शक्ति का प्रजा में विकेंद्रीकरण कर जिस प्रकार शासन की संस्था का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार आर्थिक शक्ति का भी प्रजा में विकेंद्रीकरण करके अर्थव्यवस्था का निर्माण एवं संचालन होना चाहिए। राजनैतिक प्रजातंत्र में व्यक्ति की अपनी रचनात्मक क्षमता को व्यक्त होने का पूरा अवसर मिलता है। ठीक उसी प्रकार आर्थिक प्रजातंत्र में भी व्यक्ति की क्षमता को कुचलकर रख देने का नहीं, अपितु उसके व्यक्त होने का पूरा अवसर प्रत्येक अवस्था में मिलना चाहिए। ... राजनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को जिस प्रकार तानाशाही नष्ट करती है, उसी प्रकार अर्थनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को, भारी पैमाने पर किया गया औद्योगीकरण नष्ट करता है। ... इसलिए तानाशाही की भाँति ऐसा औद्योगीकरण भी वर्जनीय है।"

यंत्रचालित औद्योगीकरण की मर्यादा को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय जी एक समीकरण प्रस्तुत करते हैं : "प्रत्येक को काम का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए, तो सम वितरण की दिशा सुनिश्चित होती है और हम विकेंद्रीकरण की ओर बढ़ते हैं।औद्योगीकरण को उद्देश्य मानकर चलना गलत है। इस सिद्धान्त को गणित के सूत्र में यों रख सकते हैं : ज X क X य = इ।

यहां **ज** जन का परिचायक है, **क** कर्म की अवस्था-व्यवस्था का, **य** यंत्र का तथा **इ** समाज की प्रभावी इच्छा या इच्छित संकल्प का द्योतक है। **इ** तथा **ज** तो सुनिश्चित हैं। **इ** और **ज** के अनुपात में **क** तथा **य** को सुनिश्चित करना है। लेकिन औद्योगीकरण लक्ष्य होने पर **य** सबको नियंत्रित करता है। **य** के अनुपात में **ज** की छँटनी होती है। **य** के अनुपात में **इ** को भी यंत्रों के अति उत्पादन का अनुसरण करना पड़ता है, जो कि सर्वथा अवांछनीय है। **ज** की छँटनी कर देने वाली कोई भी अर्थव्यवस्था अलोकतांत्रिक है। **इ** को नियंत्रित करने वाली अर्थव्यवस्था तानाशाही है, अतः **ज** तथा **इ** के नियंत्रण में **क** तथा **य** का नियोजन होना चाहिए, वही लोकतांत्रिक एवं मानवीय अर्थव्यवस्था कही जा सकती है।

❐ मध्य प्रदेश संदेश, सितम्बर १९६२

महेश चन्द्र शर्मा : चिन्तक।

मरकर अमर बने कैसे नर ?

✍ हो. वे. शेषाद्रि

वह एक मूर्तिकार था।
जगह-जगह से चुन-चुनकर
अमृतशिलाएं उठा ले आता था।
लगातार उन पर छेनी चलाता रहा,
हथौड़ा मारता रहा।
शिलाओं के शरीर छिलते रहे,
नये आकार लेते रहे।
बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ गढ़ती रहीं।
किन्तु क्या आश्चर्य, क्या विस्मय!
उन शिलाओं को होती ही नहीं थी वेदना।
उलट उसी में प्रतीत होता रहा उल्लास।
जैसे कि अपने अंदर
किसी नई अलौकिक अनुभूति
का संचार हो रहा है।
आस-पास के लोग चकित हुए
पूछने लगे कैसे हुआ यह चमत्कार?
उत्तर था उसके, उस मूर्तिकार के, हाथ में।
वह कोई सामान्य हाथ नहीं था,
वह छेनी कोई सामान्य छेनी नहीं थी,
वह कोई सामान्य हथौड़ा नहीं था।
वे सारे फूल जैसे सुगन्धित बन गये थे,
सुन्दर और सुकोमल बन गये थे,
उसके निर्मल, अगाध स्नेह रस से सिंचित होकर।
मूर्तियों में होने लगी धीरे-धीरे प्राण प्रतिष्ठा,
जन हृदय के मंदिरों में होने लगीं विराजमान
फैलने लगी सब ओर उनकी महिमा
भक्तों का भरने लगा मंदिरों में मेला
पर कैसा विचित्र!
कहीं पर भी नहीं उस मूर्तिकार की प्रतिमा,
धूप, दीप, आरती तो दूर रही
ऐसा क्यों ?

मंदिरों में बैठने की उसकी रुचि ही नहीं थी।
अपनी एकाकी तपस्या में,
मूर्तियाँ गढ़ने की तपश्चर्या में,
तल्लीन था वह।
उसमें किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं,
यही उसकी चाह।
और ...
यह तपस्या, यह साधना,
अपने अंतिम दिन तक चलाता रहा।
शरीर शरशय्या पर पड़ा था,
बार-बार झटकों के कारण
अपंग बन गया था शरीर।
लेकिन मुखमंडल के उल्लास में
कुछ भी नहीं आया था अंतर।
टूटा नहीं था उसका ध्येय चिन्तन,
अपने द्वारा निर्मित मूर्तियों की चिंता चलती रही।
एक-एक पर बरसाता रहा अपने प्रेम की वर्षा।
आखिर जब उसके अंदर कुछ भी बचा नहीं,
जीवन यज्ञ में अपनी अंतिम आहुति डालकर
जब रिक्त हस्त हो गया,
तब शांत हुआ उसका पार्थिव शरीर।
शरीर शांत हुआ,
किन्तु यज्ञकुण्ड अधिक प्रज्वलित हुआ।
''मेरी भी आहुति हो उस यज्ञकुंड में'
यह कहकर आगे बढ़ रहे हैं अनंत हृदय
'मरकर अमर बने कैसे नर'
यह रहस्य माँ से सपूतों को सिखाता
स्वयं एक दिव्य तेजोमय मूर्ति
बन गया वह मूर्तिकार।

❐ विद्या भारती प्रदीपिका,
सितम्बर १९९२

होगसंद्र वेंकटरमैया शास्त्री : अकादमी पुरस्कार प्राप्त कन्नड़ साहित्यकार, सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

समर्पित जीवन की एक झलक

✍ तेजबहादुर गौतम

बाल्यकाल

मुरलीधर दत्तात्रेय देवरस उपाख्य भाऊराव देवरस पाँच भाई थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक परम पूज्य बाला साहब देवरस आपके बड़े भाई हैं। भाऊराव जी बाला साहब से दो वर्ष छोटे थे। नागपुर के इतवारी मोहल्ले में बाल्यकाल से ही ये दोनों भाई 'बाल-भाऊ' के नाम से जाने जाते थे। लोग उन्हें 'बाल-भाऊ' के संयुक्त संबोधन से भी पुकारते थे। इतनी अभिन्नता और साहचर्य दोनों देवरस बन्धुओं में था और लगभग छः दशक के कालखण्ड में इसी रूप में वे देश भर में परिचित रहे।

बचपन में कभी-कभी दोनों भाइयों में लड़ाई-भिड़ाई होती थी, कभी मौजमस्ती की कुश्ती होती थी और ऐसे समय में घर के लोग तथा पड़ोसी आनन्द लेते थे। दोनों शीघ्र ही सब भूल जाते थे और फिर एकदूसरे के गले में हाथ डालकर खेल-कूद करने लगते थे।

प्रारम्भिक शिक्षा

भाऊराव जी की प्रारम्भिक शिक्षा नागपुर में आपके घर के पास इतवारी मोहल्ले की बुधवारी पाठशाला में हुई। आप एक मेधावी एवं कुशाग्र बुद्धि के छात्र रहे।

सादा जीवन

माननीय भाऊराव जी के पूज्य पिताजी के यहाँ कोई विशेष सम्पन्नता नहीं थी। संयुक्त परिवार था। खेती से साल भर का अनाज हो जाता। उन दिनों आज के "स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग" जैसी कोई बात नहीं थी। "जीवन स्तर" जैसी कल्पनाएं उन दिनों नहीं थीं। दो धोती, दो कमीज, एक जोड़ी चप्पल, बस साल भर के लिए इतना पर्याप्त रहता था। भाऊराव जी के शब्दों में, "स्कूल की पढ़ाई पूरी करने तक तो हमने चप्पल भी नहीं पहनी। कॉलेज में पहुँचे तो पहली बार पैजामा पहना। शानशौकत का उन दिनों कोई रिवाज नहीं था। मैट्रिक पास होने तक हमारे पास साइकिल भी नहीं थी। चलाना जानते थे, परन्तु सब कहीं पैदल ही आना-जाना होता था।"

भाषण कला में प्रवीणता

भाऊराव का अंग्रेजी, मराठी व हिंदी तीनों भाषाओं पर पूर्ण व समान अधिकार था। नागपुर में विद्यार्थी जीवन में बाबा साहब आपटे ने एक क्लब की स्थापना की थी जहाँ भाषण कला सिखाई जाती थी। कभी-कभी भाऊराव जी वहाँ जाया करते थे। परन्तु भाऊराव जी का कहना था कि शाखा में उद्‌बोधन करते-करते ही मैंने भाषण कला का ज्ञान प्राप्त किया। इस कला के सीखने में वे डॉ. साहब का एक उदाहरण दिया करते थे, "Doctor Sahib used to emphasize that to involve people (in Sangh work), the words, language and behaviour should be used in a very measured and well mannered way."

जीवन पर पूजनीया माँ का सर्वाधिक प्रभाव

पिताजी की मृत्यु के पश्चात् देवरस बन्धुओं ने अपनी माँ को ही परिवार का मुखिया समझा। उनकी माता जी सारे परिवार को साथ लेकर चलने का और अपार कष्ट सहने का उदाहरण थीं। वे रोग से पीड़ित थीं। उन्होंने २० वर्ष तक अन्न ग्रहण नहीं किया। संयुक्त परिवार होने के कारण सबकी सार-संभाल वे ही करती थीं। आपके नानाजी की मृत्यु काफी पहले हो गई थी अतः वे लोग भी इनके यहाँ ही रहते थे। परन्तु भाऊराव जी को कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि वे दूर के रिश्तेदार हैं। भोजन के समय घर में नियमित १०-१५ थालियाँ लगती थीं और यह सब पूज्या माँ स्नेह और आत्मीयता से करती थीं। सारा भोजन पकाना, लोगों को खिलाना आदि तथा सारी देखभाल माँ ही करती थीं। पूज्य डाक्टर हेडगेवार जी के यहाँ चांदा से आया एक लड़का श्री कृष्णराव पुराणिक रहता था। वह भी दोनों समय भोजन करने के लिए भाऊराव के घर आता था। बाला साहब जी के शब्दों में, "माँ साथ आने वाले स्वयंसेवकों का भी हमारी तरह ध्यान रखती थीं। वह संयुक्त परिवार का वातावरण था, जिसे संभालने की जिम्मेदारी माँ पर थी।' भाऊराव जी में मातृवत् आत्मीयता के भावों का बीजारोपण यहीं से हुआ था।

उच्च शिक्षा : विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान

नागपुर में स्नातक शिक्षा प्राप्त कर भाऊराव जी १९३७ में संघ कार्य के लिए डॉ. हेडगेवार के निर्देश पर लखनऊ आए। संघ कार्य में जुटे रहने के साथ उन्होंने विश्वविद्यालय में बी.काम. एवं एल.एल.बी. की एक साथ पढ़ाई शुरू की। देर रात संघ कार्य से छात्रावास के कमरे में लौटकर कुछ समय अध्ययन और नाम मात्र की नींद, यह उनकी दिनचर्या थी। बी.काम. प्रथम और अंतिम परीक्षाओं में उन्होंने पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया एवं स्वर्ण पदक प्राप्त किया। एल.एल.बी. में भी पूरे विश्वविद्यालय में उन्होंने दूसरा स्थान प्राप्त किया। इतना ही नहीं, वे १९३८ में छात्र संघ के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। छात्र संघ का उद्‌घाटन उन्होंने सुभाष चंद्र बोस से करवाया।

संघ कार्य

श्रद्धेय भाऊराव १९२७ में १० वर्ष की उम्र में संघ के सम्पर्क में आए। भाऊराव जी के शब्दों में, स्वास्थ्य से दुर्बल होने के कारण मुझे 'शिशु गण' में भेजा गया। ओ.टी.सी. में प्रवेश में भी स्वास्थ्य से दुबला-पतला होने के कारण कठिनाई आई। अपने बड़े भाई परम पूज्य बाला साहब देवरस के साथ दोनों का डाक्टर जी के घर आना-जाना प्रारम्भ हुआ। १९३७ में स्नातक होने के पश्चात् डा. हेडगेवार जी के कहने के अनुसार भाऊराव उत्तर प्रदेश संघ कार्य के निमित्त आ गए।

पूज्यनीय बाला साहब जी के शब्दों में, "हमारे घर में ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि संघ का वातावरण पूरी तरह प्रभावी था। हमारे पिता न तो किसी राजनैतिक कार्य से सम्बन्धित थे और न ही आज की भाषा में वे संघ वाले थे। पिताजी सरकारी नौकर थे। फिर भी माता-पिता यह समझ गए थे कि ये दोनों भाई संघशाखा में आते-जाते संघ के प्रचारक होकर निकल जाएंगे।"

परम पूज्य बाला साहब देवरस जी भाऊराव जी के उत्तर प्रदेश संघ कार्य-काल के विषय में कहते हैं:

"उत्तर प्रदेश के संघ कार्य की वृद्धि का श्रेय भाऊराव को ही है। उसने बड़ी मेहनत और लगन से संघकार्य का बिरवा उत्तर प्रदेश में रोपा। उत्तर प्रदेश में संघ शाखा का काम भाऊराव ने जब प्रारम्भ किया, तब वह विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा ले रहा था। भाऊ उत्तम विद्यार्थी रहा। विश्वविद्यालय में बी.काम. की परीक्षा में उसे स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। भाऊ के प्रगल्भ विद्याध्यापन को देखते हुए विश्वविद्यालय में प्रोफेसर का पद सहज उपलब्ध हो सकता था परन्तु वह लखनऊ में संघ कार्य के लिए आया था। लखनऊ, कानपुर और वाराणसी में पं. दीनदयाल उपाध्याय, बापूराव मोघे, अटल बिहारी वाजपेयी आदि सैकड़ों कार्यकर्ता उसके सम्पर्क में आए और इन सबका यथोचित मार्गदर्शन भी उसने किया। उत्तर प्रदेश में संघ कार्य की वृद्धि मुख्य रूप से उसके कारण ही हुई।"

१९३८ में पंजाब प्रांत के संघ शिक्षा वर्ग के उपरांत डॉ. हेडगेवार वाराणसी गए थे। भाऊराव जी को उन्होंने लखनऊ में सूचना दी कि वे कानपुर महाविद्यालय में अध्ययनरत कुछ विदर्भ के स्वयंसेवकों को लेकर कानपुर स्टेशन पर मिलें। उस के उपरान्त कानपुर में नियमित व विधिवत् संघ कार्य आरम्भ हुआ। शिक्षारत विद्यार्थियों ने ही अपनी लगन व परिश्रम से समाज को दिशा दी है।

कुछ दिन भाऊराव जी को बिहार तथा बंगाल में संघकार्य करने का काम भी सौंपा गया।

भाऊराव जी ने प्रांत प्रचारक व सह सरकार्यवाह जैसे अनेकों दायित्व संभाले। सह सरकार्यवाह के नाते भाऊराव जी ने अनेक प्रांतों में प्रवास किया।

सलाहकार और मार्गदर्शक

बाद में संघ कार्य की आवश्यकता देखकर भाऊराव जी को दिल्ली में ही रहने का दायित्व सौंपा गया। संघ कार्य से संबंधित कई कार्य बढ़ रहे थे। सलाहकार और मार्गदर्शक की आवश्यकता थी। अतः भाऊराव जी का दिल्ली रहना निश्चित हुआ और अंत समय वे दिल्ली में ही रहे। विद्यार्थी परिषद, विद्या परिषद, विद्या भारती आदि ऐसे सभी कार्यों पर वह ध्यान देने लगे। अंतिम दिनों में वे संघ के अखिल भारतीय कार्यकारी मंडल के वरिष्ठ सदस्य थे और अनेक आनुषांगिक कार्यों का मार्ग दर्शन कर रहे थे।

कार्यकर्ताओं का उचित मार्गदर्शन भी उनके द्वारा हुआ। राजनैतिक नेता भी उनसे भेंट और विचार के लिए आने लगे। विशेषतः भारतीय जनता पार्टी के कार्यकर्ताओं से उनके प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित हुए।

मित्र व परिवारजनों से स्नेह व आदर भाव

यद्यपि भाऊराव जी प्रचारक के नाते नागपुर (घर

परिवार) से दूर रहे, फिर भी नागपुर में परिवार जनों और परिचित मित्र मण्डली के साथ स्नेह, आदर, मित्रता के उनके सम्बन्ध बराबर कायम रहे। संघ कार्य के लिए घर से बाहर रहते हुए भी घर के अन्य सदस्यों के साथ उनके सम्बन्ध बहुत आत्मीयता और निकटता के बने रहे। भाऊराव जी जब भी नागपुर जाते तो सभी नए पुराने लोगों से मिलते थे। परम पूजयनीय बाला साहब कहते हैं

"भाऊ बहुत होशियार, चतुर कार्यकर्ता रहा। संघ के कार्यक्षेत्र और बाहर के अनेक कामों से सम्बन्धित लोगों के साथ उसने मधुर सम्बन्ध स्थापित किए।"

तन-मन-धन राष्ट्रार्पित

भाऊराव जी ने अपने जीवन के ६५ सक्रिय वर्ष राष्ट्र की आराधना और चिन्तन में बिताए। पारिवारिक सम्पत्ति के बँटवारे में गाँव में कुछ खेती मिली थी, उसे बेच दिया तथा बाला साहब और भाऊराव जी ने उससे प्राप्त दो लाख रुपये डाक्टर हेडगेवार स्मारक समिति को दे दिए।

अन्तिम क्षण

१३ मई १९६२ की सुबह अपने नियमानुसार भाऊराव जी दैनिक दिनचर्या से निवृत्त हुए और हल्का व्यायाम भी किया। उस समय उनके साथ उनके नाती डा. हर्षवर्धन मार्डीकर भी उपस्थित थे। कुछ देर बाद उन्हें एक भारी उल्टी हुई और उनका शरीर ढीला पड़ने लगा। आखिर ११ बज कर २० मिनट पर उन्होंने शरीर त्याग दिया। भाजपा नेता सर्व श्री लालकृष्ण आडवाणी, अटल बिहारी वाजपेयी, त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी उनके निधन की खबर सुनते ही जैन क्लीनिक पहुँच गए थे।

अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान से रासायनिक संलेपन के पश्चात् सायंकाल लगभग पौने छः बजे उनका पार्थिव शरीर झंडेवाला स्थित संघ कार्यालय 'केशव कुञ्ज' लाया गया। केशव कुञ्ज के विशाल सभागार में पार्थिव शरीर को दर्शनार्थ रखा गया।

१३ मई की शाम से १४ मई की शाम तक दर्शनार्थियों का ताँता लगा रहा। देश भर के दूरस्थ स्थानों से संघ के अनेक वरिष्ठ पदाधिकारी दिल्ली पहुँचने लगे। भाजपा शासित तीन प्रदेशों के मुख्यमंत्री एवं मंत्रिमंडल के अनेक सदस्य अंत्येष्टि में शामिल होने दिल्ली पहुँच गये थे। भाऊराव जी का स्नेह प्राप्त करने वाले अनेक लोग फफक-फफक कर रो रहे थे, तो कुछ आँसुओं को दबाने का प्रयास कर रहे थे। कोई अपने मन का भाव व्यक्त करने की स्थिति में नहीं था। १४ मई की सुबह दिल्ली की सभी शाखाओं के गणवेशधारी स्वयंसेवक केशव कुंज आना शुरू हो गये थे।

संघ परिवार के ही नहीं, कांग्रेस, जनता दल और अन्य विचारधाराओं के नेता भी भाऊराव को श्रद्धांजलि देने केशव कुञ्ज पहुँचे। प्रधानमंत्री का शोक संदेश लेकर केन्द्रीय गृहमंत्री शंकरराव चाव्हाण आए, तेलगु देशम के पी. उपेन्द्र, जद नेता जॉर्ज फर्नांडिस व सजपा नेता पूर्व प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर भी आए।

१४ मई १९६२ की शाम को पाँच बजे "श्रीराम जय राम, जय जय राम" की धुन और वन्देमातरम् के उद्घोष के साथ श्रद्धेय मुरलीधर दत्तात्रेय उपाख्य भाऊराव देवरस की अन्तिम यात्रा चल पड़ी। लगभग दो किलोमीटर लम्बी यात्रा दिल्ली के संघ कार्यालय 'केशव कुञ्ज' से निकल कर यमुना किनारे निगम बोध घाट की ओर बढ़ रही थी। सबसे आगे लगभग ५०० स्कूटरों पर ॐ अंकित भगवा ध्वज लिए युवक पंक्तिबद्ध चल रहे थे। स्कूटरों की इस आधा किलोमीटर लम्बी पंक्ति के पीछे एक खुली सफेद जिप्सी में रा. स्व. संघ के सह सरकार्यवाह प्रो. राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैया) और विश्व हिन्दू परिषद के महासचिव श्री अशोक सिंघल बैठे थे। उनके पीछे चल रहा था वह वाहन जिस पर श्रद्धेय भाऊराव का पार्थिव शरीर रखा गया था। वाहन पर सामने लगे बैनर पर लिखा था" राष्ट्राय स्वाहा इदं न मम' अर्थात् 'जो कुछ भी है राष्ट्र का है, उसे ही समर्पित है, मेरा कुछ भी नहीं है।'

ठीक ६ बजकर ४० मिनट पर माननीय भाऊराव के नाती श्री हर्षवर्धन मार्डीकर ने उनका पार्थिव शरीर अग्नि को अर्पित किया। स्व. भाऊराव जी का पार्थिव शरीर अग्नि को अर्पित करने के बाद निगम बोध घाट पर ही एक शोक सभा हुई। १७ मई १९६२ को तालकटोरा स्टेडियम में भी एक विराट शोक सभा आयोजित की गई तथा समुद्र की तरह उदार, हिमालय की तरह धैर्यवान श्रद्धेय भाऊराव को भावभीनी श्रद्धांजिलि अर्पित की गई।

वे अब लौटेंगे नहीं। उनकी मृदुल निकटता अब हमें नहीं मिलेगी परन्तु वह थाती हमारे सामने है, वह धरोहर हमारे सामने है जो उन्होंने छोड़ी है। संघ परिवार उससे प्रेरणा पाकर प्रशस्त पथ पर अविरल गति से चलता रहेगा।

☐ विद्या भारती प्रदीपिका, सितम्बर १९९२

तेजबहादुर गौतम :

मा. भाऊराव से जो सीखा

✍ बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह

मेरा संघ से परिचय १९४३ में हुआ। भाऊराव उस समय प्रान्त प्रचारक थे। लखनऊ में रहते थे। कभी-कभी घर पर मिलने आते थे और शीघ्र ही अपने मृदु व्यवहार के कारण परिवार का अंग बन गये।

गोखले जी ने मुझे बैठकों में ले जाकर संघ की विचारधारा से कुछ परिचित कराया। १९४३ के संघ शिक्षा वर्ग में मैं और पत्नी दोनों ने ही प०पू० श्री गुरु जी के बौद्धिक सुने। मा० भाऊराव जी ने ही मेरी पत्नी को प्रवेश देकर जैसे 'महिलायें भी सहयोगी बनें' यह सन्देश स्वयंसेवकों को दे दिया। तत्पश्चात् हम लोग नागपुर, जबलपुर के अन्य बड़े-बड़े कार्यक्रमों में भी गये।

किन्तु मैंने कोई शिक्षा वर्ग तो किया नहीं था, न शाखा पर जा रहा था। संघ की विचारधारा तथा कार्य पद्धति ही थोड़ी बहुत समझी थी। मा० भाऊराव कभी कोई बौद्धिक तो देते नहीं थे, न कोई तात्विक चिंतन या विचार-विमर्श उनके साथ होता था। केवल उनकी आत्मीयता, संवेदनशीलता, मृदुता आदि उनके स्वाभाविक गुण उनकी ओर आकर्षित करते थे और उनसे हम हृदय की बात कर सकते हैं, ऐसा विश्वास दिलाते थे।

मा० भाऊराव मुझे शायद अधिक सक्रिय करना चाहते होंगे। अतः उन्होंने मुझे संघ की रीति-नीति-व्यवहार तथा तात्विक पक्ष का शिक्षण देना आवश्यक समझा। आज का जमाना होता तो मुझे O.T.C. करने भेज देते। किन्तु उन्होंने एक अनूठा ही रास्ता अपनाया।

ग्रीष्मकाल में उत्तर प्रदेश में संघ शिक्षा वर्ग होने वाले थे। एक काशी में और दूसरा भरतपुर में, १३ दिन के अंतर पर। उन्होंने मुझे दोनों वर्गों का सर्वाधिकारी नियुक्त कर दिया। मैं मना नहीं कर सका। पहले काशी का वर्ग प्रारम्भ हुआ। वहाँ मा० दीनदयाल जी कार्यवाह थे। मा० रज्जू भैया पर्यवेक्षक थे। मा० नाना जी देशमुख पर्यवेक्षक प्रमुख थे। प्रातः ५ बजे से रात ११ बजे तक बौद्धिक, शारीरिक, चर्चा इत्यादि चलती थी। उतना व्यस्त कार्यक्रम तो बाद के शिविरों में देखने को नहीं मिला। किन्तु दीनदयाल जी किस प्रकार सूक्ष्मता से सारी व्यवस्थाओं को देखते हैं? कैसे चर्चाओं में संघ के चिन्तन को स्वयंसेवक आत्मसात् कर सकें, उसका विवेचन करते हैं? मा० नाना जी कैसे आवास व्यवस्था, रुग्णालय इत्यादि की व्यवस्था देखते हैं? और इसी प्रकार सभी कार्यकर्ता, शिक्षक कैसी कर्मठता, परिश्रम, लगन से रात-दिन एक करते हुए शिविर को सफल बनाने में जुटे हुए हैं, यह सब मुझे देखने को मिला। संगठन का आधार आत्मीयता, एक-दूसरे की चिन्ता, बन्धुत्व ही है, यह समझ में आया। वास्तव में मा० भाऊराव स्वयं भी दोनों वर्गों की व्यवस्थाओं को गहराई से देखते रहे और मुझे कुछ कहे बिना प्रत्यक्ष संघ दर्शन कराते हुए शिक्षण करते रहे। यह क्रम बारी-बारी काशी और भरतपुर में चला। शारीरिक शिक्षण तो मेरा नहीं हो सका किन्तु इन वर्गों में रहकर संघ क्या है, यह मैं समझ सका। मा० भाऊराव का यह तरीका था व्यक्ति को दीक्षित करने का। कार्यकर्ता निर्माण करने की अपनी इसी क्षमता के कारण आज देश के अनेक प्रान्तों में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे अनेकों स्वयंसेवकों के मूर्तिकार वही हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

☐ (विद्या भारती प्रदीपिका, सितम्बर १९९२)

स्व० बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह : शिक्षाविद; प्रांत संघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ; संस्थापक, पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

हाथ पकड़ कर ...

✍ श्री बापूराव मोघे

यह सत्य है कि उत्तर प्रदेश में संघ कार्य के क ख ग का आरम्भ करने के लिए मैं भाऊराव के चरण-चिन्हों को ध्यान से देखते हुए चला। यह भी सत्य है कि उन्होंने मेरा हाथ थामा, तो चलने के लिए था। 'इधर ! उधर !' कहने की जरूरत शायद ही कभी हुई। कई बार उनकी अंतरात्मा की गहराई मुझे अथाह मालूम होती थी।

जैसे, लखनऊ विश्वविद्यालय में भाऊराव देवरस एक अत्यंत मेधावी छात्र के नाते माने जाते हैं- यह मुझे उनकी अवधिक परीक्षा (टर्मिनल टेस्ट) की उत्तर पुस्तिकाएं, जो वि०वि० ने उन्हें लौटाई थीं, देखकर पता चला। प्रत्येक प्रश्न पर प्राध्यापक की, विशेषणों का प्रचुर प्रयोग करते हुए, प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ थीं। एक प्रश्न था 'कानपुर की वर्तमान श्रम-समस्या पर एक निबंध लिखो।' उस प्रश्न के भाऊराव के उत्तर पर प्रोफेसर की टिप्पणी थी:

"कानपुर की श्रम-समस्या को तुम इस प्रान्त के मुख्यमंत्री से भी अधिक अच्छी तरह समझते हो। इस उत्तर को समाचार पत्रों में प्रकाशित कराना चाहूँगा।"

मैं इस निबन्ध के विषय में भाऊराव से पूछता रहता था, "लेख-प्रकाशन के बारे में आगे क्या हुआ?" उस प्रोफेसर ने यह विषय भाऊराव के सामने प्रत्यक्ष दो-तीन बार छेड़ने का प्रयास किया। परन्तु भाऊराव किसी न किसी प्रकार से इस बात को टालते रहे अर्थात् प्रकाशन की अनुमति भाऊराव ने नहीं दी।

मैंने उनसे पूछा, "आपने ऐसा क्यों किया?" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं यहाँ इस प्रान्त में संघ कार्य प्रारम्भ करने के लिए आया हूँ। अभी तो इस विषय में कुछ भी नहीं कर पाया हूँ। कोई इस कार्य के अनुकूल समर्थक भी अभी जुटा नहीं पाया हूँ। यह लेख यदि पत्रों में छपता है, तो हजारों उसको पढ़ेंगे। सभी इसके प्रशंसक होंगे, ऐसी बात नहीं। अनेक मेरे विचारों के विरोधी भी खड़े हो जायेंगे। और इसलिए मेरे भी विरोधी होंगे। इसीलिए मैं जो संघ कार्य प्रारम्भ करूँगा, उस के भी अकारण ही विरोधी बन जायेंगे। संघकार्य तो अभी प्रारम्भ भी नहीं हुआ, और मैं अपनी प्रशंसा के लोभ से संघ के विरोधी अभी से खड़े कर दूँ, क्या यह कार्य के लिए उचित होगा?"

तरुण आयु में कीर्ति कौन नहीं चाहता? लोग तो वाहवाही पाने के लिए, प्रशंसा प्राप्त करने के लिए दूर-दूर भटकते रहते हैं, परन्तु भाऊराव के लिए संघ कार्य ही जीवन का सब कुछ था। अपना नाम, कीर्ति लोकेषणा- इन तुच्छ बातों के लिए उनके जीवन में कोई स्थान नहीं था। एक सच्चे संघ कार्यकर्ता और दूरदर्शी समाजसेवक का उनमें मुझे दर्शन हुआ।

परीक्षा के बाद भाऊराव संघ शिक्षा वर्ग में शिक्षक के नाते नागपुर चले गये और मैं अपने घर इंदौर पहुँचा। छुट्टियों के दिनों में ही पता चला कि मैं परीक्षा उत्तीर्ण हो गया हूँ। यह भी पता लगा कि भाऊराव बी.काम. में प्रथम डिवीजन में प्रथम आये हैं और विश्वविद्यालय ने उनके लिए स्वर्ण पदक घोषित कियाहै। वे एल.एल.बी. परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में द्वितीय आये। यह भी छुट्टियों में ही पता चला कि परम पूज्य डॉ० जी तथा भाऊराव के परिवार वाले चाहते थे कि वे आगे एम.ए. या एम.कॉम. पढ़ें क्योंकि विश्वविद्यालय से उन्हें छात्रवृत्ति मिल जाएगी। परन्तु, भाऊराव जी ने नागपुर बैठक में दृढ़तापूर्वक प्रचारक रहने का संकल्प प्रकट किया। यह भी निश्चित हो गया कि वे वापिस लखनऊ ही जाकर संघ-शाखा आरंभ करेंगे। मैंने भी मन ही मन लखनऊ जाकर पूरा समय लगा कर इस कार्य में भाऊराव की सहायता करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। अब प्रश्न हम दोनों के पूर्णकालिक प्रचारक जीवन में निर्वाह का हुआ। उन दिनों न संघ का कोई कोष था, न गुरु दक्षिणा, न कोई समर्थक जो कमरे का किराया और रोज का खाने-पीने का खर्चा, इधर-उधर घूमने का व्यय आदि दे सके। यह व्यवस्था हम को अपने बल पर ही करनी थी।

लखनऊ में हिन्दुत्व प्रेमी डाक्टर लेले से हमारा संबंध बन चुका था। वे पाँच-पाँच हजार रुपये लेकर अपनी केमिस्ट की दुकान में हमें अकर्ता साझीदार (स्लीपिंग पार्टनर) बनाने को तैयार थे और इससे हम दोनों निश्चिंत होकर पूर्णकालिक संघ कार्य कर सकते थे। परन्तु यह बात बन नहीं पाई। इसका कारण यह कि जब मेरे पिता जी ने चर्चा चलाई कि आगे क्या करना है, तो मैंने उत्तर दिया कि नौकरी करने का विचार मेरा नहीं है, व्यापार करने को सोचा है। मैंने लखनऊ में पाँच हजार रुपये लगा कर साझेदारी में व्यापार करने का विचार किया है। पिताजी ने कहा, "यदि व्यापार ही करना है तो इंदौर में ही करना अच्छा होगा, यहाँ अपने परिवार से सारा शहर परिचित है, सब प्रकार की सुविधायें प्राप्त होंगी। फिर लखनऊ का विचार क्यों कर रहे हो?" मैंने कहा, "पता नहीं क्यों मुझे लगता है कि लखनऊ जाकर ही मेरा भाग्य उदय होने वाला है।" उन्होंने कहा, "अगर इंदौर में व्यापार करना हो तो मैं तैयार हूँ। पर लखनऊ के लिए नहीं। और तुम जब से आये हो, सारा दिन संघ में बिताते हो। इसलिए तुम लखनऊ किस लिए जा रहे हो,यह मैं समझ सकता हूँ। ऐसे कामों के लिए व्यापार का बहाना बना कर पैसा खराब करने के लिए मेरे पास धन नहीं है।" मैंने कहा, "मैंने तो लखनऊ जाने का ही इरादा कर लिया है।" तब उन्होंने कहा "तुम्हें अगर संघ कार्य के लिए लखनऊ जाना है, तो मेरी धन संपत्ति में से तुम्हें एक भी पैसा प्राप्त नहीं होगा।" मैंने कहा कि यह स्वीकार है। और इस प्रकार संघ कार्य करते हुए निर्वाह करने का यह साधन समाप्त हो गया। जब मैं चला, तो लखनऊ तक का किराया और प्रवास व्यय के लिए एक-दो रुपया इतना ही उन्होंने मुझे दे दिया।

लखनऊ भाऊराव और मैं एक ही दिन पहुँचे। उन्हें भी परिवार की ओर से पाँच हजार रुपये के नाम पर कोरा जवाब ही मिला था। हाँ, वे तत्कालीन सरसेनापति मार्तंडराव जोग की रबर के गुब्बारों की फैक्ट्री से उसके यू.पी. के मुख्य वितरक के रूप में एक बड़ा भारी बंडल लाए थे। परन्तु माल और दाम लखनऊ वालों को पसंद नहीं आए। फेरी वालों को सस्ते बेच कर भी गुजारे लायक आमदनी नहीं बनी। पाँच रुपये महीने का कार्यालय का किराया दे कर एक बार रोटी-सब्जी पकाना भी नहीं चल पाया। कई बार उसका भी नागा होता था।

भाऊराव पर विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों ने जोर डाल कर एम.ए. (इकॉनॉमिक्स) में प्रवेश कराया, छात्रवृत्ति दिला दी और पुस्तकों का प्रबंध कराया। परन्तु संघ कार्य आरम्भ करना ही लक्ष्य होने के कारण, वे कक्षाओं में नियमित नहीं हो पाये और उन्होंने सदा के लिए विद्यार्थी-जीवन छोड़ दिया। बीच में हम दोनों ने अपनी किताबें बेचकर जैसे-तैसे गुजारा किया।

दो अढ़ाई महीने बाद जाकर मुझे एक ट्यूशन मिली। उसी में दोनों का खर्चा चलाते हुए हमने संपर्क बनाये और पहले एक, फिर दूसरी शाखा आरम्भ की। इस बीच में भाऊराव ने. मा० बाबा साहब आपटे की सहायता से कानपुर में संपर्क किया, और वहाँ शाखा आरम्भ की, जिसमें स्व० दीनदयाल उपाध्याय ने आना शुरु किया।

उन दिनों की आर्थिक कठिनाइयों में कोई भी विचलित होकर भाग खड़ा होता परन्तु भाऊराव हिमाचल और गंगा की तरह दृढ़ रहे और अंत में संघ का बीजारोपण करने में सफल हुए। मेरे और दीनदयाल जी के सहयोग का श्रेय भी पूर्णतः उन्हीं को है।

☐ (विद्या भारती प्रदीपिका, सितम्बर १९९२)

स्व. बापूराव मोघे : बौद्धिक प्रमुख, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

निरासक्त ध्येय समर्पित कर्मयोगी

✍ प्रताप नारायण

दिल्ली स्थित संघ कार्यालय 'केशव कुंज' के विशाल कक्ष में मैं मा० भाऊराव की पार्थिव देह के सामने खड़ा था। उनको अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा था। नेत्रों के सामने अतीत की स्मृतियाँ चलचित्र के समान नाच उठीं। बरबस आँसू बाहर निकल पड़ने को हुए। वैसे तो मेरा हृदय रुग्ण है, किन्तु मन मजबूत है। पर उस समय मैं भावना में इतना बह गया कि बड़ी कठिनाई से उमड़ते अश्रुओं को रोक पाया था। माता-पिता की मृत्यु पर भी मैं नहीं रोया था। यदि कुछ क्षण वहाँ पर और खड़ा रहता तो निश्चित रूप से वे बाधा तोड़कर बह पड़ते।

१३ मई की वह मनहूस घड़ी

कानपुर में बैठक में बैठा था। दूरभाष से समाचार मिला कि मा० भाऊराव देवरस नहीं रहे। बड़ा भारी आघात था। कल्पनातीत। सभी बन्धु हक्के-बक्के से रह गये। सहसा समाचार पर विश्वास नहीं हुआ। अभी दो दिन पहले ही मेरी दिल्ली से बात हुई थी कि वे ठीक हो रहे हैं। नर्सिंग होम से केशव कुंज जाने की तैयारी में हैं। विधि का विधान कैसा विचित्र और कठोर है। उस समय क्या पता था कि उनका पार्थिव शरीर ही वहाँ पर ले जाया जाएगा।

सादगीपूर्ण जीवन

बार-बार उनकी दुबली-पतली काया, उसमें दृढ़ इच्छा शक्ति, सादगीपूर्ण जीवन, साधारण शरीर में उनका असाधारण व्यक्तित्व मेरी आँखों के सामने उभर उठा। उनको देखने को बेचैन हो उठा। अस्वस्थता के समाचार सुन दिल्ली जाने को मन मचल उठा। फिर सोचता कि हृदयाघात के क्षणों में स्वकीय जनों का मिलना स्वास्थ्य के लिए घातक होता है। भावुक हृदय और भी भावुक हो उठता है। वे भावुक थे। उस नव-दधीचि ने भावनावश ही तो अपनी अस्थियाँ राष्ट्र कार्य के लिए गला दीं। मन मसोस कर रह गया। जी कड़ा करके अपने मन को समझाया। चाह कर भी नहीं गया। परम पिता से यही प्रार्थना करता रहा, 'हे भगवान,उनको शीघ्र स्वस्थ करें'। और कर भी क्या सकता था।

उनके पार्थिव शरीर के सामने खड़े-खड़े मुझे सन् ४२ की मकर संक्रान्ति की वह वेला याद आ गयी। वे कानपुर आये थे। उसी समय मेरी प्रतिज्ञा हुई थी। मैं किशोरावस्था को पार कर तरुणाई में प्रवेश कर रहा था। प्रतिज्ञा की वे पंक्तियाँ मुझे आज भी याद हैं-

'सर्वशक्तिमान श्री परमेश्वर तथा अपने पूर्वजों को स्मरण कर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने पवित्र हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू समाज का संरक्षण कर, हिन्दू राष्ट्र को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कराने के लिए मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का घटक बना हूँ। संघ का कार्य मैं प्रामाणिकता, निःस्वार्थ बुद्धि तथा तन-मन-धन से करूँगा, और इस व्रत का आजन्म पालन करूँगा। भारत माता की जय।'

ध्येय के प्रति समर्पित

उनके उद्‌बोधन ने मुझको संघ कार्य के लिए जीवन समर्पित करने को प्रेरित किया था। दूसरे शब्दों में, हिन्दू राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति अथवा उसको परम वैभव प्राप्त कराने के उदात्त ध्येय के प्रति वे मनसा-वाचा-कर्मणा पूर्णतया समर्पित थे। यही भाव मेरे जैसे अनेक स्वयंसेवकों को उनसे मिले थे। संघ के संस्थापक परम पूजनीय डा० केशवराव हेडगेवार की स्पष्ट धारणा थी कि देश की उन्नति केवल दो-चार नेताओं से नहीं होगी। समूचे समाज को जगाना होगा। इस हेतु असंख्य लोग खड़े करने होंगे। यह कार्य हिन्दू समाज की महानता के गुणगान से भी नहीं होगा। हम उसके लिए करते क्या हैं यह विशेष महत्व का है।

इस महान ध्येय को चरितार्थ करने वाले लाखों लोगों के निर्माण की कार्यशैली उन्होंने प्रदान की। सबसे अलग हट कर यही उनकी अलग पहचान और विशेषता थी। मा० भाऊराव, डा० हेडगेवार की प्रतिमूर्ति थे, यह कहने में अतिश्योक्ति नहीं होगी। डाक्टर साहब कैसे थे! मैंने तो उन्हें देखा नहीं था लेकिन मा० भाऊराव को

देखकर उनकी सहज ही कल्पना करता था। विश्व में हिन्दू राष्ट्र की पुनर्प्रतिष्ठा हो, इस हेतु शरीर, मन और बुद्धि की अपनी सारी शक्ति लगाने वाले लोग जिस मात्रा में खड़े होंगे, उसी रूप में राष्ट्र की ज्वलंत समस्याओं का समाधान होगा। इसी हेतु वे जीवन की अन्तिम श्वास तक प्रयत्नशील रहे।

प्रेरणा की यह विधि

मैं बहराइच जिले में प्रचारक होकर गया था। सन् ४६ का वर्ष था। अनुभव शून्य था। वहाँ के प्रथम वार्षिकोत्सव में वे आये थे। उनका सार्वजनिक कार्यक्रम था। उसमें कोई त्रुटि न रह जाये इसलिए मैंने ही शाखा लगाई, ध्वज चढ़ाया, प्रार्थना की और शरीर प्रदर्शन कराया, बौद्धिक के पूर्व एकल गीत गाया। और परिचय भी कराया। सभी कार्यक्रम बहुत अच्छे हुए थे। जब मैं कार्यक्रमों को सम्पन्न करवा रहा था तो वे मेरी ओर बड़े गौर से देखते जाते थे।

फुरसत के क्षणों में जब मेरी भेंट हुई तो मैंने उनसे पूछा, 'भाऊराव जी ! कार्यक्रम कैसे हुए? क्या कमी रह गई?'

वे मुस्करा कर बोले, 'सचमुच कार्यक्रम बहुत ही अच्छे हुए। बस एक बात की कमी रह गई।'

मैंने आँखें फाड़कर पूछा, 'वह क्या?' 'बौद्धिक भी यदि तुम ही देते तो कसर पूरी हो जाती। मैं भी सुन लेता।' मेरे तो काटो खून न रहा। किन्तु उनकी इस मीठी चुटकी में ही उन्होंने मुझे संगठन शास्त्र का बहुत बड़ा व्यावहारिक ज्ञान दे दिया था। एक के सिवाय कई सहयोगी खड़े करने चाहिए। दूसरों पर धीरे-धीरे दायित्व सौंपने से वह होता है। पीछे रह कर कार्यकर्ताओं की मालिका खड़ी करने में ही संगठन-कौशल छिपा हुआ है। प्रचारक तो आता है, और जाता है। स्थानीय लोग खड़े हों। प्रचारक के जाने के बाद भी वहाँ का कार्य बढ़ता जाये, यशस्वी कार्यकर्ता का यही तो लक्षण है। यह उन्होंने अपने जीवन से सिखाया था। उन्होंने अपनी बात कभी थोपी नहीं, वे व्यक्ति के अंदर की स्वयं-प्रेरणा को जगाते थे, यदि उनमें यह बात न होती तो सातत्य, जीवन पर्यन्त कार्य करते रहने की कार्यशीलता स्वयंसेवकों में उत्पन्न न होती।

दायित्व का अनुपम आदर्श

सन् ४७ का वर्ष था। बुलन्दशहर में संघ शिक्षा वर्ग लगा था। उस समय मेरे पास सीतापुर विभाग के प्रचारक का दायित्व था। नये वर्ष की योजनाएं बन रही थीं। उसमें मा० भाऊराव और रज्जू भैया दोनों उपस्थित थे। मुझे बुलाया गया। भाऊराव ने बात छेड़ी- 'तुम्हारी योजना जनसंघ के लिए कर रहे हैं, कुछ कहना है?'

यह सुनते ही मैं भौचक्का सा रह गया। कहाँ संघ का सीधा-सादा कार्य और कहाँ राजनीति की पेचीदा रपटीली राहें। मैं तो उससे कोसों दूर था। उसका क-ख-ग भी नहीं जानता था। पता नहीं, उन्होंने मुझमें क्या देखा। अपने प्रचार-जीवन के इन वर्षों में मैंने कभी कोई शर्त नहीं रखी। जहाँ भेज दिया गया,वहीं चला गया। जो दायित्व सौंपा गया, छोटा या बड़ा, उसे प्रामाणिकतापूर्वक निभाने का भरसक प्रयास किया था। उस कार्य के अनुसार अपने को ढालने का गुर उनसे ही सीखा था। उनका स्वयं का जीता-जागता उदाहरण मेरे सामने जो था।

उनको भी जो-जो दायित्व सौंपा गया, विद्यार्थी परिषद हो या विद्या भारती, राजनीति हो या विदेशी विभाग, सभी को उन्होंने बड़ी कुशलतापूर्वक निभाया था। उनसे मैं केवल इतना ही बोला था कि आपने जो निर्णय लिया है कुछ सोच-समझकर ही लिया होगा। मैं उसको कितनी कुशलता से कर सकूँगा यह तो आप जानें। मैं प्राण-पण से उसके अनुरूप अपने को ढालने का भरसक प्रयत्न करूँगा।

राजनीति साधन, साध्य नहीं

उनके बौद्धिक वर्गों और बैठकों में सुना था कि राजनीति साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो है हिन्दू राष्ट्र का परम वैभव! सत्ता के परिवर्तन मात्र से यह सम्भव नहीं। समाज का परिवर्तन भी आवश्यक है, उसके बिना सर्वांगीण उन्नति सम्भव नहीं। यदि समाज भ्रष्ट रहा तो अच्छे की कल्पना कैसे की जा सकती है? आखिर, वहीं से तो लोग सभी कार्य-क्षेत्रों में जाते हैं। व्यक्ति निर्माण के कार्य को कभी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए। स्वयंसेवक जहां भी रहें, किसी भी क्षेत्र में, उनको इस दिशा में सतत् जागरूक रहना चाहिए, ऐसी उनकी मान्यता थी।

जब मैं नये क्षेत्र में जाने लगा तो उन्होंने मुझे समझाया- 'देखो ! वहाँ जरा सँभल कर रहना। राजनैतिक क्षेत्र में आदमी तुच्छ स्पर्द्धा, स्वार्थ परता, गुटबाजी, सस्ती लोकप्रियता, पद-लोलुपता का शिकार जल्दी बन जाता है। उससे अपने को बचाकर रखना। राजनैतिक क्षेत्र की कार्यशैली का यह दोष है'। उस समय तो मुझको उसका अहसास नहीं हुआ, किन्तु जब प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्र में उतरा तो अनुभव में आया कि बड़े-बड़े निरासक्त व्यक्ति भी आसक्त बन जाते हैं। उस ध्येयवादी, समर्पित, निरासक्त व्यक्ति की वे बातें सदा संबल के रूप में मेरी मार्गदर्शक रहीं, कई बार पैर डगमगाये किन्तु उनका निरासक्त ध्येयवादी जीवन देखकर सँभल गया।

सन् ८० में मेरे जीवन में एक क्षण ऐसा आया जब उन्होंने ही मुझे सम्भाला। संगठन मंत्रियों में चुनाव लड़ने की ललक उत्पन्न हो गई थी। लोगों की आँखों के सामने ७७ की जनता पार्टी की चकाचौंध थी। कुछ वरिष्ठ जनों ने एक चुनाव क्षेत्र से मुझे चुनाव लड़ने का संकेत दिया। मेरी यह पक्की धारणा थी कि यदि मैं इस मामले में फँसा तो कार्यकर्ताओं में टिकट न मिलने के असंतोष को न रोक सकूँगा। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' ऐसी मेरी छवि बन जावेगी। पार्टी के वरिष्ठ जनों को तो जैसे-तैसे टाल गया। उनसे मैंने कहा कि 'आप तो जानते हैं कि मेरी नियुक्ति कहाँ से हुई है और किसने की है, आज यहाँ हूँ,कल वापस बुला लिया जा सकता हूँ। आप मुझसे बात करने के स्थान पर जिन्होंने मुझे यहाँ भेजा है, वहीं बात करें।' मैंने समझा कि बात यहीं पर समाप्त हो गई।

विवेक जगाते थे वे

सहसा एक दिन लखनऊ में भाऊराव ने मुझे बुलवाया। मैं नहीं जानता, उनसे इस संदर्भ में कोई बात हुई थी या नहीं। मा० भाऊराव ने मुझसे तपाक से कहा, 'तुम चुनाव क्यों नहीं लड़ जाते?'

शायद उन्होंने मेरे हृदय की स्थिति को टटोलने के लिए ऐसा कहा था। क्योंकि अपनी बात किसी पर थोपने का उनका स्वभाव न था। वे व्यक्ति के विवेक को जगाते थे।

'भाऊराव जी! ये आप कह रहे हैं'? मैंने आश्चर्यचकित होकर उनसे पूछा था। इस सम्बन्ध में इधर-उधर की और बातें हुई। मैंने उनके सामने अपनी शर्त रखी। प्रचारक जीवन में पहली बार ही मैंने शर्त रखी थी। मैंने कहा था, 'भाऊराव जी! यदि आदेश होगा, तो अवश्य उसका पालन करूँगा किन्तु उस दिन मैं प्रचारक नहीं रहूँगा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि संगठन के कार्य के साथ मैं कदाचित् ऐसी स्थिति में न्याय नहीं कर पाऊंगा। आप निर्णय करके बता देवें।' यह कह कर मैं उठ आया था।

बाद में, उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, 'देखो! तुमने ठीक ही सोचा है। कोई भी कितना भी आग्रह करे तुम चुनाव मत लड़ना। सभी यदि चुनाव लड़ने वाले ही हो गये, तो लड़ायेगा कौन? संगठन कौन करेगा?' सदा वे संगठन पर जोर देते थे।

मानसिक तैयारी का प्रश्न

सन् ८४ में मुझे पहला हृदयाघात हुआ। उस समय मा० ज० पा० में था। चिकित्सा हेतु दिल्ली में रहा। चिकित्सकों की राय बनी कि अब मेरा शरीर प्रवास के योग्य नहीं रहा। कदाचित् डाक्टरों ने ही सलाह भी दी थी कि राजनैतिक झंझटों, झमेलों और तनावग्रस्त जीवन से दूर रहकर कोई लेखन कार्य दिया जाये।

धीरे-धीरे मेरा स्वास्थ्य कुछ ठीक हो गया। एक दिन सहसा वे मुझसे पूछ बैठे थे, 'क्यों प्रताप, यदि तुमको राजनीति से हटा लिया जाए तो कैसा रहेगा?'

कदाचित् वे मेरी गहराई और राजनीति के प्रति आसक्ति को नापना चाहते थे।

मैं तपाक से बोल गया- 'इसमें मुझसे पूछने की क्या बात है? मैं अपनी इच्छा से तो वहाँ गया नहीं हूँ। आप जो चाहे निर्णय कर लें।'

पता नहीं वे क्यों मुझसे बीच-बीच में पूछते रहते थे- 'क्यों? तुम उससे मानसिक रूप में कितना विरत हो गये हो?'

एक बार तो आवेश में मैंने यहाँ तक कह दिया, '१२० प्रतिशत। आप आदेश तो दें।'

कहने को तो मैं कह गया, किन्तु बड़ा कठिन होता है। कहावत है, चोर चोरी से गया पर हेराफेरी से नहीं जाता। कदाचित् ऐसी ही स्थिति उस क्षेत्र में कार्य करते समय हो जाती है। उन्होंने और मा० रज्जू भैया ने शायद मेरे स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए मुझे राजनीति से मुक्ति ले लेने की आज्ञा प्रदान की।

उसके पश्चात् उस क्षेत्र के कतिपय वरिष्ठ साथियों ने मुझे वहाँ से छुट्टी न लेने का आग्रह किया। शायद उन्होंने भाऊराव जी से भी मुझे उसी क्षेत्र में बने रहने देने का आग्रह किया था।

एक बार मेरा मन डगमगाया किन्तु संभल गया। क्यों? मेरा आदर्श था उनके जैसा निःस्पृह निरासक्त जीवन! सब प्रकार की क्षमता रखते हुए भी, सही मार्गदर्शन देते हुए भी, सत्ता निरपेक्ष था उनका पवित्र जीवन। यही था मेरे लिए उनका प्रेरक बिन्दु। वे थे मेरे प्रेरणा-स्रोत, सत्ता में बैठे लोग नहीं।

डाक्टर हेडगेवार की ही भाँति मा० भाऊराव के जीवन का ध्येय था हिन्दू राष्ट्र का परम वैभव- उस दिशा में अब विजयरथ चल पड़ा है। काश! वे दो-चार साल और जीवित रहते तो उसको चरितार्थ होते देखते, जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन होम कर दिया।

किन्तु वे तो मूर्तिमंत प्रतीक थे- 'तेरा वैभव अमर रहे माँ! हम दिन चार रहें न रहें।' जीवन भर उन्होंने इसी जीवन को जिया और चरितार्थ किया। उनकी कमी सदा खटकती रहेगी। यद्यपि प्रकृति का नियम है, कभी शून्यता नहीं रहती। उनकी क्षति की पूर्ति भी होगी। थोड़ा समय अवश्य लगेगा। संघ की यह परम्परा रही है कि संगठन व्यक्तिनिष्ठ नहीं तत्वनिष्ठ है। जो संघ को नहीं जानते, यह बात उनकी समझ से परे है। सन् ४० में डाक्टर जी के निधन पर-'संघ समाप्त हो जाएगा।' बाद में परमपूज्य श्री गुरु जी के निधन के पश्चात् भी लोगों ने यही शंका व्यक्त की थी। उसके बाद भी, संघ और संघ-परिवार तीव्रगति से सभी झंझावातों में आगे बढ़ा है। मा० भाऊराव के बाद भी वह और भी गति से बढ़ेगा। उनका पार्थिव शरीर नहीं, किन्तु उनका संघ का कृतिरूप दर्शन और व्यवहार स्वयंसेवकों के अन्तःकरण में अभी भी जीवित है।

'चरैवेति चरैवेति' और 'प्राप्य वरान्निबोधत' के मूलमंत्रों को तीव्रगति से चरितार्थ करने की प्रेरणा हमें उनके जीवन से सदा मिलती रहेगी।

❑ (विद्या भारती प्रदीपिका,
सितम्बर १९९२)

स्व० प्रताप नारायण : प्रांत प्रचारक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

मेरा विद्यालय

✍ -अजय शुक्ल (सप्तम क)

(अपने विद्यालय के प्रति मनोविचारों का प्रकटीकरण किया है प्रस्तुत कविता द्वारा बाल कवि ने)

आओ आज तुम्हें बतलायें,
अपने विद्यालय की बात।
दीनदयाल विद्यालय बढ़िया,
इससे खाते हैं सब मात।
छात्र यहाँ अनेक हैं पढ़ते,
अनुशासन की श्रेष्ठ व्यवस्था।
राष्ट्रीय पर्व, पिकनिक, पी०टी० की,
भी है भाई उचित व्यवस्था ।।१।।
अरे ! यहाँ हैं कौन प्राचार्य ?
क्या यह भी बतलाना है?
श्री शन्तनु रघुनाथ शेण्डे,
यह जन-जन ने जाना है।
आप सदृश विद्वान प्राचार्य,
और कहाँ मिल सकते हैं।
प्रातः से लेकर सायं तक,
मेहनत नित्य किया करते हैं ।।२।।
और गुणी हैं सभी आचार्य,
मन से खूब पढ़ाते हैं ।
निज विषयों के वे पण्डित हैं,
भली-भाँति समझाते हैं।
है यहाँ व्यवस्था छात्रवास की,
रहते हैं जिसमें छात्र साठ।
रहकर नित आचार्यों के सँग,
पढ़ते सभी एकता का पाठ ।।३।।

संकल्प पिता के, हृदय माता का

✍ रज्जू भैया

"सब ठीक है?"

"जी, सब ठीक है!"

"व्यवस्था-प्रमुखों की बैठक हो गई?"

"जी ! ११ बजे समाप्त हुई।"

भाऊराव ने घड़ी देखी, बारह बजने लगे थे। और किसी के लिए शायद इतनी पूछताछ काफी थी। परन्तु, भाऊराव ने तो उत्तर प्रदेश का शिशु संगम प्रयाग में कराने के स्थान पर अखिल भारतीय शिशु संगम दिल्ली में बड़े आग्रह से कराया था। सारा प्रत्यक्ष कार्यक्रम तो प्रशिक्षित शिशु (बाल) प्रमुख ही चला रहे थे। वरिष्ठ कार्यकर्ता केवल परोक्ष में व्यवस्था कर रहे थे। परन्तु, भाऊराव की सतत जागरूक चेतना एक-एक गतिविधि को तन्मय हो कर देख रही थी। बड़े-बड़े शिक्षाविदों या स्वयं राष्ट्रपति द्वारा प्रशंसा प्राप्त होने पर भी छोटी-छोटी सावधानियों को वह नहीं भूले थे।

प्रातःशः शिविर यमुना किनारे महात्मा गाँधी की समाधि के सामने लगे थे। सड़क पार करते ही यमुना के प्रवाह की ध्वनि सुनाई देती थी। भाऊराव की सचेत प्रज्ञा सारी व्यवस्थाओं के बाद भी आसानी से निश्चिंत होने वाली नहीं थी।

उन्हें आवास-प्रमुख श्री कृष्ण चन्द्र गाँधी नहीं दिखाई दिए। पता लगा पटकुटियों में से गिन कर आई संख्याओं का योग एक कम है - इसलिए तलाशी में लगे हैं। थोड़ी देर में पता लगा कि फरह की पाँचवीं कक्षा का नीरज लापता है। फिर पता लगा कि वह अपने बिस्तर पर सोया था।

अब तो भाऊराव की डाँट ने "यही सब ठीक है तुम्हारा ?" प्रश्न के साथ सब कार्यकर्ताओं, अधिकारियों की नींद भगा दी। इस बीच उस पटकुटी के पीछे कोई रक्षक था, उसे ढूँढ़ कर जगाया गया। पता लगा नीरज लघुशंका के लिए उठ कर पीछे गया था। इतने में ड्यूटी बदल गई, उसे लौटते किसी ने नहीं देखा।

सबकी साँसें भी मानों बंद हो गई। यमुना की लहरों की आवाजें सुनने लगीं। भाऊराव बेचैनी से घूमने लगे थे। कोई माता भी अपने बच्चे के अपहरण का समाचार सुनकर इतनी घबराई हुई नहीं होगी।

आखिर नीरज मिल गया। अभ्यागत कक्ष में गद्दों के नीचे बेखबर सोया हुआ। उसके अध्यापक ने उसे उठा कर साथियों के बीच बिस्तर में लिटा दिया। दो बज गये थे, तीन घंटों की तलाश में।

१९७८ का वह दिसंबर मास।

सड़क के पार मार्गशीर्ष की यमुना शांत बही जा रही थी। भाऊराव की आँखें नींद में बेसुध बालक को पा कर जिस समाधान से देख रही थीं उसमें पिता के उदात्त संकल्प कम, माँ की ममता अधिक थी।

शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण

दिल्ली में बड़े प्रभावशाली लोगों का एक प्रतिनिधि मंडल भाऊराव से मिला। उनमें एक भावी मेयर भी थे। वे चाहते थे कि आदर्श 'अंग्रेजी माध्यम के सरस्वती शिशु मंदिर' खोले जाएं! उस श्रृंखला का आरम्भ दिल्ली से हो। 'हमारे ये विद्यालय सभी विद्यालयों को मात कर देंगें', उन्होंने दावा किया।

"परन्तु, फिर शिशु-मंदिर 'मंदिर' नहीं रहेंगे।"

"हमारी शिक्षा योजना वनवासी, पर्वतवासी, ग्रामवासी बालकों की ही नहीं, सामान्य-जनों के बच्चों की भी उपेक्षा कर देगी, जिनके भरोसे राष्ट्र का पुनरुत्थान होना है।"

"या सरस्वती माँ के मंदिरों में श्रेणियां बनेंगी - संपन्न, सामान्य और साधनहीन?"

"और क्या हिन्दू संस्कृति विदेशी भाषा में सिखाई जा सकती है?"

"करना ही है, तो आठवीं कक्षा तक संस्कृत अनिवार्य करो", भाऊराव ने उत्तर दिया। और इस मर्मभेदी दृष्टि के सामने सभी तर्क मौन हो गये। पब्लिक स्कूलों के बच्चों के समान, अंग्रेजी की लोरियाँ, अंग्रेजी की गिनतियाँ, अंग्रेजी के अभिवादन दुधमुँहे शिशुओं के मुख से सुनने की लालसाएं शान्त हो गई।

कालान्तर में विद्या भारती के सभी शिशु और बाल मंदिरों में (आठवीं कक्षा तक) संस्कृत अनिवार्य हो गई और हमारे उत्सवों - मंचों पर संस्कृत के सुभाषित सस्वर गूँजने लगे।

शिशु-जीवन से भाऊराव के तादात्म्य की झलक तब भी मिली जब उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि शिशु जितने संस्कार कक्षा में सीखता है, उससे भी अधिक उत्कटता के साथ उत्तम संस्कार वह खेल के मैदान में सीखता है। इसी कारण खेल हमारे शिशु मंदिरों में शिक्षा के प्रभावी माध्यम के रूप में विकसित हुए और सार्वजनिक कार्यक्रमों में प्रदर्शन के अभिन्न अंग बने।

बाद में योगासन, प्राणायाम, सूर्य नमस्कार, यौगिक क्रियाओं आदि का शिक्षण भी अनिवार्य बनाया गया। उसके विशेषज्ञों के सम्मेलन, कार्यशालाएं एवं प्रशिक्षण शिविर आयोजित किए गए।

अत्याधुनिक देशों की 'प्लेवे (Play way)' शिक्षा-पद्धति का यह भारतीय विकल्प भाऊराव की बाल-मनोविज्ञान में गहरी रुचि का ही प्रमाण है।

भाऊराव ने ही यह भी आग्रह किया कि बाल-रुचि का एक अत्यन्त प्रभावी उपकरण कविता-पाठ, गीत-प्रतियोगिता और उससे भी प्रभावी रूप सामूहिक गीत (कोरस) एवं अभिनय गान (एक्शन सॉङ्ग)होते हैं। संघ की शाखाओं में गीतों एवं संघ-गीतों का महत्वपूर्ण स्थान है। विशिष्ट कार्यक्रमों (शिविरों, शिक्षा-वर्गों आदि) में विनोद सभा, कविता पाठ आदि के कार्यक्रम आरंभ से ही होते आए हैं।

शिशुओं के व्यक्तित्व के समन्वित विकास में गीत एवं संगीत-शिक्षा भी एक उत्तम माध्यम है, इसी सिद्धान्त एवं व्यावहारिक अनुभव के आधार पर हमारे शिशु मंदिरों में प्रायः सर्वत्र ही इनकी उत्तम व्यवस्था की गई है।

भाऊराव लखनऊ विश्वविद्यालय के श्रेष्ठतम विद्यार्थियों में रहे थे। विश्वविद्यालय उनको आगे पढ़ने के लिए सब प्रकार की सुविधायें देने को तैयार था। उन्होंने एम०ए० (अर्थशास्त्र) में प्रवेश भी लिया था। परन्तु सारे प्रान्त के संघ-दायित्व के कारण (चाहे उस समय शाखाएँ दो स्थानों पर ही थीं), उन्होंने वह अवसर छोड़ दिया। आत्म-चिंतन तथा विश्लेषण के आधार पर उनका निष्कर्ष था कि प्रचारक होना स्वयं एक सम्माननीय उपलब्धि तथा अवस्था (स्टेटस एंड क्वालिफिकेशन) हैं। उनकी इस स्थापना के कारण ही अनेक लोगों ने निर्भ्रान्ति होकर डिगरियों के पीछे भागने की लालसा छोड़ कर प्रचारक-जीवन अंगीकार किया। स्वयं दीनदयाल जी ने अपना एम.ए. अधूरा छोड़ दिया था और अपनी डिगरियों के प्रमाण-पत्रों की होली जला दी थी। श्री माधव देवले, श्री नाना जी देशमुख तथा श्री कौशल किशोर जी जैसे प्रख्यात कार्यकर्ता भी इन्हीं में हैं।

देहाती क्षेत्र, विशेषतः वनवासी, पर्वतवासी क्षेत्र के बंधुओं के पिछड़ेपन, अभाव और विशेष रूप से सहस्राब्दियों से उनकी समाज द्वारा अक्षम्य उपेक्षा से भाऊराव बड़े चिन्तित ही नहीं रहते थे, अपितु कभी-कभी तो वे अत्यंत करुणा द्रवित भी हो उठते थे। कई बार तो उनकी आँखों में आँसू आ जाते थे।

इसके लिए उन्होंने अत्यंत आग्रहपूर्वक ग्रामीण क्षेत्र, वनवासी क्षेत्र और पर्वतीय क्षेत्र के लिए विशिष्ट शिक्षा पद्धतियों का विकास कराया- जैसे 'एक अध्यापक एक स्कूल', हाफ्लाँग व जनजाति आवासी विद्यालय, लगभग १००० संस्कार केंद्र एवं साक्षरता अभियान के लिए मध्य प्रदेश की लोकशिक्षा-समिति की स्थापना आदि-आदि।

वस्तुतः भाऊराव की कल्पना में लोक-शिक्षा-अभियान ही राष्ट्रोत्थान का सफल माध्यम था।

(विद्या भारती प्रदीपिका, सितम्बर १९९२)

रज्जू भैया : सरसंघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

योजकस्तत्र दुर्लभः

✍ कुप्० सी० सुदर्शन

संस्कृति में एक सुभाषित है -

अमंत्रमक्षरन्नास्ति नास्तिमूलमनौषधम् ।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ।।

अर्थात्- कोई भी अक्षर ऐसा नहीं है जिसमें मंत्र की शक्ति न हो, कोई भी जड़ ऐसी नहीं है जिसमें ओषधि का गुण न हो, कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है जिसमें कोई योग्यता न हो, कमी है तो ऐसे योजक की जो सम्बन्धित व्यक्ति या वस्तु के गुणों को पहचानकर उनका ठीक उपयोग कर सके।

स्व० भाऊराव जी देवरस की गणना ऐसे ही दुर्लभ योजकों में की जायेगी। हर व्यक्ति की क्षमता को पहचानने और उसकी योग्यतानुसार उसे उचित कार्य में लगाने का अद्भुत गुण उनमें विद्यमान था। और जिस कार्य में वे किसी को लगाते थे उस संबंध में वे उसे पूरी स्वतंत्रता भी दिया करते थे। स्वयं शायद ही कभी वे पूछते हों कि क्या हो रहा है, क्योंकि उन्हें विश्वास रहता था कि दिए हुए कार्य के संबंध में वह व्यक्ति स्वयं ही आवश्यकतानुसार जानकारी देगा। और वैसा ही होता भी था तो संबंधित व्यक्ति यह देखकर अभिभूत हो उठता था कि उसके कार्य के संबंध में उन्होंने अन्य स्रोतों से पहले ही जानकारी प्राप्त कर रखी है। तब उसे ज्ञात होता था कि उनकी बहिर्गम उदासीनता के आवरण के पीछे एक अति संवेदनशील अन्तःकरण उसके कार्य का निरन्तर अवलोकन व मूल्यांकन कर रहा था।

अन्य सारे अधिकारियों की तुलना में मा० भाऊराव जी से मेरा संबंध बहुत बाद में आया क्योंकि मेरा प्रारंभिक संघ जीवन मध्यप्रदेश में ही बाता और उनका कार्यक्षेत्र उत्तर प्रदेश होने के कारण उनके कुशल हाथों से संस्पर्शित हो गढ़े जाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हो पाया। जब मैं प्रचारक बना उस समय मा० भाऊराव जी स्वास्थ्य के कारणों से उत्तरप्रदेश से नागपुर आ चुके थे और प्रत्यक्ष कार्य से उन्होंने कुछ काल के लिए विराम ले रखा था। सन् १९६० में जब उन्होंने पुनः उत्तर प्रदेश का कार्यभार सम्हाला तब उनके यदा कदा नागपुर की बैठक के समय दर्शन होने लगे। सन् १९६४ में जब मैं मध्य भारत का प्रान्त प्रचारक बना तब वर्ष में कम से कम तीन बार उनके दर्शनों का सुयोग प्राप्त होने लगा।

रुक्षता में छिपी सरसता

स्वभाव से ही श्रद्धालु होने के कारण संघ के उन सारे वरिष्ठ अधिकारियों के संबंध में, जिन्होंने संघ-कार्य के विस्तार में नींव का पत्थर बनकर कार्य किया था, मेरे मन में स्वाभाविक रूप से असीम श्रद्धा का भाव था। किन्तु यह श्रद्धा होते हुए भी, प्रथम दर्शन में वे मुझे रूखे स्वभाव के लगे, जो लोगों से स्वयं अधिक बोलते-चालते नहीं थे। किन्तु सन् ६४ से ७२ तक नागपुर में होने वाली बैठकों के समय, जब सारे प्रान्त प्रचारक प्रतिदिन प०पू० गुरुजी के कमरे में रात्रि को एकत्रित हुआ करते थे, पं० दीनदयाल जी एवं मा० भाऊराव जी के बीच जो नोंक झोंक होती थी और उसके कारण विभिन्न विषयों के साधक-बाधक पहलुओं पर गहरी चर्चा होती थी, वह हम सब प्रान्त प्रचारकों के लिए बड़ी ज्ञानवर्धक हुआ करती थी। इस चर्चा में प्रायः पूर्व पक्ष मा० भाऊराव जी प्रस्तुत किया करते थे और उत्तर पक्ष पं० दीनदयाल जी का हुआ करता था। उस समय प० पू० श्री गुरुजी प्रायः पत्र लिखा करते थे किन्तु बीच-बीच में एकाध टिप्पणी कर चर्चा के योग्य दिशा देते चलते थे। और जब कभी वातावरण कुछ अधिक गंभीर हो जाता था, तब मा० मोरोपंत पिंगले की एकाध टिप्पणी सारे वातावरण को मुक्त ठहाकों में बदल देती थी। पंडित जी की निर्णय हत्या के बाद बौद्धिक चर्चाओं में कुछ व्यवधान अवश्य आया। किन्तु मा० भाऊराव जी और मा० मोरोपंत जी की नोंक झोंक वातावरण को प्रफुल्लित व जीवन्त बनाये रखती थी। किसी भी विषय पर चर्चा छिड़वानी हो, तो मा० भाऊराव जी मा० मोरोपंत का नाम लेकर कोई टिप्पणी कर बैठते थे और चर्चा चालू हो जाती थी। यह क्रम इस वर्ष मार्च में लखनऊ में हुई बैठक तक चलता रहा।

गुपचाप नाम सुझा दिया

इन्हीं बैठकों में विभिन्न विषयों पर चर्चा के दौरान इस्लाम के संबंध में मेरे कुछ अध्ययन की बात मा० भाऊराव जी के ध्यान में आई होगी। परिणाम स्वरूप काशी के कार्यकर्ताओं का मेरे नाम उस विषय पर सार्वजनिक व्याख्यान देने हेतु निमन्त्रण मुझे मिला। मुझे बताया गया कि मा० भाऊराव जी ने ही मेरा नाम सुझाया है। जानकर मुझे आश्चर्य मिश्रित आनन्द हुआ। आश्चर्य इसलिए कि मुझ जैसे अल्पज्ञ को इस गुरुतर कार्य के लिए कैसे चुना गया और आनन्द इसलिए कि जिन भाऊराव जी को मैं रूखा और उदासीन समझे बैठा था, उनकी मुझमें कितनी रुचि थी? और केवल रुचि ही नहीं, कार्यकर्ताओं को अपने-अपने विषय में आगे बढ़ाने और उन्हें समाज में सुप्रतिष्ठित कराने की ओर उनका कितना ध्यान था? उनकी कार्यशैली का यह मेरा प्रथम अनुभव था। आगे तो अनेक अवसर ऐसे आये जब उन्होंने मुझे बिना बताये ही मेरा नाम अनेक स्थानों पर सुझा दिया।

स्वातंत्र्यवीर सावरकर के जीवन पर सम्पूर्ण छाया चित्र बनाने के लिए कृतसंकल्प सावरकर दर्शन प्रतिष्ठान के निदेशक श्री सुधीर फड़के जी का जब मुझे पत्र प्राप्त हुआ कि सावरकर पर निकलने वाली हिन्दी स्मारिका के सम्पादकीय मंडल में मा० भाऊराव जी के सुझाव पर मेरा नाम सम्मिलित कर लिया गया है जो पुनः मुझे आश्चर्य हुआ क्योंकि सम्पादन आदि का मुझे कोई पूर्वानुभव नहीं था। किन्तु जिस विश्वास के साथ मा० भाऊराव जी ने मेरा नाम इस कार्य के लिए आगे बढ़ाया, उस विश्वास को ठेस पहुँचाना भी मेरे लिए सर्वथा असम्भव ही था। अतः उस दायित्व को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। सम्पादकीय मण्डल की बैठक में मुझे इस बात की जिम्मेदारी दी गई कि मैं संघ के उन वरिष्ठ अधिकारियों के संस्मरण एकत्रित करूँ जिनके सावरकर जी से संबंध रहे थे। और मैं मा० भाऊराव जी के पीछे पड़ गया। मैंने उनसे यही कहा कि जब आपने मुझे इस काम में जुटाया है तो मेरा आग्रह भी आपको मानना होगा। और दो-तीन बार के आग्रह का परिणाम यह निकला कि मैं उनके संस्मरण प्राप्त कर सका।

संवेदनशील अन्तःकरण

सन् १९८२ में जब पहली बार उन्हें पक्षाघात का झटका लगा तो दिल्ली आने पर मैं उनसे मिलने जैन शुश्रूषागृह गया। ठीक उसी समय श्री केदारनाथ साहनी भी आये। उनके द्वारा हालचाल पूछे जाते ही मा० भाऊराव जी बच्चों की तरह बिलख पड़े। मेरे लिए उनका यह रूप सर्वथा अकल्पित था। एक रूखे से प्रतीत होने वाले बहिरंग में इतने संवेदनशील अन्तरंग का यह मेरा प्रथम ही परिचय था और इसने उनके संबंध में बनी मेरी पहली धारणा को आमूलाग्र बदल दिया। तबसे वे मुझे कभी रूखे नहीं लगे।

उनकी कार्यशैली के संबंध में सर्वप्रथम मैंने दो अधिकारियों से सुना। एक थे श्री रामशंकर अग्निहोत्री जो उन दिनों मेरे प्रान्त प्रचारक थे और दूसरे थे श्री बापूराव मोघे, जो अ०भा० बौद्धिक प्रमुख का दायित्व सम्हाले हुए थे। श्री रामशंकर जी बताया करते थे कि "मा० भाऊराव जी कार्यकर्ताओं को क्रमशः उन्नततर श्रेणियों में बाँटते हैं और उसी के अनुसार उनके व्यवहार की घनिष्ठता भी हुआ करती है। निचले स्तर के कार्यकर्ताओं की योग्यता का विकास करते हुए उन्हें क्रमशः उच्चतर स्तर पर ले जाने का उनका प्रयास रहता है और जैसे-जैसे वह ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे उनका व्यवहार भी उससे घनिष्ठतर होता जाता है। उनकी बढ़ती हुई घनिष्ठता ही उस कार्यकर्ता के विकास का मापदण्ड हुआ करती है और उनकी घनिष्ठता प्राप्त करने की लालसा में कार्यकर्ता उत्तरोत्तर विकास का प्रयत्न किया करता है।"

इसे चूल्हे में डाल दो

मा० बापूराव जी मोघे से उनके व्यवहार के एक दूसरे पहलू का परिचय मिला। उन्होंने बताया कि मा० भाऊराव जी की इच्छा रहा करती थी कि प्रत्येक कार्यकर्ता अपना रास्ता स्वयं बनाये। और इस संदर्भ में अपना एक संस्मरण भी उन्होंने सुनाया। एक बार उत्तर प्रदेश के संघ शिक्षा वर्ग की संपूर्ण व्यवस्था का दायित्व मा० भाऊराव जी ने मोघे जी पर सौंपा जो उन दिनों उत्तर प्रदेश में विभाग प्रचारक थे। मोघे जी स्वयं अति-व्यवस्थित होने के कारण उनके मन में आया कि प्रतिवर्ष संघ शिक्षा वर्ग की व्यवस्था करनी ही होती है

अतः क्यों न एक पुस्तिका ऐसी तैयार कर दी जाय जिसमें हर व्यवस्था का सूक्ष्मतम ब्योरा लिखा हुआ हो, जिसे देखकर भविष्य में किसी भी बन्धु को व्यवस्था करने में किसी प्रकार की अड़चन न रहे। यह सोचकर बड़े परिश्रम से उन्होंने एक पांडुलिपि तैयार की, जिसमें निवास व्यवस्था कैसी हो, एक व्यक्ति को सोने, बैठने आदि के लिए कितना स्थान चाहिए, आटा,दाल, सब्जी, तेल आदि सारी बातों का बारीक-बारीक विवरण लिपिबद्ध किया गया। वर्ग की समाप्ति पर उन्होंने वह पुस्तक मा० भाऊराव जी को देते हुए कहा कि "अब संघ शिक्षा वर्ग की व्यवस्था करने में किसी को कोई कठिनाई नहीं आयेगी, क्योंकि व्यवस्था-सम्बन्धी एक-एक बात का विवरण इस पांडुलिपि में उपलब्ध है।"

मा० भाऊराव जी ने वर्ग की उत्तम व्यवस्था की तो प्रशंसा की और उसके लिए बापूराव जी का अभिनन्दन भी किया किन्तु साथ ही यह भी कहा कि 'इस पुस्तिका का काम हो गया। अब इसे चूल्हे में डाल दो।' सुनते ही बापूराव जी की 'काटो तो खून नहीं' जैसी स्थिति हो गई। अपने को सम्हालते हुए उन्होंने पूछा कि "जिस पुस्तक को मैंने इतने परिश्रम से तैयार किया है, उसे आप चूल्हे में डालने के लिए क्यों कह रहे हैं?" तो भाऊराव जी ने उत्तर दिया- "स्वयंसेवक द्वारा दस गलतियाँ किया जाना मैं पसन्द करूँगा, किन्तु बनी-बनायी लीक पर चलना नहीं। लीक पर चलेगा तो स्वयंसेवक सीखेगा कैसा? स्वप्रेरणा से काम करने की क्षमता उसमें कैसे निर्माण होगी?"

कार्यकर्ताओं की टोली

उनकी कार्यपद्धति के संबंध में स्वयं उनके ही मुख से सुनने का अवसर भी आया। डिब्रूगढ़ में असम के प्रचारकों का वर्ग था जिसमें मा० भाऊराव जी पधारे थे। अपने जीवन के संस्मरण सुनाते हुए ही अनौपचारिक ढंग से उन्होंने कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन किया। प्रचारकों से सहज बातचीत करते हुए उन्होंने कहा कि "मैं सर्वप्रथम कार्यकर्ताओं की एक टोली तैयार करता हूँ और उन्हीं के माध्यम से काम हो- इसकी चिन्ता करता हूँ।" उनकी इस कार्यशैली का उदाहरण संघ कार्य के अलावा उन सारे कामों में भी मिलता है जिनकी ओर ध्यान देने के लिए उनसे कहा गया था। शिक्षा, राजनीति व विदेश विभाग के क्षेत्र उनको सौंपे गये थे और उन सब क्षेत्रों में उन्होंने कुशल कार्यकर्ताओं की टोलियाँ खड़ी की थीं। विद्यार्थी परिषद्, विद्या भारती, भारतीय जनता पार्टी में ऐसे सक्षम लोगों को उन्होंने खड़ा किया जिससे उनके जाने के बाद भी किसी प्रकार की रिक्तता न आ पाये और कार्य ठीक प्रकार चलता रहे। और संघ में तो सुयोग्य कार्यकर्ता उसी को माना गया है जिसके जाने के बाद भी कार्य बढ़ता रहे।

सन् १९८२ में पक्षघात का पहला झटका जब उन्हें लगा था, तो सोचा गया था कि उनके कार्यभार में किंचित् कमी की जाए और उसी के अंतर्गत मुझे विद्यार्थी परिषद् की ओर ध्यान देने के लिए कहा गया। उस समय विद्यार्थी परिषद् की टोली न केवल तैयार होने की प्रक्रिया में थी अपितु उसकी सही दिशा क्या रहे इस संबंध में भी पूरा विचार नहीं हो पाया था। अनेक संगठनात्मक समस्याएं हल की तलाश में थीं। फलतः जब उन्हें इस बात का पता चला कि परिषद् दायित्व मुझे दिया गया है तो वे विचलित हो उठे क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि अधूरा कार्य किसी अन्य के जिम्मे सौंपा जाय और यह बात उन्होंने पू० सरसंघचालक जी से कही। तय हुआ कि अभी वह कार्य उनके पास ही रहे। बाद में पाँच वर्ष पश्चात् जब उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि सक्षम टोली बन गई है और दिशा निर्धारण भी पूर्ण हो चुका है तब स्वयं उन्होंने इस क्षेत्र का दायित्व मुझे सौंपने की अनुशंसा की। और विद्यार्थी परिषद् की टोली आज जिस मनोयोग, समूह भावना व गहन चिन्तन के साथ कार्य कर ही है, उसे देखने के बाद उनके किसी भी कार्य को ठोस आधार देने के अपूर्व कौशल की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती।

विभिन्न कार्यक्रमों में विभिन्न वरिष्ठ कार्यकर्ताओं को आगे लाकर उन्हें न केवल उस कार्य से परिचित होने का अवसर देना अपितु उस कार्य में उस कार्यकर्ता की गति और रुचि कितनी है यह परखने का अवसर प्राप्त करना उनकी कार्यपद्धति का अंग था। पंजाब, कश्मीर व असम की समस्याओं व बिहार व मध्य प्रदेश में विदेशी मिशनरियों के राष्ट्रघाती षड्यंत्रों का सतत् चिन्तन उनके मन में चलता रहता था और उनसे तरणोपाय क्या हो सकता है इसका मूलगामी विचार कर तदनुसार सुयोग्य कार्यकर्ताओं को खोजने में वे सदैव संलग्न रहते थे। मन में जो भी दिशा निर्धारित होती उसे संघ के कार्यकारी

मंडल के समक्ष रखते थे और वहाँ से अनुमोदन प्राप्त कर योजना के कार्यान्वयन में जुट जाते थे। इतने वरिष्ठ होने के बाद भी अपने से उमर में छोटे मा० सरकार्यवाह एवं सहसरकार्यवाह से बारम्बार परामर्श करने में उन्हें कभी हिचक नहीं होती थी। बड़प्पन के अहंकार का लेश भी उनमें नहीं था।

राष्ट्रीय सिख संगत का जन्म

पंजाब की समस्या में से राह निकालने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम देश भर में जो सिख स्वयंसेवक तथा पंजाब से निकट से जुड़े संघ के कार्यकर्ता थे, उनका एक सम्मेलन दिल्ली में आयोजित कराया और पंजाब समस्या के सुलझाव के लिए उन सबसे सलाह ली। उस सारे चिन्तन में से जहाँ यह बात उभर कर आई कि पंजाब की समस्या को हिन्दू-सिख संघर्ष का स्वरूप देने का जो प्रयास विदेश-प्रेरित तत्वों व निहित स्वार्थी राजनीतिक नेताओं द्वारा किया जा रहा है, उसके कारण पंजाब के सिखेतर हिन्दुओं के मन में पंजाब से बाहर जाने का विचार बल पकड़ रहा है, जो आतंकवादी अलगाववादी तत्वों का उद्देश्य है वहीं यह भी बात सामने आई कि इस समस्या के मूल में अंग्रेजों द्वारा पैदा किया व पोसा गया हिन्दू-सिख विभेद का भाव भी है। अतः एक तात्कालिक उपाय के नाते जहाँ ऐसा वातावरण पैदा किया जाना आवश्यक था कि सिखेतर बन्धु पंजाब से बाहर जाने का विचार छोड़कर हिम्मत के साथ समस्या से जूझने के लिए प्रस्तुत हों वहीं, एक दीर्घकालीन उपाय के नाते यह भी आवश्यक था कि अंग्रेज द्वारा अपनी 'फूट डालो व राज करो' की नीति के अन्तर्गत पैदा किए गये संभ्रमों को दूरकर सिख व शेष हिन्दू समाज की पारम्परिक एकता को पुष्ट करने के अनवरत प्रयास किए जायें। और इस दूसरे कार्य के लिए उन्होंने एक अत्यन्त उपयुक्त व्यक्ति भी खोज निकाला। वे थे लखनऊ के सरदार शमशेर सिंह जी, जो उनके उत्तर प्रदेश के प्रान्त प्रचारकत्व के काल में उनसे संपर्क में आये थे। श्री गुरु ग्रंथ साहिब व दशमग्रंथ के साथ-साथ गीता व उपनिषदों का भी गहन अध्ययन होने के कारण वे इस कार्य को मूर्त रूप देने के लिए योग्य माध्यम बन सकते हैं, यह मा० भाऊराव जी की नजरों से नहीं चूका। उनकी प्रेरणा से ही सरदार शमशेर सिंह जी ने इस कार्य को अपना जीवनकार्य मानकर अपनी संपूर्ण शक्ति इसमें लगा दी।

समाज में आत्मविश्वास निर्माण करने के लिए तात्कालिक उपाय के नाते अमृतसर में एक विशाल एकता सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें एक लाख लोगों ने भाग लिया। मद्रास के प्रवास के बीच में मुझे विशेष रूप से इस कार्यक्रम के लिए मा०भाऊराव जी ने बुलवाया। अनेक सिख व सिखेतर नेताओं द्वारा संबोधित इस विराट् सम्मेलन में ही सरदार शमशेर सिंह जी ने राष्ट्रीय सिख संगत नामक एक नवीन संस्था के गठन की घोषणा की जिसका मूल उद्देश्य था - गुरु नानकदेव जी की वाणी में आये वाक्य "हिन्दुस्थान समालसी बोला" के आधार पर पूरे हिन्दुस्थान की रक्षा के प्रति संकल्पबद्ध होना। "हिन्दू सिख नूं लडन नी देणा, सन् सैंतालीस बनन नी देणा" के आह्वान के साथ पंजाब के निवासियों में एकता और साहस का संचार कर यह सम्मेलन सफलतापूर्वक संपन्न हुआ। इसके बाद भी समाज में विश्वास का संचार करने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा समिति के तत्वावधान में अमृतसर से दिल्ली तक शहीदी टोलियों की यात्रा तथा विश्व हिन्दू परिषद् के तत्वावधान में हरिद्वार से अमृतसर तक संतों की यात्रा भी मा० भाऊराव जी के चिन्तन में से ही उपजे हुए कार्यक्रम थे।

कार्यकर्ताओं का शिक्षण

और एक विषय मा० भाऊराव को चिन्तित किए हुए था। पंजाब में कार्यरत अनेक संघ के कार्यकर्ता पंजाब समस्या का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण कर पाने में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि हिन्दू-सिख का सोच पंजाब के वातावरण में गहरा पैठा हुआ था और वहाँ के अधिकांश समाचार पत्र भी जाने-अनजाने इस शब्द प्रयोग से अलगाव के भाव का ही पोषण कर रहे थे। इसलिए बाहर से ऐसे कार्यकर्ताओं को पंजाब भेजने की आवश्यकता मा० भाऊराव जी ने अनुभव की जो वस्तुनिष्ठ दृष्टि से पंजाब की समस्या की ओर देख सकें व तदनुसार नयी योजनाओं और नये कार्यक्रमों को हाथ में लेकर एकता के भाव को पुष्ट कर सकें। और इस कार्य के लिए उन्होंने मा० सरकार्यवाह जी से कहकर हर प्रान्त से एक-एक कुशल प्रचारक पंजाब भिजवाने का आग्रह किया। उन कार्यकर्ताओं को पंजाब भेजने के पूर्व उनका दिल्ली में वर्ग लिया गया जिसमें सिखपंथ के इतिहास,

अंग्रेजों के षड्यंत्र, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की राजनैतिक हलचलें आदि सबके संबंध में जानकारी दी गयी और पंजाब में कार्य करते समय कौन-कौन से नये कार्यक्रम हाथ में लिए जा सकते हैं इससे भी उन्हें अवगत कराया गया। इस कार्यक्रम और इसके पूर्व आयोजित पंजाब एकता सम्मेलन तथा चण्डीगढ़ में आयोजित गुरु गोविन्दसिंह जयन्ती आदि में जब मुझे जाने के लिए कहा गया था तब यह कल्पना नहीं थी कि भविष्य में दिए जाने वाले उत्तरदायित्व के लिए मुझे गढ़ा जा रहा है। किन्तु जब सरदार शमशेर सिंह जी ने आकर मुझे बताया कि 'मा० भाऊराव जी ने आपसे परामर्श लेकर कार्य करने की मुझे सलाह दी है' तो मैं समझ गया कि इस कार्य का दायित्व मुझ पर सौंपकर वे मुक्त हो गये हैं। बीच-बीच में अवश्य एकाध वाक्य इस आशय का बोल देते थे - "अब तो सुदर्शनजी सिख संगत खड़ी करके ही रहेंगे।" और वह वाक्य ऐसी प्रेरणा पैदा कर देता था कि काम की सफलता के लिए सब कुछ करने की इच्छा मन में दृढ़मूल हो जाती थी।

सबको आगे करते हुए उनको सारा श्रेय देना और स्वयं पर्दे के पीछे रहकर प्रेरणा स्रोत का काम करना - ऐसी थी उनकी कार्यशैली जिसे देखने के बाद समर्थ स्वामी रामदास की यह उक्ति बरबस याद आ जाती है जो उन्होंने संगठक महन्तों के लिए आवश्यक बतायी थी।

आहे तरी सर्वठायीं। पाहो जाता कोठेच नाहीं ।
जैसा अन्तरात्मा ठाई चा ठाई। गुप्त जाला ।
निःस्पृहे अवधेचि करावे। परीं आपण तेथे न सांपडावे।
परस्परे उभारावे। भक्ति मार्गसी ।

'जैसे अन्तरात्मा सर्वत्र होते हुए भी गुप्त रहता है, दिखाई नहीं देता वैसे ही कुशल संगठक सब जगह रहते हुए भी कभी सामने नहीं आता। संगठक के लिए आवश्यक है कि वह निःस्पृहता से सब कुछ करे तो किन्तु खोजे जाने पर कहीं न मिले। इस प्रकार पीछे रहकर सबको भक्तिमार्गी बनाये।'

मा० भाऊराव जी ने हजारों लोगों को इसी प्रकार से संघमार्गी बनाया।

❐ मंथन, अगस्त १९९२

कुशल संगठक

कुप्पहल्ली सीतारमैया सुदर्शन : सहसरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

राम कोई जन्म ले...

✍ राजर्षि अग्निहोत्री, एकादश

एकता की भावना ही राष्ट्र का आधार है
एकता हममें रहे अब तो यही दरकार है

लग रहा, ज्यों देश में कोई नहीं सरकार है
देखिये जिस ओर भी उस ओर भ्रष्टाचार है

भुखमरी है और गरीबी, युवक बेरोजगार है
डगमगाती राष्ट्र-नौका नहीं खेवनहार है।

देश पर आँखें लगाये यह सकल संसार है।
संकुचित प्रतिक्षण हमारे राष्ट्र का आकार है

राजनेता कर रहा अब देश का व्यापार है
'राम' कोई जन्म ले यह समय की पुकार है।

भाऊराव जी के अधूरे काम को पूरा करें

✍ अटल बिहारी वाजपेई

कभी-कभी विश्वास नहीं होता कि भाऊराव जी अब नहीं हैं। लेकिन नहीं हैं, यह एक सत्य है,कठोर सत्य है। मृत्यु जीवन का कठोरतम यथार्थ है। लेकिन वह नहीं हैं,इसका अर्थ इतना ही है कि अब उनके पास जाकर हम अपनी समस्या नहीं रख सकते। निराशा के क्षणों में अपनी पीठ पर उनका हाथ अनुभव नहीं कर सकते।

पार्थिव शरीर हमारे बीच में नहीं है लेकिन उनकी स्मृति है, उनकी कृति है, उनकी कीर्ति है। शरीर तो हमेशा किसी का नहीं रहता, लेकिन मनुष्य, जीवन किस तरह से जीता है और उसकी मृत्यु भी किस तरह से होती है, यह आने वाली पीढ़ियों के लिए एक उदाहरण बन जाता है।

श्रद्धेय भाऊराव जी राष्ट्र-निर्माताओं की उस महान श्रृंखला में थे, जिन्होंने आधुनिक काल में अपने समर्पित जीवन से लाखों लोगों को प्रेरित किया। उनका सारा जीवन ध्येय के लिए समर्पित था। आज उस जीवन की सुगंधि हमारे बीच में विद्यमान है। किस तरह लक्ष्य के प्रति उनकी एकाग्रता थी, व्यग्रता थी, उनसे जुड़े हुए प्रसंग, उनसे जुड़ी हुई घटनाएं जरूर सुरक्षित रहेंगी और दैदीप्यमान नक्षत्र की तरह चमकती रहेंगी।

मुझे याद है कि आडवानी जी सोमनाथ से रथयात्रा पर निकलने वाले थे। उसी दिन लखनऊ में 'राष्ट्रधर्म' मासिक की ओर से एक कार्यक्रम का आयोजन था। पुराने सम्पादकों को सम्मानित करने का भी उसमें प्रबंध था। भाऊराव जी 'राष्ट्रधर्म' के प्रेरणा-पुरुष थे। ऐसा मासिक पत्र निकलना चाहिए, यह कल्पना उन्होंने ही की थी और फिर उसे मूर्त रूप दिया था। पं० दीनदयाल जी को जोड़ा और फिर बिलकुल नवसिखिये, नये लोगों पर पत्र का भार छोड़ दिया। लेकिन मैं उसकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ। उस दिन लखनऊ में जो कार्यक्रम हो रहा था, उसमें हम तो 'राष्ट्रधर्म' की चर्चा कर रहे थे, पुराने दशकों का उल्लेख कर रहे थे। किन कठिनाइयों में पत्र प्रकाशित हुआ, किन मुश्किलों में चला, इसका विवरण दे रहे थे। मगर भाऊराव जी का ध्यान, जैसे अर्जुन का ध्यान पक्षी की तरफ नहीं, पेड़ की तरफ नहीं, बस आँख की तरफ था, उसी प्रकार सोमनाथ की ओर था। अपने संक्षिप्त भाषण में उन्होंने 'राष्ट्रधर्म' की अधिक चर्चा नहीं की। सोमनाथ से निकलने वाली यात्रा किस तरह से सफल हो, किस तरह से वह सारे राष्ट्र को आंदोलित करने में समर्थ हो, यही चिन्ता उनके मन में थी। यही चिन्ता उनकी वाणी से व्यक्त हुई। शायद वे रथ-यात्रा की सम्भावनाओं से परिचित थे। उनके मन में आशंकाएँ भी थीं। लेकिन उस दिन उस समारोह में सोमनाथ की चिन्ता उन्हीं के लिए सम्भव थी।

दूसरा प्रसंग तो उनके जीवन के अंतिम दिनों का है। पंडित दीनदयाल जी के देश में, विदेश में अनेक स्मारक बने। लेकिन उनके पैतृक गाँव में एक झोपड़ी खड़ी थी, कोई स्मृति चिन्ह नहीं था। नगरों में स्मारक खड़े करना आसान है, आवश्यक भी है, लेकिन भाऊराव जी की दृष्टि गयी कि उपाध्याय जी के पैतृक गाँव में कुछ नहीं हुआ है। उनके जन्म-स्थान पर कुछ नहीं हुआ है, कुछ होना चाहिए। वह कार्य को छोटे से आरम्भ करने के पक्ष में थे क्योंकि वह सीमाओं को जानते थे। साधनों की मर्यादाओं से भी अवगत थे। वे यह भी जानते थे कि जिन पर काम सौंपा जा रहा है, उन्हें धीरे-धीरे आगे बढ़ने का अवसर देना चाहिए, गल्तियों से सीखने का मौका देना चाहिए। वे आवेश से काम नहीं लेते थे। वह काम भी उनकी प्रेरणा से बढ़ा।

आज उत्तर प्रदेश में मथुरा जिले में दीनदयाल धाम में जो काम हो रहा है, वैसे तो वह अनेक कामों में से एक काम है, लेकिन वह एक उदाहरण है। देश को किस तरह से बदला जा सकता है, उसका आरम्भ गाँव से कैसे किया जा सकता है, शिक्षा का सचमुच राष्ट्रीय स्वरूप क्या होना चाहिए, यह सब वहाँ देखा जा सकता है। विद्या भारती सारे देश को शिक्षित करने का दायित्व नहीं ले सकती। लेकिन प्रकल्प हाथ में लेकर रास्ता दिखा सकती है। जो शासन में बैठे हैं, उनको भी थोड़ा सा समझा सकती है और बाकी के समाज को भी अपनी क्षमता से परिचित करा सकती है, और करा रही है।

आज विद्या भारती द्वारा संचालित विद्यालयों में प्रवेश करने वालों की भीड़ लगी है। स्थान नहीं हैं। माँगे हुई हैं, हमारे यहाँ विद्यालय खोलो। किन्तु खोलें कैसे? उद्देश्य लेकर चलने वाले कार्यकर्ता चाहिए। जहाँ कार्यकर्ता उपलब्ध हैं, वहीं कुछ हो सकता है। बच्चे तो जुटाये जा सकते हैं, बच्चे तो गलियों में धूल में खेलते हुए फिर रहे हैं। कोई उन्हें प्यार से सहेज कर विद्या के मंदिर में ले आए, इससे बढ़कर उनके लिए सौभाग्य की बात क्या हो सकती है? मगर कमी है कार्यकर्ताओं की। शासन ने इसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। समाज भी जाग्रत नहीं रहा।

अभी हम प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य भी नहीं कर सके हैं। सबसे ज्यादा निरक्षर हमारे देश में हैं। पता नहीं क्यों, शिक्षा की प्राथमिकता जैसी होनी चाहिए थी, वैसी नहीं है। मुझे याद है कि श्रीमती इंदिरा गांधी ने एक बार कहा था कि सबको शिक्षा देने से क्या लाभ है। पहले शिक्षा जरूरी है या रोटी? उन्होंने सवाल ऐसे खड़ा किया मानो रोटी तो सबको मिल गयी है। रोटी मिली मगर रोटी और शिक्षा अलग नहीं हैं। बिना शिक्षा के देश का विकास कैसे हो सकता है? व्यक्ति जीवन जीना कैसे सीखेगा, इसकी तरफ ध्यान नहीं दिया गया, अभी भी ध्यान नहीं है। और फिर शिक्षा कैसी हो, यह तो दूर की बात है। शिक्षा ही नहीं है। जिन्हें 'थ्री आर्स' (रीडिंग, राइटिंग, एरिथमेटिक) कहते हैं, उनका ही ज्ञान नहीं है।

केन्द्र में शिक्षा का क्या महत्व है? मुझे नहीं लगता कि जो लोग केन्द्र में बैठे हैं, वह भी शिक्षा के महत्व को समझते हैं। मैं कई बार एक उदाहरण दे चुका हूँ। आजकल केंद्र में शिक्षा मंत्रालय नहीं है, विद्या मंत्रालय नहीं है। 'एजूकेशन' समझ में आ सकता है, 'शिक्षा' से बात स्पष्ट हो जाती है, 'विद्या' कहें तो एकदम लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है। यह 'ह्यूमन रिसोर्सेस' (मानव संसाधन) क्या है? वाटर रिसोर्सेस तो समझ में आता है। मिनरल रिसोर्सेस, नेचुरल रिसोर्सेस भी ठीक है। लेकिन अब मनुष्य को भी उसी पंक्ति में खड़ा कर दिया है। कोई अगर गाँव में जाकर कहे, भाई हम ह्यूमन रिसोर्सेस को मोबिलाइज़ करने के लिए आये हैं, कोई क्या समझेगा? मान लिया आप अंग्रेजी में न कह कर हिन्दी में कहें कि हम मानव-संसाधनों को संगठित करने के लिए आये हैं, तब भी कौन समझेगा? समझेगा भी तो क्या? क्या उसके हृदय में बात जायेगी? यह सोचने के विकृत ढंग का एक उदाहरण है।

अब तो साधनों की कमी बहुत बड़ी हो गयी है और इसमें जब तक आचार्य में, शिक्षक में 'मिशन' की भावना नहीं आती, तब तक यह काम पूरा नहीं हो सकता। मगर शिक्षा के क्षेत्र में ही क्यों, सारे क्षेत्रों में ही एक 'मिशन' की भावना पैदा करना है। अब यहाँ संघ-कार्य की आवश्यकता है। उसका महत्व है। उसका दर्शन आज भी सार्थक है, सुसंगत है। माननीय भाऊराव जी, इसीलिए मैंने कहा कि इसी कोटि में थे। और उन्होंने अपनी छाप छोड़ी, हम लोगों को अनुप्राणित किया। उनकी दृष्टि व्यापक थी और दृष्टिकोण विस्तृत था। जैसे आजादी के बाद समाचार-पत्रों की आवश्यकता की बात! कोई कह सकता था कि हमें तो लोगों को जोड़ना है, व्यक्तियों का निर्माण करना है। अतः इन सारे कामों में लगने की क्या जरूरत है? अखबार बहुत से निकलते हैं, गलत समाचार देते हैं। हम पढ़ लेंगे, उन पर विश्वास नहीं करेंगे। मगर नहीं, आज उनकी उपयोगिता समझ में आ रही है।

व्यक्ति बदले या व्यवस्था?

व्यक्ति बदले या व्यवस्था बदले- यह विवाद बहुत पुराना है। कुछ विचारधाराएँ व्यवस्था बदलने पर इतना ध्यान लगा बैठीं कि उन्होंने व्यक्ति की उपेक्षा कर, एक झटके में व्यवस्था तो बदल दी, मगर बदली हुई व्यवस्था बनाये रखने वाली पीढ़ी उनके पास नहीं थी, व्यक्ति उनके पास नहीं थे।

फ्रांस की क्रान्ति का क्या हुआ? कम्युनिस्ट क्रांति का क्या हुआ? दृष्टि भी बदलनी चाहिए। अगर बात केवल व्यक्ति के बदलने तक की ही हो तो वह सीमित बात है, उसकी सीमित उपयोगिता है। इस समाज में आदर्श का कोई दिया जलता रहे, अँधेरे में रास्ता दिखाता रहे, इसकी आवश्यकता है। एक टिमटिमाता दिया अँधेरे में रास्ता दिखा सकता है। वह अंधकार को नष्ट करके इतना प्रकाश पैदा नहीं कर सकता कि कोई भटके नहीं, और जीवन का सारा व्यापार ठीक तरीके से सम्पन्न हो जाये।

स्वामी रामदास जी कहीं रामायण की कथा कर रहे थे। जब सीता जी की अशोक वाटिका का प्रसंग आया, तो उन्होंने कहा- जब हनुमान जी अशोक वाटिका में

पहुँचे, तो उन्होंने देखा कि सफेद फूल खिले हुए हैं। कथा सुनने वालों में एक सज्जन जो लगातार आते थे, अपने को रोक नहीं सके। वह खड़े हो गये और बोले- महाराज, आप गलत कह रहे हैं। सफेद फूल नहीं थे, फूल लाल थे। तो स्वामी रामदास ने पूछा- आप को कैसे मालूम? उन्होंने कहा- मैं ही तो था! मैं हनुमान था। तभी तो वेष बदल कर आप की कथा सुनने के लिए आ जाता हूँ। क्योंकि आप बहुत सुन्दर कथा कहते हैं। स्वामी रामदास ने कहा, देखो फूल तो सफेद थे, मगर तुम्हारी आँखें क्रोध से लाल थीं, इसी से लाल फूल दिख रहे थे। तो जैसी दृष्टि होती है, वैसी ही सृष्टि दिखाई देती है। इसीलिए वर्तमान दृष्टिकोण तो दूर होना चाहिए। नयी दृष्टि का विकास होना चाहिए। लेकिन बात केवल दृष्टि तक सीमित नहीं है। फूल में सफेद और लाल का अन्तर किया जा सकता है। मगर मान लिया कि फूल की जगह काँटे हों, चाहे लाल हों या सफेद हों, वे चुभेंगे। हमें ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी कि काँटों को उखाड़कर अलग रख दिया जाये और फूलों को खिलाने का प्रबंध किया जाये। इसीलिए जीवन में समग्रता की आवश्यकता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने एक दृष्टि दी और उसके हिसाब से अब सृष्टि की रचना का काम हाथ में लिया जा रहा है। अभी यहाँ घोषणा की गयी है कि भाऊराव जी की स्मृति में एक ट्रस्ट बनेगा। मुझे भी उसके साथ जोड़ लिया है। लक्ष्य यह है कि नवम्बर तक एक करोड़ की धनराशि इकट्ठी की जाये। हमारे भा.ज.पा. के मित्र यह कह कर धनराशि इकट्ठा करने के प्रयत्नों से अपने को अलग न कर लें कि साहब नवम्बर में तो चुनाव होने वाले हैं और लड़ने के लिए पैसा इकट्ठा कर रहा हूँ। वह दोनों काम करने पड़ेंगे। दोनों कामों में समाज की देने की क्षमता को हम अभी सही तरीके से आँक नहीं पाये हैं, कूत नहीं पाये हैं। प्रयत्न जरूर करें, क्योंकि भाऊराव जी की स्मृति को स्थायी रखने के लिए बहुत से काम करने पड़ेंगे। उसमें धन की कमी एक बड़ी कमी है। व्यक्ति सामने आ रहे हैं। नये क्षितिज हमारे लिए खुल रहे हैं। अब इस बात की आवश्यकता है कि सब तरह के साधनों को जुटाकर हम भाऊराव जी के अधूरे काम को पूरा करने के लिए आगे बढ़ें। उनकी स्मृति में यही हमारी श्रद्धांजलि होगी।

❐ (श्रद्धांजलि एवं संकल्प-समारोह,
लखनऊ,१३ मई १९९३)

अटल बिहारी वाजपेयी : पूर्व संपादक राष्ट्रधर्म; पूर्व अध्यक्ष, भारतीय जनसंघ; पूर्व विदेश मंत्री; पूर्व अध्यक्ष, भारतीय जनता पार्टी; सांसद; नेता, प्रतिपक्ष, लोकसभा।

अष्टम (क)

✍ विनेश जैन अष्टम (क)

(कवि के उथले हास्त का एक प्रतीक मात्र, किन्तु फिर भी एक व्यवस्था और क्रम सराहनीय है। - सं०)

अष्टम क कक्षा के कक्ष प्रमुख है नरेश,
बाल-भारती के अध्यक्ष है विनेश,
उपाध्य हैं हरीन्द्र, उप प्रमुख भी हैं यही,
रमेश, दिनेश, योगेश, यहाँ कोई अनपढ़ नहीं,
नौ पंजाबी, दो है सिन्धी, और एक है मद्रास,
क्रीड़ा में कुशल है यहाँ के छात्र ख्यासी।
जगदीश है लम्बे, अतुल है छोटे,
यहाँ सब है पहलवान, केवल शैलेन्द्र है मोटे,
नहीं लड़ाई, नहीं नवाबी, यहां है कोई खराबी,
ज्यादा पास कम है फेल, खेलते सब मिल जुल कर खे।
राधा मोहन है यहाँ के विदूषक,
ओम प्रकाश है यहाँ हंसी के सूचक,
देखो मेरी कक्षा, है कितनी विशेष,
मैं हूँ इसका लेखक, मेरा नाम विनेश।

प्रेरणा के अनन्त स्रोत

✍ लज्जाराम तोमर

२,३ अगस्त १९९२ को आगरा में विद्या भारती की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक आयोजित थी। भाऊराव के निधन के पश्चात् विद्या भारती की यह प्रथम बैठक थी। आरम्भ में ही उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की गई। गत मार्च की राँची बैठक की उनकी उपस्थिति की स्मृतियाँ चलचित्र के समान मानसपटल पर एक के बाद एक उभरने लगीं। यह सब होने पर भी मन यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हो रहा था कि भाऊराव अब हमारे बीच में कभी नहीं आयेंगे। ऐसा लग रहा था कि वे अस्वस्थता के कारण इस बैठक में नहीं आ सके। अगली बैठक में अवश्य आयेंगे। बुद्धि ने कहा, यह भावुक मन अपने को इस प्रकार कब तक बहलाता रहेगा? किन्तु यह भी सत्य है कि महापुरुष कभी मरते नहीं हैं। उनका व्यक्तित्व सदैव अमर रहता है। विवेकानन्द, अरविन्द, गाँधी, हेडगेवार, गुरु जी गोलवलकर आदि महान पुरुषों के व्यक्तित्व के अस्तित्व का प्रभाव संवेदनशील हृदयों को आज भी अनुभव होता है। भाऊराव देवरस भी ऐसे ही एक श्रेष्ठ पुरुष थे जो भले ही पार्थिव रूप से हमारेबीच से चलेगये हों, किन्तु उनका हिमालयसम उत्तुंग एवं महासागरसम गम्भीर व्यक्तित्व अमर है। उसका प्रभाव हमें सदैव अनुभव होता रहेगा।

विद्या भारती के भगीरथ

भाऊराव जी विद्या भारती के जन्मकाल से ही उसके संरक्षक रहे तथा उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक विद्या भारती का मार्गदर्शन किया। उनके भगीरथ प्रयत्नों से ही विद्या भारती की गंगोत्री की क्षीणधारा आज विशाल गंगासागर का रूप ले चुकी है। विद्या भारती इस समय भारत में ही नहीं विश्व में सबसे बड़ा गैर सरकारी शैक्षिक संगठन है। इससे सम्बद्ध प्राथमिक से विश्वविद्यालय स्तर तक की ५,००० शिक्षा संस्थायें देश के प्रत्येक प्रदेश में फैली हुई हैं। इसके १,००० संस्कार केंद्र पिछड़ी बस्तियों में चल रहे हैं। इन संस्थाओं में ३८,००० शिक्षक तथा १२ लाख छात्र-छात्राएं सरस्वती की साधना में रत हैं। भाऊराव जब उत्तर प्रदेश में थे,उन्हीं के कार्यकाल में सरस्वती शिशु मंदिरों का विस्तार पूरे उत्तर प्रदेश में हुआ और जब वे संघ के अखिल भारतीय अधिकारी बने तो शिशु मंदिरों का जाल पूरे देश में फैल गया। वे शिक्षा को समाज निर्माण का सबल माध्यम मानते थे। उन्हीं की प्रेरणा एवं योजना से संघ के अनेक स्वयंसेवकों ने शिक्षा में अपना जीवन समर्पित किया और उसी के फलस्वरूप १९७७ में विद्या भारती अखिल भारतीय शिक्षा संस्थान की स्थापना हुई।

दिल्ली में शिशु संगम

श्रीमान् कृष्ण चन्द्र गांधी के साथ कुछ प्रमुख कार्यकर्ता उत्तर प्रदेश के शिशु मंदिरों के बालकों के एक शिविर के आयोजन की अनुमति लेने के लिए माननीय भाऊराव से मिले तथा उनके सामने प्रदेश के शिशु शिविर की कल्पना रखी। भाऊराव थोड़ी देर चुप रहे, फिर बोले- 'उत्तर प्रदेश का ही क्यों? दिल्ली में अखिल भारतीय शिशु शिविर आयोजित करो जिससे देश-विदेश में जानकारी मिल सके कि आपात्काल (इमरजेन्सी) में जिन शिशु मंदिरों को सरकार ने अधिग्रहण कर अपने नियन्त्रण में ले लिया था, आपात्काल समाप्त होते ही वे शिशु मंदिर पहले से अधिक छात्र शक्ति के साथ पुनः समाज में प्रतिष्ठित हो गये हैं'। फिर क्या था? भाऊराव का इतना संकेत प्राप्त करते ही विद्या भारती के कार्यकर्ता दिल्ली में 'अखिल भारतीय शिशु शिविर' के आयोजन की तैयारी में जुट गये। शिविर का नाम 'शिशु संगम' रखा गया। ६ वर्ष से ११ वर्ष की आयु वर्ग के सोलह हजार शिशुओं एवं दो हजार आचार्यों ने इस शिविर में भाग लिया। तत्कालीन राष्ट्रपति जी ने इसका उद्घाटन किया। अनेक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के शिक्षाविदों ने भी इसका अवलोकन किया। सभी का मत था कि इस आयु के बालकों का इतना विशाल शिविर भारत में ही नहीं विश्व के किसी देश में अभी तक नहीं हुआ। इस अभिनव शिशु संगम की

सफलता का मुख्य श्रेय भाऊराव की कल्पना एवं मार्गदर्शन को था जो वे अदृश्य रहकर भी सभी कार्यकर्ताओं को प्रदान करते थे।

अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय नहीं

१९८० की बात है। दिल्ली के कुछ वरिष्ठ कार्यकर्ता भाऊराव के सामने यह प्रस्ताव लेकर आये कि विद्या भारती द्वारा दिल्ली में एक अंग्रेजी माध्यम का विद्यालय प्रारम्भ किया जाय। इसके लिए हम कार्यकर्ता मिलकर एक करोड़ रुपये की व्यवस्था तुरन्त कर सकते हैं। भाऊराव शान्त बैठे उनकी बात सुनते रहे। उन कार्यकर्ताओं में दिल्ली प्रदेश के संघ के एक वरिष्ठ अधिकारी भी थे। उन्होंने भी भाऊराव से इसकी अनुमति देने का आग्रह किया। भाऊराव ने अपना स्पष्ट मत प्रकट करते हुए कहा कि 'विद्या भारती अपने सम्मुख कुछ आदर्श एवं सिद्धान्त रखकर शिक्षा क्षेत्र में कार्य कर रही है। उसके अनुसार बालक की शिक्षा का माध्यम उसकी मातृभाषा होनी चाहिए। हम धन के लालच में अपने सिद्धान्तों को नहीं छोड़ सकते। हमने निर्णय लिया है कि विद्या भारती के अन्तर्गत अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय नहीं चलायेंगे।' कार्यकर्ता भाऊराव के इस उत्तर को सुनकर चुपचाप उठकर चले गये।

सामान्यजन की शिक्षा की चिन्ता करो

विद्या भारती की स्थापना के समय प्रायः शिशु मंदिर नगरों तक ही सीमित थे। इससे भाऊराव सन्तुष्ट नहीं थे। वे कहा करते थे, 'विद्या भारती को देश के सामान्यजन (कॉमन मैन) की शिक्षा की चिन्ता करनी चाहिए। राष्ट्र के इतिहास में देश का सामान्यजन ही परिवर्तन लाता है, श्रीमान् वर्ग (अपर क्लास) नहीं। भारत की लगभग ८० प्रतिशत जनता ग्रामों में बसती है। यदि हमें इस प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास करना है जिसके माध्यम से समाज में उचित परिवर्तन हो तो विद्या भारती को ग्रामीण, वनवासी, गिरिकन्दराओं एवं झुग्गी-झोपड़ियों में निवास करने वाले अपने बान्धवों की शिक्षा एवं संस्कारों की चिन्ता कर उन क्षेत्रों में विद्यालयों का विस्तार करना होगा'।

भाऊराव दूरद्रष्टा थे। उन्हीं की प्रेरणा से विद्या भारती के कार्य की दिशा बदल गई। १९८३ में सागर में ग्राम भारती का गठन हुआ तथा उसके अन्तर्गत ग्रामीण शिक्षा के चिन्तन एवं विस्तार की योजना बनी। श्री विनायक राव श्रेडे को ग्रामीण शिक्षा का तथा श्री कृष्ण चन्द्र गांधी को वनवासी शिक्षा का प्रमुख बनाया गया। पूर्वांचल एवं दक्षिण बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र में वनवासी विद्यालयों की श्रृंखला खोलने की योजना बनी। असम के उत्तर कछार जिले में हाफलाँग में जनजातियों के बालकों के लिए आवासीय विद्यालय की स्थापना हुई। इसके परिणाम स्वरुप विद्या भारती के आज लगभग २,००० ग्रामों में तथा १५० वनवासी क्षेत्रों में विद्यालय चल रहे हैं। १,००० संस्कार केंद्र झुग्गी-झोपड़ियों एवं पिछड़ी बस्तियों में प्रारम्भ हो चुके हैं। भाऊराव की प्रेरणा से ही मध्य प्रदेश में 'लोक शिक्षा परिषद्' तथा उत्तर प्रदेश में 'लोक भारती' का गठन होकर सरकार के सहयोग से ग्रामीण विद्यालय खोलने की वृहद् योजना बनी है। मध्य प्रदेश में तो कार्य भी आरम्भ हो गया तथा इस वर्ष ३,००० ग्रामों में विद्यालय स्थापित हो जायेंगे।

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता सर्वोपरि

मार्च १९८७, नागपुर में प्रतिनिधि सभा की बैठक के अवसर पर विद्यार्थी परिषद् के एक पुराने कार्यकर्ता को विद्या भारती में भेजने की योजना बनी। सुनकर प्रसन्नता हुई। मैंने भाऊराव से पूछा, इस कार्यकर्ता को कहाँ भेजा जाय? साथ ही कुछ प्रदेशों के नामों का सुझाव भी दिया जिनमें कोई पूर्णकालिक कार्यकर्ता नहीं था। उन्होंने कहा, इसे आसाम भेज दो। मैंने कहा, भाऊराव, आसाम में तो हमने श्री कृष्ण चंद्र गाँधी एवं श्री शान्तनु श्रेडे जैसे दो वरिष्ठ कार्यकर्ताओं को पहले से ही भेजा हुआ है। उन्होंने कहा, 'पूर्वांचल में कार्य को बढ़ाने की अधिक आवश्यकता है। विद्या भारती की योजनाओं एवं चिन्तन में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को सर्वोपरि स्थान होना चाहिए। इस दृष्टि से उस क्षेत्र में अधिक कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है'। मैं उनके इस वाक्य को सुनकर निरुत्तर हो गया।

विद्या भारती की प्रत्येक बैठक एवं कार्यक्रम में मा० भाऊराव का मार्गदर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य हमें सदैव प्राप्त होता रहा। उनके प्रत्येक मार्गदर्शन में 'राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता' का सूत्र प्रमुख रूप से रहता था।१९८५ में विद्या भारती की साधारण सभा की बैठक विशाखापटनम् में आयोजित थी। उसमें एक

कार्यकर्ता कश्मीर के अनन्तनाग से भी आये थे। उन्होंने अपने वृत्त निवेदन में कश्मीर घाटी में हिन्दुओं एवं उनके बच्चों की शिक्षा का हृदय विदारक चित्रण किया तथा विद्या भारती के सहयोग का आग्रह किया। इस बारे में विचार चल रहा था किन्तु किसी निष्कर्ष पर हम लोग नहीं पहुँच पा रहे थे। अन्त में भाऊराव ने निर्णय दिया कि 'कश्मीर घाटी की चुनौती को हमें स्वीकार करना है तथा वहाँ विद्यालय प्रारम्भ करने के कार्य को प्राथमिकता देना है।' उन्होंने दिल्ली के कार्यकर्ताओं से कहा कि कश्मीर घाटी के विद्यालयों के लिए आर्थिक व्यवस्था दिल्ली को करना है। तत्काल निश्चय हुआ कि दिल्ली के सभी विद्यालय प्रति छात्र पाँच रुपये के हिसाब से एकत्रित कर प्रतिवर्ष वहाँ भेजेंगे। श्री नारायण दास जी से कहा गया कि वे कश्मीर घाटी की ओर विशेष ध्यान दें।

जम्मू-कश्मीर के कार्यकर्ताओं में उत्साह की लहर दौड़ गई। उन्होंने इस योजना को क्रियान्वित करने का संकल्प लिया। १-२ वर्षों में ही कश्मीर घाटी में १० विद्यालय प्रारम्भ हो गये। विद्यालय अभी प्रारम्भ ही हुए थे कि वहाँ के आतंकवादियों ने हिन्दुओं पर कहर ढाना शुरू कर दिया। उन्होंने इन विद्यालयों को भी नष्ट कर दिया। हिन्दू अपने ही घर में शरणार्थी बन गये। भाऊराव ने पुनः निर्देश दिया कि विद्यालय जम्मू के शिविरों में आरम्भ किये जायें। आज भी वहाँ शिविरों में दस विद्यालय अपने हिन्दू विस्थापितों के बच्चों के लिए विद्या भारती द्वारा चलाए जा रहे हैं। गत वर्ष ही भाऊराव जी इन विद्यालयों को देखने गये थे।

वाणी हृदय से निःसृत, कण्ठ से नहीं

अभी ११-१२ जनवरी ६२ को मद्रास में विद्या भारती द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का आयोजन किया गया था। दक्षिण भारत के लगभग १,००० प्रधानाचार्यों एवं व्यवस्थापकों ने उसमें भाग लिया था। मा० भाऊराव ने उस सम्मेलन में मार्मिक भाषण दिया। देश की स्थिति, विशेष रूप से कश्मीर के हिन्दू विस्थापितों की दशा का वर्णन करते हुए भाऊराव भावुक हो उठे, उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया, आँखें अश्रुपूरित हो गई। पूरे पण्डाल का वातावरण गंभीर हो गया। भाऊराव की अस्वस्थता के कारण मंच पर बैठे लोग भी थोड़े घबड़ाये किन्तु थोड़ी देर में भाऊराव सहज हो गये।

भाऊराव का अन्तःकरण राष्ट्र भक्ति से ओतप्रोत था। उनकी वाणी हृदय से निःसृत होती थी कण्ठ से नहीं। तभी तो उनसे प्रेरणा लेकर न जाने कितने व्यक्तित्व राष्ट्र के लिए समर्पित होकर आज भी साधनारत हैं।

सरकार की कृपा नहीं, समाज का सहयोग

असम के स्वायत्तता प्राप्त उत्तर कछार पर्वतीय जिले के केंद्र हाफलाँग में चल रहे विद्यालय के कुछ कार्यकर्ता भाऊराव के पास विद्यालय के लिए सरकार से अनुदान हेतु आवेदन करने की अनुमति प्राप्त करने आये। कार्यकर्ताओं ने कहा कि हमारा जनजातियों का विद्यालय है। सरकार के पास जनजातियों के लिए पर्याप्त कोष रहता है। हमें भी उसका लाभ लेना चाहिए। भाऊराव ने कहा 'हमें सरकार की कृपा पर नहीं, समाज के सहयोग के बल पर विद्या भारती का विकास करना है। सरकार पैसा देने के साथ-साथ अनेक प्रकार के बन्धन लागू करती है। उस स्थिति में हम स्वतंत्रता पूर्वक शिक्षा क्षेत्र में अपने प्रयोग नहीं कर सकेंगे'। कार्यकर्ताओं ने इसके पश्चात् सरकारी अनुदान लेने के विषय में सोचना ही बंद कर दिया। आज समाज के सहयोग के बल पर हाफलाँग का विद्यालय विकास कर रहा है। उसका अपना विशाल भवन एवं छात्रावास बनकर तैयार हो गया है। उस भवन के लिए चार बीघा भूमि वहाँ के गाँव के लोगों ने बिना मूल्य के दी, जब कि एक उद्योगपति उस भूमि के कई लाख रुपये वहाँ अपने उद्योग लगाने के लिए गाँव वालों को दे रहा था। किन्तु निर्धन होते हुए भी ग्रामवासियों ने अपने बच्चों की शिक्षा के लिए भूमि देना अधिक अच्छा समझा। आज उस विद्यालय के छात्रावास में २० जनजातियों के १४ भाषा-भाषी १५० छात्र हाईस्कूल तक की निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। भोजन, वस्त्र एवं पाठ्य सामग्री भी उन्हें विद्यालय की ओर से देने की व्यवस्था है। यह सब समाज के सहयोग से चल रहा है। इस प्रकार के अनेक विद्यालय वनवासी क्षेत्रों में चल रहे हैं। समाज का भरपूर सहयोग हमें प्राप्त हो रहा है।

शिक्षा व्यवसाय नहीं, मिशन

एक बार उत्तर प्रदेश के एक नगर में भाऊराव आचार्यों की बैठक ले रहे थे। विभिन्न विषयों पर चर्चा चल रही थी। चर्चा के बीच में एक आचार्य ने खड़े होकर कहा, 'शिशु मंदिरों के आचार्यों को वेतन कम मिलता है। दूसरी ओर शासकीय एवं अनुदान प्राप्त विद्यालयों में पर्याप्त वेतन मिलता है। ऐसी स्थिति में हम कम वेतन पर कार्य कैसे करें? इस कारण से कभी-कभी मन विचलित हो जाता है'। भाऊराव ने अत्यन्त धैर्य पूर्वक उस आचार्य की बात सुनकर जो कहा वह विद्या भारती के सभी आचार्यों एवं कार्यकर्ताओं के लिए सदैव के लिए पाथेय बन गया। उन्होंने कहा, 'शिक्षा हमारा व्यवसाय नहीं, हमारे जीवन का व्रत (मिशन) है। हम वेतनभोगी अध्यापक मात्र नहीं हैं। एक ध्येय एवं आदर्शों के प्रति हमने अपना जीवन समर्पित किया है। इस भाव को लेकर ही हमारे आचार्य बन्धुओं को कार्य करना चाहिए। विद्या भारती का कार्य ऐसे ही समर्पित आचार्यों के बल पर चल रहा है'।

इस बैठक के थोड़ी देर पश्चात् भाऊराव जी कुछ प्रबन्धकों एवं प्रदेश समिति के सदस्यों के बीच में बैठे अनौपचारिक बातचीत कर रहे थे। उस समय उन्होंने आचार्यों के वेतन का विषय निकाला। भाऊराव ने कहा, 'हमें आचार्य को अधिक से अधिक वेतन देना चाहिए।' एक प्रबन्धक ने प्रश्न किया, 'कितना देना चाहिए?' भाऊराव ने कहा, 'हमें इतना देना चहिए कि आचार्य यह अनुभव करें कि हमारे प्रबन्धक इससे अधिक वेतन देने की स्थिति में नहीं है। हमें उन्हें यह भी अनुभव कराना चाहिए कि शिशु मंदिर सरकारी अनुदान नहीं लेते। साथ ही समाज के मध्यम वर्ग के बालक ही हमारे यहाँ पढ़ने आते हैं अतः शुल्क बढ़ाने की भी एक सीमा है'। भाऊराव ने इस बात का भी आग्रह किया कि हमें आचार्य के साथ आत्मीयता एवं पारिवारिक सम्बन्ध रखना चाहिए। भाऊराव के इस उत्तर से सभी आचार्य एवं प्रबन्धकों के मुख पर सन्तोष एवं समाधान झलकता हुआ स्पष्ट दिखाई दे रहा था।

संगठन शास्त्र के कुशल पुरोधा

विद्या भारती की बैठकों में भाऊराव सदा एक बात कहा करते थे- 'देखो भाई, मैं शिक्षाविद् नहीं हूँ, हाँ संगठन शास्त्र का तज्ञ अवश्य हूँ'। वास्तव में वे संगठन शास्त्र के पुरोधा थे। व्यक्ति के अद्भुत पारखी थे। वे व्यक्ति के गुणों के द्रष्टा थे तथा उसकी योग्यता एवं रुचि के अनुरूप उसको दायित्व देते थे। कार्यकर्ता के दोषों के निवारण के लिए वे पितृतुल्य अन्तःकरण से मौन प्रयास करते थे। दायित्व देने के पश्चात् कार्यकर्ता के कार्य में हस्तक्षेप कभी नहीं करते थे। उसकी समस्याओं को धैर्यपूर्वक सुनते थे तथा उसका समाधान भी करते थे। किन्तु 'भाऊराव ने मेरी बातें धैर्यपूर्वक, शान्तचित्त से सुनीं' इसी से कार्यकर्ता के मन को सबसे बड़ा समाधान मिलता था। कार्यकर्ताओं के सामूहिक निर्णयों का वे सदा अनुमोदन ही नहीं आदर भी करते थे। अनेक बार उनके पास कुछ बातों में उनका अभिमत जानने के लिए जाना होता था। उस समय उनका एक ही उत्तर होता था, 'आप लोग मिलकर जो निर्णय करोगे वह मुझे मान्य है'।

भाऊराव सदैव नवीन प्रयोग करने के लिए कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित करते थे। विद्या भारती के एक वरिष्ठ कार्यकर्ता ग्रामीण शिक्षा के क्षेत्र में नवीन प्रयोग करने में जुटे हैं। उनकी संकल्पनाओं से बहुत कम लोग सहमत होते हैं। कुछ बातें तो उनकी विचित्र ही लगती हैं। इस कारण अनेक कार्यकर्ता उनसे दूर भागते हैं। किन्तु भाऊराव उनकी बातों को अत्यन्त धैर्यपूर्वक सुनते थे, उन्हें आवश्यक परामर्श भी देते थे, उन्हें नवीन प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। वे कहते थे, 'विद्या भारती में ऐसे कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है जो नवीन प्रयोग करने में रुचि रखते हैं। इसी से शिक्षा में परिवर्तन लाया जा सकता है'।

भाऊराव ने व्यक्तियों को हमेशा कार्य से जोड़कर रखा, कभी किसी को टूटने नहीं दिया। अनेक बार ऐसे प्रसंग आये हैं जब किसी कार्यकर्ता का व्यवहार असहनीय हो जाता था तो हम लोग भाऊराव के पास पहुँचते और कहते, 'भाऊराव, अब तो इस कार्यकर्ता को दायित्व से मुक्त करना आवश्यक हो गया है'। वे कहते 'नहीं, हमें व्यक्ति को जोड़ना है, तोड़ना नहीं'। थोड़े दिन बाद पता लगता, भाऊराव ने उस कार्यकर्ता को, जिससे सब मुक्ति चाह रहे थे, नवीन दायित्व दे दिया है। ऐसे अनेक कार्यकर्ता भाऊराव की इसी नीति के कारण आज भी सक्रिय हैं अन्यथा वे कभी के संगठन से दूर चले गये होते।

गत कुछ वर्षों से भाऊराव विद्या भारती की बैठकों में प्रायः यह बोला करते थे, 'विद्या भारती में मेरा कार्य तो पूरा हो गया। मुझे कार्यकर्ताओं की टीम खड़ी करनी थी, वह मैंने खड़ी कर दी। अब मुझे पूर्ण विश्वास है

कि इस टीम के द्वारा विद्या भारती का कार्य निरन्तर सही दिशा में गतिशील रहेगा'। भाऊराव ने अपनी इसी कार्य शैली के माध्यम से अनेक संगठनों को खड़ा किया।

प्रेरणा के अनन्त स्रोत

भाऊराव जी अब हमारे बीच में नहीं रहे। यद्यपि यह सत्य है कि संघ से प्रेरित संगठन व्यक्ति आधारित नहीं होते। विद्या भारती भी इसका अपवाद नहीं है। किन्तु फिर भी भाऊराव का अभाव विद्या भारती को बहुत समय तक खटकता रहेगा। बैठकों एवं कार्यक्रमों में उनके दर्शन नहीं होंगे और न उनकी गम्भीर वाणी सुनने को मिलेगी। किन्तु उनके प्रेरणास्पद वचनामृत एवं दिशा-निर्देशन सदैव हमारे मानस में प्रतिध्वनित होते रहेंगे। वे ही विद्या भारती की प्रगति के सम्बल बनकर 'चरैवेति, चरैवेति' की प्रेरणा सदा देते रहेंगे।

भाऊराव जी! आपको हमारा शत शत प्रणाम ।

❑ (विद्या भारती प्रदीपिका, सितम्बर १९९२)

लज्जाराम तोमर : शिक्षाविद; संगठन मंत्री, विद्या भारती।

अनादि, अतीत, अस्थिर, वर्तमान तथा चिरंतन भविष्य की कालजयी सनातन संस्कृति के हम पुजारी हैं।

– दीनदयाल उपाध्याय

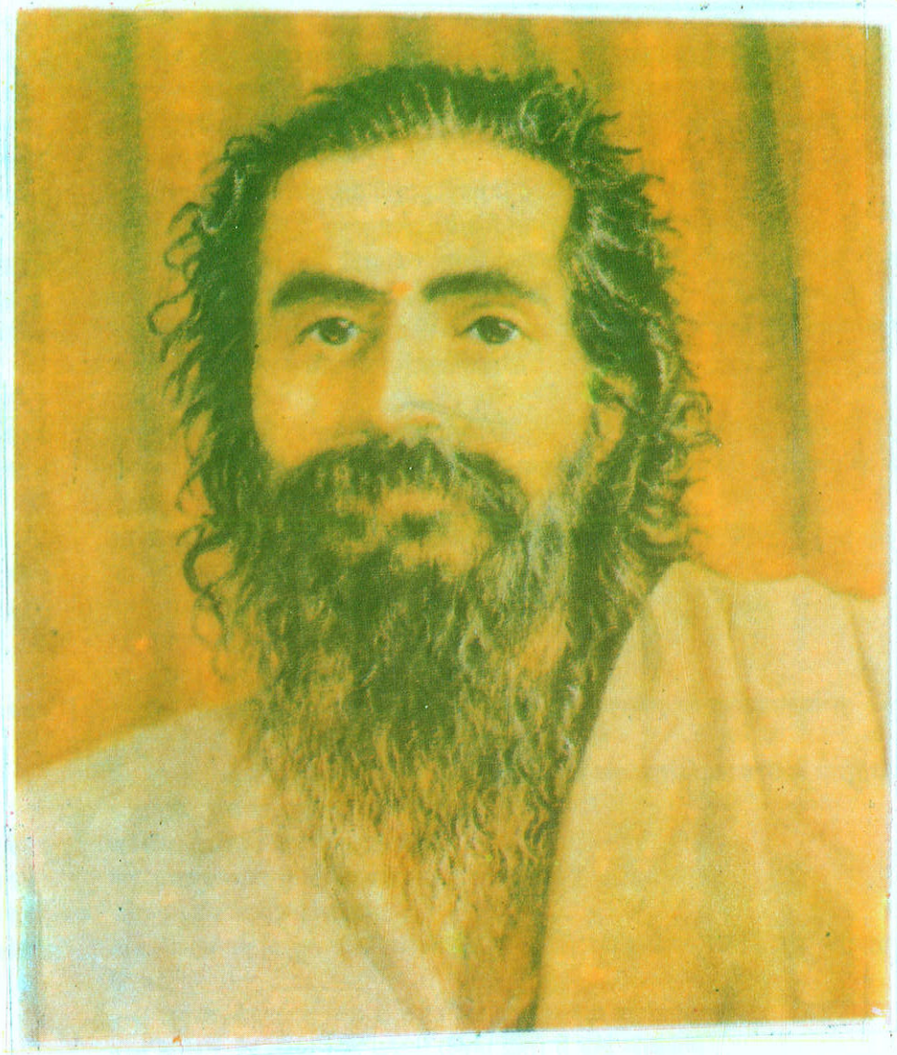

जीवन-क्रम

१९०६	१६ फरवरी (सोमवार, माघ कृष्ण ११, शकसंवत् १८२७), नागपुर में जन्म।
१९१५	प्राथमिक चौथी कक्षा उत्तीर्ण, नर्मदा-विभाग (स्वातंत्र्यपूर्व मध्य प्रदेश) में प्रथम, छात्रवृत्ति प्राप्त।
१९२२	मैट्रिक' परीक्षा उत्तीर्ण।
१९२४	इण्टर-मीडियट परीक्षा उत्तीर्ण, अंग्रेजी विषय में प्रथम, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश।
१९२६	बी.एससी. उत्तीर्ण।
१९२८	'एम०एस०सी०' उत्तीर्ण। जीव-विज्ञान विषय में प्रथम।
१९२९	मद्रास के मत्स्यालय में अनुसन्धान। अप्रैल में नागपुर पुनरागमन।
१९३१	१६ अगस्त, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन प्रारम्भ। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से सम्बन्ध।
१९३३	जून, नागपुर में कानून के अध्ययन का प्रारम्भ। श्री रामकृष्ण आश्रम से विशेष सम्बन्ध।
१९३४	नागपुर की तुलसीबाग संघ शाखा के कार्यवाह पद पर नियुक्ति। संघकार्य हेतु बम्बई प्रवास। अकोला (विदर्भ) संघ-शिक्षा-वर्ग में सर्वाधिकारी।
१९३५	'एल.एल.बी. उत्तीर्ण।
१९३६	अक्टूबर, सारगाछी (बंगाल) के लिए प्रस्थान।
१९३७	१३ जनवरी, श्री स्वामी अखण्डानन्द जी द्वारा मकर-संक्रमण के शुभ पर्व पर 'रामकृष्ण संघ' की दीक्षा। ७ फरवरी, श्री स्वामी अखण्डानन्द जी का महानिर्वाण। नागपुर पुनरागमन।
१९३८	मई, नागपुर संघ-शिक्षा-वर्ग के सर्वाधिकारी।
१९३९	मार्च, संघ-कार्यार्थ कलकत्ता के लिए प्रस्थान। मई, नागपुर संघ-शिक्षा-वर्ग के सर्वाधिकारी। १३ अगस्त, सर कार्यवाह पद पर नियुक्ति।
१९४०	२१ जून, संघ संस्थापक एवं आद्य सरसंघचालक डॉ० हेडगेवार जी का महानिर्वाण। ३ जुलाई, श्री गुरुजी की सरसंघचालक पद पर नियुक्ति २१ जुलाई, डॉक्टर साहब के मासिक श्राद्ध दिवस पर कार्यकर्ताओं का अखिल भारतीय सम्मेलन। ४ अगस्त, संघ के गणवेष एवं संचलन पर प्रतिबन्ध।
१९४१	सरसंघचालक के रूप में भारत भ्रमण।
१९४२	मई, प्रचारक-योजना का व्यापक रूप में आयोजन।
१९४३-४७	संघकार्य का व्यापक विस्तार।
१९४७	मार्च, पंजाब का विस्तृत दौरा, 'पंजाब रिलीफ कमेटी' की स्थापना, तीन हजार सहायता शिविरों का संचालन । ५-८ अगस्त, हैदराबाद तथा कचारी (सिंध प्रांत) में भव्य कार्यक्रम। ५-८ अगस्त, हैदराबाद तथा कराची (सिन्ध प्रांत) में भव्य कार्यक्रम। १५ अगस्त, स्वतंत्रता प्राप्ति। १२ सितम्बर, सरदार पटेल एवं महात्मा गाँधी से भेंट। १७-१९ अक्टूबर, श्रीनगर में महाराजा हरिसिंह से भेंट।
१९४८	३० जनवरी, महात्मा जी का दुःखद निधन। १ फरवरी नागपुर में गिरफ्तारी। ४ फरवरी, संघ का पर प्रतिबन्ध। ५ फरवरी, संघ का विसर्जन, कार्यकर्ताओं की अन्धाधुन्ध गिरफ्तारी। ६ अगस्त कारागार से मुक्ति।

१७ अगस्त दिल्ली के लिए प्रस्थान।
१२ नवम्बर, दिल्ली में पुनः गिरफ्तारी।
१४ नवम्बर, दिल्ली से नागपुर कारागार (बाद में सिवनी कारागार)।
६ दिसंबर, सरकार्यवाह श्री भैयाजी दाणी के नेतृत्व में सत्याग्रह के रूप में संघ शाखाओं का पुनरारम्भ।

१९४९ २१ जनवरी, सत्याग्रह स्थगित।
२२ जनवरी, श्री टी. आर. वेंकटरामशास्त्री, मद्रास एवं श्री ग. वि. केतकर, पुणे, द्वारा मध्यस्थता।
१२ जुलाई, संघ पर से प्रतिबन्ध हटा।
१३ जुलाई, कारागार से मुक्ति, नागपुर आगमन।
१६ जुलाई, देशव्यापी परिक्रमा का आरम्भ।
२१ अगस्त, दिल्ली में अभूतपूर्व स्वागत।

१९५० ८ फरवरी, कलकत्ता में 'वास्तुहारा सहायता समिति' की स्थापना।
१५ अगस्त, असम के भूचाल पीड़ितों के लिए सहायता कार्य।

१९५१ बिहार में 'अकालग्रस्त सहायता समिति' की स्थापना।

१९५२-५३ गोहत्या निरोध आन्दोलन।
७ दिसंबर, दो करोड़ हस्ताक्षरों से युक्त निवेदन राष्ट्रपति डॉ०राजेन्द्र प्रसाद के समक्ष प्रस्तुत।

१९५४ २१ जुलाई, पिता का निधन।

१९६० चीन के आक्रमण की संभावना का तमिलनाडु के भाषण में संकेत।

१९६२ ५ अप्रैल, वर्ष प्रतिपदा पर नागपुर के रेशमबाग संघस्थान पर डॉ० हेडगेवार स्मृति-मन्दिर का उद्घाटन।
१२ अगस्त, माता का निधन
अक्टूबर, श्री स्वामी विवेकानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर 'विवेकानन्द शिला स्मारक समिति' की स्थापना।

१९६४ श्रीकृष्णाष्टमी, विश्व हिन्दू परिषद की स्थापना (सांदीपनि आश्रम, बंबई)।

१९६५ भारत-पाक युद्ध, प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री द्वारा आहूत राष्ट्रीय नेताओं की बैठक में योगदान।

१९६६ जनवरी, प्रयाग में विश्व हिन्दू परिषद का ऐतिहासिक महासम्मेलन।

१९६८ ११ फरवरी, पं० दीनदयाल उपाध्याय की हत्या।

१९६९ सितंबर, ब्रह्मकपाल में आत्म-श्राद्ध।

१९७० १ जुलाई, बंबई में कैंसर का ऑपरेशन।

१९७२ २० अगस्त, दिल्ली में 'दीनदयाल शोध संस्थान' का उद्घाटन।
२८ अक्टूबर से २ नवम्बर, ठाणे में कार्यकर्ताओं का महत्वपूर्ण अभ्यास-वर्ग।

१९७३ ४ फरवरी, श्री गुरुजी का बंगलौर में अन्तिम सार्वजनिक भाषण।
१४ मार्च, नागपुर आगमन।
२२ से २५ मार्च, नागपुर में अखिल भारतीय कार्यकारी मण्डल एवं अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा की बैठक और समापन भाषण ('विजय ही विजय है')।
२ अप्रैल, आगामी व्यवस्था के संबंध में तीन पत्र लिखकर सीलबंद किये।
१६ से ३१ मई, संघ-शिक्षा-वर्ग के स्वयंसेवकों से बातचीत।
५ जून, रात्रि के नौ बजकर पांच मिनट पर महानिर्वाण (मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल ५, शकसंवत् १८९५)।

❐ श्री गुरु जी : समग्र दर्शन

शेष है केवल स्मृति...

राष्ट्र ही सर्वोपरि

कुछ वर्ष पूर्व पं० जवाहरलाल नेहरू, प्रधानमंत्री के रूप में इंगलैण्ड गये थे। उस समय वहाँ के समाजवादी कहलाने वाले भारतीय नागरिकों ने ही काले झण्डे दिखाकर अपना विरोध प्रकट किया। यह समाचार सुनते ही श्रीगुरुजी बहुत बेचैन हुए। कार्यकर्ताओं के सामने बोलते समय उन्होंने कहा, "यह कोई ठीक बात नहीं हुई। देश के अन्तर्गत व्यवहार में किसी प्रश्न पर भिन्न मत हो सकते हैं और शासन का विरोध भी किया जा सकता है। किन्तु भारत के बाहर भारतीय नागरिकों द्वारा ही प्रधानमंत्री जी का अवमान किया जाना अनुचित है, अत्यन्त गर्हणीय है।"

राष्ट्रीय अस्मिता के विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए श्रीगुरु जी ने इंग्लैण्ड के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री विन्स्टन चर्चिल का उदाहरण भी दिया। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् चर्चिल अल्पमत में, अर्थात् विरोधी दल में थे। ऐसी स्थिति में किसी कार्यवश जब वे अमेरिका गये, तब वहाँ के पत्रकारों ने उनसे सत्तारूढ़ दल के सम्बन्ध में टेढ़े-मेढ़े प्रश्न पूछे। उनके उत्तर में चर्चिल ने कहा,"ठीक है कि देश में मैं विरोधी दल का नेता हूँ। किन्तु यहाँ, अमेरिका में मैं 'हर मैजेस्टी' की सरकार का एक निष्ठावान प्रतिनिधि मात्र हूँ।" यह आचरण संघ के स्वयंसेवकों के लिए ही नहीं, सबके लिए अनुकरणीय है।

ऐसा ही एक और उदाहरण दिया जा सकता है। एक बार श्रीगुरुजी की एक बैठक में मेक्सिको वाले ओलिम्पिक्स का विषय उठा। उस वर्ष अपनी हॉकी टीम ऑस्ट्रेलिया से हार गयी थी। उस हार-जीत का विश्लेषण करते हुए श्रीगुरुजी ने कहा,'अपने खिलाड़ियों को मेक्सिको जैसे ऊँचे प्रदेश में खेलने का अभ्यास नहीं था। अतः उनका दम उखड़ गया होगा और वे थक गये होंगे। ऑस्ट्रेलिया के खिलाड़ियों से समुद्र की सतह से काफी ऊँचाई पर खेलने का अभ्यास करवाया गया था और वह भी बहुत पहले से। विरल हवा एवं विपरीत परिस्थिति में खेलने का ऐसा अभ्यास यदि हमारे खिलाड़ियों से कराया गया होता, तो वे निश्चय ही खेल में विजयी होते।'

किन्तु इस ओर ध्यान भी कौन देता है? जब अपने खिलाड़ी विदेश से लौटे तब उनके स्वागत के लिए हॉकी-फेडरेशन का एक भी पदाधिकारी बम्बई में उपस्थित न था। इस सम्बन्ध में नाराजगी व्यक्त करते हुए श्रीगुरुजी ने कहा, 'अपने खिलाड़ी हार गये, तो क्या विदेश से लौटने पर उनका स्वागत भी नहीं करना चाहिए? इससे क्या खिलाड़ीपन प्रकट होता है?'

राष्ट्र जीवन से एकरूप होने पर किसी भी घटना को लेकर राष्ट्रीय विचार ही प्रकट होते हैं। श्रीगुरुजी की यह सावधानी जिस प्रकार खेल के सम्बन्ध में, उसी प्रकार किसी भी विषय में दृष्टिगत हुआ करती थी।

ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब व्यक्ति और संस्था की प्रतिष्ठा की चिन्ता न करके हुए उन्होंने राष्ट्र के हितों को सर्वोपरि महत्व दिया है। सन् १९४८ में जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर प्रतिबंध लगा, उस समय यदि वे चाहते तो शासन की खुली अवज्ञा करके अपनी शक्ति का परिचय दे सकते थे, किन्तु उन्होंने संघकार्य का विसर्जन करके अपनी देशभक्ति का परिचय दिया। प्रतिबंध उठने के पश्चात् स्थान-स्थान पर उनका भव्य स्वागत हुआ। दिल्ली में रामलीला मैदान पर जो सभा हुई उसका आदि और अन्त नहीं दिखता था। बड़े से बड़े सन्त के अहंकार को जगा देने के लिए भी वह दृश्य पर्याप्त था। जब गुरुजी बोलने को खड़े हुए, उन्होंने कहा, "यदि अपना दाँत जीभ काट ले तो मुझा मार कर दाँत तो तोड़ा नहीं जाता।" लोग चकित रह गये। उन्होंने आशा की थी कि गुरुजी सरकार के अत्याचारों और अन्याय की निन्दा करते हुए उसे खूब खरीखोटी सुनायेंगे। किन्तु उस महापुरुष की गहराई को वे नाप नहीं पाए। वहाँ तो सबके लिए आत्मीयता है।

-श्री दीनदयाल उपाध्याय

जम्मू-कश्मीर के विलय में योगदान

केन्द्रीय गृहमन्त्री सरदार पटेल ने श्री मेहरचन्द महाजन, दीवान, जम्मू कश्मीर रियासत, से हिन्दुस्तान के साथ विलय (accession) करने के लिए महाराजा हरिसिंह को तैयार करने को कहा था। श्री मेहरचन्द

महाजन ने पू० श्रीगुरुजी को संदेश पहुँचाया कि वे महाराजा से मिलकर उन्हें इस विलय के लिए तैयार करें। श्री महाजन ने ही महाराजा और पू० श्रीगुरुजी की यह भेंट तय की थी। भेंट १८ अक्टूबर १९४७ को हुई।

महाराजा का कहना था, "मेरी स्टेट पूरी तरह से पाकिस्तान पर अवलम्बित है। रास्ते सियालकोट, रावलपिण्डी की ओर से हैं। रेल सियालकोट की ओर से है। मेरे लिए हवाई अड्डा लाहौर का है। हिन्दुस्थान के साथ मेरा किस तरह संबंध बन सकता है?"

पू० श्रीगुरुजी ने समझाया, "आप हिन्दू राजा हैं। पाकिस्तान से विलय करने पर आप और आपकी हिन्दू प्रजा को भीषण संकटों से संघर्ष करना होगा। यह ठीक है कि अभी हिन्दुस्तान से सड़क, रेल या हवाई मार्ग का कोई संबंध नहीं है। किन्तु, यह सब शीघ्र ही ठीक हो जाएगा। आपका और जम्मू कश्मीर रियासत का भला इसी में है कि आप हिन्दुस्तान से विलय करें।"

इस प्रकार जम्मू कश्मीर के भारत-विलय में पू० श्रीगुरुजी का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा।

-माधवराव मुले

स्वदेशी

स्वतंत्रता संग्राम काल में एक मन्त्र ने सभी को प्रभावित किया था। वह था 'हृदय से स्वदेशी बनें'। किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर काल में उसका विस्मरण होने लगा। वाह्य रूप से क्वचित् स्वदेशी का आग्रह दीखता भी, किन्तु अन्तरंग में विदेशियों के अन्धानुकरण की मानो होड़-सी लगी। भाषा, वेशभूषा, शिक्षा, सभ्यता, शिष्टाचार आदि आचरण के सभी पहलू अभारतीय छाया से व्याप्त हो गये। स्वदेशी अस्मिता जगाने की ओर, परम्पराओं का पोषण करने की ओर क्वचित ही किसी का ध्यान जाता था। परकीय आक्रमणों के चिन्ह नष्ट करने की प्रबल आकांक्षा कहीं दिखाई न देती थी। ऐसे विपरीत काल में निरन्तर सावधान रह कर प्रयत्नशील रहने वालों में श्रीगुरुजी का शीर्ष स्थान होगा। इसके उदाहरण कितने दिए जाएँ? वे तो पग-पग पर दिखाई देते हैं।

स्वदेशी की ओर स्वयंसेवकों और यथासम्भव दूसरों का भी ध्यान आकर्षित करने का छोटा-सा अवसर भी श्रीगुरुजी छूटने नहीं देते थे। हाथ-पैर धोने के लिए यदि विदेशी कम्पनी का साबुन दिया जाता, तो वे उसको अलग रखते और मिट्टी या राख से निभा लेते। 'विदेशी साबुन से मिट्टी, या राख या शिकाकाई ही अधिक अच्छी है' - इस प्रकार के सौम्य मार्गदर्शन की सुखद वर्षा यजमान को प्रायः प्राप्त होती थी। यथासम्भव औचित्य के साथ यह प्रसंग स्वदेशी विचारों की छाप छोड़ जाता था।

विवाह के निमित्त श्रीगुरुजी को अनेक स्थानों से आमन्त्रण मिलते। ऐसे समारोहों में वधू, वर, बटु या यजमान तथा स्वागत-सत्कार में सम्मिलित अन्य लोगों के ठाट-बाट प्रायः विदेशी हुआ करते हैं। श्रीगुरुजी इस पर बहुत नाराज रहते थे। ऐसी स्थिति में वे नवदम्पति या उस बटु को दूर से ही आशीर्वाद देते और पान-सुपारी आदि औपचारिकता के लिए न रुकते हुए निकल जाते थे। समारोहों में अकारण ही अंग्रेजी में बात करने वाले लोगों को अपनी मातृभाषा का स्मरण दिलाते, तथा बिना अत्यधिक आवश्यकता के वे अंग्रेजी में बात भी न करते थे।

बहुत लोगों को अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का बहुत आकर्षण रहता है। प्रायः ऐसे ही लोग श्रीगुरुजी की राष्ट्रीय एवं स्वदेशी विचारधारा पर संकुचितता का आरोप लगाते हैं। उनके इस आक्षेप के उत्तर में श्रीगुरुजी कहा करते, 'जब तक राष्ट्रीय विचार ठीक-ठाक नहीं हैं, तब तक अंतर्राष्ट्रीय विचार व्यर्थ ही हैं।' अपनी इस बात की पुष्टि में वे श्रेष्ठ रूसी राष्ट्रनेता मार्शल स्टालिन का उदाहरण देते थे। स्टालिन के शासनकाल में जब भी रूस पर आपत्तियाँ आ पड़ीं, तब उन्होंने विश्व एकता का नारा छोड़ दिया और जनता का उनके पूर्वजों एवं पितृभूमि रूस के नाम पर आह्वान किया। जनता की अस्मिता का जो जागरण उन्हें करना पड़ा, उसका प्रमुख आधार राष्ट्रीय परम्परा ही था। वास्तव में तो साम्यवाद या समाजवाद में राष्ट्र और राष्ट्रवाद के लिए स्थान नहीं है, किन्तु उस राष्ट्रवाद की प्रेरणा से ही मार्शल स्टालिन ने राष्ट्रीय उत्थान के कार्य में लाभ उठाया था।

स्वदेशी के विषय में श्रीगुरुजी ने अपने एक पत्र में मार्मिक उल्लेख किया है। वह विशेष विचारणीय है। वे कहते हैं, 'अपना समाज यदि अन्यों की कृपा पर, विचारों पर, यहाँ तक कि अन्न पर भी जीवित रहता है, तो उसका पतन ही होगा, उसे अपनी प्रगति करने के लिए उत्साह ही न बचेगा'। 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' का गीता-वचन यही तो है।

हिन्दी और देशभक्ति

जनरल के०एस० करिअप्पा २१ नवम्बर १९५९ को मैसूर में पू० श्रीगुरुजी से मिले। कुछ समय तक भाषा-विवाद पर तर्क उपस्थित होते रहे। जनरल करिअप्पा अंग्रेजी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाए रखने के पूर्ण समर्थक थे। उन्होंने बातचीत के दौरान पू० गुरुजी से सीधा सवाल किया, 'फिर आपका क्या मतलब है कि अंग्रेजी बोलने वालों में हिन्दी बोलने वालों से कम देशभक्ति का भाव रहता है?' पू० श्रीगुरुजी ने उतनी ही दृढ़ता से उत्तर दिया, "बाकी सब गुणों में दोनों के बराबर रहते हुए यदि बोलने वाला अंग्रेजी में बात करता है तो निश्चित ही हिन्दी में बोलने वाले से देशभक्ति का भाव उसमें कम है।"

इस खरे और कड़े उत्तर से जनरल करिअप्पा स्तम्भित हो गये और उनके सब तर्क शान्त हो गये

-हो०वे० शेषाद्रि

मंदिर प्रवेश के अधिकारी कौन?

जनवरी १९६४ में श्रीगुरुजी कालीकट आये थे। वहां स्वामी कृष्णानंद जी से उनकी भेंट हुई। अनेक विषयों पर बातचीत हुई। उसी में मंदिरों में अहिंदुओं के प्रवेश का भी प्रश्न आया। स्वामी जी को लग रहा था कि ईसाई और मुसलमानों को मंदिरों में प्रवेश क्यों न करने दिया जाए, जब कि मस्जिदों व गिरिजाघरों में हिंदुओं का खुला प्रवेश है। स्वामी जी का मत था कि मंदिर प्रवेश के संदर्भ में मंदिरों की शुचिता और स्वच्छता बनाये रखने की दृष्टि से प्रवेशार्थियों के लिए स्वच्छता, धुले हुए कपड़े आदि कुछ नियम बना कर उन्हें प्रवेश दिया जा सकता है। उन्होंने इस विषय में श्रीगुरुजी की राय जाननी चाही।

श्रीगुरुजी ने कहा, "सभी लोगों को मंदिर प्रवेश की अनुमति देना कोई कठिन बात नहीं है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मंदिर भगवान् का स्थान है और प्रवेशार्थियों की भी यही मान्यता होनी चाहिए।"

"जहाँ तक हिन्दू का प्रश्न है, वह मस्जिदों और गिरिजाघरों के प्रति भी आदरभाव रखता है, क्योंकि वह यह मानता है कि ये स्थान भी ईश्वर के ही स्थान हैं। जब वह मस्जिद या गिरिजाघर में जाता है, तो वह अपनी आँखें बंद कर अपने इष्ट देवता की प्रार्थना यथोचित श्रद्धा के साथ कर सकता है और संभवतः इसीलिए मुसलमानों और ईसाइयों को मस्जिदों और गिरिजाघरों में हिन्दुओं के प्रवेश पर कोई आपत्ति नहीं हैं। किन्तु क्या मुसलमान और ईसाई यह भावना रखते हैं कि मंदिर भी भगवान् का स्थान है? श्रद्धा के साथ क्या वे वहाँ जा सकते हैं, वहाँ घुटने टेक कर स्वयं के इष्टदेवता ईसा या पैगंबर की प्रार्थना कर सकते हैं? मंदिरों के प्रति उनका यदि यह दृष्टिकोण हो तो उन्हें मंदिर-प्रवेश की अनुमति देने में वस्तुतः कोई कठिनाई न होती। परन्तु संपूर्ण इतिहास हमें बताता है कि उनका यह दृष्टिकोण नहीं है। संपूर्ण देश में जो मंदिर गिराये गये, मूर्तियाँ अपवित्र की गईं, वे मुसलमानों और ईसाइयों के दृष्टिकोण के पर्याप्त प्रमाण हैं। उनकी यह भावना है कि मंदिर ऐसे स्थान हैं जो नष्ट करने योग्य ही हैं। अतः क्या हमें इस बात का विचार नहीं करना चाहिए कि विध्वंसकारियों को भगवान् के मंदिर में मुक्त प्रवेश दिया जाए अथवा नहीं?"

'अहं' का त्याग

१९३८ के शारीरिक शिक्षण शिविर में आद्य सरसंघचालक परम पूज्य डॉ० हेडगेवार की सेवा में श्रद्धा निधि भेंट की जाने वाली थी। प्रत्येक ने अपनी श्रद्धा के अनुसार निधि में कुछ न कुछ दिया, किन्तु यह किसी को ज्ञान न हो सका कि किसने क्या दिया है। एक स्वयंसेवक ने अन्य कुछ न देते हुए श्रद्धास्वरूप घड़ी की स्वर्ण-चेन डॉक्टरजी की सेवा में भेंट की। बस, चेन भेंट करने वाला स्वयंसेवक प्रशंसा का पात्र तथा उस दिन का हीरो बन गया। सर्वाधिकारी के नाते समारोप भाषण करते हुए श्रीगुरुजी ने उक्त चेन का उल्लेख किया और कहा, "मैं मानता हूँ, चेन भेंट करने वाले स्वयंसेवक के अन्दर में डॉक्टर जी के प्रति अत्यंत प्रेम, श्रद्धा एवं आदर है, किन्तु वह अभी पूरा स्वयंसेवक नहीं। उसमें कहीं न कही अहं छिपा हुआ है। जो निधि दी गयी है, उसमें किसी का व्यक्तित्व समन्वित नहीं। उस निधि के साथ न देते हुए अलग से देने की वृत्ति के मूल में स्वव्यक्तित्व-पृथकता और अहंकार का भाव छिपा है।" श्रीगुरुजी के ये शब्द सुनकर हम लोगों को एकदम भारी धक्का लगा, किन्तु संघ का स्वयंसेवक बनने के लिए निज व्यक्तित्व संघ में कितना विलीन करना पड़ता है, इसका एक ऐसा पाठ मिला, जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।

-पं० दीनदयाल उपाध्याय

मैं उस महापुरुष का मित्र रहा

मैं एक निष्ठावान गाँधीवादी हूँ तथा सर्वोदय व इसी प्रकार के अन्य आंदोलनों से आज भी सम्बद्ध हूँ। मुझे गांधी जी के बहुत निकट रहने का अवसर मिला और उनके व्यक्तित्व का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा है। इस पृष्ठभूमि में यह स्वाभाविक है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रति मेरा दृष्टिकोण पूर्वाग्रहों से दूषित था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अनुशासन, चारित्र्य और सादगी का मैं प्रशंसक तो था किन्तु मैं यह मानकर चलता रहा कि संघ के विचार कट्टर हिन्दूवादी हैं। इसलिए संघ के कट्टर हिन्दूवादी विचार का मैं विरोध करता था।

जब गाँधी जी की हत्या हुई तब मैं कोट्टयम में था। तत्काल दिल्ली जाने की मेरी इच्छा थी इसलिए मुझे अपना पद छोड़ना पड़ा। मैं १६ फरवरी १६४८ को दिल्ली पहुँचा और वहाँ मैं पत्रकार और गांधीभक्त के रूप में विभिन्न कार्यक्रमों में सम्मिलित हुआ। उस समय संपूर्ण वातावरण संघविरोधी भावनाओं से तनावपूर्ण बना हुआ था किन्तु मेरे हृदय के किसी कोने में यह भावना घर किए हुए थी कि इस निघृण कृत्य में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का हाथ नहीं है। अतः मैंने बैतूल या सिवनी, जहां श्रीगुरुजी को बंदी बनाकर रखा गया था, जाकर प्रत्यक्ष श्रीगुरुजी से मिलने का निश्चय किया। इस मामले में संघ अथवा श्रीगुरुजी की भूमिका के विषय में श्रीगुरुजी से सीधी बातचीत करने का मेरा निश्चय था। मैं सिवनी गया किन्तु वहाँ के कारागार के अधिकारियों ने मुझे श्रीगुरुजी से मिलने की अनुमति नहीं दी। उन्होंने यह अभिवचन अवश्य ही दिया कि मेरे आगमन की सूचना वे श्रीगुरुजी तक पहुँचा देंगे।

मैं केरल लौटकर फिर से 'मलयाला मनोरमा' के संपादन कार्य में लग गया। समय के साथ बातें विस्मृति में विलीन हो गई।

सन् १६६५ की बात है। श्रीगुरुजी पालघाट में अपनी आयुर्वेदिक चिकित्सा करा रहे थे। जो पारंगत आयुर्वेद चिकित्सक श्रीगुरुजी की संपूर्ण चिकित्सा कर रहे थे वे मेरे निकटवर्ती रिश्तेदार थे। उन्हीं से मुझे पता चला कि श्रीगुरुजी पालघाट में हैं। स्वाभाविक ही मैं उनसे मिलने गया। श्रीगुरुजी से मेरा परिचय कराया जाते ही उन्होंने मुझ से प्रश्न किया, 'क्या आप वही पिशाद्रि हैं जो मुझसे मिलने के लिए सिवनी कारागार आये थे और निराशा लेकर लौट गये थे?" मैं उनकी स्मरणशक्ति को देख कर दंग रह गया।

इस भेंट में राष्ट्रीय महत्व के अनेकों विषयों पर बातचीत हुई और उनके अधिकांश विचारों से मैंने अपने आपको पूर्णतः सहमत पाया। मैंने संघविषयक अपनी धारणाएं, विशेषतः संघ की विचारधारा में सन्निहित मुस्लिम विरोधी रुख संबंधी अपनी शंकाएं उनके सामने रखीं। श्रीगुरुजी ने मुझ से प्रतिप्रश्न किया, "आपको ऐसा किसने बताया? यह सब झूठ है। वस्तुतः हिन्दू संगठन की संघ की विचारधारा भावात्मक है और संघ मुस्लिम-विरोधी या अन्य किसी का भी विरोधी कदापि नहीं है।"

हिन्दुओं के मुसलमानों संबंधी दृष्टिकोण को जब वे मुझे समझाने लगे तो मैंने अनुभव किया कि वे मुसलमानों को केवल राष्ट्रीय जीवनप्रवाह में, जिसे वे हिन्दू जीवनप्रवाह कहना श्रेयस्कर मानते हैं, लाना चाहते हैं।

उल्लेखनीय है कि श्रीगुरुजी ने संघ-विचार संबंधी प्रकाशित सामग्री आदि भाषण, प्रश्नोत्तर, चर्चा आदि - मुझे भिजवाने की व्यवस्था भी की, उन्हें पढ़कर मेरे सभी संदेह दूर हो गये।

इसके बाद श्रीगुरुजी जब कभी कोट्टयम आते, प्रांत संघचालक श्री ए० गोविन्द मेनन या जिला संघचालक श्री नारायण भट्ट के यहाँ मेरी उनसे मुलाकात होती। हम दोनों के बीच घनिष्ठ मैत्री-संबंध स्थापित हुए। मैंने अनुभव किया कि मैं एक महान् व्यक्ति के संपर्क में आया हूँ। संघ के कई कार्यकर्ताओं को इसकी जानकारी नहीं थी,इसलिए एक दो प्रसंग ऐसे भी आये जब उन्होंने मुझे उन तक जाने से रोका। ऐसे एक अवसर पर भीतर बैठे हुए श्रीगुरुजी ने मुझे रोके जाने की आहट पाई तो तुरंत उन्होंने संदेश भिजवाया कि मुझे आने दिया जाए। उस दिन मैंने प्रायः एक घंटे तक श्रीगुरुजी के साथ विभिन्न विषयों पर चर्चा की।

मेरी यह मान्यता है कि श्रीगुरुजी महान् हैं और उनका जीवन ध्येय यथार्थ में भारत का पुनरुज्जीवन है। गाँधी जी उनसे कुछ भिन्न थे क्योंकि उनका मार्ग भिन्न था, किन्तु दोनों के राष्ट्र पुनर्निर्माण संबंधी मूल सिद्धान्त तत्वतः थे और दोनों अनुयायियों और सहयोगी कार्यकर्ताओं की चिंता किया करते थे। यह कहना नितांत सत्य है कि राष्ट्रीय स्वयंसवक संघ के प्रत्येक कार्यकर्ता की पारिवारिक समस्याओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी श्रीगुरुजी रखते थे। उनका तत्त्वज्ञान संकुचित या सांप्रदायिक कदापि नहीं था। वे चाहते थे कि प्रत्येक भारतीय को, फिर वह किसी भी पंथ या जाति का हो, राष्ट्रीय जीवन प्रवाह में बिना सौदेबाजी किए मिलाया जाए। वे एक महान् ऋषि के समान लगते थे। वे भारतीय संस्कृति के साकार रूप थे। उनकी इच्छा थी कि अंततोगत्वा संस्कृत भारत की राष्ट्रभाषा बने। वे धर्मांध नहीं थे।

के.पी.के. पिशारि, संपादक मलयाला मनोरमा'

हमारा विद्यालय

✍ मनोज गुप्त सप्तम (क)

(बालकवि की अपने विद्यालय से रागात्मक संबंध जोड़ती एक प्रखरतम व्यंजना मात्र गंधर्वगान नहीं। सं०)

नवाबगंज रोड पर स्थित है आजाद नगर इक सुन्दर धाम।

उसमें है बसा हुआ अपना विद्यालय सुन्दर, पुण्यकाम ।।

आधार भूत यह ब्रह्मावर्त मण्डल पर स्थापित है,
लेकिन शासन भार प्रधानाचारय उपरि आधारित।
धनय भाग प्राचार्य हमारे जो मेधा के भण्डार हैं,
जिनकी अद्भूत सूझ-बूझ व स्मरण शक्ति अपार है।
अंग्रेजी के घण्टों में कक्षा में जब वह आते हैं,
सदाचार-व्यवहार की बातें हमको खूब बताते हैं,
धन्य हमारे गोविन्द जी जो शारीरिक करवाते हैं,
देह-सौष्ठव की माला में व्यायाम पुष्प गुँथवाते हैं।
धन्य हमारे शास्त्रीजी जो संस्कृताचार्य कहलाते हैं,
भारत की महिमा-मण्डित संस्कृति का ज्ञान कराते हैं,
धन्य हमारे कक्षाचार्यजी सम्पद हमें कराया करते हैं।
गणित विषय से मुक्ति प्राप्तकर सामाजिक विषय पढ़ाते हैं।
धन्य हमारे सुलखान सिंह जी जो हमको गणित पढ़ाते हैं,
श्री आनंद जी हमसे सुन्दर, सौम्य चित्र गढ़वाते हैं।
धन्य ओमशंकरजी जिनका वरद-हस्त हम पर रहता,
ज्ञान स्रोत जिनका विद्यालय वरद-हस्त हम पर रहता,
ज्ञान स्रोत जिनका विद्यालय में अखिल ही है बहता।
श्री सेण्डे जी कौतुभ और विनोद हमें दे जाते हैं।
श्री प्रकाश जी हमको जैविक रचना नित्य सिखाते हैं।
श्री प्रयाग जी हमसे नूतन नित्य प्रयोग करवाते हैं,
और बिहारीलाल मिश्र जी अंग्रेजी गीत गवाते हैं।

परिपूर्ण मानव

भारतीय जीवन सिद्धान्तों पर आज फिर से विचार करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई है। इसका कारण बड़ा स्पष्ट और सरल है। हमें पता है कि जब तक देश में एक परकीय राज्य था तब तक लोगों में अपना देश, अपना राष्ट्र, अपना स्वत्व - यह विचार प्रबल था। लोग यह भी समझते थे कि अपने राज्य के स्वातंत्र्य के लिए, पुनर्निर्माण के लिए सद्गुणी जीवन, निर्दोष जीवन, स्वार्थरहित तथा त्याग-तपस्या से भरा हुआ जीवन आवश्यक है। उन दिनों प्रत्येक दल का कार्यकर्ता अत्यन्त सादगी और त्याग का जीवन व्यतीत करता था। उस समय कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि आगे चलकर इस परम्परा में कोई विकृति आयेगी। सभी के मन में यही विश्वास होता था कि ऐसे श्रेष्ठ चरित्रवान, गुणवान, त्यागी पुरुष अपने देश की बागडोर संभाल लेंगे तो सभी प्रकार का उत्कर्ष होगा और अपने राष्ट्र की पुनीत परम्परा प्रकट होगी। परन्तु निरंकुश सत्ता जीवन में बहुत दोष उत्पन्न कर देती है। लोग कहते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रकार के मदों से भी अधिक संकट उत्पन्न करने वाला सत्ता का मद होता है। यह मद आज किसी के भीतर आया है या नहीं, यह बताने की आवश्यकता नहीं, परन्तु यह कहा जा सकता है कि आज जीवन से सादगी, स्वार्थरहितता और त्याग का भाव समाप्त हो गया है। उनके साथ-साथ सद्गुण भी नष्ट हो गये हैं। सर्वत्र भ्रष्टाचार फैला है। उदाहरण देना ठीक नहीं, किन्तु आज जो भी अच्छे-बड़े पुरुष विद्यमान हैं, उनमें से अनेक ऐसे हैं जिनका (व्यक्तिगत जीवन कैसा है यह तो नहीं जानता पर) सार्वजनिक जीवन स्वीकृत आदर्शों से कोसों दूर है।

चारित्र्य का संकट

कई वर्षों पहले हमने सुना था कि अपने देश में चारित्र्य का संकट उत्पन्न हो गया है। इसे 'क्राइसिस ऑफ कैरेक्टर' कहते हैं। परन्तु उसके निर्माण का कोई कार्य नहीं करता। हमने सर्वसामान्य व्यक्ति से यह आशा की है कि वह चरित्रवान, गुणवान और स्वार्थशून्य बने। शायद इसीलिए छोटे-मोटे भ्रष्टाचार करने पर उसके लिए दण्ड की व्यवस्था भी की गयी, लेकिन जहाँ बहुत बड़े-बड़े घपले हो रहे हैं, उस ओर कोई देखता भी नहीं। यह बिल्कुल विपरीत बात है।

समाज की उपयुक्त धारणा

समाज और परिवार की उत्तम धारणा तथा सामान्य जीवन लाने के लिए समाज के जनसामान्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की उत्तम रीति से पूर्ति आवश्यक है। अर्थात् ऐहिक सम्पन्नता की जो आवश्यकता है, उसकी पूर्ति की व्यवस्था समाज की नींव से होनी चाहिए। इन सब प्रकार की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नींव से प्रारम्भ करके ही ऊपर के लोगों की व्यवस्था की चिन्ता करनी चाहिए। ऐसा करने के लिए ऊपर के, बिलकुल ऊपर के जो लोग हैं, उनको मानव की सहज आवश्यकताओं जैसे ऐश-आराम, खाना-पीना इत्यादि में कुछ संयम रखना पड़े तो रखना चाहिए। ऐसी स्थिति में किसी को किसी से कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। परन्तु चारित्र्य निर्माण का क्रम इससे उल्टा चलता है। सम्पूर्ण समाज में जो लोग उच्च वर्ग के कहे जाते हैं, उनसे यह संयम, सादगी और सदाचार का जीवन प्रारम्भ होकर समाज की नींव तक धीरे-धीरे झरता चला जाये, ऐसा जीवन बनाने की आज आवश्यकता है। लेकिन दिखायी यह देता है कि ऐश-आराम उच्च वर्ग के लोग कर रहे हैं और चरित्र-सम्पन्नता की अपेक्षा नींव के पास बैठे सामान्य मनुष्य से की जा रही है। यह बिल्कुल उल्टी बात है। इससे समाज का सच्चा विकास होना, समाज की उपयुक्त धारणा होना सम्भव नहीं।

परकीय जीवन का अनिष्ट प्रहार

लेकिन आज उल्टी स्थिति देखने को मिलती है। साथ ही यह भी दिखाई देता है कि जब परकीय राज्य था तब अपने स्वत्व के, अभिमान के कारण अपनी परम्परा के अनुरूप जीवन बनाने का प्रयत्न चलता था। ऐसा होते हुए भी परकीय लोगों का अपने साथ सम्बन्ध आया और इस सम्पर्क का अपने अन्तःकरण पर जो कुछ आघात हुआ वह परकीय राज्य के विरोध की भावना से भरा हुआ था। परन्तु जैसे ही परकीय राज्य यहाँ से चला गया, वैसे ही उस आघात को दबा कर रखने वाली सम्पूर्ण प्रेरणा भी चली गयी। इस प्रकार परकीय जीवन का हमारे ऊपर बहुत बड़ा प्रहार हुआ। हमारा जीवन समूल बदल गया। यह बात तो ठीक है कि जगत में अन्यान्य लोगों से सम्बन्ध आने पर थोड़ा बहुत जीवन प्रणाली का आदान-प्रदान होता है, होना भी चाहिए, परन्तु यहाँ आदान-प्रदान बिलकुल नहीं हुआ। हम तो केवल ग्रहण कर रहे हैं। जो ग्रहण करने के योग्य नहीं है, उसे भी ग्रहण कर रहे हैं। यदि हम अंग्रेजों की देशभक्ति की भावना, उनके विशिष्ट चरित्र और कर्मण्यता, कर्तव्यबोध के गुण को ग्रहण करते तो इसमें कोई शिकायत नहीं होती। परन्तु हमने यह नहीं ग्रहण किया। उनके कुछ अवगुण ग्रहण किए, उनकी ऊपर की रहन-सहन की प्रणाली ग्रहण की और उनके कारण अपने स्वत्व का निषेध करना प्रारम्भ किया। यह सब बातें बड़ी द्रुत गति से अपने सम्पूर्ण समाज को परिवर्तित कर रही हैं। रहन-सहन, चरित्र-निर्माण और कर्तव्यबोध - सभी दृष्टियों से यह परिवर्तन दोषपूर्ण है। ऐसी स्थिति में हमें अपने स्वत्व का फिर से बोध करने के लिए विचार करना आवश्यक है। परन्तु स्वत्व का बोध कराना इतना सरल नहीं है। इसमें अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। एक बड़ी कठिनाई पिछले वर्षों की शिक्षा-दीक्षा है। शिक्षा का यह स्वरूप बनाने वाले उस अंग्रेज धूर्त पुरुष ने कहा था कि- "यहाँ काले रंग के अंग्रेज बनेंगे।" आज सब वैसे ही बने भी हैं। उन्हें अपना कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। यदि कोई कहे कि हमारे यहाँ जीवन का बहुत बड़ा सिद्धान्त है जो समग्र मानव के लिए उपकारक है तो अच्छा पढ़ा-लिखा, अगुवाई की इच्छा रखने वाला व्यक्ति भी इसे मानने को तैयार नहीं होगा। यह तो ईश्वर की कृपा है कि कभी-कभी प्रसंग विशेष के कारण अपने नेतागण यह बोल जाते हैं कि हमारे यहाँ हजारों वर्षों का जीवन है। हमारी श्रेष्ठ धरोहर है। परन्तु यह बोलने तक ही सीमित रहता है। शब्द मात्र रहते हैं, उनके पीछे कोई भाव या उन विचारों के उज्ज्वल स्वरूप को सबके सामने रखने का निश्चय, उनहें अपने जीवन में प्रकट करने का प्रयास नहीं दिखता है। इसीलिए लगता है यह शब्द मात्र है। ऊपर का दिखावटी स्वरूप है।

आजकल धर्म की जो भाषा बोली जाती है, उसका भी कोई अर्थ नहीं है। अंग्रेजी फैशन के कारण यह कहने की पद्धति चल पड़ी है कि "मैं धर्म पर विश्वास नहीं करता, ईश्वर को नहीं मानता। ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं है।" इस प्रकार अपने जीवन का जो मूलाधार है, उसे ही अस्वीकार करने का फैशन चल पड़ा है। आज विधिवत् यह विचार करने की आवश्यकता है कि जिन्होंने हमारे जीवन पर यह आघात किया है, उनका क्या कोई श्रेष्ठ दर्शन है?

कम्युनिज्म:एक अपूर्ण दर्शन

दर्शन के नाते आज एक बहुचर्चित दर्शन कम्युनिज्म है। हम उसका विचार करें। उसने कुछ सिद्धान्त बनाये हैं, कुछ समाज-रचना की बात की है और सम्पूर्ण समाज में सुख समान रीति से वितरित हो सके, इस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए, ऐसा बड़ा सिद्धान्त सबको खूब समझाकर बताया है। पश्चिम के अन्य जो देश हैं, उनके पास ऐसा कोई दर्शन नहीं है। सामान्य राजनीति की, प्रजातंत्र की, मानव की समानता की जो घोषणाएं पहले फ्रांस में हुई थीं, उन्हीं के आधार पर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन चलाने की बात करने के अतिरिक्त, उनके पास और कोई सिद्धान्त नहीं है। यदि कोई कहे कि सभी मानवों में समानता है तो यह बात अपने अनुभव के विरुद्ध जायेगी। कोई भी दो व्यक्ति समान नहीं। एक माता के दो लड़के भी समान नहीं होते। हाँ, शारीरिक आवश्यकताओं में समानता हो सकती है। परन्तु बुद्धि, गुणों और सब प्रकार की शक्तियों में समानता की बात करना अनुभव से सिद्ध नहीं होता, इसलिए इसमें कुछ दोष अवश्य ही है।

इस विचार-प्रणाली से ही आगे चलकर साम्यवादियों ने भी समानता निर्माण करने का प्रयत्न किया। इन सब बातों में एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि क्या मनुष्य का जीवन इसी लोक से सम्बन्धित है? क्या मनुष्य को केवल भोजन, आवास और मन को सुख-सन्तोष देने वाले साधन ही चाहिए? इसी का उत्पादन और वितरण ही उसका अभीष्ट है? पश्चिम के लोकतांत्रिक कहलाने वाले और साम्यवादी कहलाने वाले देशों में केवल विकल्प का भेद है, और कुछ नहीं।

यह जीवन इस लोक से सम्बन्धित है यानी अर्थ

प्रधान है। मन की विषय-वासना को तुष्ट करने वाले साधनों को जुटाना और रक्षा के लिए सत्ता को अधिकाधिक प्रबल करना यही आज की अर्थ-काम प्रधान व्यवस्था है। हमारे यहाँ कलियुग का वर्णन आता है। उसका अर्थ इतना ही है कि मनुष्य खाना-पानी, सुख-साधन और विषयोपभोग में ही फँसता चला जाएगा। एक ही जीवन को सर्वस्व मानेगा, ऐसा उसका अर्थ है। भिन्न-भिन्न देशों की दशा को देखने से लगता है कि "कलि" का यह वर्णन सार्थक है। पता नहीं हमारे पूर्वजों ने किस दूरदृष्टि से इस उपभोग प्रधान और लोभ को ही आगे रखकर चलने वाले जीवन को देखा और उसका वर्णन किया।

वासना तृप्ति के प्रयत्न की विफलता

आज यह सभी लोग जानते हैं कि जीवन अर्थ-काम प्रधान है। अर्थ प्राप्ति के बाद उसकी रक्षा और उसका सम्वर्द्धन आवश्यक हो गया है। आवश्यक इसलिए कि आज तक वासना से कोई संतुष्ट नहीं हुआ है। इसलिए अपने यहाँ लोगों ने कहा, "न जातुकामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति।" जैसे अग्नि में लकड़ी डालने से, आहुति देने से अग्नि धधक उठती है, उसी प्रकार से वासना विकार भी धधक उठते हैं, ऐसा अपने यहाँ कहा गया है। यह हमारा नित्य का अनुभव भी है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के भोग करने के लिए शारीरिक दृष्टि से असमर्थ होने पर भी उन उपभोगों की चाह मन से नहीं जाती है। उसकी प्यास बनी रहती है। इसलिए कई लोगों ने कहा कि क्या करें? हम तो जीर्ण हो गये हैं, लेकिन हमारी तृष्णा अभी यौवन पर है- "तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।" किसी भी वासना का कभी अंत नहीं होता। इसी कारण इन वासनाओं की तुष्टि के लिए अधिकाधिक साधन जुटाना, अधिकाधिक संग्रह करना, अपनी भूमि से यदि वासना तृप्ति न हो तो दूसरे की भूमि पर प्रहार करके उसके धन का अपहरण करना - यही व्यवहार स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है। जगत में चलने वाला एक प्रकार का साम्राज्यवाद उपभोग की इसी उद्दाम लालसा का ही परिणाम है। इसी के कारण अन्यान्य देशों पर बलात् अधिकार करने की इच्छा का भी निर्माण हो रहा है। इस के चलते जगत में कभी शांति प्राप्त होने की आशा नहीं। मन की इस अशांति का प्रत्यक्ष व्यवहार में प्रकट होना अनिवार्य है। वासना अतृप्त रहने के कारण मन अशान्त रहता है और सभी प्रकार की भ्रान्ति जगत में बनी रहती है। आज यही स्थिति हमें दिखायी देती है। सब प्रकार की सम्पन्नता पा जाने के कारण वासनाओं में विराम आ गया है, ऐसा कहीं भी दिखायी नहीं देता।

भगवद्गीता के १६ वें अध्याय में दो प्रकार के लोगों का वर्णन किया गया है - एक सत् और दूसरे आसुरी गुण वाले। आज भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग सम्पत्ति के मद में अन्यान्य देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए चेष्टाएं करने में लगे हैं। यही आसुरी वृत्ति है। इसी का वर्णन सोलहवें अध्याय में हुआ है। इसमें लोगों को असुर वृत्ति का कहा गया है, जो कहते हैं- 'मैंने इसको मारा है और अब उसको मारूँगा। मैंने इसका धन छीना है और अब दूसरों का छीनूंगा। मैं ही बड़ा हूँ और मैं ही दाता हूं। मैं ही यज्ञ करता हूँ। मेरे समान कोई नहीं है। मैं ही ईश्वर हूँ।' आज भी- मैं समाजवादी हूँ, मैं साम्यवादी हूं, मैं प्रजातंत्रवादी हूं आदि बोलने वाले लोग, अर्थ और काम की प्रधानता के कारण, सभी देशों में मिलते हैं। पश्चिम के अनेक देशों में गीता के १६वें अध्याय का जीता-जागता स्वरूप दिखायी देता है। वहाँ दैवी शक्ति और दैवी सम्पत्ति देखने को नहीं मिलती।

विभिन्न प्रयास व उनकी असफलता

अब इस प्रकार के जगत में से हमें अपने मार्ग का आविष्कार करना है। लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के मार्ग ढूँढ़ने के प्रयत्न किए। अपने धार्मिक आदर्शों के आधार पर जीवन चलाना चहा। उस मार्ग से भी लोगों को सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि उन धर्मों के भीतर कोई सिद्धान्त और तत्वज्ञान नहीं है। केवल एक भगवान है और उसका एक पैगम्बर है। पैगम्बर के ऊपर विश्वास करो और भगवान् से सब प्रकार की करुणा के लिए - याचना करो, वह सब पापों को क्षमा कर देगा, ऐसी उनकी धारणा है। लेकिन अर्थ-काम के चक्कर में पड़ा जो मनुष्य ईश्वर को मानता ही नहीं वह क्षमा क्यों मांगेगा? फिर भी उसे विश्वास करने को कहा जाता है। इस असंगति के कारण बुद्धिमान व्यक्ति साधारणतः अपने भीतर ऐसी सिद्धता नहीं उत्पन्न कर पाता है। वह विश्वास के लिए बुद्धि का आधार लेता है। परंतु फिर भी उसे समाधान नहीं मिलता। उसके लिए तो बुद्धि को

सन्तुष्ट करके, उसके विश्वास को जाग्रत करना पड़ता है और कहना पड़ता है कि हे पुत्र, विश्वास करो। बुद्धि की जितनी दौड़ है वह सब समाप्त हो गयी, अब इसके आगे बुद्धि की गति नहीं है। अब शेष बातों पर विश्वास करो।यह सब बाद में कहा जाता है। यदि प्रारम्भ में ही कह दिया कि विश्वास करो तो बुद्धिमान मनुष्य सोचता है कि यह बात तो मन में बैठती नहीं, क्योंकि जीवन को परिवर्तित करने की इसमें क्षमता नहीं है। इस प्रकार विचार करने वाले लोग आज दिखाई देते हैं।

यह ठीक है कि अपने यहाँ ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए बड़े-बड़े लोग काम कर रहे हैं किन्तु उनके यहाँ भी गिरजाघर खाली पड़े हैं बहुत कम लोग वहाँ जाते हैं। लोगों का विश्वास उठ गया है। वहाँ जाने से उनके भीतर कोई भावना नहीं उत्पन्न होती। इसलिए कोई ऐसा सिद्धान्त देना होगा जिसके द्वारा केवल अर्थ-काम को आधार मानकर चलने वाले आसुरी जीवन पर नियंत्रण किया जा सके।

पथ-प्रदर्शन

अब देखना यह है कि क्या अपने देश और समाज की परम्परा से हमारा कोई पथ-प्रदर्शन होता है? निश्चय ही होता है। प्राचीन काल के महापुरुषों ने सांगोपांग विवेचन करके कहा कि केवल अर्थ-काम की उपासना करना पशुवत् जीवन है, आसुरी जीवन है, राक्षसी जीवन है, त्याज्य जीवन है।

लेकिन अर्थ-काम से सर्वथा मुक्त होना असम्भव है। उसकी चाह प्रत्येक मनुष्य में थोड़ी बहुत मात्रा में रहेगी। पर उसके द्वारा जीवन में असुरता न आवे, इसकी योजना भी आवश्यक है। इसी नाते अपने यहाँ लोगों को एक बात यह बतायी गयी कि वासना कभी सन्तुष्ट नहीं होती और दूसरी बात यह बतायी गयी कि जिन वस्तुओं का संग्रह करके मनुष्य उनसे सुख पाने की अभिलाषा करता है, उन वस्तुओं में सुख देने की किसी प्रकार की कोई क्षमता नहीं है। सुख तो अपने पास है। बाहर से कुछ नहीं मिलता। हम तो अपने अज्ञान के कारण यह बोलते हैं कि अमुक चीज में सुख है। जबकि वास्तविकता यह है कि हम उस वस्तु को निमित्त बनाकर अपने ही अन्दर के महासागर के सुख को चखते हैं। मान लो कि किसी व्यक्ति को लड्डू बहुत प्रिय है, परन्तु यदि उसका पेट खूब भरा हो और फिर उसे कोई लड्डू खिलाए तो वह कहेगा कि 'भाई इस समय तो नहीं खा सकता।' यदि जबरदस्ती खिलाने का प्रयत्न किया गया तो उसे लड्डू से घृणा हो जाएगी, या पेट में दर्द होगा अथवा उल्टी हो जाएगी। यानी जो वस्तु भूख होने पर सुख देने वाली है, उसी वस्तु को क्षुधा शान्त होने पर देखने की भी इच्छा नहीं होती। अब विचार करें कि यदि सुख देना उस वस्तु का निजी गुण होता, तो वह क्षुधा न रहने पर भी उतना ही सुख देती। पर ऐसा दिखायी नहीं देता। जो कपड़े हम पहनते हैं वे कभी-कभी बड़े सुखदायी मालूम होते हैं। जब सर्दी पड़ती है, शरीर में कँपकँपी और ठिठुरन होने लगती है तो अच्छे गर्म कपड़े पहन लेने से सुख मालूम होता है। परन्तु यह सुख भी परिस्थिति सापेक्ष है। कड़ी धूप में वही कपड़े उतार कर फेंकने पड़ते हैं। यही नियम हर वस्तु के बारे में लागू होता है। कोई संगीत का प्रेमी है, बड़े मधुर गीत गा सकता है, सुनने में रस ले सकता है किन्तु यदि उसके घर में कोई दुःखद प्रसंग हो गया हो और उस समय पास में कोई गाना-बजाना करने लगे तो उसे चिढ़ होगी। यह सोचेगा, गाने वाले भी कैसे हैं। मैं तो दुःख से रो रहा हूँ और ये गाना-बजाना कर रहे हैं।

सुख कहाँ है?

ऐसी स्थिति में हम विचार करें कि आदमी को सुख कहाँ से मिलता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देता हूँ। कुत्ते प्रायः हड्डी के लिए फिरते रहते हैं। सूखी हड्डी को भी वे बड़े प्रेम से चबाते हैं। उस हड्डी के भीतर कोई रस नहीं होता है, वह बिलकुल पत्थर होती है। लेकिन जब हड्डी की तेज नोंक कुत्ते की जीभ में धँसतीहै जो उसकी जीभ से खून बहने लगता है; कुत्ता अपने ही रक्त को पीकर सुखी होता है। उसे लगता है कि हड्डी में ही रस आ गया है। इसी नाते कहा गया कि बाहर की किसी वस्तु में सुख नहीं है, सुख तो अपने भीतर भरा है। "मनुष्य शरीरं सत् चित् सुखम्।" यानी यह शरीर सत्य है, चिरन्तन है, चेतनामय है अर्थात् सुखमय है। हम अपने भीतर का ही सुख भोगते हैं और बाहर की वस्तु पर उसका आरोपण करते हैं। मनुष्य के जीवन का वास्तविक लक्ष्य अपने भीतर के इसी सुख को पाना है। यही मूल सिद्धान्त है जो अपने श्रेष्ठ पुरुषों ने बताया है, क्योंकि भीतरी सुख के उसी महासागर की

अनुभूति ही जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य सुख पाने के लिए जीता है। सुखानुभूति ही उसके जीवन का लक्ष्य है। सब प्रकार के इहलौकिक बंधन से मुक्त हो जाने वाला, बाह्य वस्तुओं की कामना से निर्बाध हो जाने वाला ही यह चिरन्तन सुख प्राप्त कर पाता है। ऐसा सुख पाने वाले व्यक्ति के सभी बंधन छूट जाते हैं, क्योंकि किसी वस्तु के लिए उसका मन नहीं दौड़ता। यही बंधनमुक्ति है। यही व्यक्ति का चरम लक्ष्य भी है, किन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने तक उसे इहलोक के सुखों की तृप्ति के लिए कुछ प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा। लेकिन यह तृप्ति व्यक्ति को अमर्यादित न कर दे, इसकी उपाय भी करना होगा।

समाज की उचित व्यवस्था

इसके लिए हमारे यहाँ एक पुरुषार्थ बताया गया है- धर्म। सुख अनुभव करने के लिए जिस प्रकार व्यक्ति को मानसिक शान्ति और एकाग्रता चाहिए, उसी प्रकार व्यक्ति को अपना जीवन सुरक्षित चलाने के लिए एक सुस्थित समाज की आवश्यकता होती है। यदि समाज सुचारू रूप से परस्पर सम्बद्ध है, सब मिलकर एक दूसरे का कल्याण करने के लिए प्रयत्नशील होने के कारण परस्परानुकूल हैं तो ऐसे समुदाय में रहकर आश्वस्त जीवन चलाता हुआ व्यक्ति अपने अन्दर के चिरन्तन सुख की अनुभूति करने के लिए एकाग्र होकर सहज ही प्रयत्नशील हो सकेगा। इसलिए समाज की उचित व्यवस्था धर्म पर ही आधारित हो सकती है।

हम लोग जानते हैं कि धर्म की जो व्याख्याएं की गयी हैं, उनमें जो सबसे प्रचलित और प्रसिद्ध व्याख्या है, उसमें कहा गया है कि जो समाज की धारणा करता है, समाज को सुव्यवस्था से रखता है, समाज के सभी प्रकार के लोगों को ठीक से अपने-अपने कार्यों में लगाता हुआ सम्पूर्ण समाज के अभ्युदय के लिए, रक्षा के लिए, श्रेष्ठ जीवन के लिए, सबके द्वारा परस्पर पूरकता से कर्म करवाने की जिसके अन्दर क्षमता है, वही धर्म है। समाज धारणा की सुस्थिति बनाना धर्म का एक रूप है। दूसरा रूप है मनुष्य को धर्म के अनुसार चलाने वाला। धर्म के बारे में हमारे यहाँ कहा गया है- वेदानुसार चलना या जो कुछ हमारा मूल प्रेरक विचार संग्रह है, उसके अनुसार चलना और सब प्रकार के सत्य एवं सज्जनता का विचार करना अर्थात् अपने जीवन के गुणों का विकास करना। अपनी आत्मा अर्थात् चिरन्तन सत्य को जो श्रेयस्कर लगे, उसके अनुरूप प्रयत्न करते रहना, यह भी यह धर्म है। एतद् प्राप्ति हेतु गुण-सम्वर्द्धन करने को कहा गया है।

सदाचार

हमें उन गुणों का भी विचार करना है जिनका आविष्कर करने के लिए हमें प्रयत्नशील होना है। इसके लिए अनेक विवरण दिए गये हैं। हमारे शास्त्रकारों ने सदाचार के नाम से दस गुण बताये हैं और सबसे लोकप्रिय एवं सर्वमान्य शास्त्र गीता है। उसमें भी अनेक स्थानों पर हमें जिन गुणों का विकास करना चाहिए, उनका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। उनको हम पढ़ें, विचारें और चिन्तन करें। अपने अन्दर उन गुणों का विकास हुआ है या नहीं, इसको देखें और यदि कहीं कमी दिखाई दे तो उसको परिपूर्ण करने का प्रयत्न करें। मन को संयमित कर सुव्यवस्थित जीवन का निर्माण करें। अपने को सब प्रकार के अवगुणों से परावृत, पराङ्मुख एवं निवृत्त करें। बुद्धि को नियंत्रित करें। इस प्रकार समग्र संयमित जीवन जियें।

परिपूर्ण मानव

अपने भीतर के अनेक गुणावगुणों, विकारों को भली-भाँति नियंत्रित करके मानसिक सुव्यवस्था का निर्माण (जिसे अंग्रेजी में 'रिहैबिलिटेशन ऑफ अवर माइण्ड्स' कहा गया है) करना भी धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस धर्म को अपने जीवन का आधार मानकर, इसके अनुरूप अर्थ-काम को नियोजित कर, इस धर्म के सद्गुण-सम्पन्न जीवन का पूरी तरह से अपने अन्दर उद्भाव करते हुए, अन्तिम लक्ष्य की नित्य उपासना करते हुए, चतुर्थ एवं अन्तिम पुरुषार्थ, मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण स्वरूप है। यही 'इंटीग्रेटेड मैन' परिपूर्ण मानव की कल्पना है। अर्थ-काम मात्र ही जिसके जीवन में है, वह 'डिसइंटीग्रेटेड मैन' अर्थात् अपूर्ण और विश्रृंखलित मानव है। समाज की धारणा का विचार करने वाला, समाज की धारणा, सुव्यवस्था पर आँच न आये, ऐसा गुणोत्कर्ष रखने वाला, समाज में विकृति उत्पन्न न हो, इस मात्रा में अर्थोपार्जन, कामोपभोग, और फिर संयमित एवं एकाग्र अन्तःकरण से अपने मनोनुकूल किसी भी

प्रकार की उपासना पद्धति, या सम्प्रदाय का अवलम्बन कर ईश्वर की किसी भी मूर्ति की उपासना द्वारा चतुर्थ और अन्तिम लक्ष्यरूप पुरुषार्थ को प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाला ही परिपूर्ण मानव है, व्यवस्थित मानव है।

चतुर्विध पुरुषार्थ और हमारा दायित्व

आज के अशान्तिपूर्ण जगत में मनुष्य-मनुष्य के बीच बन्धुता के भाव का जो अभाव दिखायी देता है, उसे समाप्त कर जागतिक शान्ति की जीवन व्यवस्था निर्माण करने के लिए इन चारों पुरुषार्थों को आधार बनाना होगा। और कोई विकल्प नहीं। संसार को इन चारों पुरुषार्थों के चिरन्तन सत्य का बोध कराने की हमारे अन्दर क्षमता आनी चाहिए। हमारे पूर्वजों, ऋषियों, महर्षियों और मनीषियों ने अपनी अनुभूति से इन चार पुरुषार्थों का ज्ञान हमारे सामने रखा है। उसके द्वारा मनुष्य को अपने परिपूर्ण स्वरूप को प्रकट करने का साधन दिया है। हमारे ऊपर यह दायित्व है कि हम जगत को, जगत के यद्यपावत् मानव को अपने उदाहरण और आदर्श से इस सत्य का बोध करायें।

अर्थ और काम एवं अनेक दुर्गुणों का अनेकविध अनुकरण करके हम यह कार्य कदापि नहीं कर सकेंगे। हमें तो विदेशों में चलने वाले अर्थ-काम प्रधान आसुरी जीवन को नियंत्रित करके चतुर्विध पुरुषार्थ युक्त अपने अन्दर के सद्गुणों का पूर्ण रूप से आविष्कार कर अनुष्ठान युक्त एक दैवी जीवन उत्पन्न करने का प्रयत्न करना है। यह बात जगत के लिए कल्याणकारी भी है।

केवल भारतीय तत्वज्ञान ही जागतिक

आज कम्युनिस्ट कहता है - "भाई, क्या तुम्हारे पास कोई जागतिक सिद्धान्त भी है? हमारे पास तो जागतिक सिद्धान्त है, इसीलिए सारे जगत के श्रमिकों को एकत्रित होने के लिए हम कहते हैं।" परन्तु भारतीय तत्वज्ञान इसके ठीक विपरीत मानव में श्रमिक-गैर श्रमिक का भेद न करते हुए सम्पूर्ण मानव का आह्वान करते हुए कहता 'आओ, पूर्ण मानव बनो। पूर्ण मानव बनने के लिए चतुर्विध पुरुषार्थ ग्रहण करो। इस प्रकार एक नियंत्रित, व्यक्तिगत जीवन निर्माण करो। जीवन के अर्थ-काम को सब प्रकार से काबू में रखो। कर्म पुरुषार्थ की उपासना करके अपने जीवन को धन्य बनाओ।'

इस प्रकार प्रत्येक मानव में श्रमिक और गैरश्रमिक का भेद न करते हुए सबका एक स्वर से आह्वान करने की क्षमता अपने जीवन की परम्परा में है। इस क्षमता को जगत के कल्याण हेतु अपने भीतर लाना, उसको परिपूर्ण करने भर की गुण सम्पदा अपने भीतर आविष्कृत करना, उसके लिए अपने समाज को सुव्यवस्थित, सूत्रबद्ध, एकात्मक बनाना, उसके भीतर सम्पूर्ण सत्व और स्वाभिमान का जागरण करके उसको चतुर्विध पुरुषार्थों के परम श्रेष्ठ जीवन का अनुगामी बनाना और उसे सब तरह से प्रशिक्षित करके एक आदर्श और सर्वोत्तम समाज के रूप में खड़ा करना आज हमारे लिए परम आवश्यक है।

दुःशक्तियों का नियंत्रण सामर्थ्य से ही संभव

इस सम्बन्ध में मुझे एक बात और कहनी है। कोई सिद्धान्त बोल देने से ही जगत उसे ग्रहण नहीं करता, चाहे वह कितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो। आज सत्ता की उन्मत्तता और जीवन में अर्थ-काम की विपुलता के कारण जिन्हें मानव की सज्जनता की परवाह नहीं हैं ऐसे अत्यन्त उद्दण्ड लोगों को अपना सिद्धान्त बता देने से या उसका विवरण कर देने से कोई अर्थ नहीं निकलेगा। वे हमारे सिद्धान्तों का अनुसरण करें, इसके लिए बल प्रयोग की भी आवश्यकता पड़ सकती है। अर्थ और काम के अमर्यादित उपभोग के कारण मनुष्य में जो पशुता आती है, उसका नियंत्रण सामर्थ्य से ही सम्भव होता है- 'दण्डेन गो-गर्दभै' - गो (इंद्रिय) और गधे (पशु) का नियंत्रण गीता पढ़ाने से नहीं होता, दण्ड प्रयोग से ही होता है। आज हमें उसी पशुता में पलता हुआ मनुष्य दिखायी दे रहा है। अपनी परम सामर्थ्य, अर्थ की प्रचुरता, सत्ता की निरंकुशता और सब प्रकार की उपभोग-सामग्री की विपुलता के कारण उद्दण्ड बने हुए मनुष्य को राह पर लाने के लिए कभी-कभी कान पकड़ने की भी आवश्यकता पड़ती है। पर कान कौन पकड़ेगा? वही, जिसके अन्दर प्रत्यक्ष और आन्तरिक दोनों प्रकार का सामर्थ्य है। सद्गुणों की, आत्मा की सर्वश्रेष्ठ धन-सम्पन्नता के कारण, वही लोगों को अपने बस में कर सकता है।

ऐहिक सामर्थ्य भी आवश्यक

ऐसी स्थिति में भी यदि उद्दण्डता करने वाले अपनी

ऐहिक सामर्थ्य के द्वारा समाज को अपने नियंत्रण में रख सकते हैं तो हमारा दायित्व है कि हम भी ऐहिक दृष्टि से समर्थ बनें।' व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में सब प्रकार के सद्गुणों द्वारा मानसिक शक्ति भरें। अन्तिम पुरुषार्थ को प्राप्त करने की उपासना करते हुए सम्पूर्ण समाज को सूत्रबद्ध करके उसमें ऐहिक शक्ति का आविष्कार करें। इन तीन शक्तियों के द्वारा अपने चतुर्विध पुरुषार्थ के अधिष्ठान के ऊपर एक ऐसे समाज का निर्माण करें जो सुखी हो, लेकिन सुख-लोलुप नहीं, जो समृद्ध हो लेकिन समृद्धि में फँसा, रुँधा नहीं। ऐसे ही समाज जीवन का आदर्श यदि हम जगत के समक्ष रखेंगे तो जगत का मानव हमारा अनुसरण करके सुखी हो सकेगा।

मानवता का उत्कृष्ट सेवक

अपने इसी विचार दर्शन की दृष्टि से हम प्रयत्न करें और परानुकरण द्वारा उत्पन्न होने वाली समस्त आसुरी सम्पत्ति का त्याग करने के लिए समाज को प्रोत्साहित करें। साथ ही साथ चतुर्विध पुरुषार्थ की दैवी सम्पत्ति एवं सद्गुणयुक्त जीवन का अपने भीतर आविष्कार करने की समग्र समाज को प्रेरणा दें। ऐसी व्यवस्था बनने पर ही अपने देश, समाज और विश्व मानव का कल्याण करने में हम समर्थ हो सकेंगे। ऐसी व्यवस्था जो अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार करता है वह अपने राष्ट्र का उपकारक है और मानवता का एक उत्कृष्ट सेवक है।

इस दृष्टि से यदि हम प्रयत्न करें तो यह अभिनन्दनीय होगा। एकात्म मानववाद के मंत्र-द्रष्टा पंडित दीनदयाल उपाध्याय बड़े विचारक और महान् चिन्तनशील व्यक्ति थे। उन्होंने मनुष्य का सम्पूर्ण स्वरूप सबके सामने रखा। मानव की एकात्मता व उसके अन्दर के गुणों का सम्पूर्ण विकास - दोनों ही उन्हें अभीप्सित और अपेक्षित थे। इसी विचार दर्शन के बारे में मैंने भी ये बातें कही हैं।

हमारा विद्यालय

✍ प्रवीन कटियार
अष्टम

(अपने विद्यालय के प्रति सहज श्रद्धा का भाव विद्यार्थियों के मन में होता है। इसीबात को उजागर कर रही है किशोर कवि की यह सहज भावमयी अभिव्यक्ति।)
-सम्पादक

मैं हूँ छात्र यहाँ का यह है प्रिय विद्यालय मेरा।
यहाँ सरस्वती मैया का रहता है नित्य बसेरा।।
पहनाती है हमार सुनहरा इसको उषा सबेरे।
गंगी जी की पावन धारा बहती जिसके नेरे ।।१।।

दीनदयाल जी का सपना मानों साकार खड़ा है।।
जिसके चरणों तले चाँदनी छिटकाती फुलझड़ियाँ।
नित्य नई जुड़ती हैं इसकी कीर्ति-लता में लड़ियॉ ।।२।।
शोभित यहाँ ओमशंकर जी गरिमामय प्राचार्य हैं।
छात्रों के हित-चिंतक सच्चे संत पुरुष आचार्य हैं।।
जिनमें अनुशासन-शासन का, जुड़ा अनूठा नाता।
हम सबसे श्रद्धाभाजन हैं, राष्ट्र-भक्ति उद्गाता ।।३।।
गुरुजन अपने शिष्यों को, हैं अच्छी सीख सिखाते।
विद्या ज्ञान दानकर, हमको शिक्षित सभ्य बनाते।।
वैरिस्टर साहब इसके अध्यक्ष नीति में आगर।
संस्था को ऊँचा करने में, रहते हैं जो तत्पर ।।४।।
कानपुर जनपद का, इसने गौरव अधिक बढ़ाया।
दीनदयाल विद्यालय उनकी स्मृति में ही कहलाया।।
कक्षा अष्टम है, प्रवीन कटियार नाम है मेरा।
त्रुटियाँ हों तो क्षमा करें गुरुजन, प्रणाम है मेरा ।।५।।

शिक्षा

शिक्षा के यक्ष प्रश्न

✍ बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह

(नीराजन हेतु प्रदत्त साक्षात्कार के आधार पर)

मूल्यों का संकट

किसी भी समाज के जीवन मूल्य उसकी संस्कृति तथा परम्पराओं से बनते हैं। श्रेष्ठ जन जो व्यवहार समय-समय पर करते आये हैं वही हमारे पथ-प्रदर्शक रहते हैं। हमारी संस्कृति मूलतः त्याग, तपस्या पर आधारित है। हमारा सारा कर्म लोक कल्याण के लिए ही होना चाहिए। इन उदात्त आदर्शों को छोड़कर आज हम पाश्चात्य उपभोग प्रधान चरित्र की ओर भागने लगे हैं। अमेरिका-रूस की नकल हर क्षेत्र में करने लगे हैं। यही हमारे मानवीय मूल्यों में ह्रास का कारण है। कहा है, 'राजा कालस्य कारणं'। जब हमारे बुद्धिजीवी, नेता, शासक भारतीयता से विमुख हों तो समाज में उसके प्रति आस्था कैसे रहे? अन्य क्षेत्रों की भाँति शिक्षा क्षेत्र में भी लोक कल्याण का स्थान स्वार्थ साधन ले रहा है। यही संकट है।

सम्पूर्ण विश्व में मूल्यों का संकट है इसका कारण व्यक्तिवाद तथा भौतिक व्यामोह ही कहा जा सकता है। क्षणिक सुख के पीछे व्यक्ति भागता है। किन्तु उसे शान्ति नहीं मिलती। किसी मनीषी ने कहा है - 'Strive for happiness not joy'। किन्तु आज आन्तरिक शान्ति की ओर न जाकर क्षणिक सुख का ही आकर्षण अधिक हो गया है। श्रीमद्भागवत गीता में कहा है- 'त्यागात् शान्तिः अनन्तरम्' - जब तक कर्म फल के त्याग की भावना नहीं बढ़ेगी, शान्ति, सन्तोष, सहिष्णुता या मूल्यों पर आधारित जीवन नहीं बन सकता।

पूरे विश्व की शिक्षा में दोष है तो यही कि वह जीवन मूल्यों पर आधारित नहीं। मनुष्यता के विकास के स्थान पर शिक्षा केवल ज्ञानोपार्जन या जीविका का साधन बन गई है। आज सारी पढ़ाई और परीक्षा प्रमाणपत्र के लिए ही होने लगी है। बालक के सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। उसे समाजोन्मुखी, संयमी, अनुशासित, व्यवहार-कुशल बनाने का प्रयास नहीं होता। परीक्षा, प्रमाण-पत्र का महत्व कम करना आवश्यक है। आवश्यक गुणों के विकास पर अधिक बल दिया जाना चाहिए।

शिक्षा का माध्यम

मेरी समझ में शिक्षा का माध्यम तो मातृभाषा ही होनी चाहिए किन्तु जब तक भारतीय भाषायें तकनीकी दृष्टि से समृद्ध नहीं हो जातीं, अंग्रेजी की जानकारी आवश्यक होगी। द्वितीय भाषा के रूप में अंग्रेजी रखना अनुचित न होना। हमें नारों में नहीं फँसना चाहिए। 'अंग्रेजी हटाओ' के स्थान पर 'शिक्षा का माध्यम मातृभाषा बनाओ' यह प्रयास होना चाहिए। मातृभाषा पर बल देने से हिन्दी का विरोध नहीं होगा। हिन्दी तो देश में सम्पर्क भाषा बनेगी ही। हाँ, हमें हिन्दी में अन्य भाषाओं के शब्द भी ले लेने चाहिए जैसे आज उर्दू तथा अंग्रेजी के तमाम शब्द बोलचाल की भाषा में आ ही गये हैं।

किसी भी स्तर की शिक्षा के लिए अंग्रेजी माध्यम अस्वाभाविक है। मातृभाषा के माध्यम से ही बालक विषय को आत्मसात् कर सकता है। भिन्न माध्यम से तो उसे रटना ही पड़ता है। इस दशा में मौलिक प्रतिभा का विकास सम्भव ही नहीं हो सकता।

दोहरी शिक्षा

यदि दोहरी शिक्षा से यह अभिप्राय है कि विशेष विद्यालय समाप्त कर दिये जायें, सबमें एक जैसी ही शिक्षा हो, एक जैसा ही शुल्क, सारा सरकारीकरण। यह न तो सम्भव दिखता है, न उपयुक्त होगा। इस समय तो विशेष विद्यालयों में ही पढ़ाई होती है। सबको एक समान करने का अर्थ होगा सब उंगलियों को अँगूठे के बराबर ला देना। आवश्यकता इस बात की है कि जो मान्यता प्राप्त अनुदानित विद्यालय हैं उनमें प्रामाणिकता से पढ़ाई चले, सब नियमित हों, शिक्षकों तथा छात्रों में स्वानुशासन हो। ऐसी स्थिति होगी तो विशेष विद्यालय स्वयं ही समाप्त हो जायेंगे। यह विद्यालय तो बढ़े ही

इसलिये हैं क्योंकि अनुदानित विद्यालयों की स्थिति में जबरदस्त अव्यवस्था हो गयी है।

मानव-निर्माण ही शिक्षा

शिक्षा तो जन्म से मृत्यु तक चलती है। दिशा विद्यालय देते हैं किन्तु उसी मार्ग पर जीवन भर चलते हुए मनुष्य विकास करता है। संसार को ही एक महाविद्यालय मानकर मनुष्य चले। हम नित्य व्यक्ति-व्यक्ति से, आने वाली समस्याओं से सीखते चलें, आत्म निरीक्षण करते रहें, स्वभाव को समाज के कल्याण हेतु ढालते रहें, तभी श्रेष्ठ मानव का निर्माण सम्भव है।

☐ नीराजन, १९८९-९०)

स्व० बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह : शिक्षाविद; सदस्य, कार्यकारी परिषद , राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ; संस्थापक, पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

"भारत-भाग्य जगाएँगे"

✍ -यूपेन्द्र कुमार मिश्र
कक्षा-नवम (ख)

(विद्यालय की लघु-काया में उच्चादर्शों की विराट् आत्मा का दर्शन कराने वाला एक सशक्त गीत-हस्ताक्षर!)

दीन दयाल विद्यालय अपना,
अनुपम दीप महान् है,
दीन दयाल जी के हम बच्चे,
भारत के अरमान हैं,
दीन दयाल विद्यालय अपना,
अनुपम दीप महान् है ।।१।।
उच्चादर्शों की सत् शिक्षा
भारत के निर्माण की,
एक धर्मिता यहाँ मिलेगी
हिन्दू-हिन्दुस्थान की
कदम मिलकार हर पग चलना
हम सबका अभिमान है
दीन दयाल विद्यालय अपना,
अनुपम दीप महान् है ।।२।।
पाठ यहाँ सिखलाया जाता
सदा एक मिल रहने का
माता-पिता-गुरु सेवा करना
प्रेम सहित दुख सहने का
शिक्षा का आदर्श यही है
विधि का यही विधान है
दीन दयाल विद्यालय अपना
अनुपम दीप महान् है ।।३।।
हम सब भैया कार्य करेंगे
भारत भाग्य जगाएँगे।
युग के दोष मिटा डालेंगे
माँ का सुयश बढ़ाएँगे।
बढ़ते जाने का नारा यह
शुभ कर्मों का ज्ञान है
दीन दयाल विद्यालय अपना
अनुपम दीप महान् है ।।४।।

विद्यालय सामाजिक पुनर्रचना का केन्द्र बने

(१९९३ में २३ वें वार्षिकोत्सव के अंतर्गत अभिभावक सम्मेलन के अवसर पर)

✍ नाना जी देशमुख

जिन देशों की आबादी संसार का दस प्रतिशत भी नहीं है, वे संसार की चवालीस प्रतिशत वस्तुओं का उपभोग कर रहे हैं। उन्हें विकसित देश कहा जाता है। जिनकी उपभोग लालसा के कारण अनेकानेक देशों के लोग भूख से तड़प रहे हों वे विकसित हैं! अभी डेढ़ साल पहले 'रियो' में सम्पूर्ण संसार के देश एकत्रित थे, इस हेतु कि पर्यावरण बिगड़ रहा है, ओजोन कवच क्षतिग्रस्त हो चुका है, पृथ्वी भर का तापमान बढ़ रहा है, मानव के जीवन के लिए खतरा उत्पन्न हो रहा है (वैसे इस खतरे का कारण है तथाकथित विकसित देशों की ही गतिविधियाँ)। अमेरिका भी उस सम्मेलन में था। सम्मेलन में एक प्रस्ताव आया कि ऐसी स्थिति में विकसित देशों को चाहिए कि पर्यावरण का संतुलन बनाये रखने के लिए, विकासमान देशों की मदद करने के लिए विशेष आर्थिक सहायता उपलब्ध कराएँ। अमेरिका ने कहा कि इससे हमारे देश के नागरिकों का जीवन स्तर घटेगा, इसमें हम सहयोग नहीं कर सकते। यह विकसित देश का लक्षण है?

ऐसा क्यों हो रहा है? केवल इसलिए कि शिक्षा की दिशा ठीक नहीं है, और इसीलिए हिन्दुस्तान के विद्यालयों को देखना होगा कि हिन्दुस्तान की परम्परा क्या है? और इस परम्परा को वर्तमान काल में उपयोगी सिद्ध करने की दृष्टि से किस प्रकार की शिक्षा आवश्यक है, जिससे मानव मात्र का कल्याण सम्भव हो। हिन्दुस्तान के विश्वविद्यालय यदि ऐसा नहीं करते तो उनका अस्तित्व किसी काम का नहीं। दुनिया में गड़बड़ी इसी कारण है कि शिक्षा कहीं भी ठीक नहीं है। इसके लिए पहल हिन्दुस्तान को करनी होगी। हिन्दुस्तान की शिक्षा पद्धति का दृष्टिकोण है - प्रत्येक बालक-बालिका का सर्वांगीण विकास - व्यक्तित्व का विकास। यह केवल विद्यालय से नहीं होगा।

वास्तविक शिक्षा एक त्रिवेणी संगम से ही सम्भव होती है - एक कुटुम्ब, दूसरा विद्यालय, तीसरा समाज के प्रतिष्ठित लोग। नई सन्तान को सर्वांगीण विकास की ओर ले चलने के लिए परस्पर पूरकता का व्यवहार यदि इन तीनों में नहीं होगा तो नई पीढ़ी जैसी चाहिए वैसी नहीं बन सकेगी। वस्तुतः सबसे पहला संस्कार केन्द्र होता है माँ का गर्भ, फिर कुटुम्ब। किन्तु प्रत्येक परिवार को संसार भर की गतिविधियों का ज्ञान होना कठिन होता है। इन गतिविधियों का ज्ञाता गुरु होता है और जो जानकारी परिवार में नहीं मिलती वह गुरु के द्वारा प्राप्त होती है। इसीलिए गुरुकुल होता है। पूर्व काल में गुरु अपने छात्रों की उचित शिक्षा के बारे में चिंतन करता था। आज ऐसा नहीं है।

आज का मनुष्य स्वकेन्द्रित है। मानव स्वकेन्द्रित होगा तो सबके लिए विनाशकारी बनेगा। कारण मानव का जन्म भगवान ने स्वकेन्द्रित होने के लिए किया ही नहीं है। प्रकृति कहती है कि मानव को सबके लिए पूरक बनना चाहिए। बड़ी कोठी में बड़ी शान से रहना, दुनिया भर के भूखे रहते हुए भी अमेरिका की तरह मस्ती से खाना, यह मानवता नहीं है। यह हिन्दुस्तान का धर्म नहीं है। यह हिन्दू धर्म नहीं है। यदि हिन्दू धर्म यही होता तो हम 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' क्यों कहते?

शरीर की आवश्यकताएं पूरी होनी चाहिए यह ठीक है, किन्तु एक चीज भगवान ने दी है - संवेदना। संवेदनशीलता मानव को अपनी वासनाओं पर अंकुश रखने के लिए समर्थ बनाती है। यही मानवीयता है, यही भारत की शिक्षा है। यह संसार में और कहीं नहीं मिलेगी।

अपने यहाँ कहा गया है कि संस्कृति पर सबसे अधिक असर प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) का, लोहिया की भाषा में तकनीकी का, होता है। ऐसा दिखाई भी दे रहा है। किन्तु उसके उपयोग से हमारे जो जीवन मूल्य हैं वह कहीं विस्मृत न हो जायें। 'सर्व भूत हिते रताः' यह विस्मृत नहीं होना चाहिए। जीवन मूल्य कैसे टिके रहें इसके लिए व्यवस्था बनानी पड़ती है। इस व्यवस्था की रचना विद्यालय के द्वारा होनी है। समाज की पुनर्रचना के लिए नई पीढ़ी के बालकों को तैयार करने का दायित्व

गुरुजनों का है अन्यथा भविष्य बड़ा कठिन होगा।

नई पीढ़ी के द्वारा समाज की पुनर्रचना सम्भव हो पाएगी, इस दिशा में यदि यह विद्यालय चला तभी निराकार दीनदयाल जी की स्मृति को साकार करने का जो प्रयत्न 'बूजी' ने किया था वह सार्थक होगा। बाकी विद्यालय इससे मार्गदर्शन प्राप्त करेंगे। इस दिशा में यह विद्यालय चले यह मेरी शुभकामना है।

❑ (नीराजन, १९९३-९४)

नाना जी देशमुख : ग्रामोदय शिल्पी; संस्थापक, पूर्व निदेशक, दीनदयाल शोध संस्थान, दिल्ली; संस्थापक, पूर्व कुलाधिपति, ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट।

वार्तालाप

✍ अभिषेक श्रीवास्तव, दशम

नेता भिखारी से कहता है
तुम इतने तगड़े जवान होकर
भरते हो पेट हराम का खा - पीकर।
वातावरण दूषित करते तुम ही भिखारी
तुम्हीं से पनपती है बेरोजगारी।
तुम्हें लगी है आलस की बीमारी
तीर्थों को गंदा कर फैलाते हो महामारी
तुम हो चोर से भी बदतर,
बनाया तीर्थों को अपना दफ्तर
तुम्हारा ही तो रूप है फकीर
तुम्हीं ने डुबोया है अपना जमीर।
तुम्हीं ही तो राज करते हो
कश्मीर से कन्याकुमारी तक,
तुम्हीं हो कारण ज्वर से महामारी तक।
फिर भी कहते भिखारियों हाल बेहाल है,
भारत की कीबर्बादी तुम्हारा ही जाल है
तुम्हारी वजह से भुखमरी व्याप्त है।
तुम्हारी वजह से दंगे हैं रक्तपात है।

भिखारी जवाब देता है-
रे नेता! मैं तुझसे हूँ भला
मैं नहीं जानता धोखे की कला
मैं तो चिल्ला कर पैसे कमाता
तू तो स्वाभिमान, यश, ईमान बेच पैसे कमाता
मैं पैसे माँगता हूँ
तू माँगता है वोट
खुद को बचाने के लिए
औरों पर करता है चोट।
मैं तुमसे फिर भी हूँ भला
मैंने औरों को गिराने के लिए
कोई दाँव नहीं चला।
तू तो करता है राजनीति में दलाली।
मैं देश को नहीं बेचता।
इसी लिए मेरा कटोरा है खाली।

शिक्षक नहीं, आचार्य !

✍ लज्जाराम तोमर

शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक का महत्वपूर्ण स्थान

शिक्षण-प्रक्रिया में शिक्षक का स्थान महत्वपूर्ण एवं सर्वोपरि है। शिक्षण-पद्धति, पाठ्यक्रम, भवन आदि साधन सामग्री की व्यवस्था कितनी भी उत्तम क्यों न हो, किन्तु यदि शिक्षक पद पर आसीन व्यक्ति चरित्रवान् एवं योग्य नहीं है तो उक्त सम्पूर्ण व्यवस्थाएं निरर्थक हो जाती हैं। शिक्षक यदि योग्य रहा तो वह भौतिक साधनों के अभाव में भी विद्यार्थियों को उत्तम शिक्षा प्रदान कर सकता है। अंग्रेजों के शासनकाल में दूषित शिक्षा प्रणाली के होते हुए भी जिस प्रकार के जाज्वल्यमान विद्यार्थियों का निर्माण सम्भव हुआ, वह आज स्वतंत्र भारत में सर्व साधन सुलभ होते हुए भी नहीं हो पा रहा है। इसका मूल कारण शिक्षक ही है।

भारतीय जीवन प्रणाली में तो शिक्षक या गुरु का स्थान परमेश्वर के समकक्ष माना गया है। अनेक विचारकों ने तो गुरु को परमेश्वर से भी बड़ा माना है, क्योंकि गुरु ही परमेश्वर की प्राप्ति का मार्ग बताता है। शिक्षक या गुरु एक पाण्डित्य पूर्ण एवं भौतिक शरीरधारी व्यक्ति नहीं है, अपितु वह एक आध्यात्मिक व्यक्तित्व है जो अपने आत्मा के प्रकाश से विद्यार्थी अर्थात् अपने शिष्य के अन्तःकरण को उसी प्रकार आलोकित करता है जैसे एक दीप से दूसरा दीप आलोकित होता है। अतः भारतीय शैक्षिक चिन्तन में शिक्षक का पद महान श्रद्धास्पद एवं समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से सर्वोपरि माना गया है।

भारतीय शिक्षा के इतिहास में शिक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले महान् तपस्वी ऋषियों की परम्परा रही है जिनके सम्मान में सम्राट भी अपना सिंहासन छोड़कर खड़े हो जाते थे। वर्तमान काल में भी भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों के अनुरूप शिक्षा के स्वरूप को यदि विकसित करना है तो शिक्षक के पद को हमें वही प्रतिष्ठा प्रदान करनी होगी, भले ही भावना की अभिव्यक्ति के रूप भिन्न हों। हमें यह दृष्टिकोण अपनाना होगा कि शिक्षक एक व्यक्ति नहीं, वरन् पद एवं संस्था है। शिक्षकों को भी अपना जीवन इस पद की गरिमा के अनुरूप ढालना होगा।

स्वयं के आचरण के द्वारा शिक्षा

शिक्षक का कार्य विषय-शिक्षण तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह अपने आचरण के द्वारा छात्रों में मानवता का निर्माण करता है। इसीलिए वह आचार्य कहलाता है। आचार्य शब्द शिक्षक या अध्यापक से अधिक व्यापक है। छात्र को आदर्श व्यक्ति चाहिए, जिसके प्रत्यक्ष आचरण के अनुरूप वह स्वयं को सहज भाव से ढाल सके। भारतीय परम्परा में ऐसे व्यक्ति के लिए ही 'आचार्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य के लिए उपदेश का विधान बाद में है, आचरण की संहिता पहले निर्धारित है। आचरण से ही वह आचार्य कहलाता है, उपदेश तो उसका परवर्ती एवं भौतिक अधिकार मात्र है। आचार्य स्वयं के श्रेष्ठ आचरण के द्वारा विद्यार्थी के लिए आदर्श बनता है एवं उसके जीवन का निर्माण करता है। सरस्वती शिशु मंदिरों एवं विद्या मंदिरों में शिक्षक को आचार्य शब्द से ही सम्बोधित किया जाता है, जो कि समीचीन है।

शिक्षा से तात्पर्य केवल पढ़ाई-लिखाई अथवा विभिन्न विषयों की जानकारी मात्र नहीं है। इसमें पढ़ाई की अपेक्षा चरित्र के विकास, व्यक्तित्व के गठन और जीवन के निर्माण का अधिक महत्व है। अतः इसके लिए विषय के शिक्षक नहीं, वरन् आचार्य की आवश्यकता है। आचार्य अपने अनुकरणीय एवं पवित्र आचरण के कारण विद्यार्थी के लिए आदर्श बनता है और विद्यार्थी के लिए भी 'भृंग-कीट-न्याय' से वैसा ही बनने की कामना करता है। यह कामना उसके चरित्र की शक्ति के कारण उसका अमोघ उपदेश बनकर विद्यार्थी में संक्रमित होती है।

विद्यार्थी का हितचिन्तक, पथप्रदर्शक एवं मित्र

आचार्य अपनी विद्या, कौशल, प्रेम एवं सहानुभूति के द्वारा विद्यार्थी के जीवन का निर्माण करता है। वह बतलाता है कि किस मार्ग से चलकर जीवन का कल्याण एवं विकास हो सकता है? जीवन की कौन सी दिशा हानिकारक है? उसकी शिक्षाएं सच्चे मित्र के समान आपत्तियों से बचाती हैं और उसकी दी हुई विद्या विद्यार्थी के गाढ़े समय में काम आती है। यही कारण है कि आचार्य अपने विद्यार्थियों का शिक्षक ही नहीं, अपितु हितचिन्तक, पथप्रदर्शक एवं मित्र होता है। इन गुणों के कारण ही वह विद्यार्थियों का विश्वास एवं उनकी श्रद्धा अर्जित करता है। विद्यार्थी उससे अपनी भली-बुरी बात छिपाते नहीं है और उसकी सम्मति पर विश्वास करते हैं। इसी कारण आचार्य विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण के महत् कार्य को करने में सफलता प्राप्त करता है।

आचार्य-विद्यार्थी : एक आध्यात्मिक सम्बन्ध

शिक्षा ज्ञान का उपार्जन है। आचार्य के सहयोग से ही विद्यार्थी ज्ञान के मार्ग में आगे बढ़ता है। आचार्य का सहयोग श्रद्धा और सेवा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा और सेवा का मूल स्रोत विनय है। अहंकारशून्यता की स्थिति में ही विद्यार्थी में विनयशीलता आती है। विनय पर आश्रित श्रद्धा का भाव आचार्य के ज्ञान कोष के द्वार खोलता है। विद्या आचार्य की ओर से विद्यार्थी के प्रति आत्मदान है। आचार्य और विद्यार्थी के आध्यात्मिक सम्बन्धों की भूमि पर ही यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। विद्या का व्यवसाय नहीं हो सकता। इसी लिए कोई धनवान केवल धन के बल पर विद्यावान् नहीं बन सकता। दूसरी ओर ज्ञान को अपनी सम्पत्ति मानने वाले आचार्य में यदि अहंकार बढ़ता है तो वह ज्ञान के विकास और प्रदान दोनों में बाधक बन जाता है। अतः विद्यार्थी के साथ-साथ आचार्य को भी अहंकारशून्य होना आवश्यक है। दोनों में अहंकार रहने पर द्वेष बढ़ता है। इससे बचने के लिए ही बृहदारण्यक उपनिषद् के शान्तिपाठ में "मा विद्विषावहै" के द्वारा प्रार्थना की गयी है। अहंकार और द्वेष से रहित होने पर ही आचार्य और विद्यार्थी तेजस्वी बनते हैं। अतः ज्ञानार्जन एवं जीवन का सही विकास आचार्य और विद्यार्थी के आध्यात्मिक सम्बन्धों की भूमि पर ही सम्पन्न होता है।

आचार्य की विद्वत्ता

आचार्य शब्द विद्वान का बोधक भी है। अच्छे आचार्य को सभी विषयों का सामान्य ज्ञान होना चाहिए और अपने विषय पर तो उसका पूर्ण अधिकार होना ही चाहिए। विद्यार्थी अपने आचार्य की बात को वेदवाक्य मानते हैं। ऐसी अवस्था में यदि छिछले ज्ञान वाला अध्यापक किसी भी अवस्था में विद्यार्थियों के मन में भ्रामक सिद्धान्त का बीज बो दे तो स्थायी रूप से वह भ्रामक विचार जड़ पकड़ लेता है जिसे दूर करने के लिए भारी परिश्रम और गहरे अभ्यास की आवश्यकता पड़ जाती है। छिछली विद्या-बुद्धि वाला आचार्य सदा विद्यार्थियों की अश्रद्धा का पात्र तथा उनके व्यंग्य बाणों का लक्ष्य बना रहता है। प्रारम्भिक कक्षाओं में तो नहीं, परन्तु उच्च कक्षाओं में ऐसे अध्यापक की बड़ी दुर्गति होती है। अतः स्वाभिमानी एवं सफल आचार्य के लिए अपने विषय का पण्डित होना परमावश्यक है और यह तभी सम्भव है जब आचार्य अध्ययनशील हो, नवीनतम ज्ञान से परिचित हो और सदा तैयारी करके कक्षा में जाये।

शिक्षण कला में निपुणता

आचार्य के अपने विषय का केवल विद्वान् होने से ही कार्य पूर्ण नहीं होता। उसमें विषय को विद्यार्थियों को समझाने की कुशलता एवं निपुणता भी आवश्यक है। उसका विषय-प्रस्तुतीकरण का ढंग आकर्षक होना चाहिए जिससे पूरी कक्षा तत्काल एकाग्र और आकृष्ट होकर उसमें योग देने के लिए प्रस्तुत हो जाय। कक्षा में सजीवता लाने के लिए उसे अनेक प्रकार के वाक्य विधान, दृश्य विधान, कथा-कहानी तथा चुटकुले-चित्र आदि का पर्याप्त भण्डार अपने पास रखना चाहिए। छोटे, स्पष्ट, सुबोध, सुघटित, संगत और उपयुक्त प्रश्नों के माध्यम से विद्यार्थियों को नवीन ज्ञान प्राप्त कराने के लिए और उनकी अभिव्यंजना शक्ति विकसित करने के लिए उसे प्रयास करना चाहिए। छात्रों से शुद्ध, सार्थक, संगत, आवश्यक, प्रासंगिक और उचित उत्तर निकालकर अशुद्ध उत्तरों का परिष्कार करते रहना चाहिए। आचार्य को एक कुशल संगठक एवं संयोजक भी होना आवश्यक है, तभी वह विद्यालय में सहगामी

१८ जुलाई १९७०, विद्यालय के शुभारम्भ के अवसर पर मा० अशोक सिंघल (बायें), संस्थापक प्रधानाचार्य श्री चन्द्रपाल सिंह, मा० भाऊराव देवरस (पीछे) तथा श्री इन्द्रजीत जैन (दायें)।

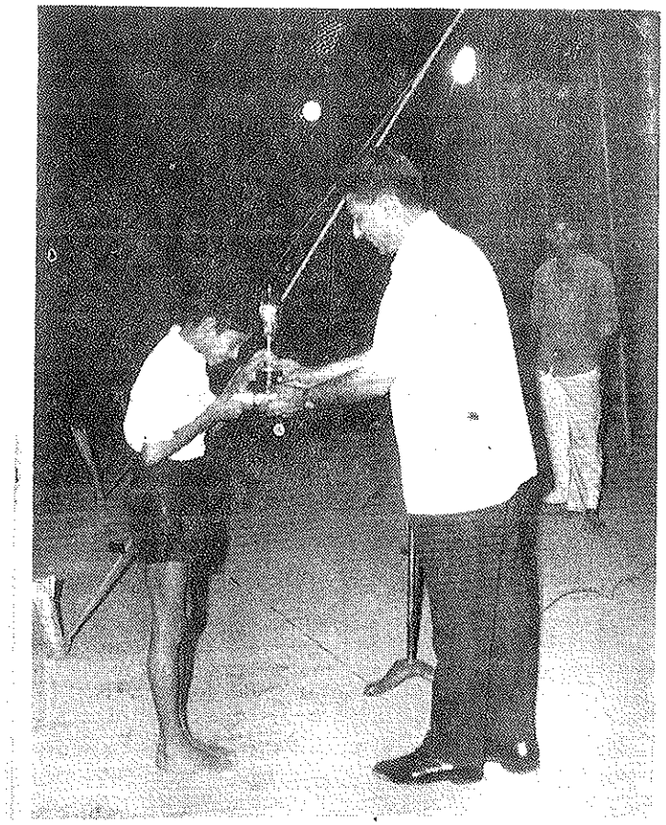

विद्यालय के प्रथम वार्षिकोत्सव (१९७३) पर, मुख्य अतिथि श्री श्याम नारायण मेहरोत्रा, शशि शर्मा को पुरस्कृत करते हुए।

२५ अगस्त १९७३ को 'बूजी' के चित्र के अनावरण के अवसर पर मा० रज्जू भैया (बैठे हुए) तथा मा० भाऊराव देवरस (संबोधित करते हुए)

विज्ञान वीथी के शिलान्यास के अवसर पर बायें से - भगवान दास तनेजा (अभिभावक) प्राचार्य श्री रामशंकर शुक्ल, मा० ओमशंकर जी तथा स्व० बैरिस्टर नरेन्द्र जीत सिंह एवं आचार्य सोमदत्त।

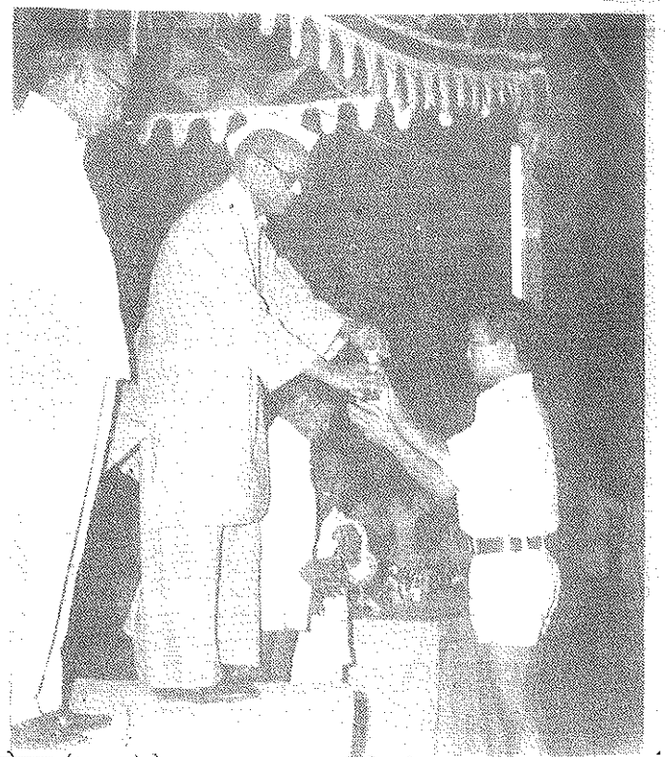

वार्षिकोत्सव (१९७४) के अवसर पर मुख्य अतिथि श्री भक्त दर्शन (कुलपति, कानपुर वि.वि.) अरुणांचल प्रदेश के छात्र ख्यासी यांग्फो को पुरस्कृत करते हुए।

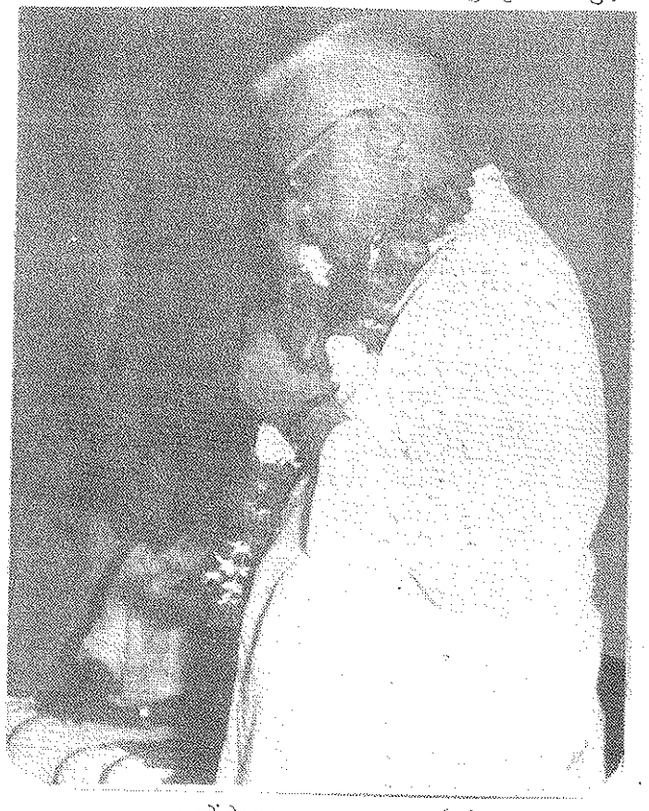

छात्रों के मध्य मा० यज्ञदत्त शर्मा जी।

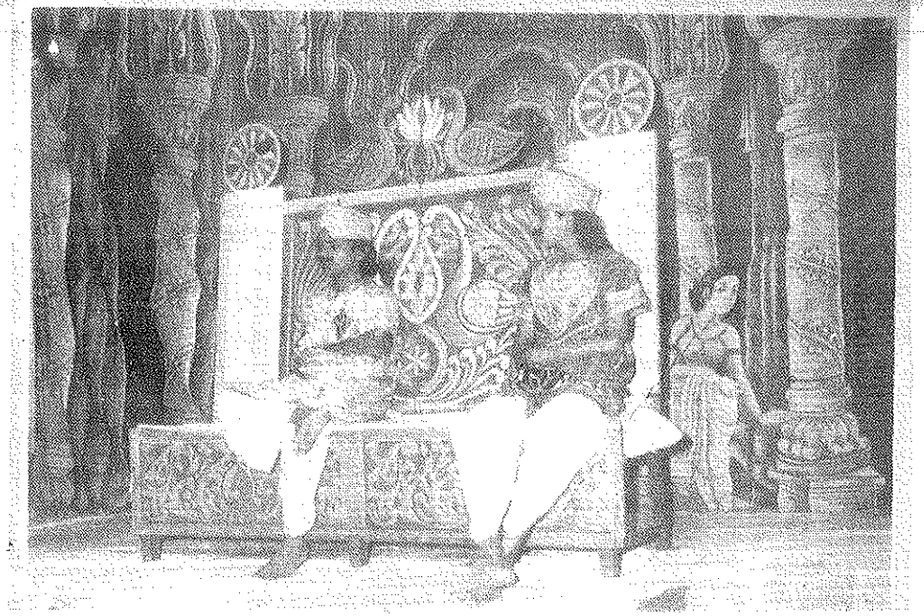

वार्षिकोत्सव (१९९२) अभिनय की प्रभावी मुद्रा में प्रवीण भागवत

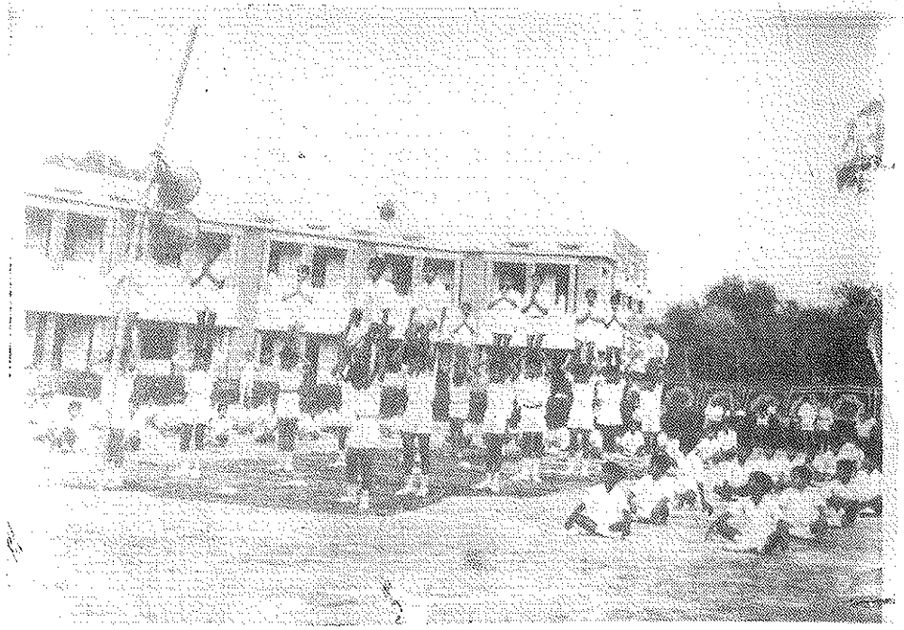

वार्षिकोत्सव १९७४ योग-व्यायाम करते छात्र

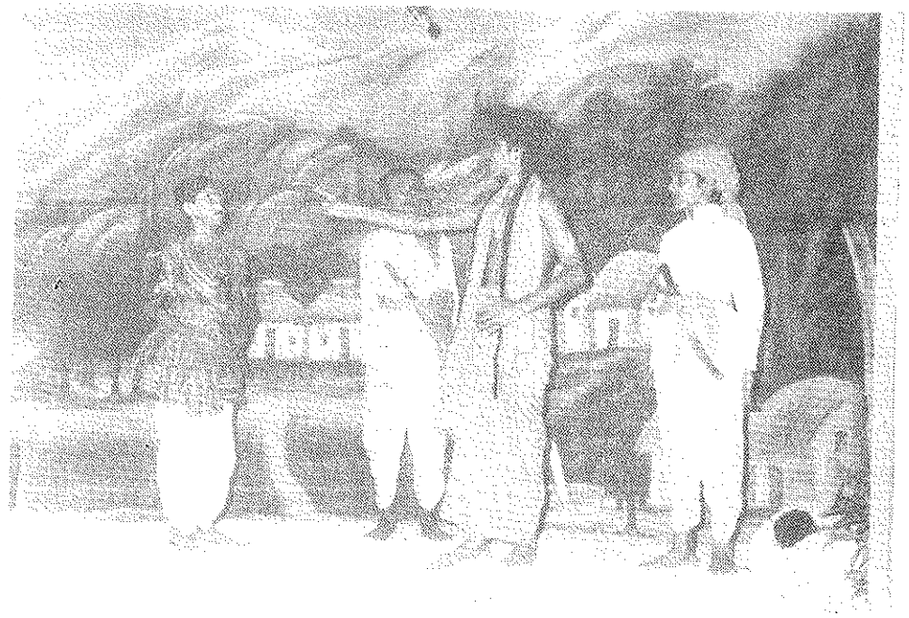

वर्ष १९९२ के वार्षिकोत्सव के अवसर पर अभिनीत नाटक का एक दृश्य

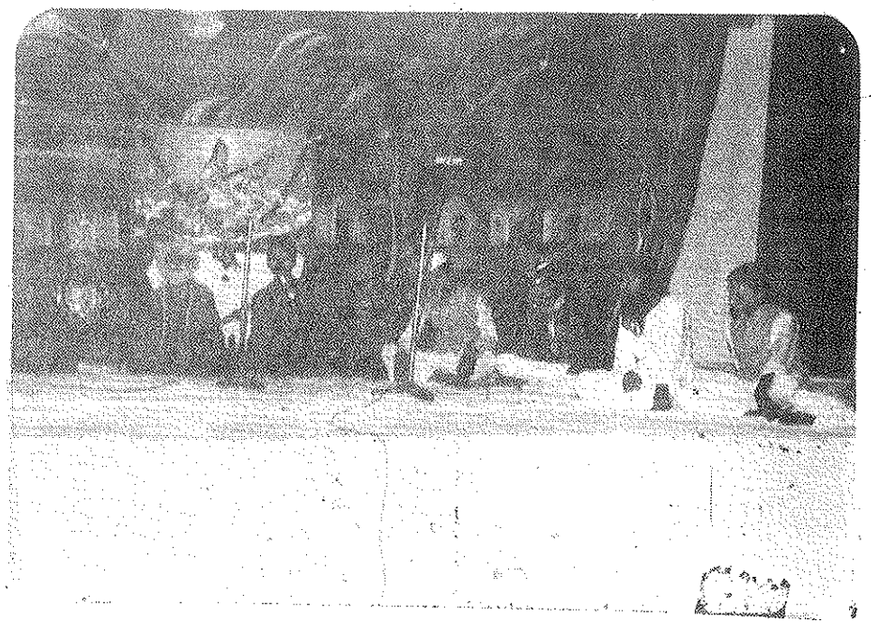

वार्षिकोत्सव (१९९६) के अवसर पर छात्रों का कवि-दरबार

वार्षिकोत्सव (१९८८), मुख्य अतिथि डॉ० मुरली मनोहर जोशी तथा
बैरिस्टर साहब राष्ट्रवन्दना करते हुए।

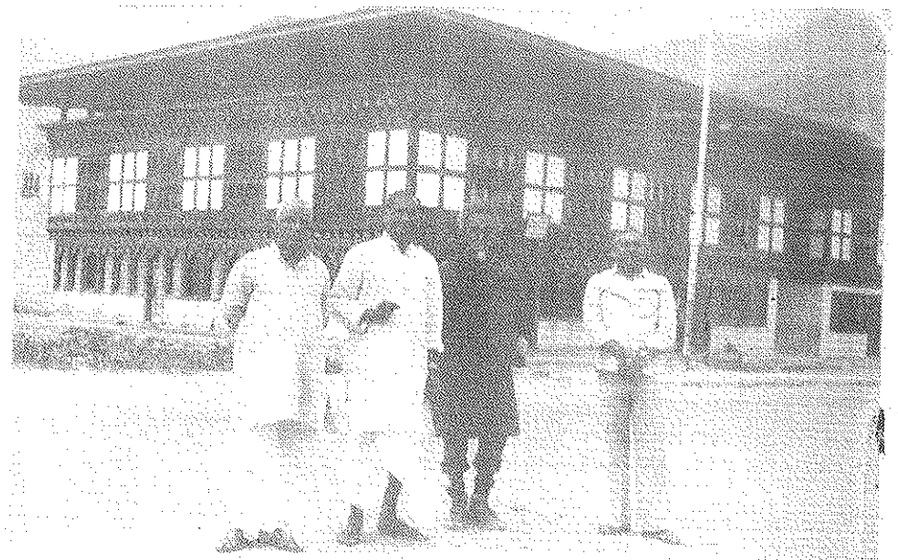

भूटान देशदर्शन के अवसर पर विद्यालय के प्रधानाचार्य जी के साथ एक भूटानी नागरिक

विद्यालय में आयोजित एक कार्यक्रम में स्वामी अकामानंद जी बैरिस्टर साहब तथा
उप निदेशक शिक्षा विभाग।

विद्यालय के वार्षिकोत्सव (१९९४) पर आयोजित रंगमंच कार्यक्रम में 'दंगा' नाटक करते हुए
विद्यालय के छात्र वि० संजय शुक्ल, अनुराग त्रिपाठी, पीयूष बंका तथा विनय वर्मा।

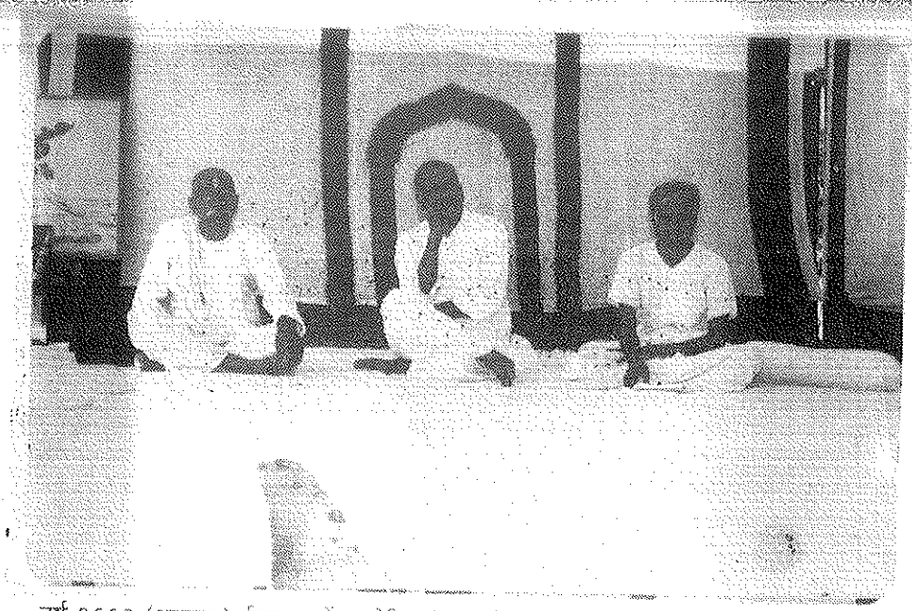

वर्ष १९९३ (अक्टूबर), चित्रकूट में आयोजित 'तरुण चेतना शिविर' के अवसर पर विद्यालय के छात्रों, पूर्व-छात्रों के मध्य उपस्थित श्री ओमशङ्कर जी प्रधानाचार्य तथा एच.बी.टी.आई. कानपुर के प्राध्यापक श्री बागड़िया जी।

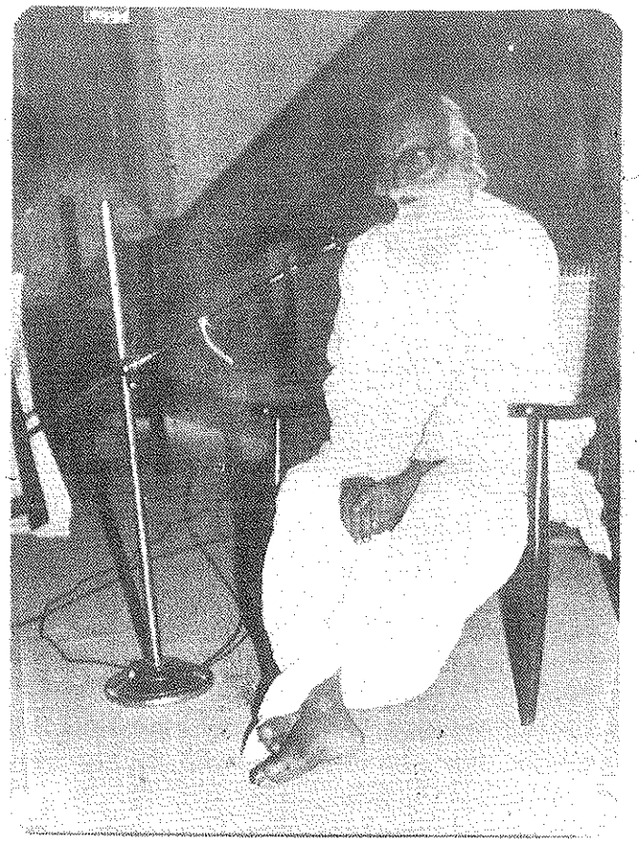

पूर्व छात्रों की शंका शमन करते हुए मा० नाना जी देशमुख

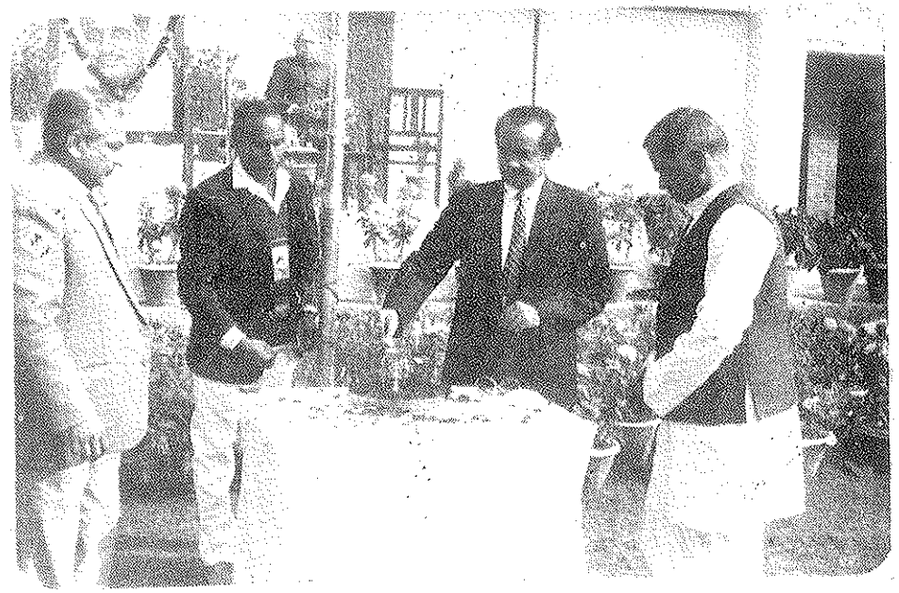

उद्घाटन-अवसर पर दीप प्रज्वलन करते हुए जिलाधिकारी श्री रामशरण श्रीवास्तव आई.ए.एस.।

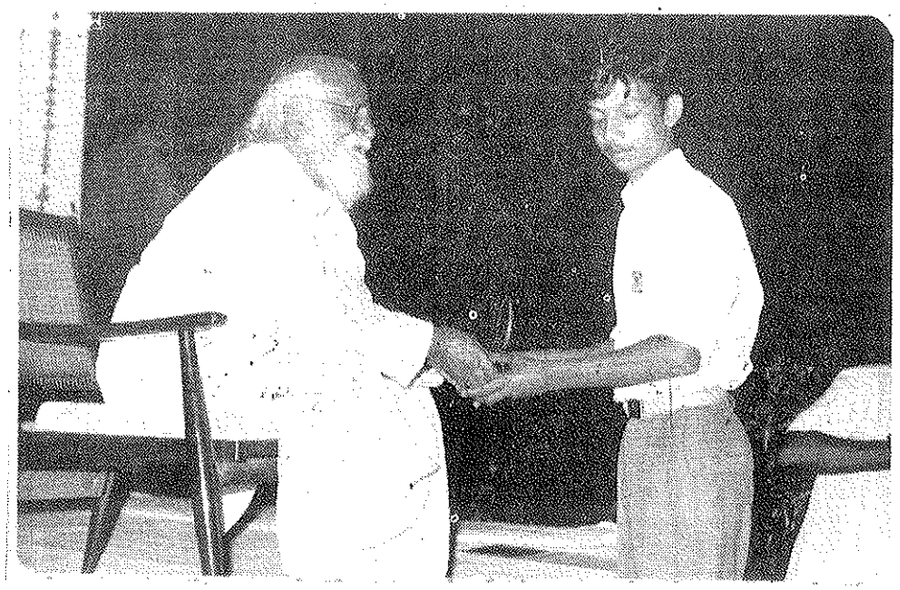

विद्यालय के वार्षिकोत्सव १९९४-९५ के अवसर पर एकादश के छात्र चि. अजय प्रताप सिंह को पुरस्कृत करते हुए। मा. आचार्य गिरिराज किशोर जी।

छात्रों को संबोधित करते हुए मा० कुप.सी. सुदर्शन

विद्यालय के संस्थापक प्रधानाचार्य श्री चन्द्रपाल सिंह जी

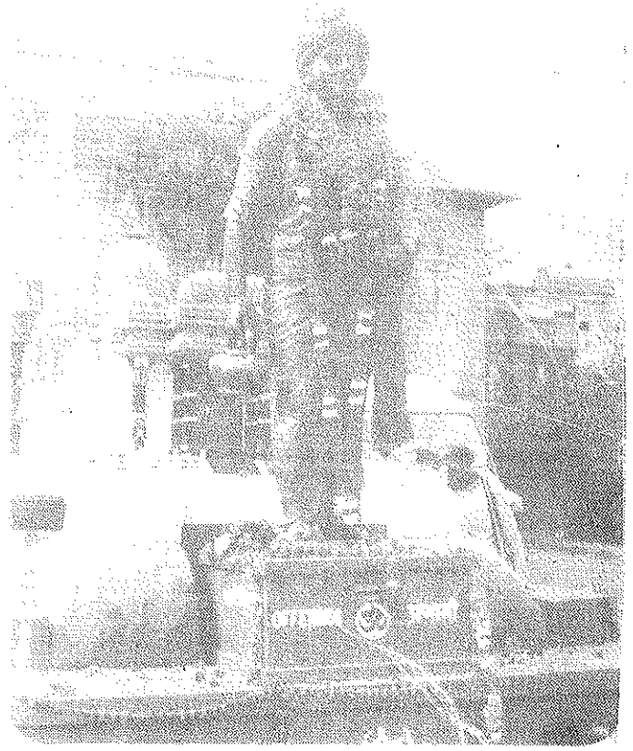

वर्ष १९९२ को 'विवेकानन्द भारत परिक्रमा' के विद्यालय आगमन पर
विद्यालय प्रांगण में विवेकानन्द जी की परिव्राजक प्रतिमा।

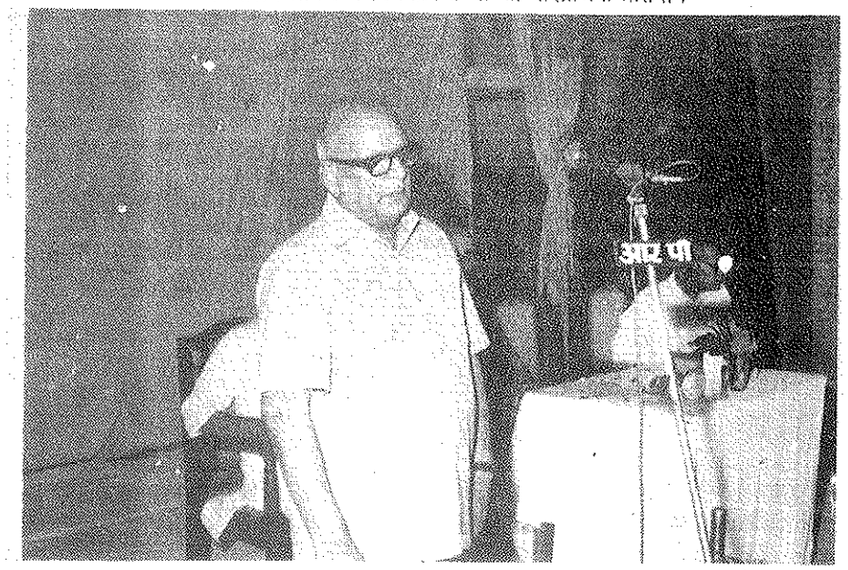

छात्रों को प्रबोधित करते हुए आचार्य प्रवर पं. शिवशरण शर्मा, उपाध्यक्ष प्रबन्ध समिति।

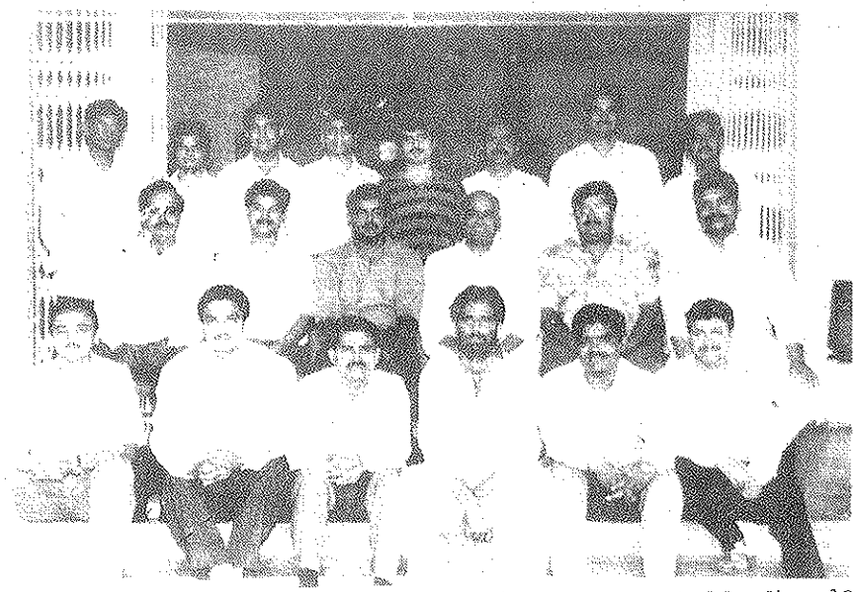

नीचे बैठे हुए - संजय अरथाना (उपाध्यक्ष), अजय शंकर, नीरज कुमार (अध्यक्ष), दिनेश सिंह भदौरिया (मंत्री), वीरेन्द्र त्रिपाठी (महामंत्री), प्रवीण अग्रवाल। मध्य में बैठे - सुरेन्द्र पाल चावला, शशि शर्मा, राजेश गर्ग (पूर्व अध्यक्ष), श्री ओमशङ्कर जी (संरक्षक), राजेश मल्होत्रा, गोपाल कृष्ण शुक्ल (पूर्व महामंत्री)। ऊपर खड़े - संतोष मल्ल, दुर्गेश वाजपेयी, मनीष कृष्ण, शैलेश गुप्त, यतीन्द्रजीत सिंह, ओम प्रकाश मोटवानी, प्रदीप वाजपेयी, कैलाश जोशी।

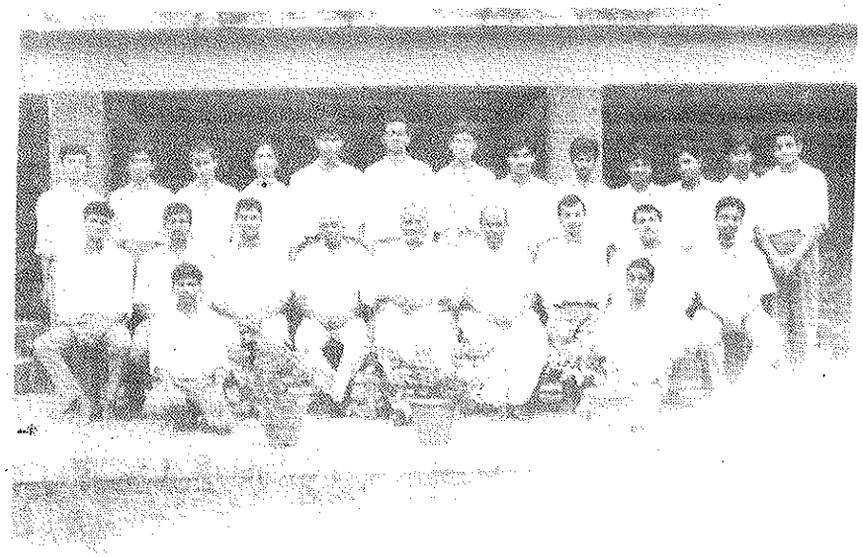

नीचे बैठे हुए - वरुण मिश्र, जलज कटियार, प्रथम पंक्ति में - चि० दिक्षान्त सिंह, अरुण सिंह, विकास अग्रवाल (महामंत्री) आचार्य श्री कृष्ण कुमार जी, श्री ओमशङ्कर जी (प्रधानाचार्य), श्री राजेश जी, चि. अजय प्रताप, चि. पीयूष बंका, चि. शशांक गुप्त।, अन्तिम पंक्ति में - चि. कुमार विक्रान्त सिंह, चि. अखिल तिवारी, चि. अमित त्रिपाठी, चि. सिद्धार्थ ठाकुर, चि. आशुतोष पाण्डेय, चि. उमेश खत्री, चि. विनय वर्मा, चि. विमल मिश्र, चि. तपन सिंह तथा चि. राकेश महेश्वरी

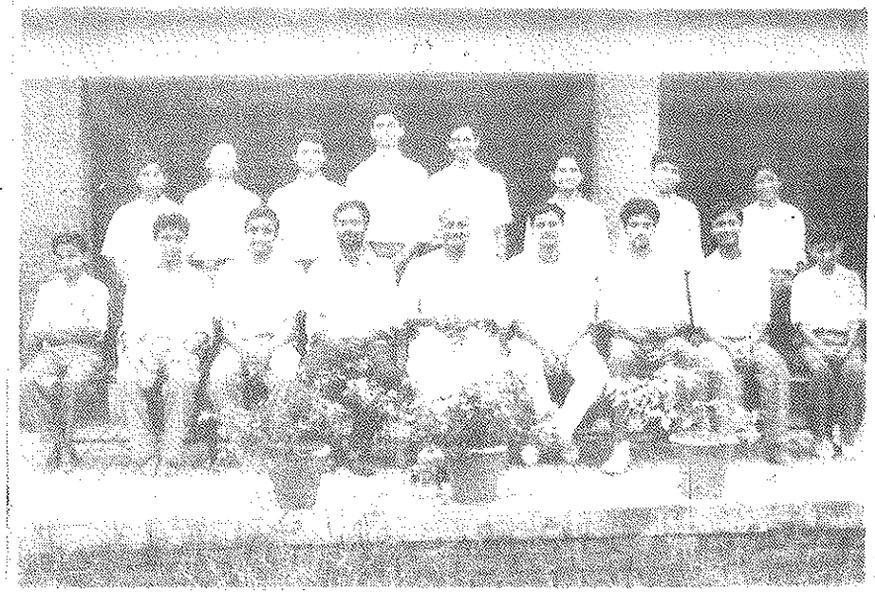

बायें से दायें - चि. सुगन्ता देशपांडे, उमाकान्त तिवारी, नवीन सिंह (मंत्री) दिनेश सिंह भदौरिया (आचार्य) श्री ओमशङ्कर जी (प्रधानाचार्य), अरुण शुक्ल (आचार्य), दुष्यन्त सिंह (अध्यक्ष), पवन रामपुरिया, महेन्द्र मोहन दुबे। खड़े हैं - कुमार कृष्णा, प्रशान्त वाजपेयी, अभिषेक श्रीवास्तव, आशुतोष पाण्डेय शशांक मिश्र, अमित अग्रवाल, बृजेश सचान, आलोक गुप्त।

विद्यालय के वार्षिकोत्सव (१९९१) के अवसर पर छात्रों को सम्बोधित करते हुए मा० अटल बिहारी वाजपेयी जी।

छात्रों का मार्गदर्शन करते हुए विचारशील मुद्रा में मा० रज्जू भैया

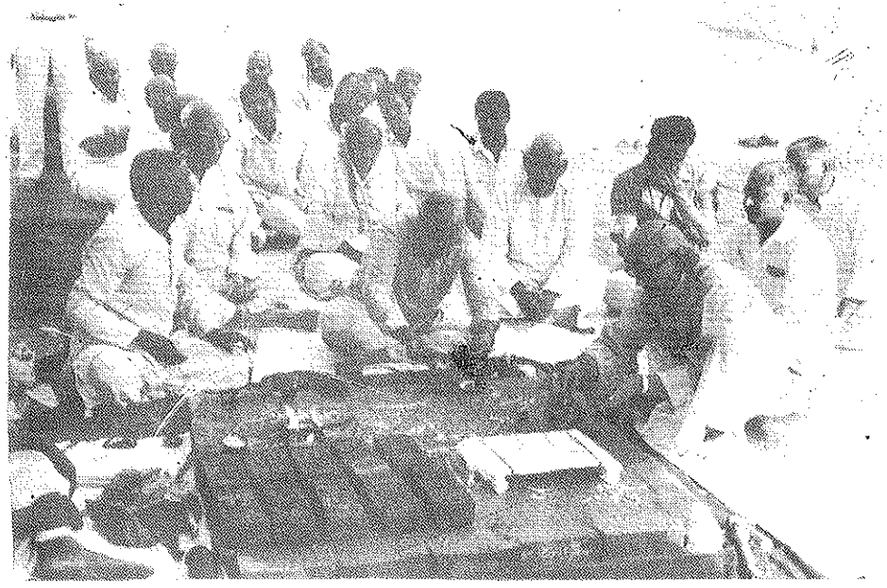

नवनिर्मित क्रीड़ा परिसर का भूमिपूजन करते हुए विद्यालय प्रबन्ध समिति सचिव
श्री वीरेन्द्र पराक्रमादित्य जी।

१९७५ के पुरस्कार-वितरण में पूर्व संयुक्त शिक्षा निदेशक हरिशंकर जी शर्मा के द्वारा पुरस्कार प्राप्त करते
भैया महेश पंजवानी साथ में प्राचार्य श्री शं० रं० शेंण्डे।

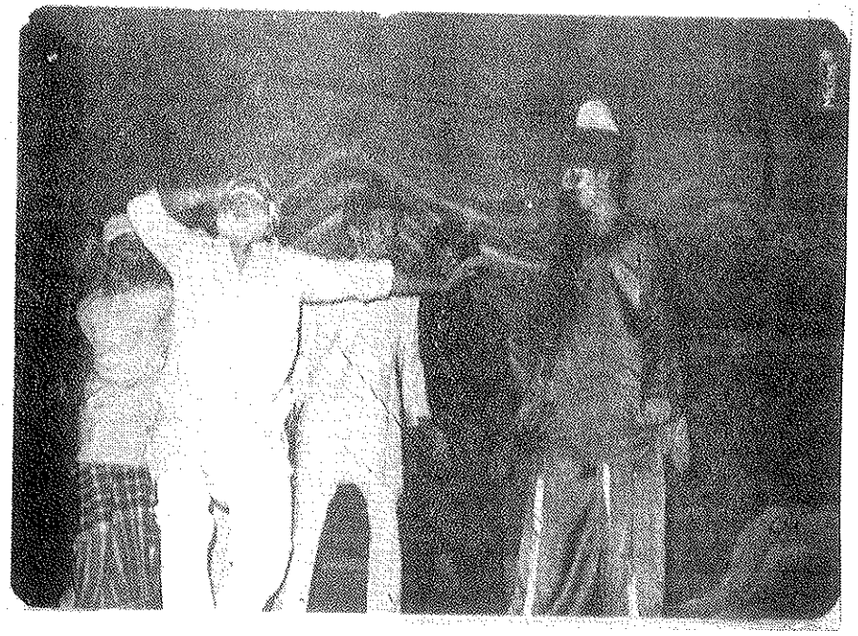

क्रिया-कलापों के आयोजन सफलतापूर्वक कर सकता है और विद्यार्थियों में रुचि एवं उत्साह का संचार कर सकता है। बालक के विकास में इन सहपाठ्य क्रियाकलापों का महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार आचार्य को शिक्षण कला में पूर्ण निपुण होना आवश्यक है। तभी वह अपने कर्तव्य का सही ढंग से पालन कर सकने में समर्थ होगा।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

प्रभावशाली व्यक्तित्व के अन्तर्गत गुण, स्वभाव, अभ्यास, चरित्र, विद्या और बुद्धि के साथ-साथ वपुष्मत्ता भी अपेक्षित है। वपुष्मत्ता या शारीरिक वैभव ब्रह्मचर्य पालन एवं शारीरिक सौष्ठव के प्रति सचेत रहने से सम्भव होता है। संयम एवं तप से ही व्यक्तित्व प्रभावशाली एवं आकर्षक बनता है। आजकल की तरह रंग-बिरंगे आकर्षक परिधान धारण करने से आचार्य का व्यक्तित्व शोभायमान नहीं होता।

आचार्य को मानसिक शान्ति, आत्म-विश्वास, प्रसन्नता, हँसमुखता, निर्भयता और स्नेहयुक्त व्यवहार के साथ सदा सब परिस्थितियों में शान्तचित्त और धैर्यवान रहना चाहिए। ये गुण ही उसके व्यक्तित्व को समृद्ध बनाते हैं। उसे अपनी वेश-भूषा भी सरल, स्वच्छ, सुघड़ बनाये रखनी चाहिए, क्योंकि वेश-भूषा का भी छात्रों पर प्रभाव पड़ता है।

राष्ट्र निर्माता एवं समाज के पथ-प्रदर्शक

आचार्य पर नवीन पीढ़ी के जीवन के गठन का गुरुतर दायित्व है। उसकी प्रेरणा एवं मार्गदर्शन में विद्यार्थी ज्ञानार्जन करते हैं, अपने चरित्र का निर्माण करते हैं, तथा देशभक्ति, समाज प्रेम एवं अपनी संस्कृति के संस्कारों के माध्यम से अनेक ऐसे सद्गुणों का विकास करते हैं जो राष्ट्र जीवन के लिए पोषक हैं। विद्यार्थी ही देश के भावी नागरिक एवं राष्ट्र रूपी नौका के कुशल नाविक बनते हैं। महान् आचार्यों की परम्परा ही श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण करती है। इस प्रकार आचार्य राष्ट्र निर्माता होते हैं।

आचार्यों के सम्पर्क में विद्यार्थी वर्ग ही नहीं आता, अपितु अभिभावकों एवं समाज के सभी प्रमुख घटकों से उनका सम्पर्क रहता है। आचार्य अपने आचार-विचार से समाज को उचित दिसा एवं प्रेरणा प्रदान करते हैं। समय-समय पर आवश्यकतानुसार अपने विचारों को लेखों एवं ग्रन्थों के माध्यम से प्रकट करके अथवा प्रवचन के द्वारा समाज को सही मार्ग-दर्शन एवं नेतृत्व प्रदान करते हैं। भारतीय इतिहास में समाज को नेतृत्व प्रदान करने वालों की परम्परा सदैव आचार्यों की ही रही है। सभ्य एवं संस्कृत समाज सदैव उनसे यह अपेक्षा करता रहेगा। स्वार्थी राजनीतिज्ञों के नेतृत्व में समाज का जीवन सुखी एवं संस्कृत नहीं बन सकता।

वर्तमान में आचार्यों का सम्मान एवं आर्थिक स्तर

यह सत्य है कि शिक्षा का व्यवसाय नहीं हो सकता। जीविकोपार्जन के उद्देश्य से जो शिक्षक बनते हैं उनका जीवन विद्यार्थियों के लिए प्रेरणादायक नहीं बन सकता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आचार्यों के वेतन की चिन्ता ही न की जाये। समाज का दायित्व है कि वह शिक्षक के लिए इस प्रकार की व्यवस्था करे जिससे वह आर्थिक चिन्ता से मुक्त रहकर अपने परिवार के भरण-पोषण का कार्य सुचारु रूप से चला सके और निश्चिन्त होकर विद्यार्थियों के प्रति अपने दायित्व को पूर्ण कर सके। आचार्य समाज को जो देता है, उसको हम धन से नहीं माप सकते। आचार्य के ऋण से समाज कभी उऋण नहीं हो सकता। आचार्य को समाज सम्मान दे, प्रतिष्ठा दे, वही उससे उऋण होने का सही मार्ग है।

वर्तमान काल में अधिकतर व्यक्ति धनार्जन के उद्देश्य से शिक्षक के रूप में कार्यरत हैं। उनके मन में सदैव असन्तोष व्याप्त रहता है। अधिक-से-अधिक धनार्जन किस प्रकार किया जाये, इसी उधेड़-बुन में वे सदैव लगे रहते हैं। उनका जीवन भोग प्रधान एवं अनेक प्रकार के दुर्गुणों एवं व्यसनों से युक्त रहता है। ऐसी मनःस्थिति वाले व्यक्ति शिक्षक पद को कलंकित करते हैं, शिक्षा क्षेत्र के लिए भारस्वरूप होते हैं, तथा विद्यार्थियों के जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं। हमें ऐसे व्यक्तियों से शिक्षा जगत् को मुक्त करने हेतु प्रयत्न करना चाहिए तथा ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि अवांछनीय तत्व शिक्षा क्षेत्र में शिक्षक के रूप में प्रवेश न कर सकें।

शिक्षक सरस्वती का उपासक होता है। उसका जीवन सरल, संयमित एवं त्यागपूर्ण होता है। लक्ष्मी के उपासक व्यक्ति को शिक्षा क्षेत्र में प्रवेश नहीं करना

चाहिए। वह धनार्जन हेतु व्यापारी बने, व्यवसाय करे, परन्तु उसे शिक्षक नहीं बनना चाहिए,इसी में देश एवं मानवता का कल्याण है।

आजकल अन्य श्रमिक संघों के समान शिक्षकों के भी संघ बन गये हैं जो वेतनादि की वृद्धि एवं अन्य सुविधाओं को प्राप्त करने हेतु आन्दोलन एवं हड़ताल आदि करते रहते हैं। शिक्षा क्षेत्र के लिए इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति नहीं हो सकती। शिक्षक या आचार्य यदि आन्दोलन और हड़ताल करेंगे तो विद्यार्थी वर्ग पर इसका कुप्रभाव अवश्य होगा। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों के जीवन से, और प्रकारान्तर में राष्ट्र के जीवन के साथ खिलवाड़ ही होता है। देश में कुछ कार्य क्षेत्र इस प्रकार के हैं जिनका सीधा सम्बन्ध राष्ट्र के जीवन-मरण से जुड़ा हुआ है। सेना, पुलिस, न्याय, चिकित्सा एवं शिक्षा ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें थोड़ी सी भी अव्यवस्था राष्ट्र जीवन के लिए घातक बन जाती है। इन क्षेत्रों में किसी भी मूल्य पर आन्दोलन एवं अनुशासनहीनता सहनीय नहीं हो सकती।

समाज को एवं शासन को इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे शिक्षकों के आन्दोलन करने का अवसर ही न आये। आज शासन की यह स्थिति हो गयी है कि बिना आंदोलन के उसके कान पर जूँ ही नहीं रेंगती। परन्तु ऐसी स्थिति में शिक्षकों के हितों के लिए संघर्ष छात्रों के अभिभावकों एवं समाज के प्रबुद्ध वर्ग को करना चाहिए। शिक्षकों को आन्दोलन एवं हड़ताल करना किसी भी स्थिति में शोभा नहीं देता और न उसे उचित ही कहा जा सकता है। इस विषय पर शिक्षक एवं समाज को गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

वास्तव में शिक्षक संघों का उद्देश्य शिक्षकों का शैक्षणिक विकास करना होना चाहिए। उसके लिए विचार-गोष्ठियाँ, सम्मेलन आदि आयोजित करने चाहिए तथा शिक्षकों की कुशलता एवं उनके अद्यतन ज्ञान में वृद्धि करने के लिए आवश्यक प्रयास करने चाहिए। शिक्षकों की यह मौन साधना फलदायी हुए बिना नहीं रह सकती।

शिक्षा-क्षेत्र की इस दुरवस्था के लिए वर्तमान शासन-व्यवस्था भी कम दोषी नहीं है। आज राजनीतिक क्षेत्र में नेताओं की पूजा तथा शासन के क्षेत्र में अधिकारियों के दर्प ने सभी नागरिकों को अत्यन्त हीन बना दिया है। शासनाधिकारियों का प्रभुत्व सारे समाज पर छाया रहता है। शिक्षक के पास कोई सत्ता नहीं है, उसके पास कोई अधिकार नहीं है, अतः उसका कोई सम्मान नहीं है। शिक्षकों के सम्मान की बात प्रायः की जाती है। अध्यापकों को राष्ट्रीय पुरस्कार दिये जाते हैं, यद्यपि पुरस्कार समारोह के चित्रों में कुर्सियों पर बैठे शासनाधिकारियों के पीछे अध्यापक खड़े किये जाते हैं। नेताओं और शासकों के दर्प ने शिक्षक को हीन बना दिया है।

पूँजीवादी व्यवसाय से बढ़ते हुए आर्थिक वैभव का आकर्षण आज के शिक्षक को सम्मोहित करता है। पाठ्य-पुस्तकों, परीक्षा कार्य, छात्रों के गृह-शिक्षण आदि के द्वारा वह आर्थिक वैभव का मार्ग खोजता है। विद्या से विमुख होकर वह अर्थ का आराधक बन गया है। राजनीति और शासन में व्याप्त विपर्यय से पराजित होकर ही सरस्वती का साधक लक्ष्मी का उपासक बन गया है।

अतः देश में वर्तमान शासन व्यवस्था एवं शासकों की मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। शिक्षा एवं शिक्षकों के सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण अपना कर ही इस विडम्बना को रोका जा सकता है और शिक्षा को राष्ट्र की उन्नति का साधन बनाया जा सकता है। शिक्षकों को शासनाधिकारियों द्वारा व्यक्ति के रूप में नहीं, वरन् पद के रूप में सम्मान देना चाहिए। शासकीय समारोहों में अधिकारियों से ऊपर नहीं तो कम-से-कम उनके समकक्ष सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। आवश्यक हो तो यह परिवर्तन विधान बनाकर करना चाहिए। इससे शिक्षक की समाज में भी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। इस प्रकार नेताओं और अधिकारियों से सम्मानित शिक्षकों की समर्पित साधना ही एक गौरवशाली राष्ट्र का निर्माण कर सकेगी।

☐ (भारतीय शिक्षा के मूल तत्व)

लज्जाराम तोमर : शिक्षाविद; संगठन मंत्री, विद्या भारती।

उदासीन समाज, उपेक्षित शिक्षा, असुरक्षित राष्ट्र

✍ धर्मनारायण अवस्थी

किसी भी समाज के लिए शिक्षा सर्वाधिक महत्व का विषय होता है। इस रहस्य को हमारे पूर्वजों ने भी विस्तृत चिन्तन-मनन के पश्चात अनुभूति के आधार पर समझा एवं एक व्यवस्था की रचना की। शिक्षा के माध्यम से एक ओर व्यक्ति को उपयुक्त आधारभूत संस्कार मिलते हैं और दूसरी ओर ऐसे श्रेष्ठ संस्कार युक्त व्यक्तियों के सहारे एक सुन्दर, स्वस्थ, सबल समाज एवं राष्ट्र का निर्माण होता है जिसमें व्यक्ति अपने लिए न जीकर समाज और राष्ट्र के लिए जीता है और समष्टिगत जीवन का अर्थ समझता है। बहुत विचार पूर्वक शैक्षिक रचना कर उनके सहारे एक श्रेष्ठ संस्कार पद्धति का विकास इसी का परिणाम है। इस व्यवस्था में पूर्ण आस्था रखकर समाज, राष्ट्र निरंतर प्रगति की दिशा में बढ़ता रहा, धन-धान्य से पूर्ण हुआ। 'स्वर्णिम अतीत' के नाम से उस उन्नति का स्मरण कर हम गौरव का अनुभव करते हैं। जहाँ व्यक्ति अपने व्यक्तिगत दायित्वों की पूर्ति करता हुआ सामाजिक दायित्वों के प्रति भी सदा सजग था तथा जीवन का लक्ष्य राष्ट्रहित, समाजहित ही मानकर इसी के लिए समर्पित था। यही वैचारिक दर्शन हमारी शैक्षिक व्यवस्था की आधार रचना थी। जब तक इस व्यवस्था के प्रति हम सावधान रहे, निरन्तर विकास होता रहा। क्रम कहीं टूटा नहीं। पर जिस दिन से इस चिन्तन में अन्तर आया, व्यक्तिवाद, सुख-सुविधा की ओर देखना, महत्वाकांक्षाओं की सिद्धि - ये सब बढ़ने लगा, तबसे हमारे समष्टिगत उत्थान का स्वाभाविक मार्ग अवरुद्ध हो गया। सहस्रों वर्षों के दुर्दिनों का यही कारण बना। श्रेष्ठ दर्शन, संस्कार को हम भुला बैठे। उदासीन बन गये और अब इसके सामाजिक, राष्ट्रीय ही नहीं व्यक्तिगत परिणाम भी भुगत रहे हैं। सर्वाधिक महत्व के विषय शिक्षा की ओर जो सामाजिक उदासीनता बनी उससे आज व्यक्तिगत जीवन रचना पर भी प्रश्नचिह्न लग गया है। शिक्षा के प्रति इस उपेक्षा के परिणाम सामने हैं।

आज देश की अनेकानेक समस्यायें हैं। गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट है कि प्रत्येक समस्या के पीछे व्यक्ति ही तो खड़ा है। वही उसका जनक है और वह व्यक्ति वही कर रहा है जो उसने शिक्षा के माध्यम से संस्कार पाये हैं। इसका अर्थ व्यक्तिगत दायित्व से मुक्ति नहीं और वह निर्दोष है, ऐसा भी नहीं किन्तु यह शिक्षा के प्रति उदासीनता का एक सामूहिक परिणाम है, जिसमें हमने अपनी संस्कार व्यवस्था की उपेक्षा कर समाज तथा राष्ट्र के प्रति भयंकरतम अपराध किया है और अब भी उस ओर दुर्लक्ष्य किये बैठे हैं।

ऐसे उदासीन वैचारिक दर्शन के, जिसमें शिक्षा की भूमिका का विचार ही नहीं, परिणाम सामने आने पर व्यक्तिगत, सामाजिक ही नहीं राष्ट्रीय अस्मिता भी दाँव पर लग गयी। मातृभूमि का, अपने राष्ट्रीय गौरव का ध्यान समाप्त हो गया। पाश्चात्य चिंतन के प्रभाव के कारण हम अपने जीवन का लक्ष्य ही विस्मरण कर बैठे। इस प्रकार जब समष्टिगत, श्रेष्ठ जीवनादर्श, जीवनमूल्य ही समाप्त होते दिखाई देते हैं तो राष्ट्र की सुरक्षा भी उपेक्षित होती है। राष्ट्रनिष्ठा के सामने ही जब प्रश्नचिह्न लग गया तो फिर राष्ट्र का चिंतन दूर हो ही जायेगा। गत हजारों वर्ष का संघर्ष भी हमारे सामने है और गत सौ-दो सौ वर्षों का पतन भी प्रत्यक्ष है जिसमें हमने अपनी मातृभूमि का खण्डन तक स्वीकार किया और अब धीरे-धीरे सम्पूर्ण देश की सुरक्षा भी दाँव पर लगा दी, अपनी राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए।

यह परकीयों के षड्यंत्र मात्र का परिणाम मानकर अपनी भूमिका के प्रति संतोष का विषय नहीं है, वरन् शनैः-शनैः गिरते हुए वैचारिक दर्शन का परिणाम है, जिसमें हमने सामाजिक विकास हेतु संस्थापित अपनी संस्कार व्यवस्था, जो किसी भी राष्ट्र के लिए सर्वाधिक महत्व ही नहीं, सर्वाधिक चिंता के साथ चिंतन की भी वस्तु होती है, को भुला दिया।

किन्तु पूर्वजों के पुण्य अभी क्षीण नहीं हुए हैं। उनका त्याग, बलिदान और राष्ट्रयज्ञ में दी हुई आहुतियाँ धूमिल नहीं हुई हैं। राष्ट्र के प्रति सम्पूर्ण समर्पण की इस इच्छा शक्ति के सहारे पुनर्रचना का प्रयास हो रहा है।

इस आग्रह के साथ कि शिक्षा के प्रति समाज की इस उदासीनता को दूर कर, सर्वाधिक उपेक्षित इस पक्ष को पुनः सर्वाधिक महत्वपूर्ण बनाकर, एक सशक्त राष्ट्र का निर्माण करके ही हम साँस लेंगे। हम सब इस राष्ट्रयज्ञ में अपनी आहुतियाँ दें, यही आज का युग धर्म है।

धर्मनारायण अवस्थी : राष्ट्रीय संगठन मंत्री, भारतीय शिक्षण मण्डल, जयपुर।

मुखौटा

✍ पवन रामपुरिया, अष्टम

वैसे तो मुखौटा सब पहनते हैं,
बच्चे भी, बूढ़े भी, जवान भी।
पर सबका मुखौटा एक सा नहीं होता,
कुछ का प्रत्यक्ष, कुछ का परोक्ष।
एक बच्चा पहनता है जोकर का,
मनोरंजन के लिए, आनन्द के लिए।
तो दूसरा पहनता है भूत का,
डराने के लिए, धमकाने के लिए।
एक जवान पहनता है बुढ़ापे का,
निद्रा में, आलस्य में।
वहीं एक बूढ़ा पहनता है जवानी का,
निज जिजीविषा बढ़ाने के लिए।
राक्षस, राजनीतिज्ञ, चोर-उचक्के
भी मुखौटा पहनते हैं।
पूछोगे कैसा?
आदमियत का मुखौटा पहन हैवान,
आदम की जाति में आ बसता है।
और अपने जैसे कई
हैवान गढ़ डालता है।
उसी तरह जैसे एक गंदी मछली
पूरे तालाब का पानी
गंदा कर देती है,
वह भी मानवीय सभ्यता
नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है।
कृपण राजनीतिज्ञ
मुखौटा पहनता है उदारता का,
झूठे प्रलोभन देकर
जनता के वोट जीतता है।
व्यक्ति के शुभचिंतक का,
मुखौटा चोर उचक्के पहनते हैं।
करके दाने का टोटा,
उसके घर से फिर भगते हैं।
यह तो शुरुआत है
मुखौटों की तो लम्बी जमात है।
पाखण्ड तो कलियुग की
रग-रग में बसा है।
चूसकर सभी का खून
देखो, कैसे हँसा है!
इन पाखंडियों के बीच
इंसान मिलना मुश्किल है।
खोज सको तो खोज लो,
बहुत दूर वो मंजिल है।
जब इंसान हैवानियत का
मुखौटा पहनकर,
हैवानों की जाति
नष्ट-भ्रष्ट कर डालेंगे।
दुनिया में इंसान और
सिर्फ इंसान गढ़ डालेंगे।

ESSENTIALS OF EDUCATION

✍ Shiv Sharan Sharma

All Round Development of Personality

The chief aim of education is 'all round development of an individual's personality'. According to Bertrand Russell there are three commonly advocated theories of education. Of these, the first considers that the sole purpose of education is to provide opportunities of growth and to remove hampering influences. The second holds that the purpose of education is to give culture to the individual and to develop his capacities to the utmost. The third holds that the purpose of education is to be considered rather in relation to the community than in relation to the individual, and that its business is to train useful citizens. In practical life, however, we find that there is no system of education which is based exclusively on any one of these theories. All of them, in varying proportions, are found in every existing system of education.

The first theory, as stated above, has given rise to a good deal of progressive thinking and has inspired liberal thought in the matter of providing ample 'freedom' to the child in the field of education. Previously there was undue emphasis upon the 'will' of the educator and the educational methods resembled those used in the training of horses. What the whip was to do to the horse, the rod was to do to the child. 'Spare the rod and spoil the child' was then the guiding principle. This inhuman approach produces serious psychological tension in child and results in his conflicts with the educators leading to unpleasant relations. It adversely affects and even destroys the pupil's orginality, self confidence, spontaneous thinking and interest in education. It even kills his interest in the aesthetic side of life and makes the child a pessimist. This approach, therefore, should be completely discarded.

Liberty of 'Freedom' in education, on the other hand, keeps the pupil's initiative, originality and self-confidence intact. It keeps the child ever cheerful, keen and enthusiastic to make continuous progress in life. Consequently, it is being realised that greater and greater freedom to the child makes him more and more interested in educating himself and in forming good habits necessary for the growth and all round development of his personality. It is greatly helpful in the creation of cordial, pleasant and respectful relations between the teacher and the taught.

Freedom, however, has its limitations as well. For the formation of certain special habits of our children, there is need for the adoption of 'compulsion' also. It is, in fact the method of compulsion, tactfully ap-

plied, that helps in inculcating punctuality, honesty in dealings and importance of routine in life. For example, young children want to be in bed a little longer in the morning, especially on Sundays and other holidays. It is here that their guardians at home or in the hostel have to be a bit strict to ensure that they get up at the same time as on working days and take exercise in the open so as to shake off their lethargy and enjoy the rosy dawn that follows the murky night. They will thus gradually get used to it.

Some encouragement in the form of sympathetic guidance by the teacher is necessary for consistency in child's efforts to get over difficulties in the way of intellectual achievement. It strengthens the child's will to go ahead. But this can be brought about neither by rigid discipline nor by complete freedom. The use of power and authority, as far as possible, should be avoided. Compulsion should be replaced by persuasion and kindly behaviour.

Good Individuals or Good Citizens ?

The next question that arises is whether education should produce good inividuals or god citizens. It is generally said that 'there can be no antithesis between the good citizen and the good individual'. But in actual life, educating a child as an individual is different from training him for useful citizenship. An individual, in this context, is a person of unusual talent and ability who possesses the capacity to persuade others to follow him. His most significant characteristic is that he is creative and is able to strike a wholly new line. Ths quality of creativeness, however, varies in degree from individual to individual.

A good citizen, on the other hand, has to be sufficiently cooperative to be able to produce harmony even out of the conflicting tendencies of the people in his neighbourhood and society. The children, our future citizens, have to be given the type of education which will round off their angularities and create in them a common will to pull their weight together to make our country strong and prosperous in all respects. It should, however, be borne in mind that an 'individual' with unusal talents and ability is not as social as an ordinary citizen just as the ordinary citizen is not as creative as the individual. This explains the difference between the individual and the citizen as also the necessity and need for the adoption of different modes and standards of education for an individual and those of education designed for the training of an ordinary citizen. That is why some schools introduce special tests for admission to their classes while others hold no tests and admit students just on the production of some such qualifying certificates as are prescribed for admission to various classes. Hence the schools which hold special tests for admission have a much responsibility to educate their students so

that, while acquiring knowlede of the various subjects of study prescribed for them, they have ample facilities and opportunities to develop their special talents and their qualities of leadership to enable them to take up their proper place in society as ideal citizens and outstanding leaders. These meritorious students should be encouraged to build a scientific frame of mind which may facilitate discovery and change for the betterment of society. Such 'individuals' should, however, not forget that the results of their researches and discoveries are personal in name but social in use and application.

Education for the ordinary citizen also should not be narrowly conceived, otherwise it will cause men to deteriorate. Maintenance of proper standards of education at all levels is the special responsibility of the teachers. Undeserved promotion to the next higher class and leaving the prescribed courses of study partially taught for whatever reason result in the adoption of unfair means by the student in the examination. This ultimately leads to the formation of bad habits, corruption, other malpractices and undesirable conduct. Thus the very purpose of education for good citizenship is defeated.

In some schools the boys are kept so constantly occupied in their prescribed courses of study that they are left with no time to think.This results in the loss of their mental independence and power of comprehension necessary for good citizenship. The boys in schools should have enough freedom of movement to enable them to think independently and discuss current problems with their contemporaries.

Lastly, for the development of aesthetic interst in life the child should have beautiful and happy surroundings where he can see the grass growing, flowers blooming, birds chirping and the butterflies fluttering. It is in such surroundings and environment of ample freedom that he conceives and starts practising painting, learning music, singing songs and composing poems.

❒ Neerajan, 1993-94

Shiv Sharan Sharma : Ex Principal, V.S.S.D. College, Kanpur.

शिक्षा का स्वरूप

✍ हरिशंकर शर्मा

शिल्पी पत्थर अथवा मिट्टी में से मूर्ति उत्पन्न नहीं करता, वह तो उसमें है ही, किन्तु छिपी हुई है। उसे प्रगट कर देना ही कला है। ठीक उसी प्रकार मनुष्यों में जो पूर्णता गुप्त रूप से विद्यमान है उसे प्रगट करना, उसे प्रत्यक्ष करना ही शिक्षा का कार्य है। शिक्षा कोरे ज्ञान की गठरी नहीं, न वह पुस्तकों का ढेर है। शिक्षा डिग्री नहीं और न स्वर्ण पदक जिन्हें पाकर एकबारगी छात्र गद्‌गद् हो जाते हैं और फूले नहीं समाते। यह तो साधन है उस परम साध्य की प्राप्ति का।यह तो सीढ़ियाँ हैं उस चरमोत्कर्ष तक पहुँचने की जो जीवन का पुनीत लक्ष्य है। यदि हम अनेक उपाधियाँ प्राप्त करने के पश्चात् भी 'स्व' में सीमित हो गये, यदि परास्नातक बनने के बाद भी जड़, पाषाण शिला बने रहे तो ऐसी शिक्षा का पाना और न पाना समान है। मानसकार का कथन है -

राम विमुख संपति प्रभुताई, जाइ रही पाई बिनु पाई।

जिस विद्या को पाकर उसके जाने की आशंका निरंतर बनी रहे उसका पाना और न पाना समान है। विद्या वह है जो अमरत्व प्रदान करे। शिक्षा वह है जो नश्वर को अनश्वर बना दे, जो दैत्य को देवता बना दे और जो दानव को महामानव बना दे। ऋषिकुल में जन्म लेने वाला, वेदों का भाष्य करने वाला, शिव जैसे गुरु का शिष्य कहलाने वाला रावण आज जन-जन में निशाचर के नाम से विभूषित है। कौन सी विद्या थी जिसका वह ज्ञाता नहीं था, कौन सा योद्धा था जो उससे लोहा ले सके? न जाने कितने शिवभक्त हो गये, हैं और आगे होंगे किन्तु प्रति दिन -

सिर सरोज निज करन्हि उतारी, पूजेहु अमित बार त्रिपुरारी।

सिर-सरोज समर्पित करने वाला वो एक ही भक्त हुआ। इन असंख्य विद्याओं से विभूषित को भी आज विश्व मानव कह कर नहीं पुकारता। क्योंकि वह दैत्य था, दुराचारी था, दानव था, निशाचर था। हम त्रेता में उसे एक बार चिता को समर्पित करके भी संतुष्ट नहीं हुये। वर्ष प्रतिवर्ष उसे जलते देख हम सुख और संतोष का अनुभव करते हैं। अपार सम्पत्ति, अपार शौर्य, अपार विद्या से उसके अलंकृत होने पर भी रुद्रावतार हनुमान घोषणा करते हैं- दशानन तू आभूषणों में तो सुसज्जित है, किन्तु नंगा है, वस्त्रविहीन है -

सब भूषण भूसित बरनारी,
बसन हीन नहिं सोह सुरारी।

हनुमान कहते हैं -

हे रावण ! तू उस बरसाती सरिता के समान है जिसके उद्‌गम में जल नहीं है-

'बरसि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं

तो आज के शिक्षाविदों को यह निर्णय करना है कि हम सुरसरि का सृजन कर रहे हैं अथवा बरसाती क्षुद्र नदी का। सुर सरिता तो सब का कल्याण करती है -

'सुरसरि सम सब कर हित होई'

और क्षुद्र नदी तो केवल तीन महीने 'भरि चली तोय'। फिर तो पता भी नहीं लगता कहाँ चली गई। आज शिक्षाविदों के समक्ष एक चुनौती है। हम रावणों का निर्माण कर रहे हैं अथवा राम का। हम राम का निर्माण न कर सकें किंतु कम से कम हम मानवों का निर्माण तो करें। यदि यह नहीं हो रहा तो हम सबके लिए चिन्ता और चिन्तन का विषय है। हमारी मौन स्वीकृति अथवा उदासीनता निश्चित ही पूरे समाज को विनाश की ओर तेजी से धकेल रही है। समय आ गया है जब हम शिक्षा के वर्तमान भयावह कुरूप को सँवारने का दृढ़ संकल्प लें।

शिक्षा का संचालन और नियंत्रण आज शिक्षाविदों के हाथ से दूर, बहुत दूर चला गया है। शिक्षा तो मोमबत्ती है जो स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देती है। राष्ट्रपिता के शब्दों में, शिक्षक तो भगवान भास्कर हैं जो जन-जन को प्रकाश, ऊष्मा और ऊर्जा वितरित करते हैं। शिक्षा मेघ के सदृश सब को सुलभ होनी चाहिए जो जन-जन की प्यास बुझा सके, उसे तृप्ति प्रदान कर सके। हमारी त्रासदी यह है कि मेघ की वर्षा और सूर्य के प्रकाश पर भी चन्द आततायियों का एकाधिकार हो गया है। शिक्षा के तीव्र राजनीतिकरण और अपराधीकरण से शिक्षा-प्रासाद की दीवारें हिल गई हैं। शिक्षा की नींव खोखली हो गई है। बस कसर है एक हलके से धक्के की जो उसे रसातल में पहुँचा देगा।

प्राथमिक शिक्षा

प्रतिवर्ष प्राथमिक विद्यालयों के भवन निर्माण पर करोड़ों रुपया व्यय होता है, किन्तु भवन कहाँ बनते हैं यह कोई नहीं देखता। यदि आज बने तो कल धराशायी। हम सज्जा और सामग्री पर करोड़ों प्रतिवर्ष व्यय करते हैं। किन्तु नये के स्थान पर पुरानी बाल्टी, नये के नाम पर पुराने ताले, नये के नाम पर सड़ी-गली पुरानी टाट-पट्टियाँ। इस कला में हम इतने माहिर हो गये हैं कि गिरफ्त में आना कठिन हो गया है। नीचे से लेकर ऊपर तक मशीन का प्रत्येक पुर्जा पुराना है, सड़ा-गला है। मंत्री महोदय कभी आकस्मिक निरीक्षण करें, कम से कम ईमानदारी से सर्वेक्षण ही करायें। तीस फीसदी ऐसे प्राथमिक विद्यालय गाँवों में मिलेंगे जिनके पास भवन तक नहीं है, श्यामपट्ट और खड़िया की तो बात दूर।

अध्यापक कब आते हैं, कितनी देर के लिए आते हैं, महीने में कितने दिन आते हैं, यह एक ऐसा कटु सत्य है जिससे हम सब परिचित हैं। सब जानते हुए भी अनजान बने हैं क्योंकि यह असाध्य रोग बन चुका है। भवन नहीं, अध्यापक नहीं, साज-सामग्री नहीं, ऐसे वातावरण में हमारे बच्चों की प्रतिभा का जो निरंतर स्खलन हो रहा है, उसके लिये भावी पीढ़ियाँ हम शिक्षाविदों को कभी क्षमा नहीं करेंगी। प्राथमिक विद्यालयों का सम्पूर्ण ढाँचा अत्यंत जर्जर अवस्था में है और इनके निदान का कोई उपाय भी दिखाई नहीं पड़ता। विधान में हिमने संकल्प लिया था ६-११ वर्ष के प्रत्येक बालक-बालिका की अनिवार्य शिक्षा का। पचास वर्ष बीत गये। हम कहाँ तक पहुँचे हैं, यह ईमानदारी से स्वीकार करने में हमें संकोच और लज्जा आती है।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा तो सचमुच सन्निपात ग्रस्त है। इसकी तो और भी दुर्दशा है। यहाँ किसी का किसी पर नियंत्रण नहीं - 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई'। प्रबंध-समितियाँ प्रभावहीन हो गई हैं, अध्यापक निरंकुश और शासन वातग्रस्त। ऐसा लगता है जैसे पूरे तंत्र को घुन लग गया हो और कोई उपचार दिखाई न देता हो। हाईस्कूल और इंटर परीक्षाओं का जिस ढंग से संचालन हो रहा है, उत्तर पुस्तिकाओं का जिस ढंग से मूल्यांकन हो रहा है, उसने पूरी परीक्षा प्रणाली पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है। कल होने वाला प्रश्नपत्र आज बाजार में बिक रहा है, निर्धारित प्रश्नपत्र की जगह दूसरा प्रश्नपत्र लिफाफे से निकल रहा है। पुस्तिकाओं और प्रश्नपत्रों के अभाव की शिकायतें आम हो गई हैं। जिस देहात के केन्द्र का निरीक्षण कीजिए, मनों नकल सामग्री यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलना सामान्य दृश्य है! आश्चर्य है कि अधिकतर विद्यार्थी यह जानते हैं कि उनकी उत्तर पुस्तिका का मूल्यांकन कहाँ और किनके द्वारा हो रहा है। केन्द्रों पर परीक्षार्थियों की संख्या और उनके बैठने की व्यवस्था को देखकर वेदना होती है। मेज कुर्सी के स्थान पर धरती पर बैठने की व्यवस्था अब स्वीकार्य है। परीक्षा संचालन हास्यापद हो गया है, मखौल बन कर रह गया है।

आज ही समाचार पत्र में देखा कि परीक्षकों के गत वर्ष के बिलों का भुगतान नहीं हुआ है। जिला विद्यालय निरीक्षक अपनी कुर्सी और इज्जत बचाने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद के द्वारा किसी प्रकार उनसे काम करा रहे हैं और भुगतान के नाम पर झूठे आश्वासन दे रहे हैं। कब तक चलेगा यह झूठे आश्वासनों पर आधारित प्रशासन। इस वर्ष नकल कम हुई है, यह है शिक्षा सचिव का दावा। अध्यापक का परीक्षार्थियों को नकल से हतोत्साहित करने के स्थान पर प्रत्येक प्रकार से अनुचित साधन प्रयोग को प्रोत्साहित करना, उस पाप कर्म में साझीदार बनना अथवा उसकी ओर से आँख बंद कर लेना - इस संक्रामक रोग को आप कब तक छिपाते रहेंगे? इस सत्य को आप झूठे आँकड़ों के द्वारा कब तक झुठलाते रहेंगे? आज नहीं तो कल ऐसा भयंकर विस्फोट होगा जिससे पूरे शिक्षा जगत का ढाँचा चरमरा कर ध्वस्त हो जायेगा। वह दिन अब दूर नहीं है। सरकार बदली तो सबसे पहला काम किया नकल अध्यादेश को समाप्त करना। *हम विकेन्द्रीकरण से घबराते हैं, हम परीक्षा प्रणाली को बदलने से जी चुराते हैं। अरे भले मानुसो ! दो के स्थान पर एक ही परीक्षा लो। सौंप दो हाईस्कूल की परीक्षा का संचालन प्रधानाचार्यों को क्योंकि तुम्हारे बस का रोग नहीं। किन्तु सोच लो, फिर इन की शुचिता पर आँच न आने पाये।*

जैसे एक सती अपने सतीत्व की रक्षा करती है वैसे ही हम उन मान्यताओं और मूल्यों की रक्षा करें जिसका दायित्व समाज ने हमको सौंपा है और जिसकी समाज हम से अपेक्षा करता है।

विश्वविद्यालय

पिछले दशक में विश्वविद्यालयों की जो दयनीय दशा हुई है वह वर्णनातीत है। विश्वविद्यालय अंतिम श्वास ले रहे हैं। कुलपतियों की नियुक्तियों में योग्यता का स्थान जातिवाद ने ले लिया है। विश्वविद्यालय की नियुक्तियों में भाई भतीजावाद का बोलबाला है। प्रवेश पत्र समय पर न पहुँचना, परीक्षा परिणामों में हेराफेरी मानो नियम हो गए हैं। सत्य तो विशुद्ध सोना है, किन्तु जब पीतल को सोना बताकर चलाने का चलन आचरण का उपकरण बन गया हो तो उसके भयावह दुष्परिणामों की कल्पना सहज ही की जा सकती है। शासन जान कर भी अज्ञानता का आश्रय ले, शिक्षाविद सत्य से आँख चुराये और समाज उदासीन हो जाये तो यह त्रिदोष श्मशान की तैयारी है।

हमारे विश्वविद्यालय भ्रष्टाचार और गुटबंदी के केन्द्र बन गये हैं और हमारे शिक्षा प्रतिष्ठान आतंकवादियों, आततायियों, हिंसक और अराजक तत्वों की जन्मस्थली। न जाने कितने आयोग बने किन्तु उनकी संस्तुतियाँ अमल में लाने के लिए नहीं बल्कि अलमारियों में पड़ी धूल चाटने के लिए हैं। प्रत्येक आयोग ने नैतिक शिक्षा की अनिवार्यता पर जोर दिया किन्तु हम जानते हुए भी उसकी महत्ता और उपादेयता की अनदेखी करते रहे हैं। एक और विराट रोग 'आरक्षण' बची-खुची कमी को पूरा कर देगा।

विद्यालयों में आरक्षण, नौकरियों में आरक्षण, पदों पर प्रोन्नति में आरक्षण इन सबके दुष्परिणाम अब दिखाई नहीं पड़ते किन्तु दस-बीस वर्ष में प्रतिभा पर यह क्रूर प्रहार समाज को रसातल में ले जाने वाला है। उस कुण्ठा और नैराश्य की कल्पना मात्र से मन और मस्तिष्क उद्वेलित हो उठता है जब साठ प्रतिशत अंक प्राप्त करने वाला अपने भाग्य को कोस रहा है और शून्य पाने वाला आगे बढ़ रहा है। आप वर्ण व्यवस्था को मिटा दें, यह अभिशाप है। आप पिछड़े हुओं को आगे बढ़ाने के लिए निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करें, उन्हें छात्रवृत्ति दें। उनकी पाठ्य-पुस्तकों तथा पृथक प्रशिक्षण की व्यवस्था करें किन्तु अखाड़े में उतरने दें सबके साथ और प्रतियोगिता में कोई पक्षपात न हो इसकी कठोर व्यवस्था करें। प्रतिभा का तिरस्कार करके प्रतिभाविहीन को सिंहासनासीन करना यह तो विधान के निर्माताओं ने भी नहीं सोचा।राष्ट्रपिता तो बार-बार यह बात दुहराते रहे कि सरकारी नौकरियों में सबसे योग्य, सबसे प्रतिभावान, सबसे निष्ठावान, सबसे चरित्रवान व्यक्ति ही प्रवेश पा सकें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।

अब देश के हर कोने से आवाज आ रही है, हमें आरक्षण दो। अल्पसंख्यक आरक्षण की माँग कर रहे हैं, स्त्रियाँ आरक्षण की माँग कर रही हैं, ईसाई, पारसी सभी आरक्षण चाहते हैं। आज इस आरक्षण के भूत ने सम्पूर्ण समाज को ग्रस लिया है। इस दरिद्री देश में तो ५ प्रतिशत को छोड़ कर सभी दलित हैं, सभी पिछड़े हैं, सभी अभाव और दारिद्र्य से ग्रसित हैं। अतः शासन ने इस सुसुप्त व्याघ्र को जगाकर बड़ा पाप किया है। क्या यह बताने की आवश्यकता है कि हजारों होनहार नवयुवकों की हत्या का महापाप जो आपने आरक्षण नीति के कारण किया उससे आप करोड़ों अश्वमेध करके भी मुक्त नहीं हो पायेंगे। मैं पुनः दोहराना चाहता हूँ कि वर्ण के आधार पर आरक्षण की व्यवस्था पूरे समाज को वर्गयुद्ध की आग में झोंक देगी। उन्हें योग्य बनाने के लिए, उन्हें आगे बढ़ाने के लिए सभी सुविधाएं दें किन्तु प्रतिभा के ऊपर प्रहार न करें। इनकी आह पूरे शासन को भस्म कर देगी।

क्या करें ?

शिक्षा के राजनीतिकरण, अपराधीकरण तथा व्यवसायीकरण पर अंकुश लगायें। पाठ्यक्रम और परीक्षा विधि आमूलचूल परिवर्तन करें। विषयों की संख्या प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर घटायें। प्रश्नपत्रों को Objective बनायें। हाईस्कूल की परीक्षा का दायित्व प्रधानाचार्यों को सौंप दें। जब वे कक्षा ६ और ११ की परीक्षा ले ही रहे हैं तो दसवीं के बोझ को माध्यमिक परिषद से हटाकर उसे हल्का करें। इण्टर की परीक्षा का कार्यक्रम इस प्रकार से बनायें कि सात दिन में सम्पूर्ण परीक्षा सम्पन्न कराई जा सके। बी.एड. की नई मान्यता पर रोक लगायें और जहाँ है उनका पुनः सर्वेक्षण करायें। पूरी प्रशिक्षण प्रणाली का पुनरावलोकन और संशोधन अति आवश्यक है। विश्वविद्यालयों को अधिक स्वायत्तता दें किन्तु अयोग्य कुलपतियों की नियुक्ति को रोकें। योग्यतम व्यक्ति इस पद पर आयें ऐसी व्यवस्था करें। अच्छी संस्थाओं को विशेष अनुदान देने की व्यवस्था करें। शिक्षा को रोजगारपरक बनायें। नैतिक शिक्षा को अनिवार्य करें। पाठ्य-पुस्तकों में राष्ट्र प्रेम और राष्ट्रनेताओं के शौर्य और साहस संबंधी साहित्य का समावेश करें। बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान दें। आज बालिकाओं की शिक्षा अत्यंत उपेक्षित है यद्यपि परीक्षा परिणाम की दृष्टि से वे प्रायः बालकों से आगे रहती हैं। उनकी प्रतिभा को विकसित करने की और अधिक व्यवस्था आवश्यक है। कुछ वर्षों के लिए प्राथमिक से स्नातक स्तर तक उनको निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था हो।

शिक्षक का चरित्र ऐसा हो जो मूक शिक्षण का कार्य करे, जिसे देखकर विद्यार्थियों में स्वतः श्रद्धा भाव जाग्रत हो। हमारी शिक्षा तब तक अधूरी ही रहेगी जब तक उसमें धार्मिक और राष्ट्रीय विचारों का सम्यक् समावेश नहीं किया जायेगा।

हरिशंकर शर्मा : पूर्व संयुक्त शिक्षा निदेशक, उत्तर प्रदेश, कानपुर।

"हमने किसी सम्प्रदाय या वर्ग की सेवा का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की सेवा का व्रत लिया है। सभी देशवासी हमारे बांधव हैं। जब तक हम इन सभी बंधुओं को भारतमाता के सपूत होने का सच्चा गौरव प्रदान नहीं करा देंगे, हम चुप नहीं बैठेंगे। हम भारतमाता को सही अर्थों में सुजला, सुफला बनाकर रहेंगे। यह दशप्रहरण-धारिणी, दुर्गा बनकर असुरों का संहार करेगी, लक्ष्मी बनकर जन-जन को समृद्धि देगी और सरस्वती बनकर अज्ञानान्धकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश फैलायेगी। हिंद महासागर और हिमालय से परिवेष्टित भारतखंड में जब तक एकरसता, कर्मठता, समानता, सम्पन्नता, ज्ञानवत्ता, सुख और शांति की सप्तजाह्नवी का पुण्य-प्रवाह नहीं ला पाते, हमारा भगीरथ तप पूरा नहीं होगा। इस प्रयास में ब्रह्मा, विष्णु और महेश, सभी हमारे सहायक होंगे। विजय का विश्वास है, तपस्या का निश्चय लेकर चलें।"

— दीनदयाल उपाध्याय

शिक्षा : समस्या और समाधान

© राम जी पाण्डेय

समस्या

तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली के नवम अनुवाक् में अध्यापक और छात्र के कर्तव्यों में परमश्रेयस् का निर्धारण बहुत ही सुन्दर रीति से किया गया है। वहाँ नाक मुनि एक उन्मुक्त विचारक के रूप में सामने आते हैं और उनकी स्पष्ट घोषणा है कि अध्ययन और अध्यापन ही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। अन्त में अपनी स्थापना को प्रतिष्ठित करने के लिए, जोरदार शब्दों में कहते हैं -

तद्धि तपस्तद्धि तपः

अर्थात् वही तप है, वही तप है।

आचार्य का स्थान अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योंकि वह नित्य स्वाध्याय करता है, ज्ञानार्जन करता है और फिर उसे विद्यार्थियों को वितरित करता है। वितरण की इस प्रक्रिया में यह भीतर से शतदल की भाँति विकसित होता रहता है।

सफल जीवन की सर्वोच्च भूमिका तपस्या द्वारा ही निर्मित होती है। इसका कोई संक्षिप्त मार्ग नहीं है। आज हमारे राष्ट्रीय जीवन का जो अवमूल्यन हो रहा है, उसके कई कारणों में से एक कारण यह भी है कि हमारे शिक्षक और शिक्षार्थी तप से विरत हो गये हैं। जीवन में किसी भी उपलब्धि के लिए तपस्या अनिवार्य है। अपने महान ग्रन्थ टेम्पेस्ट में शेक्सपियर ने फर्डिनेण्ड और मिरेण्डा के पारस्परिक आकर्षण को प्रेम की परिपक्वता प्रदान करने के लिए प्रॉस्पेरो द्वारा इसी आशय की अभिव्यक्ति कराई है-

'बट दिस स्विफ्ट बिजनेस आई शैल अनईजी मेक, लेस्ट टू लाइट विनिंग मेक द प्राइज़ लाइट।'

अर्थात् इन दोनों के मिलन की आकुलता को मैं और अधिक व्यग्रता में ढालूँगा, अन्यथा सरलता से प्राप्त विजय कहीं बिल्कुल सस्ती न बन जाये।

उर्दू के प्रख्यात शायर गालिब का भी यही कहना है-

'आह को चाहिये इक उम्र असर होने तक'।

दासत्व काल में हमारे नेताओं ने कहा था कि स्वतंत्र होते ही हम शिक्षा में आमूल परिवर्तन करेंगे, आदर्श पाठ्यक्रम बनायेंगे और निरक्षरता का नामोनिशान मिटा देंगे। हमने यह भी कहा था कि हमारे विश्वविद्यालय क्लर्क और बाबू पैदा करने वाली फैक्ट्रियाँ नहीं, वरन् राष्ट्र की भावी आशा-आकांक्षाओं के वाहक एवं विश्व नागरिक निर्माण करने वाले आदर्श विद्यापीठ बनेंगे। किन्तु सदियों की पराधीनता से हम ऐसे प्रमादी हो गये कि शिक्षा के नित नये प्रयोगों और संकल्पों-विकल्पों के बाद भी जहाँ के तहाँ खड़े हैं। आज भी हमारी साक्षरता का प्रतिशत ४० से आगे नहीं बढ़ पाया है। तकनीकी ज्ञान जिस रफ्तार से आगे बढ़ रहा है, उसे देखते हुए आजादी के बाद की हमारी ५० वर्षों की प्रगति एक बहुत बड़ा विद्रूप बन गई है।

देखते-देखते हमारे सामने से तीन युग निकल गये- अणु युग, प्रक्षेपास्त्र युग और अब हम अंतरिक्ष युग में प्रवेश कर गये हैं। इस रफ्तार के साथ कदम मिला सकना कठिन हो रहा है। फलस्वरूप हमारी समस्त सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यतायें आमूल चूल हिल गई हैं। सबसे बड़ी विसंगति यह है कि इस तकनीकी ज्ञान की अभूतपूर्व वृद्धि के अनुरूप हमारे शैक्षणिक व सामाजिक परिवेश में समानान्तर परिवर्तन नहीं हो पा रहा है।

हमें उन कारणों को रेखाङ्कित करना होगा जिनके कारण शिक्षा की दुर्गति हुई है। सबसे बड़ा कारण तो यही है कि आजादी के बाद देश की बागडोर अंग्रेजियत परस्त लोगों के हाथ में आई। ऐसे लोग तुष्टीकरण के हिमायती थे। अतः उन्होंने शिक्षामंत्री ऐसे व्यक्ति को बनाया जिसका भारतीय संस्कृति से दूर का भी वास्ता नहीं था। पाश्चात्य शिक्षा ने चाटुकारों का एक ऐसा समूह पैदा किया, जिन्होंने अमेरिका की तर्ज पर 'फादर लैण्ड' का आविष्कार किया और उसी के आधार पर 'फादर ऑफ नेशन' सोचा और उसका अनुवाद राष्ट्रपिता करके महात्मा गांधी के मत्थे मढ़ दिया। हमारी अपनी संस्कृति माँ को सर्वोच्च स्थान देती है। हमने भारत माता को भी वही सम्मान दिया है -

'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि इस देश में सपूत ही कहलाते हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे अंग्रेजियत परस्त चाटुकार चाहते हैं कि सारा देश गांधी जी को इस देश का एक महान सपूत (जैसे राम, कृष्ण आदि हैं) न मानकर अमेरिका की तर्ज पर राष्ट्रपिता कहे। इन अंग्रेजियत परस्त चाटुकार शासकों के बारे में किसी कवि ने ठीक ही कहा है -

'छूट गया भारत माता से रिश्ता दूर दराज।
देश भक्ति और रकम चीरना, एक पंथ दो काज।'

पाश्चात्य शिक्षा की दूसरी बुराई यह है कि यह शिक्षा पद, प्रतिष्ठा, पैसा और 'पॉवर' को सर्वाधिक महत्व देती है। अतः इस शिक्षा को पाया हुआ व्यक्ति साधन की पवित्रता में विश्वास नहीं करता। उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वह अपनी आत्मा को भी बेचने को तैयार हो जाता है।

तुलसी दास ने लिखा है -

'हरै शिष्य धन शोक न हरई।
सो गुरु घोर नरक महँ परई।'

अर्थात् जो गुरु शिष्य का धन (अध्यापन शुल्क) तो ले लेता है, किन्तु उसके शोक और चिन्ताओं को दूर नहीं करता, वह घोर नरक में पड़ता है। इस दृष्टि से तो शिक्षकों में बहुसंख्यक अपराधी हैं, क्योंकि उन्होंने शिक्षा की दुकानें (कोचिंग संस्थान के नाम से) खोल रखी हैं फिर भी उनके विद्यार्थी निराश, हताश, परेशान घूम रहे हैं। अच्छा हो कि ये दुकानदार कोचिंग संस्थान नाम हटाकर दुकान नाम ही रख लें। यथा 'दास की दुकान', 'सचदेवा की दुकान', 'आई.आई.टी. सर्किल की दुकान' आदि। विद्या के ये दुकानदार यदि चाहें कि उन्हें आचार्य का सम्मान मिले तो यह असम्भव है। दुकानदार को श्रद्धा और सम्मान क्यों दिया जाये।

इस शिक्षा की तीसरी बुराई यह है कि यह शिक्षा प्रतिस्पर्धा पर आधारित है। बचपन से ही बालक में अहंकार का बीजारोपण किया जाता है। अहंकार का स्थूलतम रूप ही महत्वाकांक्षा है।

क्या हम कोई विषय इसलिए पढ़ें कि हमें दूसरे सीखने वालों से आगे निकलना है।क्या संगीत के आनन्द के लिए ही संगीत नहीं सीखा जा सकता?वस्तुतः किसी भी विषय की गहराइयाँ तभी स्पर्श की जा सकती हैं, जब उस विषय की हमें रसात्मक अनुभूति हो। किसी भी विषय का सम्यक् ज्ञान उन्हें ही हो सकता है जो उसमें डूबे हैं, प्रतिस्पर्धा में दौड़े नहीं हैं। दौड़ने और डूबने में फर्क है। दौड़ना तनाव है, डूबना विश्रान्ति है। दौड़ में एक त्वरा होती है, जो हमें स्वयं के बाहर ले जाती है। डूबना स्वास्थ्य है, क्योंकि डूबकर व्यक्ति स्वयं की आत्यन्तिक गहराइयों में पहुँच जाता है -

'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।'

भारत में आचार्य का पद सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। वशिष्ठ और विश्वामित्र के समक्ष राजा नतमस्तक होता था। लोकमान्य तिलक से किसी ने पूछा था कि भारत की आजादी के बाद आप क्या करेंगे। भगवान तिलक ने उत्तर दिया था कि मैं गणित का प्राध्यापक बनूँगा। रूस के राष्ट्रपति गोर्बाचोव ने भी प्राध्यापक बनने की इच्छा व्यक्त की थी। किन्तु पाश्चात्य शिक्षा का कुफल ही है कि शिक्षा के बजाय राजनीति के पद को अधिक सम्माननीय समझा जाने लगा। हमारे देश का एक कुलपति अपना पद छोड़कर राष्ट्रपतित्व की होड़ में पड़ता है और चाहता है कि उसका जन्मदिन शिक्षक दिवस के रूप में मनाया जाये। वस्तुतः एक उच्चकोटि के आचार्य का राष्ट्रपति बनना उसका अधःपतन ही है। पाश्चात्य शिक्षा ने हमारे राजनीतिज्ञों को इतना अहंकारी बना दिया है कि वे चाहते हैं कि मरने के बाद भी उनकी कब्रों की पूजा चलती रहे। राज घाट, शान्ति घाट, विजय घाट और किसान घाट - ये सब अहंकार के ही घाट हैं।

विद्या तो विनय देती है - 'विद्या ददाति विनयं'। वास्तविक विद्या से अहंकार का विसर्जन होता जाता है।

समाधान - शिक्षा में अध्यात्म के व्यावहारिक प्रशिक्षण का समावेश

मानवीय मूल्यों को आचरण में उतारने के लिए अध्यात्म के व्यावहारिक ज्ञान की महती आवश्यकता है। बिना उन मूल्यों के अनिवार्यकरण के उनमें वह दृढ़ता नहीं आयेगी कि वे हमारे चरित्र के स्थायी अंग बन सकें। जीवन मूल्यों की पुष्टि और दृढ़ता उन्हें अध्यात्म से जोड़कर ही सम्भव है। तभी वे मूल्य दैनन्दिन जीवन में प्रत्यक्ष हो सकेंगे।

'श्रीमद्भागवत' में बड़ी ही स्पष्ट भाषा में कहा गया है -

'धर्मः सत्यः दयोपेता विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेत आत्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि'।।

अर्थात् जो मेरी भक्ति से वंचित हैं, उन्हें धर्म, सत्य, विद्या, दया, तप आदि कुछ भी सम्यक् रूप से पवित्र नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में जो धर्म, जो सत्य, जो दया, जो तप और विद्या भगवान से नहीं जुड़े हैं अर्थात् ईश्वर वर्जित और 'सेक्युलर' हैं, वे व्यक्ति के चित्त को पूर्ण रूपेण शुद्ध और पवित्र रखने में असमर्थ हैं। ईश्वर से जुड़ जाना 'भागवत यान' पर सवार होकर चलना है। फिर तो सारथी बनकर बैठा हुआ ईश्वर पग-पग पर रक्षा करता है। ईश्वर से जुड़ जाना, उसे अपने में निरंतर वर्तमान देखना ऐसी मानसिक प्रशिक्षा है जो मन को असत् पथ से विरत किये रहती है। जो विद्यार्थी ऐसी प्रशिक्षा प्राप्त करता है वह कभी भी कुत्सित अन्न नहीं खायेगा, कभी भी कुत्सित वचन नहीं बोलेगा, कभी कुत्सित कर्म नहीं करेगा, क्योंकि वह सोचेगा कि उसके अन्न, वचन और कर्म का पहला भोक्ता या आस्वादक तो भगवान है। वह स्वयं तो उस परम प्रिय के भोग का माध्यम भर है। तो वह अपने परम सहचर (भगवान) को अपावन अन्न, वचन और कर्म का भोग कैसे अर्पित करे?

भारत माता बन्ध्या नहीं हो गई है। अब भी हमारे बीच उच्च कोटि के योगी एवं आचार्य मौजूद हैं जो अज्ञात नाम रहकर सब प्रकार की शिक्षा निःशुल्क दे रहे हैं। विद्यार्थियों को चाहिये कि उनके मार्गदर्शन में वे अपना जीवन सफल करें।

रामजी पाण्डेय : अवकाश प्राप्त प्राध्यापक, चन्द्रशेखर आजाद कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, कानपुर।

जीवन के सत्य अधिक प्रभावी हैं, विकृति पर प्रकृति की और प्रकृति पर संस्कृति की विजय सुनिश्चित है, भारत की मिट्टी का मुझे भरोसा है। जो राह का डर बताकर चलने की सलाह देते हैं, उनकी मत सुनिये। गलत राह पर भी चलें, तो कुछ नहीं बिगड़ेगा,पर चलने की शक्ति जाती रही तो ठूंठ बनकर रह जायेंगे। और हमें तो अपनी राह बनानी है, जिस ओर हम चलेंगे, वही रास्ता होगा।

— दीनदयाल उपाध्याय

राष्ट्र निर्माण में शिक्षा का योगदान

✍ चन्द्रपाल सिंह

शिक्षा अर्थात् सीखने और सिखाने की क्षमता ही मानव की ऐसी विशेषता है जो उसे पशु जगत् से बहुत ऊँचा उठा देती है। पशु को भय और प्रलोभन से सिखाया तो जा सकता है, परन्तु उस सीखे हुए ज्ञान को वह न तो विकसित कर सकता है और न दूसरों को संचरित कर सकता है। इसी विशेष क्षमता के कारण मानव अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को विकसित तथा ज्ञान-विज्ञान के अपार भण्डार को संचित कर पाया है। पशु, प्रकृति ने जैसा भी उत्पन्न किया था, हजारों वर्ष के बाद भी वैसा ही है। उसकी न कोई सभ्यता है न संस्कृति। परन्तु मनुष्य विरासत में अपने पूर्वजों से परम्पराएँ, ज्ञान-विज्ञान, भाषा, साहित्य, कला आदि प्राप्त करता रहा है, उसे समृद्ध कर अगली पीढ़ी को देता रहा है ताकि वह भी उसे और समृद्ध कर अगली पीढ़ी को दे सके। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अशिक्षित मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं होता।

राष्ट्रीय संस्कृति

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशेष भूमि, भौगोलिक परिस्थिति तथा ऐतिहासिक परम्पराओं के कारण एक विशेष प्रकार की संस्कृति विकसित हो जाती है। कोई भी राष्ट्र अपनी विशेष संस्कृति के अनुकूल ही अपनी व्यवस्थायें बनाकर अपनी उन्नति करता है। इस उन्नति के लिए राष्ट्रीय स्वतंत्रता की भी आवश्यकता होती है। यदि किसी राष्ट्र को अन्य राष्ट्र का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ता है तो उसकी अपनी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है। उसकी अपनी संस्कृति, भाषा, कला-कौशल स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं हो पाते। उसे शासक राष्ट्र की भाषा एवं संस्कृति को स्वीकार करना पड़ता है। दास मनोवृत्ति हो जाने के कारण उसे अपनी प्रत्येक वस्तु हेय लगने लगती है तथा शासक राष्ट्र की सभी वस्तुयें अच्छी लगने लगने लगती हैं। स्वतंत्र राष्ट्र भी एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार का सांस्कृतिक लेन-देन आवश्यक तो है ही, वह दोनों के लिए लाभदायक भी है। परन्तु ऊपर से लादी हुई संस्कृति भयावह होती है।

मुसलमानों ने इस प्राचीन राष्ट्र पर भीषण अत्याचार किये, हमारे धार्मिक स्थानों को भ्रष्ट किया, हमारे कुछ लोगों को बलात् मुसलमान बनाया, परन्तु वे हमारे धर्म और संस्कृति को प्रभावित नहीं कर पाये। अंग्रेजों ने तो अपनी शिक्षा नीति के द्वारा हमें ऐसा मीठा जहर पिलाया कि हम स्वयं अपनी संस्कृति को भूलने लगे, आर्यों को विदेशी समझने लगे तथा अपने धार्मिक कर्मकाण्ड को अन्ध विश्वास। हमें पश्चिमी भाषा, पश्चिमी वेशभूषा, पश्चिमी चाल-चलन अच्छे लगने लगे। इस दृष्टि से अंग्रेजी राज मुसलमानी राज से अधिक खतरनाक साबित हुआ।

स्वातन्त्र्योत्तर भटकाव

देश विभाजन जब 'द्विराष्ट्र' सिद्धान्त पर हुआ तो उसका तार्किक परिणाम होना चाहिये था भारत को हिन्दू राष्ट्र घोषित करना तथा उसके संविधान को उस राष्ट्र की परम्पराओं और आदर्शों पर आधारित करना। परन्तु विडम्बना यह रही कि इस देश के भाग्य विधाता वे बने जिनकी शिक्षा-दीक्षा कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड के विश्वविद्यालयों में हुई तथा जो अपनी भाषा में सोचने, बोलने और लिखने के बजाय अंग्रेजी में सोचते, बोलते और लिखते थे। वे कैसे यहाँ की संस्कृति को प्रतिष्ठित कर सकते थे? उन्होंने भारत को इंगलैण्ड और अमेरिका जैसे पश्चिमी देशों का केवल नकलची बनाने की चेष्टा की। गांधी के घोषित अनुयायी होते हुए भी उन्होंने गांधी के सारे सिद्धान्तों की हत्या की। भारत की आध्यात्मिक संस्कृति पर उन्होंने पश्चिम की भौतिकवादी संस्कृति को तरजीह दी। शिक्षा मानव निर्मात्री हो तथा ऐसे नागरिक तैयार करे जो चरित्रवान हों, देशभक्त हों तथा अपने पैरों पर खड़े हो सकें, इसके स्थान पर उन्होंने ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जिससे बड़े-बड़े उद्योगपति, वैज्ञानिक, इंजीनियर और डाक्टर तो बने पर उनका लक्ष्य रहा केवल सुखोपभोग। इसी शिक्षा का परिणाम है कि आज देश में भौतिक उन्नति तो दिखाई पड़ती है, परन्तु स्वार्थ का बोलबाला है। एक ओर गगनचुम्बी

अट्टालिकायें हैं तो दूसरी ओर झुग्गी-झोपड़ियाँ। एक ओर भरे पेटों के लिए षट्रस की भरमार है, तो दूसरी ओर भूखे पेटों को सूखी रोटी भी नसीब नहीं। पैसा कमाने की हवस छायी हुई है। प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार व्याप्त है, यहाँ तक कि सरस्वती के मंदिरों में भी नाटकीय दृश्य दिखाई देते हैं।

चरित्र का विकास कहाँ?

मुझे स्मरण है स्वतंत्रता के ठीक पश्चात् हमारे नेताओं ने विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के छात्रों से श्रम-दान कराया था, जिसके अन्तर्गत सड़क बनाना, बाँध तैयार करना आदि था। परन्तु यह योजना एक-दो वर्ष चलकर ही रह गई। यदि छात्रों से उनकी लम्बी छुट्टियों में इस प्रकार का रचनात्मक काम कराना उनकी शिक्षा का अंग बना दिया जाय तो राष्ट्र निर्माण का कितना बड़ा कार्य हो जाता और साथ ही राष्ट्र के होनहार नागरिकों का चरित्र निर्माण भी होगा। इसी प्रकार छात्रों से प्रौढ़ शिक्षा का कार्य कराया जा सकता था अथवा उनसे उन बालकों को पढ़वाया जा सकता था जो अपनी पारिवारिक परिस्थिति के कारण विद्यालय नहीं जा सकते। इस प्रकार संविधान के उस निर्देशक सिद्धान्त का कार्यान्वयन हो सकता था जिसके अनुसार प्रत्येक १४ वर्ष तक के बालक को निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा मिलना अनिवार्य होना चाहिये। आज भारत में साक्षरता का प्रतिशत ३७ है, जबकि किसी भी आधुनिक प्रजातन्त्र के लिए साक्षरता शत-प्रतिशत होना आवश्यक है।

शिक्षा का अर्थ केवल कतिपय विषयों की जानकारी देना मात्र नहीं है। शिक्षा के द्वारा हम बालक की शारीरिक, मानसिक, व्यावसायिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करते हैं। इस प्रकार बालक का सर्वाङ्गीण विकास ही शिक्षा का उद्देश्य है। पर आज कतिपय विद्यालयों को छोड़कर कहीं भी इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो रही है। अच्छा रोजगार प्राप्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य रह गया है। रोजगार के लिए डिग्री चाहिए और डिग्री प्राप्त करने हेतु येन केन प्रकारेण परीक्षा पास करना ही आज के नवयुवक का लक्ष्य बन गया है। क्या ऐसे नवयुवकों से हम राष्ट्र की उन्नति की आशा कर सकते हैं? स्वतंत्रता मिलते ही हमें प्रथम वरीयता शिक्षा को देनी चाहिए थी। पर हमारे नेताओं ने प्रथम वरीयता दी कल-कारखानों और बाँधों को। परन्तु इन कल-कारखानों को चलाने वाले लोग यदि चरित्रवान न हुए, ईमानदार न हुए, देशभक्त न हुए तो इन बड़े औद्योगिक संस्थानों से देश को क्या लाभ होगा? आज जितने घोटाले इन बड़े-बड़े निर्माणों में हो रहे हैं, सभी जानते हैं। राष्ट्र निर्माण में शिक्षा का इतना अधिक महत्व होते हुए भी यह कितने शोक का विषय है कि किसी भी राजनीतिक पार्टी के घोषणा-पत्र में न शिक्षा की स्पष्ट कल्पना है और न उसको वरीयता देने पर ही बल है।

निज भाषा का महत्व

स्वतंत्र होते ही हम लोगों ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा तो घोषित कर दिया परन्तु अंग्रेजी को १५ वर्षों के लिए सहायक राजभाषा मान लिया ताकि इस अवधि में अंग्रेजी पढ़े-लिखे अधिकारी हिन्दी सीख लें, परन्तु ४५ से अधिक वर्ष व्यतीत होने पर भी अंग्रेजी का वही दबदबा कायम है। हम यहाँ तक अंग्रेजी से प्रभावित हैं कि बच्चे के जन्मदिन अथवा विवाह जैसे धार्मिक कृत्य के निमंत्रण पत्र भी अंग्रेजी में छपवा कर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में अपने बच्चे को प्रविष्ट कराना प्रतिष्ठामूलक मानते हैं।

डॉ० सम्पूर्णानन्द उन राजनीतिज्ञों में से थे जो देश के निर्माण के लिए भाषा और संस्कृति का महत्व अच्छी प्रकार समझते थे। उन्होंने उत्तर प्रदेश में हिन्दी को अनिवार्य बनाया। परिणाम हुआ कि मुसलमान बच्चे भी तुलसी, सूर और मैथिली शरण गुप्त को पढ़ने लगे। मैंने कई ऐसे मुसलमान वकीलों को देखा है जो शुद्ध हिन्दी बोलते थे और अपने ड्राफ्ट (मसौदे) हिन्दी में तैयार करते थे। मुसलमानों को मुख्य राष्ट्रीय धारा में लाने का यह सफल प्रयास था, परन्तु उनके बाद दूसरे कांग्रेसी मुख्यमंत्री श्री नारायण दत्त तिवारी ने उर्दू को उत्तर प्रदेश की दूसरी सरकारी भाषा बनाकर श्री सम्पूर्णानन्द के कार्य पर पानी फेर दिया। केवल इसीलिए न कि मुसलमानों के थोक वोट उनको मिलें।

किसी भी राष्ट्र के समुचित विकास के लिए, उसके अपने सांस्कृतिक आदर्शों के अनुकूल आगे बढ़ने हेतु उचित शिक्षा की महती आवश्यकता है, क्योंकि शिक्षा के द्वारा ही समाज में वांछित परिवर्तन लाया जा सकता

है। इजराइल जैसे छोटे देश ने किस प्रकार आश्चर्यजनक उन्नति की है। मुश्किल से ४० लाख लोगों को यह देश आस-पास के लगभग १० करोड़ की आबादी के अरब देशों का किस प्रकार सफलतापूर्वक सामना कर सका। उसने अपनी पुरानी हिब्रू भाषा को पुनर्जीवित किया, जबकि उस देश में आकर बसने वाले यहूदी अधिकतर अमरीका, जर्मनी, रूस आदि देशों के थे और वहीं की भाषा बोलते थे। परन्तु उन्होंने अपनी सांस्कृतिक भाषा हिब्रू को अपनी राष्ट्र भाषा बनाया। उसी में अन्य भाषाओं के वैज्ञानिकों एवं तकनीकी ग्रन्थों का अनुवाद कराया और उसी के माध्यम से अपने नवयुवकों को ऊँची से ऊँची शिक्षा दी। उनमें यहूदी धर्म, यहूदी संस्कृति और इजराइल राष्ट्र के प्रति गर्व का भाव भरा। तभी तो आज इजराइल बड़े-बड़े राष्ट्रों के कान काटता है।

हमें भी यदि अपने राष्ट्र को उन्नति के पथ पर अग्रसर करना है, उसे समृद्ध और शक्तिशाली बनाना है तो अपने राष्ट्रीय आदर्शों पर आधारित शिक्षा के द्वारा प्रत्येक बच्चे में अपने देश, अपनी भाषा और अपनी संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम, अटूट निष्ठा तथा निश्चल गर्व की भावना भरनी होगी।

☐ नीराजन १९९६-९०

चन्द्रपाल सिंह : अवकाश प्राप्त संस्थापक प्राचार्य, पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

> हमें यह मानकर चलना होगा कि अर्थ हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है, साध्य नहीं।
> — दीनदयाल उपाध्याय

शिक्षा नीति की ज्वलंत आवश्यकताएं

✍ ओमशङ्कर

राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, उत्तर प्रदेश द्वारा आयोजित शैक्षिक उन्नयन गोष्ठी में अनुभवी प्राचार्य द्वारा पढ़ा गया वक्तव्य जो अत्यधिक सराहा गया।

अध्यक्ष महोदय,

इस गोष्ठी में विचार प्रस्तुत करने का अवसर आपने दिया, एतदर्थ धन्यवाद। इसके पूर्व भी इस प्रकार की गोष्ठियाँ इस भवन में हो चुकी हैं; किन्तु परिणाम क्या हुए, मैं कह नहीं सकता। आज की गोष्ठी भी किन परिणामों तक पहुँचेगी, भविष्य बतायेगा। फिर भी शिक्षा-क्षेत्र में काम करने के कारण एक सहज पीड़ा होती है, जब शासन का राजनैतिक मुखौटा इस सारस्वत क्षेत्र को भी ठगने लगता है। खैर...। मूल विषय पर आता हूँ। समय क्यों नष्ट करूँ? आपने विषय दिया है 'दोहरी शिक्षा की समाप्ति'। आइये इस पर विचार करें।

'दोहरी व्यवस्था' से क्या तात्पर्य है, सरकार को यह स्पष्ट नहीं है। इस समय अपने प्रदेश सहित लगभग सम्पूर्ण देश में दो से अधिक शिक्षा पद्धतियाँ एवं कई प्रकार की संस्थायें कार्य कर रही हैं। उदाहरणार्थ अपने प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में ही केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित अथवा C.B.S.E. से मान्यता प्राप्त विद्यालय, अंग्रेजी माध्यम के तथाकथित पब्लिक स्कूल जो एक अन्य अखिल भारतीय शिक्षा परिषद् I.C.S.E. से सम्बद्ध हैं, माध्यमिक शिक्षा परिषद, उत्तर प्रदेश से मान्यता प्राप्त सरकारी एवं निजी शिक्षा संस्थायें तथा अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित कुछ विशेष अधिकार एवं सुविधा प्राप्त संस्थायें आदि चल रही हैं। इनमें से कौन सी शिक्षा संस्थायें अथवा पद्धतियाँ समाप्त होनी चाहिए, यह स्पष्ट होना चाहिए।

प्रदेश के माननीय मुख्यमंत्री महोदय के एक सार्वजनिक वक्तव्य में यह ध्वनित होता है कि वे प्रदेश में पब्लिक स्कूल जैसे विद्यालयों को समाप्त कर देना चाहते हैं, क्योंकि वे शिक्षा का एक ही प्रकार प्रदेश में चाहते हैं। परन्तु यदि वे एक विशेष प्रकार का रूप ही प्रदेश में लागू करना निश्चित करते हैं तो एक बहुत बड़ी संवैधानिक आपत्ति उपस्थित हो सकती है। यह आपत्ति होगी नागरिक के समानता के मौलिक अधिकार के हनन की। क्योंकि शिक्षा संविधान की समवर्ती सूची (concurrent list) में है। अतः केन्द्रीय सरकार ही सम्पूर्ण देश में शिक्षा के समान स्वरूप को निर्धारित कर सकती है। यह विषय प्रदेशीय सरकार के अधिकार के बाहर है। अतः यह विवाद प्रदेश-सरकार क्यों उठा रही है, वही जाने। दूसरा विषय है -

शिक्षा का गुणात्मक विकास

शिक्षा बालक के सर्वांगीण विकास की एक उदात्त प्रक्रिया है। अतः शिक्षा के गुणात्मक विकास के लिए बालक की प्रसुप्त प्रतिभाओं का विकास करना होगा न कि पुस्तकीय ज्ञान का संप्रेषण मात्र। आगे जो भी बिन्दु हम प्रस्तुत करेंगे वे सभी उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में ही देखे जाने चाहिए। छात्र के विकास हेतु कतिपय मौलिक गुण हैं - **स्वानुशासन, उत्तरदायित्व भावना, नैतिकता तथा देश प्रेम।** इनके परिणामस्वरूप उसमें **आत्मनिष्ठा, कर्मनिष्ठा, धर्मनिष्ठा तथा राष्ट्रनिष्ठा** का विकास होगा और स्वाभाविक रूप में उसके द्वारा **आत्मोन्नति, विभवोन्नति, समाजोन्नति तथा राष्ट्रोन्नति** के परिणाम प्राप्त होंगे। यह उपलब्धि फिलहाल कम छात्र संख्या, अच्छे (योग्य तथा चरित्रवान) शिक्षकों, प्रभावी पाठ्यक्रम और सुविचारित परीक्षा प्रणाली के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। इस हेतु राष्ट्रीय स्तर पर विचार, परस्पर विश्वास और राजनीति से मुक्त दृष्टि की महती आवश्यकता है।

सीमित संख्या वाली कक्षायें व विद्यालय

शिक्षा की गुणवत्ता को प्रभावित करने वाला दूसरा बड़ा कारण है जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि। इसके कारण प्रवेशार्थी छात्रों की संख्या में वृद्धि और उसके अनुपात में विद्यालयों की संख्या में कमी होती है।

परिणामतः एक कक्षा में जहाँ ४० से अधिक बच्चे नहीं होने चाहिए वहाँ ७०-८० तक बच्चे बैठते हैं। स्वाभाविक है कि ऐसे में अध्यापक बच्चों पर व्यक्तिगत ध्यान नहीं दे सकता। ऐसी कक्षा में उपयुक्त अनुशासन भी नहीं रह सकता। अतएव शिक्षा की गुणवत्ता को कायम रखने के लिए एक कक्षा के कई अनुभाग खोलने अथवा एक अनुभाग में अधिक प्रवेश लेने के स्थान पर विद्यालयों की संख्या बढ़नी चाहिए। एक विद्यालय में भी छात्रों की कुल संख्या उतनी ही चाहिए जितने के चेहरे प्रधानाचार्य देखकर पहचान सके कि वे उसी विद्यालय के छात्र हैं। मेरी राय में एक शिक्षा संस्था में ५०० से अधिक छात्र नहीं होने चाहिए।

शैक्षिक व्यवस्था में प्रबन्ध तन्त्र का स्थान

हमारे प्रदेश में वर्तमान काल में स्थानीय प्रबन्ध तंत्रों को निष्प्रभावी करके जो अव्यवस्थित व्यवस्थायें चलाई जा रही हैं, मेरे विचार से बच्चों के गुणात्मक विकास पर पहली चोट उन्हीं के द्वारा लगी क्योंकि यदि इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि अपने ही प्रान्त में शिक्षा के प्रसार का श्रेय निजी संस्थाओं को ही जाता है। अधिक दिन पूर्व की बात छोड़ दें जब निजी शिक्षा संस्थाओं को अधिक स्वायत्तता मिली हुई थी। अभी हाल का ही उदाहरण लें - गत २६ जनवरी के 'दैनिक जागरण' में फर्रुखाबाद जनपद के जिलाधिकारी ने बताया कि जनपद में कुल १३० माध्यमिक शिक्षा संस्थायें हैं जिनमें तीन सरकारी हैं, शेष १२७ निजी संस्थाओं में ३० का प्रबन्ध असन्तोषजनक है। दूसरे शब्दों में ६७ निजी प्रबन्ध द्वारा संचालित विद्यालय अर्थात् कुल के ७५% विद्यालय आज भी, जब प्रबन्ध समितियों के अधिकार सीमित कर दिये गये हैं, संतोषजनक रूप में काम कर रहे हैं। ईमानदारी से देखा जाय तो इन प्राइवेट विद्यालयों से ही देश और प्रदेश को उच्च कोटि के प्रशासक, वैज्ञानिक, इंजीनियर, अधिवक्ता और विधायक मिले हैं। प्रबन्ध तन्त्रों पर आवश्यकता से अधिक अंकुश लगाकर उन्हें निष्प्रभावी बना देने का परिणाम यह हुआ कि आज कोई भी समाजसेवा की भावना से प्रेरित दानवीर, यशिच्छु व्यक्ति विद्यालय खड़ा करने की बात नहीं सोचता और जो खड़ा भी करना चाहता है वह सरकार की छाया से भी अपने विद्यालय को दूर रखना चाहता है।

पारस्परिक विश्वास

यों तो समाज-जीवन ही परस्पर विश्वास पर आधारित है किन्तु लोकतंत्र में तो सम्पूर्ण ढाँचा ही विश्वास के बिना चूर-चूर हो जाता है। प्रबंन्ध तन्त्रों के ऊपर सर्वथा अविश्वास करना अनुचित, अन्यायपूर्ण और अव्यावहारिक है। अधिनायकवाद में ऐसे व्यवहार से भले ही काम चल जाये, परन्तु लोकतंत्र में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। अतएव शिक्षा में गुणवत्ता बढ़ाने के लिए जहाँ हमें शिक्षकों का विश्वास प्राप्त करना होगा वहीं प्रबन्ध तंत्र का भी।

सांकुश प्रबन्ध तंत्र

प्रबन्ध तंत्र, अथवा व्यवस्था जिसके अन्तर्गत प्रबन्ध तंत्र बनता है, पर विश्वास रखते हुए उसके स्वरूप को उपयुक्त बनाये रखने के लिए व्यवस्था में समयानुकूल परिवर्तन करना होगा जो विस्तृत विवेचन का विषय है। प्रबन्ध तंत्र पर आवश्यक अंकुश कैसे लगाया जाय, इस पर विचार करना होगा, ताकि न तो प्रबन्ध तंत्र निरंकुश होकर किसी प्रकार का शोषण अथवा अन्याय कर सके और न ही वह निष्प्रभावी होकर अपने कर्तव्य से विरत हो जाये।

शासन और प्रबन्ध तंत्र का सम्बन्ध

शासन शिक्षा-संस्था को केवल वित्तीय सहायता दे और यह देखे कि उसका उपयोग भली-भाँति हुआ है अथवा नहीं। परन्तु संस्था की मान्यता प्रदेश के माने हुए शिक्षाविदों एवं मनीषियों की परिषद् द्वारा ही मिले और उसी परिषद् द्वारा शिक्षा के स्वरूप तथा पाठ्यक्रम का निर्धारण हो। शिक्षकों के अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों का भी उसी के द्वारा निर्धारण हो। वित्तीय सहायता देकर शासन शिक्षा संस्थाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेना चाहता है। वास्तव में शासन द्वारा दिया हुआ धन भी तो समाज का ही है, जो करों के रूप में आहरित होता है। वित्तीय सहायता देकर समाज को शिक्षित करने का शासन का संवैधानिक उत्तर दायित्व है। सरकारी नियंत्रण के माध्यम से सत्ताधारी राजनैतिक दल अपनी विचारधारा को शिक्षा संस्थाओं पर लादने का भी प्रयास कर सकता है। इसीलिए शिक्षा संस्थाओं पर नियंत्रण सरकार का न होकर शिक्षाविदों के माध्यम से

समाज का ही होना चाहिए। तभी शिक्षा की गुणवत्ता का विकास ठीक दिशा में होगा। १९७५-७७ के आपात्काल में अरांदिग्ध रूप से अच्छी शिक्षा देने वाली कई संस्थाओं को शासन ने अपने नियंत्रण में लेकर उन्हें चौपट कर दिया था। दूसरा उदाहरण है पश्चिमी बंगाल की कम्युनिस्ट सरकार द्वारा विद्यालयों के पाठ्यक्रम को मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित करने का प्रयास।

अल्पसंख्यक शिक्षा संस्थायें

अल्पसंख्यकों को राष्ट्रीय मुख्य धारा में लाना भी सरकार का दायित्व है। यह शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। अतएव उन्हें अपनी धार्मिक शिक्षा अपने बच्चों को देने की अतिरिक्त व्यवस्था अथवा अध्यापक नियुक्ति सम्बन्धी विशेष अधिकार या सुविधायें देकर भेदभाव करना उचित नहीं होगा।

अवकाशों की संख्या

भारतीय विद्यालयों में अवकाशों की संख्या आवश्यकता से अधिक होती है जिससे कार्य दिवसों की संख्या कम हो जाती है तथा शिक्षा की गुणवत्ता बाधित होती है। केवल मुख्य त्याहारों तथा राष्ट्रीय पर्वों पर ही छुट्टी होनी चाहिये। महापुरुषों की जयन्तियाँ विद्यालयों में ही मनायी जानी चाहिए, पूरे अथवा आंशिक अध्यापन को स्थगित करके। किसी महापुरुष के निधन पर विद्यालय बन्द करने के स्थान पर विद्यालय बन्द होने से पूर्व शोक प्रस्ताव पारित करना ही पर्याप्त समझा जाये।

बड़े नगरों में असामान्य परिस्थिति में विद्यालय ही क्यों बन्द किये जायें? कानपुर में आरक्षण सम्बन्धी उपद्रव होने पर विद्यालय लगभग एक महीने बन्द रहे। जिन विद्यालयों के प्रधानाचार्य अपने यहाँ अनुशासन स्थापित करने का उत्तरदायित्व वहन करने को तैयार थे, उन्हें भी विद्यालय बन्द करने को बाध्य किया गया। परिषदीय परीक्षाओं के दिनों में कक्षा १० तथा १२ के अतिरिक्त अन्य कक्षाओं के बच्चों को लगभग एक मास पढ़ाई से वंचित रहना पड़ता है। इन परीक्षाओं को चलाने का कोई वैकल्पिक प्रकार सोचा जाये अथवा इन दिनों के बदले इन कक्षाओं की पढ़ाई ग्रीष्मावकाश में हो।

पाठ्यक्रम पर पुनर्विचार

नीचे की कक्षाओं में भाषा और गणित के अतिरिक्त अन्य विषयों की पढ़ाई मौखिक रूप से सामान्य ज्ञान में सम्मिलित कर दी जाये तथा उसकी परीक्षा भी मौखिक रूप से अथवा वस्तुनिष्ठ प्रश्नों द्वारा की जाये। जहाँ तक हो सके बच्चों पर पुस्तकों और कापियों का भार कम किया जाये।

अध्यापक चयन

अध्यापकों का चयन प्रथम श्रेणी के प्रत्याशियों में से, जिनकी अध्यापन में वास्तविक रुचि हो, उन्हीं में से किया जाये। चयन के लिए उनकी वे सभी प्रकार की परीक्षायें ली जायें जो वरिष्ठ प्रशासनिक सेवा के प्रत्याशियों के लिए ली जाती हैं - मौखिक, मनोवैज्ञानिक तथा लिखित। उनके वेतनमान भी उन जैसे ही हों। तभी शिक्षा विभाग योग्य व्यक्तियों को 'शिक्षा द्वारा राष्ट्र निर्माण' जैसे महत्वपूर्ण कार्य में लगा सकेगा। समय-समय पर शिक्षकों के Refresher Courses तथा गोष्ठियाँ आदि भी होती रहें ताकि उनकी दक्षता विकसित होती रहे तथा उनके कार्य का मूल्यांकन भी वैज्ञानिक ढंग से होता रहे। अपने उत्तरदायित्व के प्रति उपेक्षा अथवा चरित्र सम्बन्धी दोष पाये जाने पर दण्ड का प्रावधान रहे।

व्यवसायिक शिक्षा

माध्यमिक स्तर के पश्चात् जिन बालकों की उस प्रकार की रुचि अथवा रुझान है उन्हें विभिन्न व्यावसायिक संस्थाओं जैसे पॉली टेक्निक, आई.आई.टी., आयुर्वेदिक संस्थान, विधि महाविद्यालय, सैनिक अकादमी, शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय आदि में प्रवेश देना ही चाहिए, परन्तु सामान्य शिक्षा ग्रहण करते समय भी बच्चों के रुझान को पहचानने तथा उसे परिष्कृत करने हेतु विभिन्न प्रकार की अभिरुचियों (Hobbies) के रूप में व्यावसायिक शिक्षा का प्रावधान आवश्यक है। जैसे मोमबत्ती, चॉक, साबुन आदि बनाना अथवा फोटोग्राफी, इलेक्ट्रॉनिक्स आदि का प्रशिक्षण। इस प्रकार की दैनिक जीवन में व्यवहार में आने वाली वस्तुओं के बनाने की कुशलता बच्चे को व्यावहारिक जीवन के लिए सक्षम बनाती है।

पुस्तकाधारित शिक्षा पर आजकल अधिक बल दिया जाता है। कहीं बच्चा पुस्तकीय कीट (Book Worm) बन कर ही न रह जाय, उसका सर्वांगीण विकास हो, इसलिए जहाँ खेलकूद की आवश्यकता है, वहीं हाथ से विभिन्न प्रकार के कार्य करने की क्षमता का विकास भी आवश्यक है, जो व्यावसायिक प्रशिक्षण के द्वारा ही सम्भव है।

इस प्रकार यदि शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषय पर शासन और देश के चिन्तक ईमानदारी से सोचकर दिशा निर्धारित करेंगे, तो निस्सन्देह देश का भविष्य अभी भी निराशा की गहराइयों से उबारा जा सकता है। अथवा नियति को दोष देना तो स्वभाव बना ही गया है हम सबका।

❑ (नीराजन, १९९९-६०)

ओमशङ्कर : संस्थापक आचार्य, संप्रति प्राचार्य, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

ग्रामों में जहां समय अचल खड़ा है, जहां माता और पिता अपने बच्चों के भविष्य को बनाने में असमर्थ हैं, जब तक हम आशा और पुरूषार्थ का संदेश नहीं पहुंचा पायेंगे, तब तक हम राष्ट्र के चैतन्य को जागृत नहीं कर सकेंगे। हमारी श्रद्धा का केन्द्र, आराध्य और उपास्य, हमारे पराक्रम और प्रयत्न का उपकरण तथा उपलब्धियों का मापदण्ड वह मानव होगा, जो आज शब्दशः अनिकेत और अपरिग्रही है।

—दीनदयाल उपाध्याय

शिक्षा - स्वरूप, समस्याएँ और समाधान

(भारतीय शिक्षण मंडल द्वारा आयोजित सेमिनार में दिया गया वक्तव्य)

✍ ओमशंकर

महोदय,

अपने समाज की मनीषा को प्रणाम करते हुए अपनी अनुभूतियों को शब्दायित करने का प्रयास कर रहा हूँ। विश्वास करना चाहता हूँ कि अधुनातन विद्वत्-प्रकृति के अनुरूप इन अनुभूति जन्य भावोर्मियों में घोलने-निथारने की अपेक्षा उनके मूलरूप को सुरक्षित रखते हुए उसमें जो कुछ भी प्राण स्वरूप है, उसका आस्वादन, समाहारण एवं क्रियान्वयन किया जायेगा। अस्तु।

१९४७ से लेकर आज तक अनगिनत विचार-गोष्ठियों, अनेक आयोगों के माध्यम से 'शिक्षा' के सुधार के उपाय विचारे एवं खोजे जा चुके हैं; किन्तु स्थिति वही रही कि मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की। यह शायद इसीलिए कि हम लोग मर्ज खोज ही नहीं पाये, केवल बहाने एवं ढोंग करते हुए इतना समय बिता डाला। हमारा दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि हमारा मार्गदर्शन पाश्चात्य पृष्ठभूमि पर संस्कारित तथा 'स्व' के प्रति प्रायः आशंकित मानसिकता ने ही किया। कदाचित् इसीलिए समाज को परिपोषित करने के लिए शिक्षा को संस्कार प्रधान न रखकर उसे संसार प्रधान आधार भूमि प्रदान की गयी और उसी का परिणाम है कि अपनी प्रकृति के सर्वथा विपरीत आहरण निगरण करते हुए हम उत्तरोत्तर अस्वस्थ होते चले गये।

युगचेता स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका सहित बहुतांश यूरोप का भ्रमण एवं अध्ययन करने के उपरान्त स्वदेश लौटने पर इस दिशा में जो परिपक्व विचार प्रस्तुत किए, मैं समझता हूँ कि उनका अनुसरण और परिपालन ही हमारे लिए सर्वथा हितावह है। मद्रास के विक्टोरिया हॉल में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था-

'विदेशी संस्थाओं ने बलपूर्वक जिस कृत्रिम प्रणाली को हममें प्रचलित करने की चेष्टा की है, उसके अनुसार काम करना वृथा है। हम लोगों को तोड़-मोड़कर नये सिरे से दूसरे राष्ट्रों के ढाँचे में गढ़ना असम्भव है। मैं दूसरी कौमों की सामाजिक प्रथाओं की निन्दा नहीं करता। वे उनके लिए अच्छी हैं, पर हमारे लिए नहीं। उनके लिए जो कुछ अमृत है, हमारे लिए विष हो सकता है। पहले यही बात सीखनी होगी। अन्य प्रकार के विज्ञान, अन्य प्रकार के परम्परागत संस्कार और अन्य प्रकार के आचारों से उनकी वर्तमान सामाजिक प्रथा गठित हुई है और हम लोगों के पीछे हमारे अपने परम्परागत संस्कार एवं हजारों वर्षों के कर्म हैं। अतएव हमें स्वभावतः अपने संस्कारों के अनुसार चलना पड़ेगा; और यह हमें करना ही होगा।'

उन्होंने आगे कहा, 'मैं देखता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति की भाँति प्रत्येक राष्ट्र का भी एक जीवनोद्देश्य है। वही उसके जीवन का केन्द्र है। उसके जीवन का प्रधान स्वर है जिसके साथ अन्य सब स्वर मिलकर समरसता उत्पन्न करते हैं। किसी देश में, जैसे इंग्लैंड में, राजनीतिक सत्ता ही उसकी जीवनशक्ति है। कला कौशल की उन्नति करना किसी दूसरे राष्ट्र का प्रधान लक्ष्य है। ऐसे ही दूसरे और देशों का भी समझो। किन्तु भारतवर्ष में धार्मिक जीवन ही राष्ट्रीय जीवन रूपी संगीत का प्रधान स्वर है। यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक जीवन-शक्ति को दूर फेंक देने की चेष्टा करे, शताब्दियों से जिस दिशा की ओर उसकी विशेष गति हुई है, उससे विमुख हो जाने का प्रयत्न करे - और यदि वह अपने इस कार्य में सफल हो जाये, तो वह राष्ट्र मृत हो जाता है। अतएव यदि तुम धर्म को फेंककर राजनीति, समाजनीति अथवा अन्य किसी दूसरी नीति को अपनी जीवन-शक्ति का केन्द्र बनाने में सफल हो जाओ, तो उसका फल यह होगा कि तुम्हारा अस्तित्व तक न रह जायेगा। यदि तुम इससे बचना चाहो, तो अपने जीवन-शक्ति रूपी धर्म के भीतर से ही तुम्हें अपने सारे कार्य करने होंगे। अपनी प्रत्येक क्रिया का केन्द्र इस धर्म को ही बनाना होगा। तुम्हारे स्नायु का प्रत्येक स्पन्दन तुम्हारे इस धर्मरूपी मेरूदंड के भीतर से होकर गुजरे, ऐसा प्रयास करना होगा।'

अपने देश और समाज के प्रति उनकी उद्दाम भावना, सुस्पष्ट विचारधारा और परिणामदायी क्रियाशीलता उनके भावप्रवण उद्गारों से कुछ इस प्रकार

प्रकट हुए हैं कि आज भी उनकी चुम्बकीय शक्ति प्रत्येक प्राण को अपनी ओर खींचने में सक्षम है। वह उद्घोष करते हैं-

'भारत में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति की चेष्टा करने के पहले धर्मप्रचार आवश्यक है। भारत को समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के पहले आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाये। सर्वप्रथम, हमारे उपनिषदों, पुराणों और अन्य सब शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपे हुए हैं, उन्हें इन सब ग्रंथों के पन्नों से बाहर निकालकर, मठों की चहारदीवारियाँ भेदकर, वनों की शून्यता से दूर लाकर, कुछ संप्रदाय-विशेषों के हाथों से छीन कर देश में सर्वत्र बिखेर देना होगा, ताकि ये सत्य दावानल के समान सारे देश को चारों ओर से लपेट लें - उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सब जगह फैल जाएँ। हिमालय से कन्याकुमारी और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक सर्वत्र वे धधक उठें। सबसे पहले हमें यही करना होगा। सभी को इन सब शास्त्रों में निहित उपदेश सुनाने होंगे, क्योंकि उपनिषद् में कहा गया है, 'पहले इसे सुनना होगा, फिर मनन करना होगा और उसके बाद निदिध्यासन।'

उनकी यह उद्घोषणा क्रियाशील होकर योजक रूप में कहती है-

'इसलिए, मेरे मित्रो ,मेरा विचार है कि मैं भारत में कुछ ऐसे शिक्षालय स्थापित करूँ जहाँ हमारे नवयुवक अपने शास्त्रों के ज्ञान में शिक्षित होकर भारत तथा भारत के बाहर अपने धर्म का प्रचार कर सकें। मनुष्य, केवल मनुष्य भर चाहिए, बाकी सब कुछ अपने आप हो जायेगा। आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रद्धासंपन्न और दृढ़विश्वासी निष्कपट नवयुवकों की। ऐसे सौ मिल जायें, तो संसार का कायाकल्प हो जाये'।

मेरे मनीषी सहभागियो! विवेकानन्द के सपनों का भारत किंवा विश्वगुरु के पद पर आसीन रहने वाला चिर प्रतिष्ठित भारत तभी अपने भासमान स्वरूप को प्राप्त करेगा, जब शिक्षा का सही स्वरूप पहचाना जायेगा, उस स्वरूप की प्रतिष्ठा होगी और उस पर विश्वास करते हुए उसे प्रेरक बनाया जायेगा। यह सुस्पष्ट करना होगा कि शिक्षा और प्रशिक्षण में अंतर है। प्रशिक्षण 'अपरा' विद्याओं की सीख अथवा जानकारी है। शिक्षा का आधार बना कर ही 'अपरा' विद्या अथवा भौतिक उन्नति के मार्ग खोजे जायेंगे। मानव की अन्तर्निहित शक्तियों की पहचान भी शिक्षा ही करेगी और तभी उनके विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होगी जिसके फलस्वरूप युवकों की निराशा, प्रौढ़ों की खीझ और असहायों की दुर्दशा का अंत होगा। यह सब कौन करेगा? कौन देगा शिक्षा को उसका वास्तविक सम्मान? शिक्षार्थी की जिज्ञासा का सम्यक् शमन कौन करेगा? शिक्षार्थी के अंतर्मन को आत्मविश्वास से पूरित कौन करेगा? प्रकारान्तर से अपने राष्ट्र जीवन को कौन संपोषित करेगा? सभी प्रश्नों का उत्तर एक ही मिलेगा कि इन सबका शमन, नियमन और उन्नयन शिक्षक और केवल शिक्षक करेगा। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करें कि क्या अपने देश में 'शिक्षक' निर्माण की प्रक्रिया चल रही है। या फिर उस दिशा की ओर समाज के नियन्ताओं का ध्यान है? कोई इस दिशा में सोच रहा है? सभी का उत्तर नकारात्मक और निराशाजनक ही मिलेगा। और शायद इसीलिए विवशता में बने हुए शिक्षक जो कुछ भी बने-बनाये पाठ्यक्रम का हल प्रस्तुत कर देते हैं, शिक्षार्थी उसी को सर्वस्व मानकर अपने जीवन-पथ का पाथेय मानकर आगे बढ़ने का प्रयास करता है। आप सभी को अच्छी प्रकार ध्यान है कि यह वही पाठ्यक्रम है जिसको निर्धारित करते समय निर्धारकों (अंग्रेजों) ने भली प्रकार जाँच-परख कर देख लिया था कि इसको पढ़ने के बाद बने-बनाये खानों (Columns) को भरने के अतिरिक्त 'पढ़ा-लिखा' व्यक्ति और कुछ भी कर सकने में सक्षम नहीं होगा। वे इसमें सफल भी खूब हुए। भारत के भविष्य को बर्बाद करने का उनका स्वप्न अवश्य ही सफल हो जाता, यदि यह सचमुच में 'भारत' न होता। इस भारत की अमर संस्कृति की यह विशेषता है कि यह 'प्रलय' को भी पालने में झुला लेती है। कदाचित् इसीलिए इस प्रकार की विचार गोष्ठियों का अस्तित्व आज भी बना हुआ है।

उपर्युक्त विचारों को प्रस्तुत करते हुए मेरा सुस्पष्ट मत है कि समाज को सुयोग्य शिक्षक देने के लिए ईमानदारी के साथ गंभीरतापूर्वक शासन को निम्नांकित बातों की ओर ध्यान देना होगा। मैंने शासन का नाम ही इसलिए लिया, क्योंकि इस समय सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्थाएँ शासनोन्मुख हैं-

1. जनपद, मंडल तथा प्रदेश स्तरों पर शिक्षाविदों की समितियों का गठन, उनके कर्तव्यों एवं अधिकारों का निर्धारण।

२. ब्लॉक स्तर तक मनोविज्ञानशालाओं की स्थापना तथा उनकी सक्रिय भूमिका की जाँच - व्यवस्था।

३. प्रारम्भिक पाठशालाओं के स्तर से शिक्षक मनोवृत्ति वाले बालकों का चयन तथा उनके उन्नयन की योजना।

४. मंडल स्तर पर एक शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय की स्थापना।

५. इंटरमीडिएट कक्षा के बाद शिक्षक वृत्ति के लिए सर्वथा योग्य छात्रों का शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय हेतु चयन।

६. शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय के पाठ्यक्रम की न्यूनतम अवधि ६ वर्ष तथा उसका सम्यक् विभाजन।

७. प्रशिक्षण प्राप्त विद्यार्थी को न्यूनतम एक वर्ष का व्यवहारिक क्षेत्र का अनुभव।

८. अध्यापक के पद को प्रतिष्ठित बनाने हेतु कर्तव्यों के साथ ही अधिकारों की भी व्यवस्था।

उपर्युक्त बिन्दुओं में इस शिक्षक योजना का संकेत मात्र दर्शाया गया है। आवश्यकतानुसार इस पर अनुसंधान करके इसको उपयुक्त स्वरूप प्रदान किया जा सकता है।

सारांश यह है कि सुधार के लिए चिन्तित मनीषियों को पूरे आत्मविश्वास के साथ कहना होगा कि शिक्षक को ढूँढ़ो, पढ़ो और फिर उसको गढ़ो, समस्या सुलझ जायेगी।

इति शम्।

□ (नीराजन, १९९१-९२)

ओमशङ्कर : संस्थापक आचार्य, संप्रति प्राचार्य, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

जिस राष्ट्र - मंदिर का निर्माण इतने दिनों से अनेक आत्म - विज्ञानी ऋषि - मुनि, दिग्विजयी सम्राट, कवि, कलाकार, साहित्यकार, स्मृतिकार, पुराणों के रचयिता तथा धर्मशास्त्रों के प्रणेता करते चले आ रहे हैं, आज उस मंदिर में राष्ट्र - पुरूष की मूर्ति स्थापित करके उसे अभिमंत्रित करना है। भगवान को धन्यवाद दें कि यह सौभाग्य हमको प्राप्त हुआ है। हम इस मंदिर के प्रथम पुजारी बनें। ऐसा प्रबन्ध कर चलें कि पीछे आने वाली पीढ़ियां इस मंदिर में अनंतकाल तक पूजा कर सकें।

— दीनदयाल उपाध्याय

'गुरु-शिष्य' से 'Teacher - Student' तक

भाव का अभाव

✍ अजय प्रताप सिंह, पियूष बंका, द्वादश

हमारे देश की गुरु-शिष्य परम्परा उदात्त है। वह परस्पर विश्वास पर आधारित है। भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य परम्परा माता व पुत्र से ही प्रारम्भ हो जाती है। माता ही पुत्र को सर्वप्रथम संस्कारों से पूरित करती है। माता-पुत्र के इस सम्बन्ध में माता का पुत्र के प्रति ममत्व एवं पुत्र का माता के प्रति स्नेह दोनों ही जुड़े रहते हैं। जब पुत्र आगे चलकर पठन-पाठन के लिए शिक्षक से जुड़ता है तो इस गुरु-शिष्य परम्परा में भी वही ममत्व पूरित प्रेम निहित हो जाता है। इस प्रकार हमारी यह परम्परा 'प्रेम' पर आधारित है।

हमारी इस परम्परा से भारतवर्ष ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व प्रभावित हुआ है। हमारी इस परम्परा का प्रासव्य है - 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' अर्थात् हमें सारे विश्व को आर्य (श्रेष्ठ) बनाना है। क्योंकि यही हमारी संस्कृति के उद्घोष 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का मन्तव्य है।

हमारी संस्कृति में आचार्य मात्र पुस्तकीय ज्ञान देने वाला 'मास्टर' नहीं है, युग निर्माता है। वह अपने छात्रों के माध्यम से राष्ट्र के नवीन स्वरूप का सृजन करने वाला है। इस उद्देश्य की पूर्ति वह मात्र 'किताबी ज्ञान' से नहीं वरन् छात्र की भावनाओं से जुड़कर ही कर सकता है। इसीलिए हमारी संस्कृति में उसे मात्र 'मास्टर' नहीं अपितु छात्र की भावनाओं से जुड़कर उसे राष्ट्रीय चिन्तन में लगाने वाला 'पिता-तुल्य आचार्य' माना गया है। और उसका पद देवता से भी श्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकार गुरु शिष्य में रुपयों का नहीं, सांसारिक दो व्यक्तियों का नहीं वरन् भावनाओं का आदान-प्रदान रहता है।

वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति में उसे (शिक्षक को) Teacher कहा जाता है। Teacher अर्थात् Who teaches the subject। उसको छात्रों की भावनाओं से कुछ लेना-देना नहीं है। उसका अपने शिष्यों से सम्बन्ध सिर्फ विचारों के आदान-प्रदान तक ही सीमित है। और ये विचार विद्या से संबंधित होते हैं। लेकिन विद्या से ही राष्ट्र कल्याण के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसके लिए भावनाओं का समावेश आवश्यक है। बुद्धि के विकास से एक श्रेष्ठ वैज्ञानिक तो बनाया जा सकता है परन्तु एक राष्ट्रभक्त वैज्ञानिक नहीं बनाया जा सकता। यदि वह केवल बुद्धि से ही प्रेरित होगा तो उसकी प्रवृत्ति राष्ट्रविरोधी और विध्वंसकारी भी हो सकती है। परन्तु एक भावप्रवण व्यक्ति की प्रवृत्ति कदापि ऐसी नहीं हो सकती। अतः मात्र विद्या की शिक्षा देने वाले आचार्य को युगस्रष्टा या युगद्रष्टा नहीं कहा जा सकता। ऐसे शिक्षक का उद्देश्य राष्ट्र में नव चैतन्य भरना नहीं वरन् अधिकाधिक धन अर्जित करना होता है। इस प्रकार ऐसे शिक्षकों का अपने छात्रों से स्वार्थ के कारण सम्बन्ध होता है।

दुर्भाग्य है अपने देश का, इस आर्यावर्त का जिसने अपनी प्राचीन उदात्त परम्परा को त्यागकर इस भोगवादी पाश्चात्य परम्परा को ललचाई दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। इसका प्रारम्भ भी उसी ममत्वपूर्ण गुरु शिष्य परम्परा, जो माँ एवं पुत्र से प्रारम्भ होती है, से हुआ। द्रष्टा कवि तुलसी ने कलियुग के इस भवितव्य को चार सौ वर्ष पहले ही कह दिया था -

"मातु पिता बालकनि बुलावहिं
उदर भरइ सोइ धरम सिखावहिं।"

आज वास्तव में यही हो रहा है। माता प्रारम्भ से ही पुत्र को पेट भरने की शिक्षा देती है। वह पुत्र को केवल व्यावसायिक शिक्षा के लिए ही प्रेरित करती है तथा वह पुत्र को केवल इसलिए पढ़ाती है कि वह पढ़ने के बाद अच्छी नौकरी करके 'येन केन प्रकारेण' धन अर्जित करे। वह नौकरी शब्द से पुत्र को इतना प्रभावित कर देती है कि उसकी मानसिकता ही 'नौकरों' जैसी हो जाती है।

दूसरी ओर विद्यालय में शिक्षक भी इसी पाश्चात्य संस्कृति की मानसिकता से ग्रसित हो गया है। उसका छात्रों की भावनाओं से कोई सरोकार नहीं है। वह छात्रों

को केवल पुस्तकें रटाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। वह शिक्षा को छात्रों को संस्कारित करने का माध्यम न समझकर एक व्यवसाय समझने लगा है। उसने चंद पैसों के लिए अपना स्वाभिमान बेच दिया है। वह कुछ रुपयों के लिए अभिभावकों द्वारा अपना अपमान भी सहन कर सकता है। उसकी धनलोलुप मानसिकता उसे विद्यालय से दूर 'कोचिंग' तक ले जाती है। इसी कारण उसकी भावनाएँ विद्यालय की अपेक्षा कोचिंग से ज्यादा जुड़ जाती हैं। स्वाभाविक है कि वह विद्यालय में उतना ध्यान नहीं दे पाता । छात्रों के मन में शिक्षक के प्रति अश्रद्धा और असंतोष शिक्षक की इसी मानसिकता की परिणति है।

आज स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि शिष्य समाज द्वारा दी गयी नौकरीपरक मानसिकता लिए विद्यालय में प्रवेश करता है। वह शिक्षा को साध्य साधने का साधन समझता है और आचार्य को पैसा देकर खरीदा जा सकने वाला नौकर। वह पढ़ता सिर्फ इसलिए है कि वह अच्छी नौकरी प्राप्त कर सके। वहीं शिक्षक शिक्षा को अपनी उदरपूर्ति हेतु पैसा कमाने का साधन समझता है और विद्यार्थी को उस धन का स्रोत। वह धन के लिए इतना अधिक लालायित है कि उसने 'आचार्य पद' को ही कलंकित कर दिया है। न तो आचार्य को शिष्य से पुत्रवत् स्नेह है न छात्र के मन में आचार्य के लिए पिता तुल्य श्रद्धा। दोनों में से किसी को किसी की भी भावनाओं से कोई सरोकार नहीं है। यही कारण है कि आज आचार्य छात्र के बीच का भावात्मक सम्बन्ध टूट गया है। वह उदात्त परम्परा टूटती जा रही है जो वर्षों पूर्व विश्वामित्र - राम, द्रोणाचार्य - अर्जुन, चाणक्य - चन्द्रगुप्त, रामदास - शिवाजी और रामकृष्ण-विवेकानन्द ने स्थापित की थी।

स्थिति तब सबसे अधिक विस्फोटक हो जाती है जब शिक्षक सम्मान की दृष्टि से तो 'आचार्य पद' चाहता है परन्तु अध्यापन के नाम पर 'Teacher' बन जाता है। तथा छात्र पढ़ने के लिए तो 'आचार्य' चाहता है, पर जब सम्मान देने की स्थिति आती है तो वह आचार्य की भावनाओं को ठोकर मार देता है। इसी से शिक्षक एवं छात्र में विरोध की भावना उत्पन्न हो जाती है। और इस प्रकार भारतीय संस्कृति के आधार ये पिता और पुत्र दो परस्पर विरोधी खेमों में बँट जाते हैं। और यहीं से आचार्य का आचार्यत्व व शिष्य का शिष्यत्व नष्ट हो जाता है। जहाँ उस सरस्वती के मंदिर से 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का उद्घोष होना चाहिए वहाँ 'सत्य' और 'सुन्दर' तो शायद बच भी जायें पर 'शिवम्' की कल्पना ही विलुप्त हो जाती है।

क्या आज पुनः वही आदर्श गुरु-शिष्य परम्परा स्थापित हो सकेगी? क्या आज गुरु-शिष्य के मध्य आयी विश्वास और श्रद्धा की कमी भर सकेगी? जब हम इन सब बातों पर विचार करते हैं तो मात्र छात्र की आचार्य के प्रति श्रद्धा एवं आचार्य का छात्र के प्रति विश्वास का कम होना ही दोषी प्रतीत होता है। शिष्य को आचार्य के प्रति अश्रद्धा का भाव समाप्त कर सम्पूर्ण सम्मान के साथ स्वयं को आचार्य के प्रति समर्पित कर देना चाहिए। इससे आचार्य का शिष्य के प्रति विश्वास स्वतः ही उत्पन्न हो जाएगा एवं पुनः 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का उद्घोष अपने अस्तित्व में आ जाएगा।

गीता में भी कहा गया है-

'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं'

कश्मीर

कश्मीर की परम्परा

तार-तार हो गयी एक साझी परम्परा

✍ अग्निशेखर

सरसरी तौर पर कश्मीरियत कश्मीर घाटी की क्षेत्रीय पहचान को परिभाषित करने वाला एक सीधा सा शब्द है। चूंकि कश्मीर हिमालय के एक आंगन के रूप में विख्यात है जिसके इर्द-गिर्द पूर्व में लद्दाख, उत्तर में बलतिस्तान और दरदिस्तान, दक्षिण में जम्मू और पश्चिम में पाकिस्तान और अफगानिस्तान फैले हुए हैं, इसलिए मध्य एशिया के भौगोलिक दायरे में समुद्र तट से तकरीबन पाँच हजार फीट की ऊँचाई पर बर्फ से ढके पर्वतों की गोलबंदी में वह खूबसूरत घाटी हर दृष्टि से हमेशा महत्वपूर्ण रही है। लोग कश्मीरी भाषा भाषी हैं और धर्म की दृष्टि से मुसलमान बहुसंख्यक और हिन्दू अल्पसंख्यक हैं।

जो इस सरलीकृत रूपरेखा को कश्मीरियत बताते हैं वे ही लोग इसका राजनैतिक दोहन भी करते रहे हैं। ऐसे लोगों को कश्मीरियत नाम की जातीय चेतना के ऐतिहासिक ताने-बाने की बुनावट से परहेज ही नहीं, ऐतराज भी है। कश्मीरियत को पिछले साढ़े चार दशक में स्थानीय राजनीति ने इतना ज्यादा भुनाया है कि यह सियासी पैंतरेबाजों की खुराक बन चुकी है। इसे भारत से अलग हो जाने, पाकिस्तान में विलय या आजाद कश्मीर देश बनाने के लिए उग्र और नरमपंथी दोनों तरह की मुस्लिम जनता के लिए इस जातीय पहचान का अर्थ कुछेक राजनैतिक प्रतीकों तक सीमित कर दिया गया।

कश्मीर के भारत में विलय के बाद आज तक घाटी में जितने भी शासक बदले, जितनी भी राजनैतिक सरगर्मियाँ रहीं, उन्होंने कश्मीरियत के बढ़ते खतरे और धारा ३७० की राजनीति की। आज यह बताया जाने लगा है कि कश्मीरियत से प्रेम की वजह से ही १९४७ में कश्मीर पाकिस्तान में नहीं चला गया। उसने अपना नाता धर्मनिरपेक्ष भारत के साथ जोड़ा। इस तर्क में जाने-अनजाने शेख अब्दुल्ला की राजनीतिक आकांक्षाओं को नजर अंदाज किया जा रहा है। क्या वास्तव में विलय के बाद इधर के कालखण्ड में कश्मीरयित के लिए इतना ज्यादा खतरा पैदा हो गया है कि भारत से आजाद होने की घड़ी आ गई है? अगर आज का अलगाववादी आंदोलन भी कश्मीरियत से प्यार की वजह से ही प्रेरित है तो 'पाकिस्तान से रिश्ता क्या? लाइल्लाह इल्लाह।' या 'आजादी का मतलब क्या ? लाइल्लाह इल्लाह।' जैसे नारों को कश्मीर में क्यों उछाला जा रहा है? अगर आज कश्मीर में जनमत संग्रह कराए जाने या कश्मीरियत को बचाने की जंग चल रही है तो घाटी से वहाँ के मूल निवासी कश्मीरी पंडितों को धर्म के नाम पर और कुछ मुसलमानों को मुखबिरी करने के नाम पर क्यों भगाया गया था? 'जनमत संग्रह के अधिकार' में उनकी राजनैतिक आकांक्षाओं को भी क्यों शामिल नहीं होने दिया जा रहा है?

दरअसल एक औसत कश्मीरी मुसलमान क्षेत्रीय अस्मिता और मुस्लिम अस्मिता दोनों को एक साथ जीने की वजह से द्वंद्व में है। यह उसकी पहचान का द्वंद्व है। वह जब पाँच हजार साल की कश्मीरियत की बात करने लगता है तो उसकी मात्र छह सौ वर्ष पुरानी पहचान आड़े आती है। और जब सिर्फ मुस्लिम पहचान की बात सोचता है तो क्षेत्रीय पहचान से हाथ धो बैठता है। कश्मीरी हिन्दू भी कश्मीरी मुसलमान के 'पहचान के संकट' का शिकार है। दोनों के परस्पर सद्भाव का केन्द्रीय बिन्दु समन्वय से बनी क्षेत्रीय अस्मिता का आलोक था। दुर्भाग्य से पिछले बरसों में कश्मीर में धर्मनिरपेक्षता के सभी प्रतीक एक-एक कर ध्वस्त कर दिए गए। आज कश्मीरियत के नाम पर जो अलगाववाद की आग लगाई गई है, उसका ईंधन धर्म और सत्ता दोनों जुटा रहे हैं।

इसलिए आज समग्र और संतुलित दृष्टि से कश्मीरियत को नए सिरे से समझना अनिवार्य है। यह सच है कि बीसवीं शताब्दी में अनेक देश अपनी जड़ों की ओर वापस मुड़े हैं और यह भी सच है कि अंतर्राष्ट्रीयता के साथ-साथ स्थानीयता का महत्व और ज्यादा बढ़ा है। इस दृष्टि से भी राष्ट्रीयता के साथ क्षेत्रीयता का बोध अगर समान रूप से जागता है तो इससे घबराने की जरूरत नहीं है। पर जब क्षेत्रीय अस्मिता राष्ट्रीयता बनने के सपने देखकर अपनी ही जड़ों से कटकर जीने के लिए तोड़-फोड़ का निमित्त बनती है तो चिंता का विषय बनने लगती है।

कश्मीर की अस्मिता को समग्र रूप में समझने के लिए व्यापक अध्ययन चाहिए। उसका जो आज का रूपाकार बन चुका है, उसकी विकास रेखा इतिहास के किन-किन मोड़ों से होकर गुजरी होगी, इसका ज्ञान आवश्यक है। कोई भी अस्मिता अनायास नहीं बनती। कम लोग जानते हैं कि कश्मीर की वितस्ता प्राचीन सप्त सिंधु की एक नदी है जो कश्मीर में, नीलमत पुराण के मुताबिक सती या उमा का अवतार है। स्वयं कश्मीर को भी पार्वती का ही रूप माना गया है।

कश्मीर की अपनी एक कथा है। प्राचीन काल में यह एक विशाल सतीसर था जिसमें रहने वाले जलोद्भव दैत्य के अत्याचारों से तंग आकर नील के कहने पर कश्यप ऋषि ने उसे देवताओं से मरवाया और सरोवर का पानी निकलवाकर उस नई भूमि 'कश्मीर' में मूल निवासी नागों और पिशाचों के साथ मानवों को भी परस्पर समादर के सिद्धांत पर बसाया।

कश्मीरी भाषा संस्कृत से निकली हुई है। इसकी मूल लिपि शारदा की जगह आज नखतालीस प्रचलन में है। कश्मीर में बुद्धमत सदियों तक फलता-फूलता रहा। यहाँ इसे विकास मिला और यहीं से कश्मीरी भिक्षुओं ने इसका संदेश चीन, मध्य एशिया और तिब्बत तक पहुँचाया। कश्मीर में बुद्धमत के प्रवेश के पूर्व नाग संस्कृति का बोलबाला था। महाभारत युद्ध में खांडव वन-दहन से बच निकल कर तक्षक कश्मीर में आ छिपा था। कश्मीर नरेश की सहानुभूति महाभारत की पूर्व वेला में कौरवों के लिए थी। कश्मीर नरेश गोनंद का मगध के जरासंध का गौरैया भाई होना, दामोदर की विधवा यशोवती के कृष्ण के हाथों राज्याभिषेक के उल्लेख कश्मीर के आरंभिक इतिहास को महाभारत के समांतर का बनाते हैं। यों भी कश्मीर का अपना स्थानीय संवत् सप्तर्षि संवत् है जिसका ५०७१ वाँ वर्ष चल रहा है। कल्हण, जोनराज, श्रीवर, प्राज्ञभट्ट और शुक के इतिहास ग्रंथों से इस महादेश में इतिहास लेखन की परम्परा शुरू हुई।

वास्तुशिल्प की दृष्टि से भी हमें कश्मीर की तहजीब के अनेक दौर दिखाई देते हैं। बुद्धमत के दिनों के स्तूपों, विहारों, राजविहारों के शिल्प और हिन्दू शासन के दौरान फिर से बने मंदिरों के अवशेष बहुत कुछ अनकहा कह जाते हैं। दोनों वास्तुशिल्पों में साम्य और अंतर स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। तीसरे दौर में इस्लाम के आने के बाद के वास्तुशिल्प पर चढ़े स्थानीय रंग के कई नमूने आज भी सुरक्षित हैं। कश्मीरी वास्तुशिल्प की भी एक साझा विरासत है। पुरानी खानकाहें, मस्जिदों की पगाडोनुमा छतें बौद्धकालीन कश्मीर की याद दिलाती हैं। मार्तंड, परिहासपुर और अवंतीपुर के महान अवशेषों को ध्यान से देखने पर प्राचीन कश्मीर के शिल्प का आलोक समझ में आता है।

कश्मीर ने भारतीय सौंदर्यशास्त्र के निर्माण में असाधारण योग दिया है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों में रुय्यक (अलंकार सूत्र), रुद्रट (काव्यालंकार), वामन (काव्यालंकार सूत्र वृत्ति), आनन्द वर्धन (ध्वन्यालोक), अभिनवगुप्त (काव्यलोक लोचन), कुंतक (वक्रोक्ति जीविता), मम्मट (शब्द व्यापार परिचय) जैसे अनेक महत्वपूर्ण आचार्य, सभी कश्मीरी हैं। विश्व ख्याति की कथा सरित सागर, वृहत कथा, विक्रमांकदेव चरित और कुट्टनिमत के रचनाकार भी कश्मीरी ही थे। कश्मीरी आचार्यों ने इसके अतिरिक्त दर्शन के क्षेत्र में त्रिकदर्शन के अंतर्गत आगमशास्त्र, स्पंदशास्त्र और प्रतिभिज्ञा शास्त्र के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। इस तरह धीरे-धीरे सँवरकर कश्मीर का मौलिक चिंतन त्रिकदर्शन तैयार हुआ जो बुद्धिजीवियों के वाद-विवाद का विषय रहने के बावजूद जनसाधारण में काफी लोकप्रिय हुआ।

इस दर्शन का प्रभाव आज तक कश्मीरियों के एक

समुदाय में उनके रीति-रिवाजों, उत्सवों, त्योहारों, विश्वासों आदि में झलकता है। शिव कश्मीर के प्रमुख देवता हैं और शिवरात्रि प्रमुख उत्सव। विवाह के समय दूल्हा और दुल्हन शिव-पार्वती के रूप में पूजे जाते हैं। अधिकांश मंदिर शिव मंदिर हैं। शव यात्रा में 'राम नाम सत्य' के बजाय 'शिव शिव शंभु' उचारा जाता है। बुजुर्ग लोग आज भी छींक आने पर 'सत्य सदाशिव' बोल उठते हैं। घाटी में सप्त मातृकाओं का होना ही शाक्त-संप्रदाय के प्रचलन का सूचक है।

तनिक अंतर के साथ कश्मीरियों में खानपान, वेशभूषा और संगीत की परम्परा भी साझी है। आभूषणों में सिवाय कश्मीरी पंडितानियों के एक 'डेजहोर' (मंगलसूत्र) के, बाकी सभी गहने धर्म के हस्तक्षेप से बाहर हैं।

कश्मीरियत के इस्लामिक पक्ष पर विचार करने से पहले यह जान लेना जरूरी है कि घाटी में चौदहवीं शताब्दी में ही यह धर्म अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर चुका था। राजनैतिक उथल-पुथल और सत्ता के हस्तांतरण के खट्टे-मीठे अनुभवों के बीच ही शैवमत और इस्लाम के परस्पर टकराव और मिलाप की प्रक्रिया भी इस कालखण्ड में शुरू हो चुकी थी। वर्षों पुरानी कश्मीर की शैव अस्मिता और इस्लामी अस्मिता के घोल से एक नई जमीन तैयार हो रही थी। राजनैतिक क्षितिज पर हमारे सामने कुतुबुद्दीन और सुलतान जैनुलआब्दीन जैसे दो राजा कश्मीरियत के दो महत्वपूर्ण प्रतीकों के रूप में उभरते हैं।

इसी सदी में कश्मीरी साहित्य में भी ललद्यद और नुंद ऋषि उर्फ शेख नूरूद्दीन की भूमिका इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। दोनों ने कश्मीरी मुसलमानों और हिन्दुओं के धर्मों की मूलभूत एकता और परस्पर सद्भाव और सौहार्द्र से रहने पर जोर दिया। यह धारा आधुनिक युग में महजूर तक ही नहीं, अब्दुल अहद आजाद तक जीवित रही। महजूर ने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के साथ दूध में शक्कर की तरह घुल-मिलने की जहाँ बात की, वहीं आजाद ने अपनी एक रचना में कुरान वालों से गीता का अपराध पूछा।

अभी हाल के बरसों तक कश्मीर घाटी में मस्जिदों, खानकाहों से आती मनकबत या मनाजात की धुनों और मंदिरों से आती ऋचाओं की धुनों में भेद करना कठिन था। कश्मीरी जनमानस की अपनी एक खास लय है जो उसके जीवन में प्रत्येक कदम पर झलकती है। कट्टरपंथियों ने सबसे पहले इसी लय पर प्रहार किया। इसे बदला। दूसरा प्रहार कश्मीर की साझा वेषभूषा पर किया। ऐसा क्यों हुआ?

दरअसल कश्मीर घाटी में सहिष्णु सूफी धारा के समांतर कट्टरपंथी शुद्धतावादी मुस्लिम धारा भी प्रवाहमान रही। इस धारा ने ही इतिहास, परम्परा आदि के साथ मनमानी की। अपनी तरह से परिभाषित भी किया। चौदहवीं सदी को कश्मीरी पहचान के निर्माण का आदिकाल बताया।

यह डेढ़-दो दशक पुरानी बात है कि कश्मीरी मुसलमानों और हिन्दुओं में समान रूप से प्रचलित रीति-रिवाजों, विश्वासों को गैर-इस्लामी बताकर उनका दबे स्वर में विरोध शुरू हो गया। कश्मीर की क्षेत्रीय पहचान के इस्लामीकरण की प्रक्रिया चुपचाप जारी रही। कभी ललद्यद को शिकार होना पड़ा। कहीं संतूर (शततंत्रीवीणा) और कहीं चिनार (कश्मीरी नाम बन्य) को मध्य एशिया से आया बता कर इसके प्रामाणिक इतिहास को नकारना फैशन हो गया। धर्मनिरपेक्ष और उदार समझे जाने वाले कश्मीरी नेता शेख मुहम्मद अब्दुल्ला के कार्यकाल में सैकड़ों कश्मीरी गाँवों के प्राचीन नाम बदलकर उन्हें मुस्लिम रंग में रंग दिया गया तो स्पष्ट हो गया कि कश्मीर की निजी पहचान के मूल-स्रोतों को नष्ट करने में नरमपंथी और उग्रपंथी दोनों का बराबर योग है।

❑ (जनसत्ता, ११ जून १९९५)

अग्निशेखर : कश्मीर विश्वविद्यालय से हिन्दी में डॉक्टरेट; कवि; राष्ट्रीय संयोजक, पनुन कश्मीर।

योगेश्वरी ललद्यद

प्रो॰ जियालाल कौल,
नंदलाल कौल 'तालिब'

कश्मीरी भाषा का साहित्य-गगन जिन जाज्वल्यमान नक्षत्रों से उद्भासित है, उनमें ललद्यद को 'भोर के तारे' की पदवी प्राप्त है। उन्हीं से इस साहित्य के प्रभात की सूचना मिलती है और गर्व की बात है कि ललद्यद संतों की उस परम्परा में पहली योगेश्वरी थीं, जिन्होंने मध्यकालीन भारत में सूफीवाद, रहस्यात्मक समन्वयवाद और मानववाद का 'वाखों' में प्रतिपादन किया (संत कबीर, गुरु नानक, संत तुलसीदास और मीराबाई का अवतरण उनके पश्चात् हुआ है)। इस दृष्टि से 'लल-वाखों' का महत्व और भी बढ़ जाता है, विशेषतः अब, जबकि सब मतवादी सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं राजनैतिक धरातल पर एक ऐसी आधारशिला की खोज में लगे हैं, जिसपर मानववादका महल खड़ा किया जा सके। संभवतः भारतीय संतों में 'ललद्यद' ही एकमात्र ऐसी साधिका हैं, जिसके नाम पर कोई पंथ या मत नहीं चला। उनका शब्दामृत सबके लिए एक जैसा है। इससे मेरा यह आशय कदापि नहीं कि अन्य संतों व सूफियों की महत्ता कुछ कम है। वे भी महान् हैं और उन्होंने भारत की मानसिक एकता को बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। कितने हर्ष की बात है कि ललद्यद के 'वाखों' की अनुगूंज भारत के अन्य भागों में भी पाई जाती है। इससे सांस्कृतिक एवं साहित्यिक एकता को बल मिलना अनिवार्य है।

-शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम'

यह बात जितनी आश्चर्यजनक है, उतनी ही अर्थपूर्ण भी कि संत एवं सूफी चाहे किसी भी देश में जन्मे हों, सभी एक-सी बात कह गये हैं। जो कुछ बखान उन्होंने किया है, उससे ज्ञात होता है कि भाषा और वर्णन-शैली विभिन्न होते हुए भी उनके भावों एवं विचारों में समरसता और एकता पाई जाती है। इस अभिन्नता का एक महत्वपूर्ण और विचारणीय पहलू यह है कि विश्व के संत और सूफी यद्यपि विभिन्न देशों में उत्पन्न हुए, जुदा-जुदा भाषाएं बोलते थे और उनका जन्मगत धर्म भी एक-दूसरे से विभिन्न था तथापि देश-काल, धर्म व भाषा का यह भेद होते हुए भी उनका भावार्थ आपस में मिलता-जुलता है और उनकी अनुभूतियाँ एक सी हैं। इस दृष्टि से मानना पड़ता है कि उनकी भावभूमि में कुछ-न-कुछ वास्तविकता है, जो मात्र भ्रांतियों की उलझन का परिणाम नहीं है। अतः यह कहना गलत न होगा कि उनकी विचार-शैली ने मानव-जीवन को अकारण प्रभावित नहीं किया।

ऐसे ही आप्त जनों में ललद्यद की भी गणना की जाती है। वह चौदहवीं शती के मध्यकाल में प्रकट हुई। यह सदी अनेक दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्व रखती है।

एक इसलिए कि इस शताब्दी में कश्मीर में इस्लाम का स्पष्टतः प्रादुर्भाव हुआ और वह तेजी से फैलने लगा। यद्यपि संस्कृत कुछ देर के लिए पूर्ववत् राजभाषा बनी रही तथापि इस्लाम के अनुयायियों के आगमन पर उसके साथ-साथ फारसी का प्रयोग भी होने लगा और नित्यप्रति उसके प्रचार-प्रसार का क्षेत्र बढ़ता गया। इसका परिणाम यह निकला कि उस समय संस्कृत की महत्ता घटती गई। चूंकि फारसी अभी तक पूर्णतः सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं हुई थी, अतएव कश्मीरी भाषा भावाभिव्यंजन का साधन बनने लगी। धीरे-धीरे इस भाषा के साहित्य का श्रीगणेश हुआ। इसी साहित्य की प्रथम पंक्ति में ललद्यद का नाम सर्वोपरि दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने ऐहिक समस्याओं, वेदान्त के रहस्यों, योगादि साधनों और आध्यात्मिकता के आकाश में

उड़ान भरने की जिज्ञासा को इसी भाषा में व्यक्त किया है।

दूसरे यह कि इसी शताब्दी में सामान्य एवं आध्यात्म-संबंधी परम्पराओं में नये तत्वों की पर्याप्त वृद्धि हुई। जहाँ एक ओर इस्लाम का प्रचार तीव्र गति से हो रहा था, वहीं पुरानी परम्परा भी साथ-साथ जारी थी। शताब्दियों पूर्व कश्मीर बौद्ध मत का प्रसिद्ध विद्या एवं कार्य-क्षेत्र रह चुका था। कालान्तर में जब बौद्ध धर्म का प्रभाव घट गया और भारत में वेदान्त को प्रभुता प्राप्त हुई तो नवीं शती के आरम्भिक काल में यहाँ एक नये दर्शन ने जन्म लिया, जो 'त्रिक' या 'शैव सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कश्मीर में इस्लामी राज्य स्थापित होने के उपरान्त जब इस्लामी विद्या एवं साहित्य तथा संस्कृति व सभ्यता का प्रचलन हुआ, तब बौद्ध धर्म और शैव सिद्धान्त की ये परम्पराएं अभी प्रचलित थीं। इससे मुस्लिम सूफियों और संतों की परम्पराओं और साधना-विधि में पारस्परिक मेलजोल अनिवार्यतः बढ़ता गया। इस समन्वय का प्रभाव उन सूफियों पर पड़ा, जो धरती के इस खण्ड पर जन्मे, जिनको 'ऋषि' या 'बाबा' कहते हैं। दाऊद मिशकाती ने अपनी कृति 'इसरारूल अवरार' (जिसकी एक पाण्डुलिपि स्थानीय राजकीय अनुसंधान विभाग में मौजूद है) में इस वक्तव्य का अनुमोदन किया है। इस बात का उल्लेख 'आईने अकबरी' और सर वाल्टर लारेंस की पुस्तक 'कश्मीर घाटी' में भी पाया जाता है। इनके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में सर रिचर्ड टेम्पल अपनी पुस्तक 'ललवाख' में लिखते हैं-

"यद्यपि लल हिन्दू थी और शैवमत की अनुयाई, और उसकी भावभूमिका स्पष्टतः उसकी अपनी ही आस्थाओं का प्रतीक थी, तथापि उस पर सूफियों की उस शिक्षा का बहुत प्रभाव रहा है जो लगभग हिन्दुओं के उपनिषदों का दर्शन है।" वर्तमान काल में यद्यपि इन ऋषियों और बाबा-सूफियों की आश्रम-परम्परा कायम नहीं रही है, तथापि ज्ञान एवं कर्म-समन्वय के उदाहरण अब भी आस-पास के परगनों और ग्रामों में उपलब्ध हैं और इसका प्रभाव हमारे सूफी कवियों की वाणी में अब तक मौजूद है। यतः समदमीर (जो बड़गाम तहसील में नम्बलहार के रहने वाले थे और जिनका १० जनवरी १९५९ को निधन हुआ) कहते हैं-

वोन समदमीरन शास्त्र हयू, परू ओम सू परू ओम सू।

अर्थात् समदमीर ने शास्त्रों की अभिव्यंजन शैली अपनाई है-

'ओम्-सू, ओम्-सू (सोऽहमस्मि) जपते रहो।'

हिन्दू और मुसलमान सूफी कवियों ने ललद्यद की प्रशंसा में जो कुछ कहा है, उससे भी यही ज्ञात होता है कि वे भी उन्हीं के भावों और विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं और वास्तव में सब अपने-अपने ढंग से एक ही प्रकार की साधना के अनुगामी हैं।

प्रसिद्ध साधक शम्स फकीर, जो सन् १८४६ में पैदा हुए और जिनके काव्यामृत का रसास्वादन आज तक लोग चटखारे ले-ले कर करते हैं, ललद्यद के विषय में कहते हैं-

"लल ने प्राण और आकाश को एक कर दिया। वह दिखाने को शुराह्यार घाट पर नहाने गई, किन्तु वास्तव में वह न केवल वितस्ता नदी के पार हो गई, अपितु क्षिप्रता से उसने समस्त ब्राह्माण्ड को पार किया। वह नुन्दऋषि (शेख नूरूद्दीन नूरानी) को उपदेश देने गई और रिन्दों (ईश्वरभक्तों) ने इस उपदेश को पूर्णतः अध्यात्मामृत मान लिया। लल ने शाह हमदान के साथ आँख मिचौनी खेली।"

एक और विख्यात योगी पण्डित परमानन्द कहते हैं-

"लल्लेश्वरी ने योगाभ्यास करते-करते द्वादशांत मण्डल (ब्रह्माण्ड के उच्चतम केन्द्र) में एकान्तवास किया। उसने अनाहतनाद व बिन्दु से ओम् का तत्वज्ञान पा लिया। उसने चन्द्रमा की पंद्रह जीव-कलाएं विगलित कर दीं, यहाँ तक कि परमशिव की सोलहवीं कला प्रकाशमान होकर प्रकट हुई अर्थात् पूर्णतः यथार्थानुभूति से एकाकार हो गई।"

ललद्यद की जीवनी पर आवरण पड़ा हुआ है। अतः उनके विषय में प्रामाणिकता के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मात्र कुछ जन-श्रुतियाँ, परम्परागत किंवदन्तियाँ और लोकप्रसिद्ध कथानक प्रचलित हैं जो कलान्तर में लिपिबद्ध भी हो चुके हैं। उनके अनुसार वह (ललद्यद) एक कश्मीरी पण्डित परिवार में श्रीनगर से छः मील दूर दक्षिणपूर्व की ओर सिंहपुर गाँव में उत्पन्न हुई और वहाँ से दो मील दूर पाम्पुर (पद्मपुर) के प्रसिद्ध कस्बे में ब्याही गई। ससुराल में उनका नाम पद्मावती रखा गया। उनकी सास उनके साथ बहुत दुर्व्यवहार करती, उन पर नानाविध दोषारोपण करती और उन्हें बदनाम करने में कोई बात उठा न रखती। उनके विरुद्ध उनके पति के कान भरती और मनमुटाव बढ़ाती। उन्हें पेट भर कर खाना न देती। इस पर भी ललद्यद के मुख से कभी उफ तक न निकलती।

उस समय की प्रथा के अनुसार ललद्यद ने अल्पायु ही में अपने कुलगुरु सिद्धबाबू से उपदेश लिया। वह प्रायः घर से निकल कर कहीं दूर चली जाती और एकांत में योग साधना में निमग्न रहती। कुछ ही समय उपरान्त साधना में उसे इतनी सिद्धि मिली कि वह अपने गुरु से बहुत आगे निकल गई। इस प्रसंग में उनसे सम्बन्धित अनेक जन-श्रुतियाँ अब तक लोकप्रसिद्ध हैं। ससुराल में कुछ समय बिताने के बाद अन्ततः एक दिन उसने घर-बार के त्याग का निश्चय किया और एक मस्त कलंदर की तरह अर्द्धनग्न अवस्था में यत्र-तत्र घूमने लगी। उन्होंने स्वयं कहा है-

'गुरु ने मुझे एक ही बात कह दी। कहा कि बाहर से भीतर चली जा। मुझ लली ने वही आदेश और उपदेश माना (और) इसी कारण मैं दिगम्बरावस्था में नाचने लगी।'

ललद्यद के नाम से वे कब लोकप्रसिद्ध हुई इसका कारण यह बताया जाता है कि उनके उदर का अधोभाग (जिसे कश्मीरी भाषा में 'लल' कहते हैं) बढ़ गया था और उनके गुप्तांग पर आवरण का काम देता था। कहा जाता है कि इसी स्थिति में उनकी भेंट पहली बार हजरत अमीर कबीर मीर सैयद अली हमादानी (शाह हमदान) के साथ हुई। कहते हैं, उनका सामना होते ही वह पास के एक नानबाई की जलती हुई भट्टी में जा झिपी, किन्तु थोड़ी ही देर में वहाँ से चमकदार भड़कीले पहरावे में फिर प्रकट हुई। जब उनसे इसका कारण पूछा गया तो उन्होंने कहा, मैंने जीवन में पहली बार एक मर्द (अर्थात् ईश्वरभक्त पुरुष) को देख लिया। हजरत अमीर कबीर १३७६-८० से १३८५-८६ तक कश्मीर में रहे। कहते हैं इसी अवधि में ललद्यद की उनसे कई मुलाकातें हुई। यह भी प्रसिद्ध है कि ललद्यद शेख नूरूद्दीन वली से भी (जो च्रार शरीफ में रहते थे) कई बार मिलीं और उन्हें अपनी योग-सिद्धि एवं अध्यात्म-दर्शन से प्रभावित किया। काफी लम्बी आयु पाकर बिजबिहाड़ा नामक गाँव में जामा-मस्जिद के बाहर वे परलोक को सिधार गई।

ललद्यद निस्सन्देह एक शिव-योगिनी थी। वह शिव दर्शन के परिचायक 'त्रिक्' शास्त्र के रहस्यों और 'तांत्रिक' साधना से पूरी तरह परिचित थी। यह बात स्वतः उनकी वाणी (वाखों) से स्पष्ट है। उनमें वह बार-बार प्राण अपान, नाद-बिंदु, कुंडलिनी, योग, कलाओं और ब्रहारंध्र आदि का उल्लेख करती है। उनकी दृष्टि में 'परमशिव' 'अकुल' है मगर 'शक्ति' जो 'कुल' अर्थात् तत्वों का विश्व है, शिव ही का दूसरा रूप या पक्ष है। माया मात्र एक भ्रान्त धारणा (उपाधि) नहीं अपितु शक्ति है। सृष्टि सम्भूत सत्ता है और साधक के लिए क्रिया एवं संघर्ष का साधन है अथवा अन्य शब्दों में कहें तो वह ब्रह्माण्ड है जिसमें ब्रह्मा के अण्डे पाये जाते हैं किंतु जो वास्तव में शिव-शक्ति तत्व का अन्य पक्ष है। अंग्रेजी में इस भाव को अधिक स्पष्ट रूप में यों प्रस्तुत किया जा सकता है-

Maya is a shakti, not an illusion and the creation is a becoming, the experience of the experiencer, an unfoldment, an out-volution or varying the metaphor again, a derivative of Mula-Prakriti, the Matrix in which the "eggs of Brahma (Brahmanda)" are laid which in truth is herself the other aspect of shiva-shakti Tattva ...

"अर्धपल्लवित शंकर रूप मुद्रा।"

उनके जीवन-वृत्त पर दृष्टि-निक्षेप न करते हुए भी जो बात निश्चय से कही जा सकती है, वह यह है कि उन्होंने कश्मीर के जन-मन को मोह लिया, हिन्दू हो या मुसलमान, अमीर हो या गरीब, शिक्षित हो या अपढ़, सब पर उनकी वाणी का गहरा और चिरस्थायी प्रभाव पड़ा है। वह कश्मीर की अत्यन्त लोकप्रिय संत कवयित्री हैं। किन्तु उनकी लोकप्रियता का कारण दर्शन के गहन रहस्यों का उद्घाटन या प्राणायाम प्रक्रिया या कुण्डलिनी एवं 'नाद-बिंदु' योग का चिन्तन मनन नहीं। न ही इसलिए वे आदर-सम्मान के योग्य समझी जाती हैं कि उन्होंने शैव दर्शन का प्रतिनिधित्व किया प्रत्युत उनकी लोकप्रियता का कारण उनकी निष्ठा, साधनानुभव, सद्भाव, दूरदर्शिता और अध्यात्म सम्बन्धी रहस्यों का ज्ञान है, जिनको वे काव्यमय वर्णनशैली के साथ मुहावरेदार एवं सुबोध भाषा में प्रस्तुत करती हैं। उनकी भाषा की सार्वप्रियता का अनुमान यों लगाया जा सकता है कि उनके 'वाख' आज की बोलचाल में भी प्रचलित हैं। उनकी भाषा और आज की भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं। उसका कारण यह है कि ये 'वाख' हम तक श्रुति परम्परा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी आये हैं और उनकी भाषा बदलती रही है। हाँ, इनमें कुछ ऐसे शब्द अवश्य दीखते हैं जो अब या तो मर चुके हैं या पुराने हो कर अप्रयुक्त हुए हैं। कुछ शब्द ऐसे हैं कि उन्होंने तुकों और छन्दोबद्धता के कारण लोकमानस में घर कर लिया है और आज तक निरन्तर प्रयुक्त किये जाते हैं। वाणी में जो आलंकारिक एवं लाक्षणिक विचित्रता और भावाभिव्यंजन में जो विशदता पाई जाती है, वह अनुपम है। इन्ही विशेषताओं ने उनके काव्य को कश्मीर के श्रेष्ठ साहित्य में एक अमर और शाश्वत स्थान प्रदान किया है।

ललद्यद का काव्य मस्ती व तन्मयता के भावों से आप्लावित है और उसमें वेदान्त और अध्यात्म-तत्व के रहस्यों का वह भण्डार पाया जाता है, जो सन्तों और सूफियों की साधना व क्रिया के सुन्दर समन्वय पर आधारित है और जो उनकी पारस्परिक अनुकूलता एवं समग्रता का प्रतीक है।

लल-वाख

✍ शंभुनाथ भट्ट 'हलीम', अनुवादक ★ ओमशंकर, संकलनकर्ता

'कच्चे धागे (की सहायता) से मैं सागर में नैया खींच रही हूँ। काश! दई (ईश्वर) मेरी सुने, मुझे भी पार लगा दे। मेरी दशा उन कच्चे मृन्पात्रों (मिट्टी के बर्तनों) की सी है, जिनमें सदैव पानी पचता रहता है। मेरा जी कर रहा है, अपने घर (स्वधाम) को चली जाऊँ।'

'कौन बाप और कौन माँ! किसने तेरे साथ गठजोड़ किया। कल को तू चला जायेगा - न कोई बाप होगा न कोई माँ होगी - यह जानकर भी क्यों लाग-लगाव बढ़ाता है।'

'कालचक्र में ऐसी कुस्थिति होगी कि (दुष्कर्मों के कारण) सप्तकुल रसातल को जायेंगे। तब असमय वृष्टि हुआ करेगी। तब ब्राह्मण और चाण्डाल (कुकर्मी) एक साथ मांस-मदिरा का खान-पान करेंगे।'

'जो लोग इधर का माल चुरा कर उधर कर देते हैं और लोभ के मारे ज्ञान की बातें बखानते हैं - वे लोग दिखावा - भर करते हैं - उन्हें कुछ संचित नहीं होता। यदि तू प्रबुद्ध है तो ऐसे मामलों में पीछे हट।'

'मैदान के मध्य में मैंने एक भवन-निर्माण किया। उसको चारों ओर से मैंने यथेष्ट रूप से सँवारा-सजाया। वह (भवन) यहीं रह जायेगा और मैं चली जाऊँगी। मानो दुकानदार दुकान बढ़ा कर चला गया।'

'बिच्छू घास को दूध से सींचना नहीं, सर्पिणी के अण्डों को कभी न सेना। बालू की पुलिन पर बीज न बोना, भूसे की नानखताई पर तेल बर्बाद न करना। मूढ़ को ज्ञानोपदेश न करना। गधे को गुड़ देने से तुम्हारी मेहनत अकारथ जायेगी। जो जैसा करे, वह वैसा भरे। तुम्हें अपने-आपको कुँए में धकेलना नहीं चाहिए।'

'आलूबुखारा में से मीठा रस नहीं निकलता। निर्वीर्य शूर नहीं बन सकता। मूर्ख को समझाना हाथी को खुजलाना है (अर्थात् बेकार है)। जिस बैल को सुस्ती और आलस्य ने धर दबोचा, वह काम से गया।'

'रैहान (मरवाहे) की शाखा से सुगन्ध कभी नहीं जाती। कुत्ते के चमड़े से कपूर की सुबास कभी नहीं आ सकती। यदि तू उस (परम पद अक्षर) का ध्यान मन में करे तो वह सहज ही (तेरी ओर) प्रवृत्त होगा। नहीं तो, गीदड़ की तरह चिल्लाने मात्र से कोई लाभ नहीं।'

☐ (ललद्यद', १९७६)

जियालाल कौल, नन्दलाल कौल 'तालिब', शंभुनाथ भट्ट 'हलीम' : कश्मीरी विद्वान एवं साहित्यकार

नुंद ऋषि उर्फ शेख नूरुद्दीन वली

✍ अग्निशेखर

कश्मीर में नुंद ऋषि उर्फ शेख नूरुद्दीन वली के आस्तान चरार-ए-शरीफ का शरीर बौद्ध पगोडानुमा था और आत्मा थी सूफी और शैव मतों की एकता। कट्टरपंथी उग्रवादियों ने सहिष्णुता और कश्मीरियत की इस आत्मा को भस्म कर डाला। नुंद ऋषि हिन्दू और मुस्लिम दोनों के समान रूप से आराध्य थे। मुस्लिमों के लिए वे शेख-उल-आलम थे तो हिन्दुओं के लिए जगद्गुरु। इस्लाम को कश्मीरियत का मुहावरा देने वाला यह जन कवि एक ओर भारत की प्राचीन ऋषि परम्परा का प्रतिनिधि था तो दूसरी ओर भक्तिकालीन संत कविता का। उनके जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाल रहे हैं अग्निशेखर।

बहुत कम लोग जानते हैं कि संत कवि नुंदऋषि उर्फ शेख नूरुद्दीन वली कश्मीर के इतिहास में सर्वाधिक उथल-पुथल, राजनैतिक उठा-पटक, आंतरिक कलह, धर्मांतरण और हिंसाचार भरे समय में पैदा हुए। कश्मीर की तहजीब की दृष्टि से चौदहवीं शताब्दी एक ऐसा कालखण्ड है जिसमें इस्लाम और स्थानीय शैवमत के बीच वैचारिक टकराहट और मिलाप की प्रक्रिया लोगों के भविष्य की रूपरेखा तैयार कर रही थी। भय, असुरक्षा और अनिश्चितता के बीच घबराई हुई जनता के लिए निराशा और उदासीनता का दौर चल रहा था।

राजनैतिक दृष्टि से लामाओं के देश से कश्मीर आए भोट नरेश रिचन (१३२०-१३२२) के मुसलमान हो जाने के साथ ही घाटी में इस्लाम की प्रभुसत्ता स्थापित हो चुकी थी। कश्मीरियों की स्मृतियों में अभी मंगोल दुलचा की विनाश-लीला का गर्द-गुबार थमा नहीं था। दूसरी ओर मध्य एशिया से घाटी में इस्लाम का प्रचार-प्रसार करने आए सैयद और सूफी इस एकेश्वरवादी नए धर्म का संदेश लेकर घूम रहे थे। दरअसल उन दिनों कश्मीरी जनता के सामने इस्लाम उग्र और नरम दोनों रूपों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा था। कश्मीर की अपनी क्षेत्रीय पहचान के लिए यह संक्रमण काल था। ऐसे समय में ललद्यद के बाद नुंदऋषि उर्फ नूरुद्दीन का एक विराट सूफी कवि के रूप में उभरना जैसे प्रकृति का ही हस्तक्षेप था।

नुंदऋषि चूंकि कश्मीर की आत्मा के कवि थे, इसलिए उन्होंने सीधे अपने समय और समाज की नब्ज पर उंगली रखी। क्षेत्रीय अस्मिता और मुस्लिम अस्मिता के द्वंद्व पर उनकी सही नजर थी। एक संवेदनशील कवि के रूप में उन पर इन दोनों स्थितियों का प्रभाव था। ये दोनों धारें जिस सहजता के साथ उनके यहाँ एक दूसरे में जा मिलीं, उसकी जमीन ललद्यद ने पहले से ही तैयार कर ली थी। दोनों धर्मों की एकता पर ललद्यद का आग्रह इस प्रकार का था:

'शिव है कण-कण में वास करता
नहीं भेद करो हिंदू और मुसलमान के बीच
हो यदि बुद्धिमान तो चीन्ह लो खुद को
वो ही है दैव की सही पहचान।'

नुंदऋषि उर्फ शेख नूरुद्दीन ने अपना जीवन-दर्शन इसी मूलभूत एकता पर खड़ा किया। वह जहाँ शेख-उल-आलम (जगद्गुरु) के रूप में कश्मीर में इस्लाम के प्रचारक के रूप में सामने आते हैं, वहीं स्थानीय पारम्परिक जीवन-शैली से अटूट प्रेम करने वाले एक शैवाचार्य के रूप में भी नजर आते हैं। देखा जाए तो नुंदऋषि ने घाटी में इस्लाम को कश्मीरी मुहावरा दिया। उसे अपनी कविता से, कर्म से स्थानीय रंग ही नहीं दिया बल्कि उसे आत्मीय भी बनाया। नुंदऋषि के व्यक्तित्व से उनके समकालीन मध्य एशिया से आए धर्म-प्रचारक जहाँ प्रभावित थे, वहीं उनकी अपार लोकप्रियता के आगे विवश भी थे। उनके पास जन साधारण की आम कश्मीरी भाषा थी। इसलिए जनता के साथ उनका सीधा संवाद था।

नुंदऋषि विदेशी सैयदों के कठोर अनुशासन को अनदेखा कर शैवमत के सिद्धांत, शाक्त योग, प्राणाभ्यास, अवतारवाद, कठोर तप, उपवास, अहिंसा मांस खाने का निषेध और इस्लाम के सूफी पक्ष को एक साथ आत्मसात् करते हुए समन्वय पर जोर दे रहे थे। यह यों ही नहीं है कि नुंदऋषि कश्मीरी पंडितों और कश्मीरी मुसलमानों में समान रूप से पूजित हैं। उन को लेकर श्रद्धा का इतना अतिरेक है कि लोकमानस से उपजी किंवदंतियों के पार कवि का व्यक्तित्व ही धूमिल होता गया है। हालांकि १९७८ में उनके छह सौवें जन्मोत्सव वर्ष के दौरान उनके इतिहास, धर्म, दर्शन, जीवन-शैली, भाषा, उनकी कविता पर सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर नए सिरे से शोध भी हुए थे।

नुंदऋषि के पूर्वज वर्तमान डोडा जिले की तहसील किश्तवार के तेजवंशी राजा थे जो बाद में संजवंशी कहलाए। १३२० की आस-पास उग्रतेज उर्फ गुर्जसंज (गदाधर) राजवंश के अंदरूनी कलह के चलते किश्तवार से भागकर कुलगाम (कश्मीर) में आ बसे और स्थानीय राजा के यहाँ सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हुए। कश्मीर में यह मंगोल दुलचा के आक्रमण के बाद के दिन थे जिसका लाभ उठाकर घाटी में जगह-जगह सामंतों ने स्वतंत्र राज्यों की घोषणाएं कर किलेबंदियाँ कर ली थीं। ऐसे ही एक सामंत के हमले में अपने राजा की ओर से लड़ते हुए उग्रतेज मारे गए। उग्रतेज के पुत्र ध्रुपदसंज के दो बेटों सोलु और सलत (या सलर) में से सलर मीर सैयद हुसैन समनानी की प्रेरणा से मुसलमान होकर शेख सलारुद्दीन के नाम से प्रसिद्ध हुए। सलर उर्फ शेख सलारुद्दीन का विवाह शलभ की बाल विधवा बेटी सदर (सं. सार्द्रा) से हुआ जिससे उनके यहाँ सन् १३७८ में बालक सहजानंद उर्फ नुंदऋषि उर्फ शेख नूरुद्दीन वली पैदा हुए।

नुंदऋषि के जन्म के साथ भी कई दंत कथाएं जुड़ी हैं। जैसे सलर उर्फ सेख सलारुद्दीन ने एक मुहूर्त विशेष पर या एक तीर्थ विशेष गौतमनाग में उषाकाल में सरोवर का एक कमल सुंघाया और सदर गर्भवती हो गई। एक और दंतकथा के अनुसार संत कवयित्री ललद्यद ने एक बार एक यसमान ऋषि को कुछ फूल अर्पित किए जो उस ऋषि ने पुत्रेच्छा से वहाँ आए सलर और सदर माँ को यह कह कर भेंट किए कि उसके यहाँ ऋषियों का नाम रोशन करने वाला पुत्ररत्न पैदा होगा। गर्भकाल या प्रसूति के दौरान सदर माँ ललद्यद की देख-रेख में रही। एक महत्वपूर्ण कश्मीरी कहावत के अनुसार जब बालक नुंदऋषि ने पैदा होने के कई दिनों बाद तक माँ का दूध लेने से इनकार किया तो ललद्यद ने उसे यह कहकर अपना स्तनपान कराया, 'जगत में आने से शर्माए नहीं, फिर दूध पीने में लज्जा कैसी।'

संत कवयित्री ललद्यद का नुंदऋषि को अपना दूध पिलाने की कथा में गहन प्रतीकात्मक अर्थ-छाया है। ललद्यद ने नुंदऋषि को विरासत से जोड़ा। उसे संक्रमण काल में अपना उत्तराधिकारी मिला जिसे अपने दूध से उसने पोषित किया। यानी कश्मीर की अंतरात्मा ने नए सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन को सहर्ष स्वीकार किया। जो लोग नुंदऋषि को सिर्फ एक इस्लाम-प्रचारक के रूप में देखना चाहते हैं उन्हें नुंदऋषि के लिए संत कवयित्री ललद्यद का गुरु तुल्य होना अखरता है। उन्हें मन ही मन नुंदऋषि के इन शब्दों से भी परेशानी होती है-

'उस पदमानपुरा की लला ने
आकंठ पिया अमृत जिसने
वह लला है हमारी भी अवतार
हे देव, वैसा ही वरदान दो मुझे भी।'

नुंदऋषि का विवाह तेरह वर्ष की आयु में जयद्यद के साथ हुआ। जयद्यद कयूम गाँव की ही थी या डाडसर (जाल) की या सागाम (अनंतनाग) की, इसके बारे में मतभेद हैं। कहते हैं कि नुंदऋषि को घर की मोह-माया भरी चार दीवारें कैद न कर सकीं। उन्हें मौलवी ने अरबी का पहला अक्षर 'अलिफ' पढ़ाया तो वहीं अड़ गए। अलिफ ही अल्ला है, अक्षरब्रह्म है तो आगे क्या पढ़ना।

नुंदऋषि के बचपन के कुछ वर्ष सौतेले भाइयों की कुसंगति में कटे। परन्तु मन से धर्म परायण रहे। सत्य की खोज में बेचैनी इस कदर बढ़ी कि पत्नी, बच्चों और माँ की ममता को छोड़कर नुंदऋषि कयूम गाँव के पास की एक गुफा 'शारदाबल' में हठयोग की साधना में लग गए। बारह वर्ष की तपस्या के दौरान उन्होंने प्रथम चरण में केवल साग का आहार किया, दूसरे में सिर्फ दूध लेते रहे और तीसरे चरण में निराहार रहे। इस तरह उन्होंने बरसों के रोजे रखे।

गुफावास की समाप्ति पर नुंदऋषि कश्मीर घाटी के गाँव-गाँव में घूमे। जैसे सारनाथ के बोधिवृक्ष से उठकर एक और तथागत जहालत, द्वेष, घृणा, हिंसा के अंधकार में प्रेम, अहिंसा, दया, सद्भाव का प्रकाश लिए चारों दिशाओं में निकल पड़ा हो। जिन लोगों ने चरार-ए-शरीफ में नुंदऋषि का मुनुल (पट्ट का फिरन) देखा होगा वे सहज ही उनके दबंग व्यक्तित्व और उनकी कद-काठी के बारे में अनुमान लगा सकते हैं। नुंदऋषि ने घुमक्कड़ी के दौरान अपनी जनता को करीब से देखा

और समझा। उनका संवेदनशील कविमन लोगों की विषम परिस्थितियों को देखकर चीत्कार से भर उठता। श्रमिकों, खेतिहरों और छोटे किसानों की फटेहाल जिंदगी से वे द्रवित हो उठते। वे सामंतशाही के स्वाद को समझते थे। खेत में हल चलाने से लेकर अनाज तैयार होने की प्रक्रिया में गरीब कृषक के पसीने की एक-एक बूंद के शोषण से भी वह परिचित थे। उनकी काव्य-रचना 'गोंगलनामा' के माध्यम से नुंदऋषि की पक्षधरता को सहज ही देखा जा सकता है।

कवि नुंदऋषि के साथ यह विडम्बना है कि उन्हें लोगों के कवि के रूप में कम और मजहबी प्रचारक के रूप में कुछ ज्यादा ही संस्थाबद्ध किया गया। इसीलिए यह जनकवि हमें विदेशी विचारधारा की कट्टरता के खिलाफ किसानों के प्रतिकार का कवि नहीं दिखता। उनकी रचनाओं में आर्थिक, सामाजिक विषमताओं और धार्मिक रूढ़ियों पर प्रहार है। नुंदऋषि ने धनाढ्य वर्ग की खिल्ली उड़ाई। जातिवाद को ठेंगा दिखाया। उनकी फब्तियाँ, सूक्तियाँ और उनके किस्से जन-जन की जुबान पर चढ़े। उनके चमत्कारों की असंख्य कहानियाँ घर-घर घूमीं। लोग हजारों की संख्या में इस आलोक के पथिक की ओर उमड़ पड़े। वे जहाँ-जहाँ गए, वहाँ उनके तीर्थस्थल बने। उन्होंने बिना किसी ताम-झाम के समन्वय के सिद्धांत पर एक ऋषि परम्परा को स्थापित किया जो न पूरी तरह से हिंदू थी और न इस्लामी। स्थानीय रंग में रची-पगी नव-मुसलिम ऋषि जीवन-शैली।

नुंदऋषि ने अपनी कविता में कई पूर्ववर्ती ऋषियों के नाम गिनाए हैं जिनमें हजरत मुहम्मद साहब को इस परम्परा का पहला ऋषि बताया गया है। इस तरह परम्परा से स्थानीय ऋषि परम्परा में केवल चरित्र बदले। इस नई परम्परा में नुंदऋषि के समकालीन और बाद के अनेक सूफी संत प्रतिष्ठित होते रहे। कवि ने इस ऋषि परम्परा को जन साधारण में लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से इस्लाम के सूफी पक्ष को उभारा।

इस तरह नुंदऋषि के व्यक्तित्व में शैव और सूफी धारायें आ मिलती हैं। दर्शन के स्तर पर ऐसा वैचारिक संगम शायद ही और कहीं मिलता हो। वे एक ही स्वर में कई स्तरों पर बोलते हुए दिखाई पड़ते हैं। अपनी प्रतिभा, सूझबूझ और अपनी मिट्टी से प्यार के कारण उन्होंने देशकाल को प्रभावित किया। इस प्रक्रिया में उन्हें टकराव और तनाव के क्षणों से भी गुजरना पड़ा। सादात जैसे विदेशी धर्मप्रचारक के साथ उनके मतभेद को इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। इस्लाम को कश्मीर का स्थानीय रंग देने की दिशा में मध्य एशिया के सैयदों ने कई बाधाएं खड़ी कीं, पर नुंदऋषि के दर्शन को शायद उन प्रारम्भिक दिनों में कट्टर धर्मगुरुओं ने जनता की भावनाओं को देखते हुए रियायतें भी दे दी होंगी।

सैयद मीर मुहम्मद हमदानी, जिन्हें कश्मीरी मुसलमान श्रद्धावश 'अमीर कबीर' और घाटी में 'इसलाम का बानी' कहकर पुकारते हैं, ने भी धर्मांतरण के बाद कश्मीरियों को अनेक पुराने रीति-रिवाजों को जारी रख सकने की छूट दी थी। इन धर्मगुरुओं का विश्वास था कि कालांतर में वे धर्मांतरित कश्मीरी अपने आप सौ फीसदी मुसलमान हो जाएंगे। पर कश्मीर के कट्टरपंथी मुसलमान आज तक ऋषि परम्परा की इस सहिष्णु सूफी धारा को स्वीकार नहीं कर सके।

कश्मीरी साहित्य में समूचे सूफी साहित्य को 'शास्त्र' कहा गया। सूफियों के आस्तानों पर जाना, आस्तानों का पगोडा जैसा वास्तुशिल्प, आस्तानों पर मन्नतें मांगना, मुस्लिम ऋषियों के उर्स पर हफ्तों मांस खाने का निषेध, सूफी पीर-फकीरों की निशानियों का आराध्य होना, तहल (पीले नमकीन चावल) बनाकर बाँटना आदि को गैर-इस्लामिक बताकर इसका विरोध पुराना है। खासकर पिछले दशकों में इस विरोध को जमायते इसलामी का नेतृत्व मिला। दूसरी ओर कवि नुंदऋषि को खालिस इस्लाम-प्रचारक के रूप में प्रस्तुत करने के पीछे भी कट्टरपंथी लोग ही रहे। उनके उपदेशपरक किस्से-कहानियाँ, धार्मिक चमत्कार उनकी धर्मनिरपेक्ष सदाशय संत कवि की छवि को धुंधलके में धकेल दिए जाने में सहायक सिद्ध हुए।

इस युगनिर्माता कवि नुंदऋषि को संस्थाबद्ध किया जाना अपने में एक विडम्बना है। धर्म प्रचार-प्रसार संबंधी बेशुमार रचनाएं उनके नाम के साथ नत्थी कर दी गई। ललद्यद की कई रचनाओं को उनके खाते में डाला गया। वरीयता क्रम से भी ललद्यद के छह सौवें जन्मोत्सव वर्ष के स्थान पर नुंदऋषि उर्फ शेख नूरूद्दीन वली का जन्मोत्सव वर्ष मनाने और कश्मीर विश्वविद्यालय में केवल उन्हीं की 'पीठ' स्थापित करने के पीछे भी कहीं यही भावना काम कर रही थी। कश्मीरी साहित्य के समालोचक डॉ. रतनलाल शांत के शब्दों में - 'जिस आडम्बर का विरोध शेख ने किया, जिसे उन्होंने व्यंग्य से कचोट के रख दिया, वही उनकी कविता में भर गया। उन्हें इस्लाम का संस्थापक सिद्ध करने के लिए दैनिक नमाज, रोजा, हज, अल्लाह, पैगम्बर, कयामत, जन्नत, जहन्नुम आदि संबंधी पद उनके नाम से चलाए गए जिन पर उनके कर्तृत्व का जरा भी आरोप नहीं किया जा सकता।'

नुंदऋषि के रचना-कर्म को धुंधलके में गुम करने में जितना उन हस्तलेखों का हाथ है जो उनके मरणोपरांत दो-ढाई सदियाँ बीत जाने के बाद लिखे गए, उतना ही कश्मीरी अलगाववाद की राजनीति से प्रेरित उदार समझे जाने वाले कुछ साहित्यकारों और समीक्षकों का भी हाथ है। नुंदऋषि के इस्लामी पक्ष के साथ उनके स्थानीय पक्ष को सहज स्वीकारने में उन्हें दिक्कत महसूस होती है।

नुंदऋषि को जब हम कश्मीरियत का सही प्रतीक कहते हैं तो कट्टरपंथियों के लिए परेशानी खड़ी हो जाती है। उन्हें वह सब नहीं चाहिए जो उनकी नजर में नुंदऋषि उर्फ शेख नूरूद्दीन वली में गैर इस्लामिक है। यह बात अलग है कि नुंदऋषि के चरार-ए-शरीफ को भस्मसात् किए जाने की त्रासद घटना पर वे लोग ज्यादा चिंतित दिखाई देने का ढोंग कर रहे हैं। पूछा जा सकता है कि सन् १९९० में इस संत कवि के आस्तान चरार-ए-शरीफ को पाकिस्तान से लाए गए अस्त्र-शस्त्रों को जमा करने और वहीं से वितरित करने के लिए क्यों इस्तेमाल करने दिया गया? क्यों आतंकवादियों के छिपने का अड्डा इस पवित्र तीर्थ को बनने दिया गया? क्यों चुप रहे कश्मीर के बुद्धिजीवी, वहाँ के कवि, पत्रकार?

चरार-ए-शरीफ निश्चय ही कश्मीर की साझा ऋषि परम्परा का महत्वपूर्ण प्रतीक है जो हिन्दुओं के लिए नुंदऋषि या सहजानंद और मुसलमानों के लिए शेख नुरूद्दीन वली या अलमदारे कश्मीर का शांतिपीठ था।

ऋषि कलाम

✍ डॉ० अग्निशेखर, संकलनकर्ता, अनुवादक

मैंने ढूँढ़ा भुवनों और छहों दिशाओं में उसको
पर पा न सका कहीं भी अता-पता उसका
पूछा पीरों फकीरों मुल्लों ऋषियों से मैंने
सुन सुनकर वे भी लगे झाँकने अपनी बगलें
छोड़ दिए आखिर जब तर्क वितर्क संदेह मैंने
तो पाया व्याप्त उसे हर ओर था मैं ही न कहीं।

तीन तीन बार आमंत्रित होंगे दावत पर अमीर
क्यों पूछेंगे सामने पड़ने पर भी गरीब को
अमीर पर विश्वास किया जाएगा बिना जमानत के भी
गरीब की जमानत भी नहीं आती है काम
पीठ पीछे कोसेंगे लोग धनिक को
निर्धन का छोड़ेंगे परिजन भी साथ

मेरा अहम है मदांध हाथी
इसी हाथी ने है मुझे दबोचा
खिलाओ कितना भी तृप्त नहीं होता
हजारों में बिरला ही इससे कोई है बच पाता
सभा को है इस हाथी ने नीचे दाबा

बीच जंगल के हो गया अंधेरा
कैसे पथ खोजूँ इस धुंधलके में
मैं अंधा किए लहुलुहान हाथ अपने
हे मेरे मन, तू चेत अभी भी

खुदा है एक ही हैं लाखों नाम उसके
नहीं है घास का एक तिनका भी नास्तिक
पखवाड़े भर का जीवन है जानो यह
छोटी सी मक्खी तक का है यह पालनहार

मृत्यु का तीर लगेगा तो बच कैसे पाऊँगा
फँस गया जाल में जन्म लेते ही मैं
धुली नहीं भीतर की मैल तो लाभ क्या देने
बोलने का
जलेगी उबलते तेल में चाम मेरी जब मुझे वहाँ तलेंगे

सत्य को समझ गए तो कर लोगे इंद्रियाँ अधीन
नहीं तो देह झुकाने को तुम कहते हो निमाज पढ़ी
यदि शिव और शून्य को कर सके तुम एकाकारबस
सहज है वही तेरी अभ्यंतर निमाज

❐ (जनसत्ता ११ जून, १९९५)

अग्निशेखर : कश्मीर विश्वविद्यालय से हिन्दी में डॉक्टरेट; कवि; राष्ट्रीय संयोजक, पनुन कश्मीर।

आतंकवाद के खिलाफ

कश्मीर - समस्या और समाधान
'पनुन कश्मीर' की दृष्टि में

✍ प्राणेश नागरी

कश्मीर से निर्वासित हिन्दुओं के संगठन 'पनुन कश्मीर' ने पिछले कुछ वर्षों में प्रयास पूर्वक अपना पक्ष राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मीडिया, संस्थाओं तथा जनता के सामने रखा है। 'पनुन कश्मीर' का दृष्टिकोण जाने बिना कश्मीर समस्या को समझना तथा उसका कोई समाधान सुझाना अव्यावहारिक ही कहा जायेगा।

यह कश्मीरी हिन्दुओं के निर्वासन का पाँचवा वर्ष है। प्रशासन ने उन्हें एक भला सा नाम दे रखा है 'माइग्रेन्ट' यानी विस्थापित। लेकिन वास्तव में वे अपने ही देश में शरणार्थी हैं। जब यह 'अल्पसंख्यक समुदाय' आतंकवादियों के हाथों क्रूर अत्याचारों, धमकियों, यातनाओं और हत्याओं का शिकार होकर निर्वासन के लिए मजबूर हुआ तो भारत सरकार उसे सुरक्षा देने में असफल रही। यह भारत सरकार के चेहरे पर एक काला धब्बा है।

कश्मीर घाटी का मूल निवासी यह विशिष्ट और प्राचीन धार्मिक समुदाय केवल टूटन और बिखराव का शिकार ही नहीं हो रहा है बल्कि उसका अस्तित्व ही समाप्त होने की संभावना दिख रही है। वह ऐसे शरणार्थी शिविरों में रह रहा है जो जानवरों के रहने लायक भी नहीं हैं। ये शिविर प्रकृति की दया पर हैं। कभी वर्षा अपना प्रकोप दिखाती है और कभी हवा इन्हें उड़ा ले जाती है। कड़ाके की गर्मी में तो इन शिविरों में रहना असम्भव होता है। यह समुदाय क्रूर, रिश्वतखोर और पूर्वाग्रहों से भरे हुए प्रशासन की दया पर जी रहा है, जिससे थोड़ी सी राहत प्राप्त करने के लिए भी इसे एड़ी-चोटी का जोर लगाना पड़ता है। कश्मीरी हिन्दू घृणा और अनियमितताओं का शिकार हुआ है, जिससे यह साबित होता है कि प्रशासन आत्मसम्मान से भरे हुए इस समुदाय को अपमानित और आहत करने हुए पर तुला हुआ है क्योंकि जो प्रशासन निर्वासन में भी इस समुदाय पर राज कर रहा है, वह उसी शासन व्यवस्था का विस्तार है जिसने घाटी में कश्मीरी हिन्दू की त्रासद नियति को आकार दिया। पूरा परिदृश्य, इस शांतिप्रिय समुदाय को बिखेरने और इसे नष्ट करने का क्रूर षड़यंत्र ही प्रतीत होता है।

जम्मू व कश्मीर राज्य

जम्मू व कश्मीर राज्य विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों वाले क्षेत्रों को मिलाकर बनता है। इन क्षेत्रों में अलग-अलग परन्तु विशिष्ट जातियों और धर्मों के लोग रहते हैं जिनकी भाषाएं भी अलग-अलग हैं। राज्य के लगभग ८४००० वर्ग मील क्षेत्र में से ३००० वर्ग मील क्षेत्र में कश्मीर घाटी फैली हुई है। १९४७ में भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन के बाद पाकिस्तान ने हमला करके राज्य का लगभग तीसरा हिस्सा हथिया लिया। राज्य के सबसे बड़े खण्ड लद्दाख की आबादी बहुत कम है जहाँ मुख्यतः बौद्ध धर्म में आस्था रखने वाले लोग रहते हैं। इसके निकट ही कर्गिल में मुसलमान रहते हैं। हिन्दूबहुल जम्मू प्रांत के कुछ जिलों में हिन्दुओं और मुसलमानों की आबादी लगभग समान है। कश्मीर घाटी में मुसलमान अधिक हैं और हिन्दू, सिख और बौद्ध बहुत कम। कश्मीर के हिन्दू असल में कश्मीरी पंडित हैं।

घाटी के हिन्दू

कश्मीरी पंडितों की एक विशिष्ट पहचान है जो पिछले पाँच हजार वर्षों से चली आ रही है। ये कश्मीरी भाषी हैं और हिन्दू धर्म विशेषतः शैव दर्शन में आस्था

रखते हैं। ये शान्ति, अहिंसा और धार्मिक सहिष्णुता के आदर्शों में विश्वास रखते हैं। ऐसी ही विचारधारा की वजह से उन्होंने घाटी के बाहर से आई धार्मिक आस्थाओं के मूल तत्वों को भी आत्मसात् कर लिया। आस्थाओं के इस मेल से ही सूफी ऋषि परम्परा उभरी जो वास्तविक 'कश्मीरियत' का एक हिस्सा है।

इस्लाम का आगमन और उत्पीड़न

१३३६ में इस्लाम के आगमन के बाद से घाटी के हिन्दुओं को, जो वहाँ के मूल निवासी हैं, समय-समय पर मुसलमान शासकों का अत्याचार सहना पड़ा। उन पर भारी कर लगाए गए, बर्बरता पूर्ण अत्याचार किए गए और हजारों की संख्या में उनकी हत्याएँ की गई। उनकी स्त्रियों के साथ जबरदस्ती विवाह कर लिया जाता और पुरुषों को धर्म-परिवर्तन के लिए मजबूर किया जाता। उनके मंदिर अपवित्र कर दिये गए और उन्हें तोड़कर मस्जिदें बना दी गई। बाकी बचे हिन्दू घाटी से बाहर खदेड़ दिये गये। उन्हें बार-बार निर्वासन की पीड़ा सहनी पड़ी। वे दूरदराज के इलाकों और जंगलों में गुमनाम जिंदगी जीते रहे। धर्मांधता और उत्पीड़न का तूफान थोड़ा कम हुआ तो कुछ निर्वासित अपने घरों को लौट आए। हर निर्वासन के बाद इस समुदाय को बेशुमार कठिनाइयाँ और विनाश झेलने पड़े जिससे कश्मीर घाटी में इसकी संख्या आश्चर्यजनक रूप से कम होती गई। कश्मीरी हिन्दू अपनी ही जन्मभूमि में अल्पसंख्यक होकर रह गये।

भारत में विलय और उत्पीड़न

१९४७ में स्वतंत्र, धर्मनिरपेक्ष और जनतांत्रिक भारत में जम्मू व कश्मीर राज्य का विलय हुआ। तब से घाटी के हिन्दू दमन, अभाव, भय और अनिश्चितता का जीवन जीते रहे हैं। किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ने के समान अवसर उन्हें नहीं दिये गये और वे हालात से समझौता करके जीते रहे। उनकी धार्मिक गतिविधियों पर प्रतिबंध सा लगा रहा। सभी स्तरों पर उत्पीड़न के शिकार होने के कारण कश्मीरी हिन्दू अपेक्षाकृत शांत परिस्थितियों में भी घाटी छोड़ते रहे। १९४७, १९६५, १९७१ में पाकिस्तानी हमलों के समय और १९६७ में अपने अधिकारों के लिए किए गए कश्मीरी पंडितों के आंदोलन के समय इस निर्वासन में तेजी आई। १९८६ में हिन्दुओं के खिलाफ सांप्रदायिक तूफान के दौरान यह निर्वासन अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गया।

नया कश्मीर

जम्मू व कश्मीर राज्य के भारत में विलय के बाद नेशनल कॉन्फ्रेंस अपना 'नया कश्मीर' घोषणापत्र लेकर सत्ता में आई। ऊपर से तो यह घोषणापत्र धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील और जनतांत्रिक आदर्शों से भरा हुआ लगता था। आशा की जाती थी कि आम आदमी के जीवन को सुधारने के लिए राजनीतिक और आर्थिक कार्यसूची मिल गई है जिससे राज्य का भविष्य सँवर जाएगा। ऊपर से इस पर 'हिन्दू, मुस्लिम, सिख इतिहाद' का मुलम्मा भी चढ़ा हुआ था। लेकिन असल में इसका उद्देश्य था राज्य का पुनर्गठन इस तरह से करना कि केवल मुसलमानों के अनुकूल एक राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण हो सके।

भूमि सुधारों के लागू होने से हिन्दुओं को भारी नुकसान हुआ। उन्हें अपनी छोटी जमीनों से भी हाथ धोना पड़ा जिससे वे रोजगार के लिए राज्य से बाहर जाने के लिए मजबूर हो गये। एक के बाद एक नए कानून लागू किये गये। जैसे १९६४ में जागीरदारी उन्मूलन, बड़ी जागीरों के उन्मूलन का अधिनियम, गिरवी जायदाद प्रत्यावर्तन अधिनियम, संतप्त ऋणदाता राहत अधिनियम और १९७६ में भूमि सुधार अधिनियम। इन कानूनों से कश्मीरी हिन्दू समुदाय का काफी नुकसान हुआ और इसकी तबाही की शुरुआत हुई।

राज्य सरकार में नौकरी पाने के नियमों को मुसलमानों के अनुकूल बनाने के लिए उनमें समय-समय पर फेर-बदल किया गया। शिक्षा संस्थानों में व्यावसायिक शिक्षा और उच्च शिक्षा के लिए प्रवेश पाने के नियमों के साथ भी ऐसा ही किया गया। नतीजा यह हुआ कि स्कूलों, व्यावसायिक कॉलेजों और विश्वविद्यालयों, सरकारी नौकरियों और नौकरियों में स्थानांतरणों के मामलों में हिन्दुओं के साथ पक्षपात होने लगा। साथ ही हिन्दुओं की जमीनें और जागीरें जब्त की गयीं, मन्दिरों की जायदाद हथिया ली गई और एक सुनियोजित षड़यंत्र के तहत इस समुदाय के सदस्य धीरे-धीरे महत्वपूर्ण पदों से हटाए जाने लगे।

कश्मीर घाटी में 'हब्बा कदल' ही एकमात्र निर्वाचन

क्षेत्र था जिसमें हिन्दुओं की बहुलता थी। इसका पुनर्गठन इस तरह से किया गया कि चुनाव होने पर कश्मीरी हिन्दुओं का एक भी प्रतिनिधि राज्य विधानसभा में न जा सके। इस्लामी कट्टरवाद और पुनर्जागरणवाद की इस कौआ-रोर में अल्पसंख्यक समुदाय की आवाज दब गई। इस समुदाय के ज्यादातर सदस्यों के सामने शिकायतों के निवारण के लिए एकमात्र रास्ता अदालतों का ही था। राज्य प्रशासन, अफसरशाही और दूसरी सरकारी संस्थाओं के खिलाफ कश्मीरी हिन्दुओं ने अदालतों में जो वैयक्तिक और सामूहिक मुकदमे दायर किये हैं, उनसे यह बात स्पष्ट होती है। दुर्भाग्यवश हिन्दुओं को राज्य की अदालतों में अक्सर निराश होना पड़ा और उन्हें न्याय के लिए सुप्रीम कोर्ट के दरवाजे खटखटाने पड़े।

प्रशासन और सरकार का षड़यंत्र

कश्मीर के भारत में विलय के बाद से ही राज्य प्रशासन ने मुस्लिम कट्टरपंथियों की योजनाओं को मौन स्वीकृति दी। इन लोगों ने सभी सरकारी संस्थाओं में अपने पाँव जमा लिए और राज्य की सारी व्यवस्था के धर्मनिरपेक्ष-जनतांत्रिक चरित्र को बदल कर उसे एक शुद्ध इस्लामी साँचे में ढाल लिया। सरकारी तौर पर इस्लामीकरण की प्रक्रिया में घाटी के गाँवों, कस्बों और संस्थानों के हिन्दू मूल के नाम बदल दिये गये। कई हिन्दू तीर्थों के नामों में भी परिवर्तन किया गया। कहीं भी हिन्दू भावनाओं का ध्यान नहीं रखा गया। घाटी के इतिहास में भी हेर-फेर किया जा रहा है। इसको इस्लामी रंग में रंगने के लिए इसकी नई व्याख्याएं की जा रही हैं और इसको पुनः लिखा जा रहा है। कश्मीरी मुसलमान अपने गरिमामय हिन्दू मूल की अवहेलना करते हैं।

इन साजिशों पर परदा डालने के लिए घाटी की सरकारों ने मक्कारी और धोखे से घाटी की राजनीति में लगातार अनिश्चितता और गड़बड़ी का माहौल बनाए रखा, और कश्मीर के भारत में विलय के मुद्दे को विवादित रखकर अलगाववादी ताकतों को प्रोत्साहन दिया। राज्य के मुस्लिम नेताओं ने कट्टरतावादी और साम्प्रदायिक दलों का पोषण किया और जनमत संग्रह और आत्मनिर्णय की चिल्लपों मचाते रहे जिससे कि केन्द्र सरकार पर दबाव पड़े। जब भी जवाबदेही का समय आया, राज्य सरकार ने अधिक रियायतें मांगकर केन्द्र सरकार पर धौंस जमाने का अपना प्रिय हथकंडा इस्तेमाल किया। मात्र दिखावटी तौर पर ही रियायतों के पैसे का इस्तेमाल कट्टरतावादी ताकतों को रोकने और दबाने के लिए होता था। इस झगड़े में केन्द्र का अधिकार धीरे-धीरे कम होता चला गया जबकि दिल्ली की सरकारों ने कट्टरतावादियों और अलगाववादियों के सर उठाने पर ध्यान न देते हुए तुष्टीकरण की नीति जारी रखी और हालात को बिगड़ जाने दिया। हिन्दू अल्पसंख्यकों के हितों की बलि देकर राज्य में मुस्लिम बहुसंख्यकवाद को पनपने दिया गया। हिन्दू एक असहाय समुदाय बनकर रह गया क्योंकि हर क्षेत्र में उसे मुस्लिम बहुसंख्यकों की दया पर निर्भर रहना पड़ता था।

मुसलमानों को उल्टी पट्टी पढ़ाई गयी

जबकि हिन्दू अपने मुसलमान भाई की ओर दोस्ती और सौहार्द्र का हाथ बढ़ा रहा था, मुसलमान राज्य की प्रगति और विकास में से उसके हिस्से से उसे वंचित करने की योजनाएं बना रहा था। साथ-साथ मुसलमानों को हिन्दुओं और भारत के खिलाफ नफरत की पट्टी पढ़ाने के लिए 'मकतबों' (धार्मिक शिक्षा के स्कूल) और मस्जिदों का इस्तेमाल किया गया। यहाँ तक कि इस्लामी कट्टरवाद, सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों और अलगाववाद के प्रचार के लिए राजनीतिक मंच का इस्तेमाल भी किया गया। ऐसा सिर्फ कट्टरपंथी दलों के नेताओं ने ही नहीं बल्कि तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय दलों के प्रतिनिधियों ने भी किया। निजी और सरकारी संस्थान राष्ट्रविरोधी और कट्टरपंथी तत्वों से भरे हुए थे और उन्हें सरकार से प्रोत्साहन और सहायता मिलती थी।

इस सब से राज्य में बहुसंख्यक मुसलमानों की जो मानसिकता बनी उसका अल्पसंख्यक समुदाय पर सीधा असर पड़ा। गुंडों और समाजविरोधी तत्वों को कश्मीरी हिन्दुओं पर हमला करना आसान लगने लगा। हॉकी, क्रिकेट, एशियाई खेलों या ओलंपिकों में पाकिस्तान और भारत के बीच किसी भी खेल की प्रतियोगिता होती तो चाहे जो भी परिणाम निकलता, हिन्दुओं को गालियाँ दी जातीं और उनकी पिटाई की जाती। भारत के स्वतंत्रता दिवस और गणतंत्र दिवस जैसे राष्ट्रीय दिनों पर हिन्दुओं पर पथराव और हमले किए जाते। पाकिस्तान की

घटनाओं का भी सीधा असर कश्मीरी हिन्दुओं पर पड़ता था। भुट्टो को फाँसी दी जाये या जिया-उल-हक की हवाई दुर्घटना में मृत्यु हो जाए, मुसलमानों का गुस्सा हिन्दुओं पर ही उतरता था। मध्य-पूर्व के दूरदराज के देशों में होने वाली घटनाओं के कारण भी कश्मीरी हिन्दुओं की पिटाई होती। अरब-इज़राइल युद्ध हो या अल-अक्सा जलाई जाए, घाटी के हिन्दुओं को मार खानी ही पड़ती थी। घाटी के प्रशासन और बहुसंख्यक समुदाय ने कश्मीरी हिन्दू को बलि का बकरा बना रखा था।

सशस्त्र आतंकवाद की शुरुआत

घाटी में सशस्त्र आतंकवाद की शुरुआत १९८८-८९ मे हुई। इसे पाकिस्तान की पूरी सहायता और समर्थन प्राप्त था। १९८४ से घाटी के मुसलमान युवक भारी संख्या में सीमा पार जाते रहे हैं और आधुनिकतम हथियारों और गोलाबारूद के साथ तोड़-फोड़ करने का प्रशिक्षण लेकर वापस आते रहे हैं। उनकी योजना थी कि जनतंत्र और धर्मनिरपेक्षता को तहस-नहस करके घाटी और राज्य के दूसरे मुस्लिम-बहुल इलाकों में इस्लामी धर्मतांत्रिक राज्य स्थापित करें और भारत से अलग हो जाएं। इस योजना के पहले शिकार घाटी के हिन्दू अल्पसंख्यक हुए। उन्हें अंधाधुंध गोलियों का शिकार बनाया गया, फाँसी दी गयी या अन्य क्रूर तरीकों से उनकी हत्याएं की गयी। यातनाओं और बलात्कारों का सिलसिला शुरू हुआ। पत्रों और टेलीफोनों से धमकियाँ दी जाने लगीं और पोस्टरों, नोटिसों और अखबारों से पूरे हिन्दू समुदाय को चेतावनियाँ दी गई कि वे बहुत कम निश्चिय समय में घाटी छोड़कर चले जाएं। नतीजा यह हुआ कि लगभग पूरे समुदाय को निर्वासित होना पड़ा।

१९४७ से पहले कई अवसरों पर हिन्दू अल्पसंख्यकों का निर्वासन आततायी मुसलमान शासकों के इशारे पर हुआ था लेकिन १९८९-९० के वर्तमान निर्वासन की मिसाल विश्व के जनतांत्रिक देशों में कहीं भी देखने को नहीं मिलती। समाज का एक बड़ा हिस्सा धर्मनिरपेक्षता का नाश करने के लिए हथियार उठाता है। वह दूसरे धर्मों को सहन नहीं करता और हिन्दू अल्पसंख्यकों का संहार करके उन्हें निर्वासन के लिए मजबूर करता है ताकि वह इस्लामी राज्य की स्थापना कर सके और अंत में मूल देश से अलग हो सके। कश्मीर घाटी के हिन्दू अल्पसंख्यक बहुसंख्यक समुदाय द्वारा प्रायोजित आतंकवाद के शिकार होकर रह गये हैं। इसे घाटी के प्रशासन की सहायता और समर्थन भी प्राप्त है। भारत जैसे देश में, जो दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र है, यह सब होना बेहद अफसोसजनक है। सभी केन्द्र सरकारों ने इसे नजरअंदाज कर दिया।

देश की अंतरात्मा सो रही है

आतंकवादियों के इस खुलेआम विद्रोह, तोड़फोड़ और अल्पसंख्यक हिन्दुओं के विरुद्ध बेलगाम हिंसा के बावजूद राज्य और केन्द्र सरकार ने कश्मीरी हिन्दू के जाति संहार पर परदा डालना शुरू किया ताकि राज्य के धर्मनिरपेक्ष मुखौटे पर दाग न लगे। इस समय जबकि इस समुदाय के सदस्य शरणार्थी शिविरों में पड़े सड़ रहे हैं उन्हें धर्मनिरपेक्षता की वेदी पर बलि चढ़ाया जा रहा है। कुछ को छोड़कर सभी बड़ी राजनीतिक पार्टियों, महत्वपूर्ण नेताओं, राजनीतिज्ञों और बुद्धिजीवियों ने कश्मीरी हिन्दू समुदाय के 'मानवधिकारों के हनन' और जाति संहार को लेकर चुप्पी साध ली है। यह मानवता के प्रति गम्भीर अपराध है। दूसरे समुदाय के धार्मिक नेता भी जानबूझ कर चुप हैं।

केन्द्र सरकार ने जो किया है वह भी किसी से छुपा नहीं है। विलय के चार दशकों के दौरान इस समुदाय ने जम्मू व कश्मीर के निर्माण के लिए जो कड़ा परिश्रम किया, केन्द्र ने उसकी तरफ से आँखें मूंद ली और निर्वासित हो चुके इस राष्ट्रवादी और धर्मनिरपेक्ष समुदाय को खुदा के भरोसे छोड़ दिया। असल में केन्द्र सरकार की उपेक्षा, निष्क्रियता और तुष्टीकरण ने घाटी के मुस्लिमीकरण की प्रक्रिया को तेज और एक तरह से पूरा ही कर दिया है।

होमलैंड

इसलिए अब इस समुदाय को कोई फैसला करना ही होगा। इसके लिए अब यह जीवन और मरण का प्रश्न है। इस समुदाय के सामने पहली बार यह कठोर सत्य उजागर हुआ है कि इसे अपने बूते पर खड़ा होना है। उन बेड़ियों को तोड़ देना है, जिन्होंने उसे जकड़ रखा है ताकि वह अपने महान आदर्शों का पुनर्निर्माण करके उन्हें फिर से स्थापित कर सके। तभी वह सम्मान से

जीवित रह पाएगा। कश्मीरी पंडित समुदाय के किसी भी विचारधारा से जुड़े प्रत्येक व्यवसाय के सदस्यों ने 'होमलैंड प्रस्ताव' को एकमत से स्वीकार किया। यह प्रस्ताव 'पनुन कश्मीर' ने दिसम्बर १९९१ में 'मार्गदर्शन अधिवेशन' में रखा था। तब पहली बार इस समुदाय की इच्छाएं और आकांक्षाएं माँगों के रूप में उभरीं। इसलिए एक अलग 'होमलैंड' की यह माँग अपनी खोई हुई जन्मभूमि में अपना खोया हुआ सम्मान और गरिमा पुनः प्राप्त करने की कश्मीरी हिन्दुओं की हार्दिक इच्छा और दृढ़ संकल्प को रेखांकित करती है। कश्मीर घाटी में वह निरंतर उत्पीड़न, संहार और निर्वासन के बावजूद पिछले पाँच हजार वर्षों से रह रहा है और इसी घाटी में वह अपनी पहचान वापस पा सकता है। यह समुदाय मुस्लिमीकृत सरकारी तंत्र के हाथों पक्षपात, दमन और उत्पीड़न के माहौल में वापस नहीं जाना चाहता है। इसीलिए होमलैंड की मांग अनिवार्य हो जाती है। सरकार के हाथों ये तकलीफें तो वह पिछले चालीस वर्षों से सह ही रहा था। अब तो घाटी पर बंदूकधारी धार्मिक कट्टरपंथी शासन कर रहे हैं, जिनके कारण कश्मीरी हिन्दू ने बेइंतहा घुटन और आतंक सहा है और उनकी गोलियों का शिकार भी हुआ है।

होमलैण्ड क्या है?

होमलैण्ड एक ऐसा स्थान या क्षेत्र है जो वहाँ के निवासियों का अपना हो, और वहाँ रहने वाले लोग या समुदाय अनिवार्यतः वहीं के रहने वाले हों। उसी क्षेत्र में उनका जन्म हुआ हो और वे सदियों, युगों से वहाँ के वातावरण में पले-बढ़े हों यानी वह क्षेत्र प्राकृतिक रूप से उनका अपना हो। कोई समुदाय जितने अधिक समय तक किसी स्थान पर रहता है, उसकी जड़ें उतनी ही गहरी और व्यापक होती हैं और उस स्थान से उसका लगाव भी उतना ही गहरा होता है। इसलिए उस स्थान को अपना बनाये रखने और उसकी अखण्डता की रक्षा करने का उसका संकल्प भी दृढ़ होता जाता है। कई पीढ़ियों के बाद उस क्षेत्र में रहने से लोगों को अपनत्व का एहसास होता है, अपनी जड़ों, अस्मिता और सुरक्षा का अहसास होता है, वैसे ही होमलैण्ड में रहकर ही आदमी स्वयं को फलता-फूलता हुआ महसूस कर सकता है। घर और इसके सदस्यों को अलग नहीं किया जा सकता है और यह संबंध सदस्यों की कुर्बानियों से पवित्र बनता है। इतिहास इस संबंध को सुदृढ़ बनाता है और समय गुजरने के साथ इसे प्रतिष्ठा मिलती है।

होमलैण्ड : किस इलाके की मांग और क्यों?

होमलैण्ड के बारे में सोचते हुए जमीन के एक ऐसे हिस्से को ध्यान में रखना जरूरी है जिस पर एक समुदाय का हर दृष्टि से अधिकार हो। इसलिए कश्मीर घाटी में ही निर्वासित कश्मीरी पंडितों के लिए होमलैंड की कल्पना करनी होगी।

हमने जेहलम नदी के उत्तर और पूर्व के इलाके की माँग की है। हमारे दावे को स्वीकार करने के लिए घाटी का विभाजन करना होगा। जेहलम नदी एक प्राकृतिक भौगोलिक विभाजन है और इसलिए यह होमलैंड और शेष घाटी के बीच सीमा रेखा बन जाएगी। जेहलम नदी के उत्तर और पूर्व वाले घाटी के दक्षिणी क्षेत्र में हमारे ज्यादातर पवित्र तीर्थस्थान, और पवित्रतम तीर्थ अमरनाथ की गुफा भी है। यही वह क्षेत्र है जिसमें से होकर राष्ट्रीय राजमार्ग गुजरता है। इलाके की उपयुक्तता और जनसंख्या के आधार पर संघ शासित प्रदेश के दर्जे वाले होमलैंड की स्थापना के लिए यह स्थान सबसे अधिक उपयुक्त है।

होमलैण्ड की माँग करके हम कश्मीर पर भारत के दावे को मजबूत ही करते हैं। होमलैंड भारतीय संविधान को इसके निर्बाध रूप और वास्तविक अर्थों में लागू करेगा। कश्मीर वैदिक काल से ही भारत का सरताज रहा है। होमलैण्ड भारतीय गणतंत्र के इस ताज की हर हालत में रक्षा करेगा।

कश्मीरी पंडित शांति, सौहार्द्र और भाई-चारे से रहना चाहते हैं। राज्य के संवैधानिक और राजनीतिक ढाँचे को प्रभावित करने वाली किसी भी बातचीत, फैसले और परिवर्तन में भागीदारी के अपने अधिकार के लिए वे संघर्ष करेंगे। यह संघर्ष तब तक जारी रहेगा जब तक उन्हें अपनी जन्म भूमि पर अपना उचित अधिकार नहीं मिल जाता।

प्राणेश नागरी : क्षेत्रीय संयोजक, पनुन कश्मीर, पूर्वी भारत, कानपुर।

WHAT TO DO ABOUT KASHMIR

✍ Koenraad Elst

Koenrad Elst grew up in the catholic community in Belgium. He is an expert in Chinese and Indo-Aryan Studies and Philosophy. He has extensively published in Dutch about language policy issues, contemprary politics, history of science and oriental philosophies. He has many books to his credit and his boks on India, notably, "Negationism in India : Concealing the Record of Islam" and "Indigenous Indians : From Agastya to Ambedkar ", have become classics.

The most underreported case of ethnic cleansing worldwide in recent years is undoubtedly the violent expulsion of a quarter million Kashmiri Pandits from Kashmir, practically the whole Hindu population, in 1989-90. Just like with the expulsion of all 50,000 Hindus from Kabul after the city was captured by the mujahedin in April 1992, the world press has strictly kept the lid on the news of ethnic cleansing in Kashmir. The Indian media, unable to conceal the facts to its readership, have tried to minimize and ideologically cleanse the news by calling the refugees "migrants" (even while describing Bangladeshi infiltrators with an awowed Lebensraum agenda as "refugeses") by blaming them for communal friction in Jammu where many of them live in refugee camps, and by claiming that they left volunarily as part of a strategy worked out by the then governor Jagmohan in his desire to have a free field for shooting poor hapless Kashmiri Muslims.

The pro-separatist bias in Kashmir reporting has not missed its effect. influential politicans in the USA and other Western countries are supporting the demands of the terrorists against the world's largest democracry, which ought to have been the West's natural ally in the South Asian region. The same people who oppose the justified independence movements of the Kurds and Tibetans in the name of stability (read: business), suddenly become sponsors of the independence movement when it comes to Kashmir, an integral part of India since thousands of years. Perhaps there is a consistency somewhere in their position : what the Kashmiri separatists have in common with the oppressors of the Kurds and the Tibetans, and what apparently makes them worth supporting, is that they all practice their own bit of genocide. But the plight of the Kurds and Tibetans is at least known to world

opinion; the Kashmiri Pandits are unknown to the world, hence unheard.

Who are the Kashmiri Pandits? Since thousands of years, they have been a pillar of Hindu civilization and a living embodiment of the Indian-ness of Kashmir. After the Muslim conquest, physical force and social pressures were combined to islamize the population; the present-day Kashmiri Pandits are the progeny of those few who managed to avoid conversion to Islam. To preserve their Hindu identity, they had to use compromise, bribes, services to the rulers, flattery, temporary exile, and some feats of heroism. Far from being hostile to islam, they have developed the understandable habit of flattering islam and overlooking the problem which islam poses, espacially by extolling the supposedly tolerant Sufi mysticism popular among the Kashmiri Muslim community and by brandishing the trans-religious notion of Kashmiriat.

The insistent refrain that "Islam is essentially a religion of peace" and that "all religions are essentially the same", now the banner of the sentimentalist tendencey within indian secularism, has always been most popular among the fearful Hindu minorities in Muslim-majority areas like Sindh, East Bengal and Kashmir. In their position, this white lie was understandable, but today the option of such a superficial explanation of religious hostilities is no longer open. Just like the Arab Christian attempt to transcend religious polarization in the secular ideology of Arab nationalism has ended in failure (expulsion of the remaning Christians from Turkey, attacks on Copts in Egypt, the Lebanese civil war), so also the hopeful balloon of Kashmiriat has now decisively been pin-pricked.

The Kashmiri Muslims have made their rejection of Kashmiriat clear by massively supporting the Pakistani agents who masterminded the separatist guerilla. Too many Kashmiri Pandits have been betrayed or killed by their very neighbours, with whom they thought they had such chummy secular relations. We would like to follow the fashion of exonerating the masses and putting the blame on the militants alone but unfortunately, just like a majority of the German people shared in Hitler's guilt by bringing him to power, so also the average Kashmiri Muslim is not altogether innocent. It is no use fooling ourselves after Kashmiris have enjoyed a number of legal and mateiral privileges in India, they are still in favour of separatism, and no further extension of their autonomy and material benefits will convince them that they belong to India. All this secularist poetry about "winning back the hearts of the Kashmiris" overlooks the deep religious roots of Kashmir separatism; not addressing this fundamental problem will only keep the struggle going and will cost thousands of lives. In order to stop the fighting, to save many thousndas of lives bound to be lost in a continuing war, and to preserve India's unity and integrity, it is

necessary to seek out the very root of Kashmiri separatism : Islamic fundamentalism.

To be sure, many nominal Muslims throughout Islamic history have followed universal human principles including a toleration of and fellow-feeling for their non-Muslim neighbours. But as soon as Islamization campaigns make them more sensitive to the demands of the doctrine, even many of these good people tend to develop the typical hostility against unbelievers. The last decades have witnessed precisely this Islamization of hitherto superficial Muslims in areas like Malaysia, East Bengal and Kashmir, and the result has invariably been the spread of hostility against unbelievers to the supposedly most tolerant corners of society, especially the backward villages and the westernized elites. The indoctrination of the Muslim masses has seldom been as thoroguh as in this modern age.

As long as Kashmir remains a Muslim-majority area, there will be some form of anti-Indian separatism in Kashmir. The best solution is therefore to free the Kshmir population from their conditioning through education. After a decisive victory of the Indian Army against the separatist milltias (the precondition of any effective policy), the Kashmiri Muslims should be exposed to a programme of ideological and cultural deconditiong. A crash course in the true history of Muslim conquests would be a crucial factor in breaking the spell cast on the minds of otherwise fine human beings. This programme could be taken up by civil organizations or by the State.

Failing a policy which takes on Islamic fundamentalism itself at the ideologcial level, the second option is to change the demographic composition of Kashmir : lifting Article 370 would allow Hindu non-Kashmiris to settle in the valley alongwith the Pandits, and the government could give land to Army veterans. In the present atmosphere this would put the Hindus in Kashmir in a position similar to that of Israeli settlers in the West Bank; having to live in fortified settlements surroudned by a hostile local population. Perhaps that is a temporary inconvenience which Indians will have to take in their stride.

Meanwhile, Indian Muslims also have a role in the Indian struggle for Kashmir. They should speak out to the Muslim world in favour of Kashmir remaining inside secular India. Of course, this would not necesarily be proof of their support for a secular rather than an Islamic state. Before partition, modernist Muslims favoured a separate Muslim-majority state, but traditionalist Muslims opposed partition. Gullible and self-deceiving Hindus have eagerly considered the latter position as secularist and nationalist: in reality, the traditionalists, including Maulana Abul Kalam Azad, were only more ambitious than the democratic modernists around Mohammed Ali Jinnah. While Jinnah had a short term strategy to secure a part of India as a Muslim state, the traditionalists had a

long-term strategy to conquer the whole of India for Islam.

Today, the pleas from some Muslim leaders, from M.J. Akbar to Syed Shahabuddin, against the secession of Kashmir, may well stem from the same concern to strengthen the position of Islam within India. Indeed, the less than wholehearted support of several radical Islamic states for the Pakistani claim on Kashmir prbably results from a concern for the growth of Indain Islam, which might be stunted seriously if a successful secession of Kashmir exposes them. But whatever their ulterior motives, let us be practical: Indian Muslim leaders should be encouraged to speak out against Kashmiri separatism, not just in their own papers, but on international forums. Wherever the Pakistani lobby pleads the separatist cause, Akbar and Shahabuddin should be sent to plead the integrationist cause. They should tell the world that the vast majority of the Indian Muslims, along with the Hindus, support the full integration of Kashmir with India, and that the traitorous clique of the secularist "human rights activists", who plead surrender to the terrorists, represent only themselves.

Kashmir is an integral part of India, the political embodiment of Hindu civilization. This should not be surrendered to the barbaric assault by Pakistan and its terrorist agents.

❐ Panun Kashmir Souvenir,
April 1993

Koenraad Elst : Expert and writer on Chinese and Indo-Aryan studies and philosophy, Delhi.

KASHMIRI WOMEN'S RIGHT FOR MOTHERHOOD

✍ Dr. Shakti Bhan

Dr. Shakti Bhan is a noted gynaecologist from the Kashmir valley, who has worked extensively on the terrorism induced trauma among the refugee women from Kshmir.

The health trauma suffered by kashmiri Pandit community in exile is well known by now. There are numerous articles published in the national press about various ailments the communtiy has been suffering from for the last five years.

The mortality rates in the community are increasing due to unnatural causes. Deaths due to changed environent i.e. heat strokes, snake bites, scorpion bites and dog bites, stress diabetes, unusally increased number of heart attacks, falls from flat roof tops and fractures due to road accidents have taken the toll of the community. Also, it is being noticed that more young people are dying than old. More women are dying than men. From the death records, it is evident that on an average two Kashmiri Pandits die every day in Jammu. This excludes the deaths which have not been reported. There have been about 5000 deaths in Jammu in the last five years of exile.

The other sicknesses prevailing in the community due to increased psychological stress and strain, poverty and unhygenic conditions have also been reported extensively in the past. But what is alarming is the fact that the community is facing extinction not mainly due to increased death rate but because of severely lowered birth rates.

Why is birth rate falling so alarmingly? The fact remains that there is no privacy to procreate in camps or one room tenements. There is serious erosion of normal sexual functioning in the comunity. Added to it are other factors like late marriage, voluntary infertility due to unknown future of children, premature menopause amongst women and separation of couples in various towns of India as a demand of job opportunities.

A simple way to understand the growth rate of a community will be that if each couple produces three children, the tribe will increase in number as after the death of the couple (two people) three children are surviving; if two children are produced, the growth will be static; but if only one child is produced, the tribe is proceeding fast towards total extinction. As against the national birth rate of 29.3 per 100 eligible couples, the birth rate of Kashmiri Pandit community is only about 7. Only 15 chil-

dren have been born in 587 families living in Purkoo Camp in Jammu in 1990. The facts are staring us in the face and this even the Chairman of the National Human Rights Commission, Justice Rangnath Misra had to admit in recent past. According to him, the lack of privacy to procreate in overcrowded camps has had its effect and there have been only 100 births in 500 families over the past two years. Further, he pronounces that this falling birth rate constitutes a grave human rights violation.

If the growth rate of this community remains as it is today, I have no doubt that within the next few years the problem of Kashmiri Pandit community as an ethnic group will be solved by itself without the Government of India having to bother at all or face any national or international criticism on account of this ethnic community. But as a community, we have to think hard for our survival and find ways and means to increase our numbers. One of the means to control this is to ensure that all elgible couples in our community produce at least three children and the other is to make our community members aware of their human rights.

Every woman at all stages of her life has a right to basic health care appropriate to the stage of her life. In fact a woman's health is her human right. The international Bill of Human Rights in its Universal Declaration of Human Rights adopted and proclamied by U.N. General Assembly in 1948 states (article 15) :

1. Everyone has the right to a standard of living adequate for the health and well being of himself and his family, including food, clothing, housing, medical care and necessary social services and the right to security in the event of unemployment, sickness, disability, widowhood, old age or other lack of livelihood in circumstances beyond his control.
2. Motherhood and childhood are entitled to special care and assistance. All children, whether born in or out of wedlock, shall enjoy the same social protection.

Further, the International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights of 1966 states in Article 12 :

1. The States, parties to the present covenant , recognize the right of everyone to employment of the highest attainable standard of physical and mental health.
2. The steps to be taken by the States, parties to the present covenant, to achieve the full realization of this right shall include those necessary for :

   a) The provision for the reduction of the stillbirth rate and of infant mortality and for the healthy development of the child;

   b) The improvement of all aspects of environmental and industrial hygene.

   c) The prevention, treatment and control of epidemic, endemic, occupational and other diseases

   d) The creation of conditions which would assure to all medical service and medical attention in the event of sickness.

The Government of India is a signatory to this international Bill on human rights as well as to the International Covenant on Economic, Social and Cultrual rights.

If our community does not live again in its natural habitat and has the basic environmental factors present as in Kashmir, the birth rate is going to fall. It is also a fact that we cannot live in Kashmir till we have our homeland there. Till this goal of homeland is achieved, the Government of India has to see to their better temporary settlement and welfare. As per the past experiences, the Government of India is a mute spectator to this misery of Kashmiri Pandit community, partly inflicted upon it by the Government itself. The time has come that we all work hard to put pressure nationally and internationally on the Central Government to prevent the total extinction of this ethnic minority of Kashmir. In fact, we should put the Government in the dock ás a violator of human rights of Kashmiri Pandit community.

❒ Panun Kashmir Souvenir,
April, 1993

Dr. Shaktibhan : Gynaecologist; National Coordiantor, 'Daughters of Vitasta' (Women's Wing of Panum Kahmir).

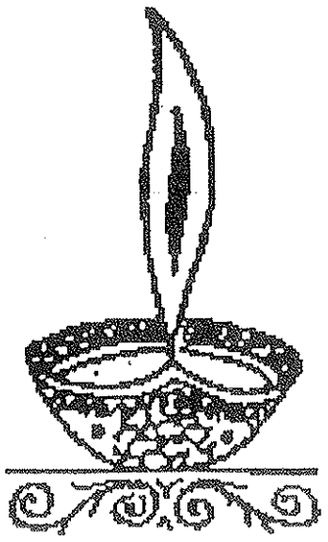

कश्मीर : एक विस्मृत पक्ष

✍ नीरज कुमार, संवाददाता

स्वतंत्रता के तुरंत बाद से ही कश्मीर समस्या अपने देश के लिए एक न भरने वाला नासूर बनी हुई है। विडम्बना यह है कि भारत के अन्य अंगों को अभी भी इस घाव की गहराई या इसकी उपेक्षा के घातक परिणामों का भान नहीं है। लेकिन जब अपनी सरकार, प्रशासन और बुद्धिजीवी ही प्रारम्भ से अदूरदृष्टि और निहित स्वार्थों के चलते समस्या को सुलझाने के बजाय उलझाने में और कुछ करने के स्थान पर अनर्गल बयानबाजी में लगे हों तो आम जनता से जागरूकता की ओर पड़ोसियों से भलमनसाहत की क्या उम्मीद की जा सकती है? साथ ही तरह-तरह के राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समाधानों का कैसा क्रूर मजाक कि जिनमें देशद्रोही, भ्रातृहंता अत्याचारियों और उनकी पीठ पर बैठे पाकिस्तानियों को तो पक्ष बनाया जाता है पर उनके शिकार कश्मीरी हिन्दुओं का नाम भी नहीं लिया जाता। उन्हीं कश्मीरी हिन्दुओं का संगठन है 'पनुन कश्मीर' जो किसी भी कीमत पर अपनी जन्मभूमि और कर्मभूमि कश्मीर घाटी में पुनः सम्मानपूर्वक वापस जाने और बसने हेतु कृतसंकल्प हैं। २६ अप्रैल, १९९५ को कानपुर में इसी विषय पर एक कॉन्फ्रेंस का आयोजन किया गया। कॉन्फ्रेंस में प्रख्यात पत्रकार अरुण शौरी भी आमंत्रित थे पर वे अपनी माँ की अस्वस्थता के कारण आ नहीं सके। प्रस्तुत है नीरज कुमार द्वारा तैयार रपट।)

प्रारम्भ

संगीतकार पंडित भजन सोपोरी द्वारा संतूर वादन।

स्वागत भाषण

(प्राणेश नागरी, क्षेत्रीय संयोजक, पनुन कश्मीर)

पसीने से लथपथ शरीर
जब घंटों कुर्सी से टिका रहता है
तो घर की बहुत याद आती है
सोलह साल ईमानदारी की नौकरी करने के बाद
अपने एम्प्लॉयर को जब मैं बता नहीं पाता
कि मेरा होम टाउन कहाँ है
तो घर की बहुत याद आती है
जम्मू की गर्मी से धधकते टेंट में
जब एक नन्हीं जिंदगी
जिंदगी के मायने पूछती है
तो घर की बहुत याद आती है

ये कोई कविता नहीं है। ये भोगी हुई पीड़ा है कानपुर में कश्मीरी हिन्दुओं के पक्ष में जन जागरण में लगे 'नागरी' की।

परिचय

गौरहरि सिंहानिया : उद्योगपति; कानपुर।
त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी : भाजपा सांसद; पूर्व महा लेखा निरीक्षक; भारत सरकार; कन्नौज।
जगमोहन : भाजपा सांसद; पूर्व राज्यपाल, जम्मू-कश्मीर; दिल्ली।
चौधरी नरेन्द्र सिंह : कांग्रेस विधायक; कानपुर
पंडित त्रिलोक कौल : चित्रकार।
निर्मल वर्मा : साहित्यकार।
डॉ० अग्निशेखर : राष्ट्रीय संयोजक पनुन कश्मीर।
डॉ० शक्तिभान : राष्ट्रीय संयोजिका, 'वितस्ता की बेटियाँ' (Daughters of Vitasta)।
डॉ० अजय चुंगू : आधिकारिक प्रवक्ता, पनुन कश्मीर।
प्रो० ए. के. रैना : संचालक; प्राध्यापक, विद्युत अभियांत्रिकी विभाग, आई.आई.टी. कानपुर।
प्राणेश नागरी : क्षेत्रीय संयोजक, पनुन कश्मीर।

शारदा सम्मान - ९४

कश्मीर शारदा या शारिका अर्थात् सरस्वती का देश है। एक समय में उसका नाम ही शारदा देश हुआ करता था। संप्रति दुर्लभ और अत्यंत प्राचीन शारदा लिपि का जन्म भी कश्मीर से हुआ। देश-विदेश में प्रख्यात ज्ञान का केन्द्र शारदा पीठ भी कश्मीर में ही है। शारदा देश की इसी परम्परा को अक्षुण्ण रखने हेतु पत्रकारिता, साहित्य, संगीत, कला, अभिनय, विज्ञान और तकनीकी, सामुदायिक विकास आदि क्षेत्रों में विशिष्ट योगदान देने वाले व्यक्तियों को सम्मानित करने के लिए 'पनुन कश्मीर' ने १९९३ में शारदा सम्मान का आरम्भ किया। 'विश्व कश्मीरी पण्डित सम्मेलन १९९३' के अवसर पर पत्रकार स्व. गिरिलाल जैन, कश्मीरी कवि स्व. दीनानाथ नादिम, प्रशासक श्री जगमोहन, आलोचक एवं भाषा वैज्ञानिक डॉ० वेद कुमारी घई, अभिनेता अनुपम खेर, संगीतज्ञ पं. भजन सोपोरी तथा त्रिभाषीय पत्रिका 'कॉशुर समाचार' को यह सम्मान प्रदान किया गया।

शारदा सम्मान - ९४ वरिष्ठ प्रयोगधर्मी चित्रकार पं. त्रिलोक कौल एवं हिन्दी के अनुभवी साहित्यकार श्री निर्मल वर्मा को प्रदान किया गया।

प्रशस्ति

निर्मल वर्मा

१९२९ में शिमला में जन्म। अधिकांश बचपन वहीं बीता। सेंट स्टीफेन्स कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.ए. के पश्चात् अध्यापन। १९५९ में प्राग पुरा अध्ययन संस्था तथा चेकोस्लोवाक लेखक संघ द्वारा चेकोस्लोवाकिया आमंत्रित। वहीं ७ वर्ष तक स्वलेखन व चेक साहित्य का अनुवाद। तत्पश्चात् लंदन में रहकर टाइम्स ऑफ इंडिया हेतु यूरोप की राजनैतिक, सांस्कृतिक स्थिति पर लेखन (अनन्तर 'चीड़ों पर चाँदनी' व 'हर बारिश में' के अन्तर्गत संकलित)। १९७२ में भारत आगमन। शिमला के इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़ में पौराणिक चेतना पर कार्य। हाल ही में मध्य प्रदेश सरकार के 'निराला सम्मान' से सम्मानित। कहानी 'माया दर्पण' पर बनी फिल्म को १९७३ की सर्वश्रेष्ठ हिन्दी फिल्म का पुरस्कार। सभी विधाओं में लेखन। प्रमुख रचनाएं - परिन्दे, बीच बहस में, कला का जोखिम, तीन एकाकी, दूसरी दुनिया, Days of Longing, Hill Station.

अपनी असाधारण प्रतिभा और अद्भुत अभिव्यक्ति की क्षमता से श्री निर्मल वर्मा ने हिन्दी साहित्य की प्रतिष्ठा बढ़ायी है। देश-विदेश में घूमे श्री निर्मल वर्मा ने हिन्दी कथा-साहित्य को ही नहीं, हिन्दी अनुवाद को भी एक नया मुहावरा दिया है। एक संवेदनशील चिन्तक के रूप में वह अनेक शाश्वत और सामयिक प्रश्नों से टकराते रहे हैं। कश्मीर समस्या और कश्मीरी पंडितों के निर्वासन से पूरे राष्ट्र की एकता और अखण्डता को बढ़ते खतरे को भाँपकर, बुद्धिजीवियों की हिचकिचाहट और उनके मौन के बीच श्री निर्मल वर्मा ने मानवाधिकारों का सही पक्षधर होने का सबूत दिया। विश्व साहित्य को श्री निर्मल वर्मा के महत्वपूर्ण योगदान की सराहना करते हुए 'पनुन कश्मीर फाउंडेशन' उन्हें 'शारदा सम्मान १९९४' से सम्मानित करता है।

पंडित त्रिलोक कौल

१९२५ में श्रीनगर में जन्म। १९४४ में पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से स्नातक। १९४७ में बड़ौदा विश्वविद्यालय से ललित कलाओं में स्नातक। कश्मीर के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में अहम भूमिका निभाने वाले 'प्रगतिशील कलाकार संघ' के संस्थापक सदस्य। १९६१-६२ में राष्ट्रीय अकादमी पुरस्कार। देश-विदेश में प्रदर्शनियाँ। एकल प्रदर्शनी वाले कश्मीर के पहले कलाकार। अन्य क्षेत्रों में भी कार्य - लाहौर में पत्रकारिता (१९४४), कलकत्ता के दंगा पीड़ित शिविरों में स्वयंसेवक (१९४३), कश्मीर पर कबायली आक्रमण के समय नागरिक सुरक्षा (१९४७-४८)। कलाकारों की एक सम्पूर्ण पीढ़ी के प्रेरणास्रोत। ताजे कट्टरपंथी तांडव में सभी कलाकृतियों के विनाश के बाद कश्मीर से विस्थापित।

प्रख्यात वरिष्ठ कलाकार पं. त्रिलोक कौल ने अपनी असाधारण प्रतिभा और प्रयोगधार्मिता से न केवल आधुनिक भारतीय चित्रकला की ऊँचाइयों को छुआ है, अपितु कश्मीर में अपनी तथा अपने बाद की पीढ़ियों को प्रेरित और प्रभावित किया है। पिछले लगभग ५ दशकों से साधनारत पं. त्रिलोक कौल भारतीय चित्रकला में 'क्यूबिज़्म' के एक महत्वपूर्ण आदि कलाकार हैं। पं.

त्रिलोक कौल ने अनेक कला आंदोलनों से जुड़कर कश्मीर में कला आंदोलन को देश की मुख्य धारा के समांतर विकसित किया। कला जगत में प्रसिद्ध 'बड़ौदा आर्ट ग्रुप' के सह संस्थापक के रूप में भी वह जाने जाते हैं। विश्व चित्रकला जगत को महत्वपूर्ण योगदान की सराहना करते हुए 'पनुन कश्मीर फाउंडेशन' उन्हें शारदा सम्मान - १९९४' से सम्मानित करता है।

वक्तव्य

निर्मल वर्मा

कश्मीर के बारे में मैंने जो लिखा है उसे बहुत अपर्याप्त मानता हूँ। लगातार कोई अंदर से कोंचता रहता है कि भारतीय संस्कृति का एक जीवंत अंग राजनीतिक कारणों से, हिंसा और अत्याचार के माध्यम से अलग किया जा रहा है। कहाँ तो भारत की परम्परा रही है दुनिया में कहीं भी हो रहे अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाना और कहाँ ये हाल है कि अपने ही एक समुदाय, एक धर्म के प्रति हो रहे पाशविक अन्याय के विरुद्ध कहीं कोई सुगबुगाहट तक नहीं। उस कश्मीर को हम लोगों ने भुला दिया है जिसके बारे में कहा जाता था कि यदि वास्तव में भारतीय दर्शन का अध्ययन करना हो तो या तो वाराणसी जाइये या कश्मीर। बुद्धिजीवी देश की चेतना होते हैं। यदि वे इस विषय में अपनी आवाज नहीं उठाते तो अपने कर्तव्य से विगलित होते हैं। आने वाले वर्षों में इस समस्या के बारे में यदि मैं कुछ कर सका तो अपने लेखन को सार्थक समझूँगा।

त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी

'पनुन कश्मीर' के Homeland के concept से मेरा हल्का सा मतभेद है। मेरा कहना है कि आप पूरे देश के हैं, पूरा देश ही आपका है। अपने स्थान पर आपके अधिकार, आपके स्वत्व के प्रति मेरा पूरा समर्थन है, पर मैं नहीं चाहता कि सारे कश्मीरी एक ही जगह बंध जायें। सारे देश को उनकी प्रतिभा का लाभ मिलना चाहिए। पर Homeland के concept के पीछे जो कारण हैं, जो वेदना है, उनसे मैं परिचित और शत प्रतिशत सहमत हूँ। सच तो यह है कि कश्मीर के बिना भारत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आज देशवासियों की निष्क्रियता के कारण उसी कश्मीर का ज्ञान-विज्ञान, माधुर्य विस्मृति के गर्त में विलीन होता जा रहा है। ये बातें सबको स्पष्ट होनी चाहिए। आज कश्मीर के संबंध में अर्धसत्यों का प्रचार करने के लिए धुँआधार सेमिनारों इत्यादि का आयोजन किया जा रहा है जिनमें जगमोहन या टी.एन. चुतुर्वेदी नहीं बुलाये जाते। बुलाये जाते हैं वही गिने-चुने लोग जो उन अर्धसत्यों को समर्थन देते हैं। इसीलिए ऐसे कार्यक्रम और अधिक होने चाहिए ताकि ऐसे दुष्प्रचार का प्रतिकार कर कश्मीर की समस्याओं के बारे में चेतना पूरी तरह जाग्रत की जा सके।

समस्या से मेरा लंबा संबंध रहा है। गृह सचिव रह चुका हूँ। शेख अब्दुल्ला और फारुख अब्दुल्ला को भी निकट से देखा है। कश्मीर समस्या पर अनेक पुस्तकें हैं। इस समस्या पर प्रारम्भ से ही सरकार का रुख आश्चर्यजनक रूप से मूर्खतापूर्ण और दीर्घकाल में अहितकारी रहा है। जैसे लेफ्टिनेंट जनरल थिमैया ने बताया कि २-३ महीने का समय मिल जाता तो आसानी से आक्रमणकारियों को (वर्तमान पाक अधिकृत कश्मीर से) खदेड़ा जा सकता था। पर पता नहीं क्यों, १ जनवरी, १९४८ को ही युद्ध विराम की घोषणा कर दी गयी (शायद माउंटबेटन और पाकिस्तान को नववर्ष के उपहार स्वरूप)। तत्पश्चात् इससे भी अधिक चौंकाने वाला निर्णय लिया गया। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद के अध्याय ६ में आक्रमण या घुसपैठ के खिलाफ कार्रवाई का प्रावधान है तथा अध्याय ७ में किसी द्विपक्षीय विवाद (dispute) में मध्यस्थता का। भारत की ओर से कश्मीर समस्या की शिकायत अध्याय ७ के अन्तर्गत की गयी जिसमें किसी कार्रवाई का कोई प्रावधान नहीं and which is endless because of being arbitrary in nature। अब ये तो स्व. पं. नेहरू ही बता सकते हैं कि ऐसा क्यों किया गया। वर्तमान सरकार का ये हाल है कि गत वर्ष लोकसभा, राज्यसभा दोनों ने संकल्प लिया कि पाक अधिकृत कश्मीर को वापस लिये बिना कश्मीर समस्या का कोई भी समाधान मान्य नहीं होगा पर अब इस पर सरकार की रहस्मय चुप्पी जगजाहिर है। कश्मीर में कष्ट में फँसे सरकारी कर्मचारियों का तबादला न करने की घोषित नीति सरकार ने अपना रखी है ताकि समस्या लोगों के सामने ही न आ सके। कांग्रेस की बात छोड़ भी दी जाय तो इसके पहले की सरकार का रुख भी नकारात्मक और

समस्या को हल्का बनाने वाला (trivializing) रहा है। जैसे जब तत्कालीन राज्यपाल जगमोहन ने जन प्रतिनिधियों को कश्मीर आमंत्रित किया तो ऐसे संकट के समय भी जनता दल के मंत्रियों ने protocol का सवाल उठाया कि गवर्नर उनकी अगवानी करने नहीं आया या कि गवर्नर के बाँयी ओर और दाँयी ओर कौन बैठेगा। तात्पर्य यह कि समस्या को जानने की उन्होंने कोई कोशिश नहीं की। अब नया शिगूफा है autonomy, economic package और human rights protection की माँग के दुश्चक्र का। उग्रवादियों से जब पूछा गया कि आपको केन्द्र के किस अधिकार से आपत्ति है तो जवाब मिला कि हमने फलाने को, फिर ढिकाने को किसी संबंध में कागज तैयार करने को कहा था तो उन्होंने दगा दे दिया!

अंत में मैं यही कहूँगा कि समस्या हमें ही सुलझानी होगी। किसी और से, चाहे संयुक्त राष्ट्र संघ हो या कोई शक्तिशाली देश, कोई उम्मीद लगाने का कोई मतलब नहीं निकलेगा। एक जमाने में हमने रूस से बड़ी उम्मीद लगाई थी पर शेख अब्दुल्ला ने अपने को leftist घोषित कर दिया और मामला फिर ज्यों का त्यों। तो जब तक Indian State कश्मीर पर अपना अधिपत्य नहीं दिखाता, वहाँ अपनी व्यवस्था नहीं चलाता, तब तक कुछ नहीं हो सकता। और इसके लिए जरूरत है समस्या को लेकर पूरे देश में जाने की और बड़े पैमाने पर जन जागरण की।

जगमोहन

पहले तो मैं यही कहना चाहता हूँ कि कश्मीर समस्या में forgotten side नहीं, forgotten sides हैं। कश्मीरी पंडित हैं, लद्दाखी हैं, पाक अधिकृत कश्मीर है, कश्मीर के ही दूसरे मुस्लिम समुदाय हैं। इन सबको दरकिनार कर यदि केवल उग्रवादियों से समझौता होगा तो वह कतई जायज नहीं माना जा सकता।

कश्मीर से संबंधित किसी भी कार्यक्रम में जाने की मेरी इच्छा रहती है क्योंकि मुझे लगता है आपका पक्ष सत्य और न्याय का पक्ष है इसलिए आपकी सहायता के लिए मैं जो भी कर सकूँ, मुझे करना चाहिये। इस पूरी भारतीय सभ्यता, संस्कृति में आपका महत्वपूर्ण योगदान है जो पूरे देश को ज्ञात होना चाहिए। मेरी जानकारी कहती है कि सरस्वती नदी वास्तव में थी। उसके सूख जाने पर जो लोग विस्थापित हुए वे ही सरस ब्राह्मण या कश्मीरी हैं। कश्मीर अशोक के राज्य का भाग था और बौद्ध मत का वहाँ तक प्रसार हुआ था। तो ये रिश्ता धारा १ या ३७० का नहीं बल्कि सदियों पुराना हृदय, बुद्धि और आत्मा का रिश्ता है। मैं एक बार अमेरिका गया तो मुझसे पूछा गया कि जब पूरा प्रदेश अलग होना चाहता है तो आप उसको छोड़ क्यों नहीं देते? मैंने पूछा कि आपके यहाँ तो एक प्रदेश क्या, सम्पूर्ण आधा देश अलग होना चाहता था। क्यों आपने उनसे लड़ाई लड़ी? क्यों गृहयुद्ध की कीमत पर भी देश को टूटने से बचाया? और यहाँ तो अभी यही स्थापित होना बाकी है कि कितने लोग वास्तव में भारत से अलग होना चाहते हैं।

बहुत समय से कश्मीर को स्वतंत्र बनाने की कोशिश चल रही थी। अनेक दस्तावेज हैं इसको सिद्ध करने के लिए। पर किसी को पता भी नहीं और कोई जानना भी नहीं चाहता। सन् १९६५ में भी इसी प्रकार के आतंकवादी तरीके अपनाये गये थे। पर तब भारत की स्थिति सुदृढ़ थी। अब तो आतंकवादियों के पास नई से नई तकनीक है और सरकार कमजोर पड़ती जा रही है। दिक्कत तो ये है कि विपक्ष के नेताओं और पत्रकारों को भी कुछ साफ दिखाई नहीं देता या वो देखना ही नहीं चाहते। रोज वक्तव्य बदलते हैं। असुविधाजनक प्रश्नों पर चुप साध लेते हैं। पाकिस्तान और बी.बी.सी. से ज्यादा नुकसान तो भारतीय प्रेस की गलतबयानी और गैरजिम्मेदारी से हो रहा है। एमनेस्टी इंटरनेशनल ने प्रचार किया कि बी.एस.एफ. (सीमा सुरक्षा बल) की महिला टुकड़ी ने कश्मीर की औरतों पर जुल्म ढाये। मैंने कहा, भई ऐसी तो कोई टुकड़ी है ही नहीं। तो उन्होंने कहा, हमारे impeccable sources (विश्वसनीय सूत्र) हैं। जब मैंने बहुत जोर दिया तो पता चला कि उन impeccable sources में मात्र एक पाकिस्तानी रिपोर्ट थी, बाकी तीन हिन्दुस्तान से गई थीं। प्रचार किया जाता है कि कश्मीरी पंडित अपनी इच्छा से कश्मीर से चले गये। कहा जाता है, जगमोहन ने उनसे कहा कि भाग जाओ या कि जगमोहन जाते-जाते उन्हें अपने साथ ले गये। ये कोई मानने वाली बात है कि अच्छे-खासे जमे-जमाये लोगों से जगमोहन ने कहा, तुम उजड़ जाओ और वो मान गये? विरोध में मेरे पास ठोस प्रमाण हैं, मेरी पुस्तक में भी छपे हैं, जिनसे पता चलता

है, कब से आतंकवादी इन्हीं प्रयासों में लगे थे।

मैं आपको उन negative forces की ओर से सावधान करना चाहता हूँ जो कश्मीर ही नहीं, सम्पूर्ण भारत के लिए खतरनाक हैं। अगर आप चेते नहीं तो कल सारे देश की यही हालत होने वाली है। छोटी सी भूल की भी कालांतर में बहुत बड़ी सजा भुगतनी पड़ती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले के Spirit of Munich समझौते की याद कीजिये जिसमें ब्रिटेन, रूस, अमेरिका के जर्मनी और हिटलर की ओर से आँखें मूंद लेने का खामियाजा बाद में सम्पूर्ण विश्व को भुगतना पड़ा। हैवानियत के समक्ष आत्मसमर्पण (surrender to evil) का यही परिणाम होता है। कश्मीर के मामले में भी यही लगता है। Nation has lost its will to solve the problem. जो देश अपनी खुद इतनी बेइज्ज़ती करता है कि आतंकवादियों को सुरक्षित निकल जाने देता है, वो कैसे survive करेगा? Self confessed murderers with evidence against them are roaming free. A barrenness, a corrosion of mind seems to have spread all round. अब वक्त आ गया है कि हम अपनी ५००० साल पुरानी गौरवशाली जीवन शैली को याद रखते हुए पुनः देश की एक दिशा निर्धारित करें।

सबसे पहला रणनीति का तकाजा तो यही है, राज्य (प्रशासन) आतंकवादियों पर कठोर दबाव बनाये। अकेली सेना से ये काम नहीं होगा। इसके लिए तो प्रतिरोधी छापामार युद्ध (Counter Guerilla Warfare) की जरूरत है। सबसे बड़ी बात है कि पहल (initiative) अपनी ओर से होनी चाहिए। केवल defensive होने से काम नहीं चलेगा। Fairness and firmness both will be equally important. सूझबूझ के साथ आतंकवादियों में से नरम (mild) और कठोर (hardened) तत्वों को अलग करना पड़ेगा। प्रशासन को दृढ़ होना होगा। इन सबके लिए संविधान का प्रावधान पहले ही उपलब्ध है। Article 355 says that it is duty of state to protect the state from external aggression and internal rebellion (राज्य का कर्तव्य है कि वह राज्य की वाह्य आक्रमण और आंतरिक विद्रोह से रक्षा करे)। यदि हम इन सब प्रकार से सक्रिय हो जायें तो कोई कारण नहीं कि कश्मीर की रक्षा न कर सकें।

डॉ० अग्निशेखर

आज का दौर कृतघ्नता का दौर है, भूल जाने का दौर है। ऐसे में कृतज्ञता की भावना फिर से स्थापित करने के लिए 'पनुन कश्मीर' ने 'गुरु तेग बहादुर यात्रा' का आयोजन किया (कश्मीरी पंडितों को ही मुस्लिम अत्याचारियों से बचाने के लिए गुरु तेगबहादुर ने अपना बलिदान दिया था)।

आज हम अपने ही देश में बेगाने हो गये हैं। इतिहास से अलग, भूगोल से अलग, भाषा से बाहर, संस्कृति की निरंतरता के बाहर, भौतिक साधनों से वंचित। ऐसे में असहाय मन अपने दर्शन से, निकट अतीत से प्रतीक ढूंढ़ता है प्रेरणा पाने के लिए। शैव मत के अंतर्गत 'प्रतिभिज्ञा दर्शन' है जो अपनी पहचान प्राप्त करने को बड़े सटीक रूप में व्यक्त करता है - भेड़ों के झुंड में मिला हुआ, खुद को भूला हुआ सिंह शावक किसी अन्य सिंह की दहाड़ सुनकर पीछे देखता है और तत्काल अपने वास्तविक स्वरूप को जान जाता है। आज हम कश्मीरी पंडित भी पीछे मुड़कर अपना अतीत देखना चाहते हैं। वह अतीत जो एक ही दृष्टि में अभिभूत कर देता है।

भारत का वर्णन कहता है 'कश्मीर से कन्याकुमारी तक'। कन्याकुमारी कश्मीर से ही है, कश्मीर का विस्तार है। कश्मीर 'उत्तरं यत् समुद्रस्य' की भारतीय पहचान का एक धड़कता टुकड़ा है। विराट भारतीय अस्मिता का, भारतीय संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, कला, संगीत, दर्शन का महत्वपूर्ण स्रोत है। सप्तसिन्धुओं में से एक वितस्ता (कश्मीर के मूल निवासियों के लिए पार्वती) कश्मीर की ही है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के बारे में तो सब जानते हैं पर उसका भी स्रोत है 'नीलमत पुराण' जो कश्मीर का अपना पुराण है। कश्मीर की गाथा, गाथा है नर, किन्नर, नाग, गंधर्व पिशाच और शिव की। जलोद्भव की कथा के 'कश्यपमर' का ही परिवर्तित स्वरूप है 'कश्मीर'।

शारदा पीठ जो अब पाक अधिकृत कश्मीर में है कश्मीर की गौरवशाली परम्परा का प्रमाण है। वैयाकरण और सौंदर्यशास्त्री अभिनवगुप्त, इतिहास की चेतना के प्रतीक कल्हण (राजतरंगिणी के अनुसार इस समय ५०७१ वाँ संवत् चल रहा है), तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित शततंत्री वीणा (संतूर), संगीतज्ञ शार्ङ्गदेव,

'विक्रमांकदेव चरित' के रचयिता बिल्हण और इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र, जोनराज इत्यादि कश्मीर की ही देन हैं। पाण्डित्य और तर्क के साथ-साथ कला की संपन्नता के बावजूद कश्मीर के लोकमानस में दर्प नहीं है बल्कि भक्ति है, विनम्रता है। कश्मीर ही वह भूमि है जहाँ आकर बौद्धिक आदान-प्रदान के आधार पर बौद्धमत हीनयान और महायान में बँटा। कश्मीर का rhythm ही विराट भारतीय आत्मा का rhythm है।

ऐसे समाज, ऐसी धरती, ऐसी परम्परा से जब आपको नोंच कर फेंक दिया जाये तो 'पनुन' शब्द ही सही भाव को, उस गृहआतुरता को अभिव्यक्त कर सकता है। अपनी धरोहर, अपनी विरासत के प्रति बेटे-बेटी, मित्र जैसी आत्मीयता, उसके लिए संघर्ष, उसके लिए साधनों की तलाश - यही 'पनुन' है, कश्मीर की आत्मा की आवाज। 'पनुन' में है कश्मीर की भाषा, संगीत, rhythm, नदियाँ, पहाड़, धड़कन।

अपने देश से आज इतिहास की चेतना नदारद है, इतिहास की संवेदना भले ही शायद कहीं-कहीं बची हो। कश्मीर का मूल्यांकन आज उसकी उपर्युक्त गौरवान्वित परम्परा के आधार पर नहीं, मात्र वैष्णो देवी के नाम पर होता है, कश्मीर के स्थूल सौंदर्य के नाम पर होता है। जिस देश में सच को पहचानने का, सच को सच कहने का साहस न हो, सच से आँखें कतराने का लम्बा अभ्यास हो, वहाँ और हो भी क्या सकता है?

आज कश्मीर की सांस्कृतिक पहचान पर खतरा है। ऐसा खतरा जो सब कुछ समाप्त कर देगा। जब किसी धर्म विशेष के नाम पर आक्रमण किया जाता है, जैसा कि कश्मीर में मुस्लिमों के पदार्पण के बाद से ही कई बार हो चुका है, तो उसका उद्देश्य ही होता है पूरी सांस्कृतिक, कलात्मक, सभ्यतागत पहचान पर आक्रमण, उस पर घातक चोट। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। शेख अब्दुल्ला ने एक ही विधेयक से सैकड़ों, हजारों मुहल्लों, गाँवों का नाम परिवर्तन कर पूरे प्रांत का इस्लामीकरण कर दिया। सह अस्तित्व, सहनशीलता की भूमि पर अचानक असहिष्णुता का आक्रमण हुआ। धर्मनिरपेक्षता की हत्या सबसे पहले कश्मीर में हुई और आश्चर्य कि उस जड़, अप्रगतिशील प्रवृत्ति के प्रसार को पूरा देश अनदेखा करता रहा। पहले तो मैं सम्पूर्ण देश के अल्पसंख्यकों से ही पूछना चाहता हूँ कि कश्मीर के मामले पर उनकी चुप्पी का कारण क्या है- अज्ञान, connivance (षड़यंत्र में सहभागिता), या हर जगह एक कश्मीर बनने की उम्मीद? इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात मैं पूरे देश से कहना चाहता हूँ कि नेहरू को पैदा करने का दोष भले ही कश्मीर का हो पर उनको इतने साल प्रधानमंत्री बनाये रखने का दोष पूरे देश का है। दुर्भाग्य से इस देश में देशभक्ति अपमानित होती है और देशद्रोह सम्मानित होता है।

कश्मीर के आतंकवाद के पीछे बहुत बड़ा दिमाग है। यह तो आसुरी युद्ध है जिसमें रावण अपने दस सिरों से दस तरह की बातें कहता हुआ भ्रमित करता रहता है। एक तरफ आतंक का नंगा नाच, दूसरी तरफ संयुक्त राष्ट्र से हस्तक्षेप की अपील, मानवाधिकारों के उल्लंघन की शिकायत, पाकिस्तान से गलबहियाँ और साथ ही normalcy (सामान्य स्थिति) और चुनाव की बात। परिणाम ये है कि उनको 'खुदा भी मिला और विसाले सनम भी'। बंदूक उठाई तो सब कुछ मिल गया। ऐसे में मायावी व्यक्तित्व वाले फारुख अब्दुल्ला जैसे छलियों से सावधान रहने की बहुत जरूरत है।

डॉ० शक्तिभान

(डॉक्टर शक्तिभान 'वितस्ता की बेटियाँ' की राष्ट्रीय संयोजिका होने के साथ-साथ स्त्रीरोग विशेषज्ञ हैं। कश्मीरी महिलाओं पर निर्वासन के जीववैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभावों (शीघ्र मृत्यु, बाँझपन इत्यादि) का आपने विस्तृत अध्ययन किया है। आपके ही प्रयासों से संयुक्त राष्ट्र संघ इस विषय में जागरूक हुआ तथा अधिक अध्ययन के लिए अपने दल भेजे।)

आजकल कश्मीर में सामान्य स्थिति (normalcy) की बहाली की अफवाहें बड़े जोरों से फैली हुई हैं। लेकिन ये कोई नहीं बताता कि ये normalcy कौन सी है? सन् १९८८-८९ वाली, शेख अब्दुल्ला के समय वाली या कोई और? यह सबको समझ लेना चाहिए कि कश्मीर में सामान्य स्थिति तभी मानी जा सकती है जब वहाँ से निकाले गये साढ़े तीन लाख कश्मीरी बिना किसी भय के, सम्पूर्ण सम्मान के साथ वहाँ पुनः लौट सकें। हमारे अथक प्रयासों के बाद कश्मीरी पंडितों को Internally Displaced People (आंतरिक विस्थापित) का दर्जा मिला है। साथ ही इस संबंध में संयुक्त राष्ट्र संघ का नियम है कि इन विस्थापितों को तब तक लौटने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता जब तक वे स्वयं स्थिति को अनुकूल न समझें। साथ ही उनके भाग लिये बिना उनके क्षेत्र से संबंधित किसी भी समझौते या चुनाव आदि को वैध नहीं माना जायेगा।

जब तक हम इस अनुकूल स्थिति की प्रतीक्षा में है तब तक सारे कश्मीरी हिन्दुओं से मेरी अपील है कि वे अधिक से अधिक बच्चे पैदा करें जिससे अपनी श्रेष्ठ परम्परा चलती रहे।

डॉ० अजय चंगू

('पनुन कश्मीर' के मुख्य प्रवक्ता डॉ० अंजय चंगू ने जिनेवा मानवाधिकार सम्मेलन में पहली बार कश्मीरी हिन्दुओं का पक्ष रखा। उसके पहले अंतर्राष्ट्रीय मीडिया को जानकारी ही नहीं थी कि कश्मीर के किस्से में मुस्लिम आतंकवादियों के अलावा भी कोई पक्ष है जो वास्तव में पीड़ित है और जिसको अपना वंश और परम्परा बचाने के लिए मानवाधिकारों की रक्षा की असली जरूरत है।)

यदि हमें कश्मीर बचाना है तो कश्मीर समस्या पर सोचने का तरीका बदलना पड़ेगा। पूरे इतिहास को, खासकर स्वतंत्रता प्राप्ति, विभाजन और उसके बाद के इतिहास को पिटी-पिटाई लीक से हटकर देखना पड़ेगा। सबसे पहला कदम होगा द्विराष्ट्र सिद्धांत (Two-nation theory) को तिलांजलि। इस सिद्धांत को स्वीकार करना देश की नहीं, कांग्रेस पार्टी की मजबूरी थी - उनके अपने राजनीतिक फायदों को जल्दबाजी में प्राप्त करने की हवस का परिणाम थी। कश्मीर को भारत में मिलाये जाने की उनकी कोशिश के पीछे उनका कारण सभ्यता या संस्कृति नहीं था। असली कारण था यह दिखाना कि एक मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेश हमारे साथ आना चाहता है। इसका दूसरा लाभ यह था कि इससे हिन्दी क्षेत्र में स्वतंत्रता पूर्व पाकिस्तान का समर्थन करने वालों के प्रति लोगों के मन में जो संदेह थे, उनको भी दबाया जा सकता था।

दुर्भाग्यवश वही हालत आज भी है। सोच का भी वही दायरा अब भी बरकरार है। उस समय शेख अब्दुल्ला को महानतम धर्मनिरपेक्ष नेता के रूप में प्रचारित किया जाता था। आज वही दर्जा फारूख अब्दुल्ला को देकर उन्हें अपना showpiece बना कर संयुक्त राष्ट्र संघ भेजा जा रहा है। असलियत तो ये है कि नेशनल कांफ्रेंस की राजनीति और कुछ नहीं, छद्मवेश में अलगाववाद है। आज जबकि पूरे विश्व में इस्लामी कट्टरवाद (Pan Islamism) के विरुद्ध एक आम राय बन रही है, खतरा नंगे कट्टरवादियों और मुस्लिम संगठनों से उतना ज्यादा नहीं है, जितना दबे-ढँके अलगाववादियों फारुख अब्दुल्ला और नेशनल कांफ्रेंस से। अपने इन दोनों रूपों में कश्मीरी आतंकवादी establishment के बाहर और अंदर दोनों तरह से सक्रिय हैं। इसी के चलते उन्हें सब कुछ मिल भी रहा है - having their cake and eating it too । पाकिस्तान से सहायता भी मिल रही है, स्थानीय प्रशासन में, राजनीति में सुदृढ़ आधार भी है, भारत की वर्तमान समाज-राजनैतिक (socio-political) विचारधारा का समर्थन भी है और भारतीय सरकार से तरह-तरह के लाभ भी मिल रहे हैं।

कश्मीरी हिन्दू तो बस प्रतीक हैं कश्मीरी मुस्लिमों की धर्मनिरपेक्षता के प्रदर्शन का। जब भी हिन्दुओं के हक का या और कोई राष्ट्रीय हित का सवाल आया, तथा कथित राष्ट्रीय हित के नाम पर ही हमेशा गलत निर्णय लिया गया - चाहे शेख अब्दुल्ला को बनाये रखना हो, चाहे चुनावों में धांधली के प्रश्न पर नेशनल कांफ्रेंस पर कांग्रेस का वरदहस्त हो। एक ज्वलंत उदाहरण है हब्बाकादल का। हब्बाकादल एक हिंदू बहुमत वाली जगह थी। लेकिन चुनाव के वक्त कोई भी पार्टी वहाँ से हिन्दू उम्मीदवार खड़ा करने को तैयार नहीं थी, राष्ट्रीय हित के नाम पर!

Panun Kashmir does not buy this mind-set, पनुन कश्मीर इस मानसिकता को सहन करने को अब तैयार नहीं। हमारा मानना है कि भारतीय संस्कृति, सभ्यता और राज्य के छोर पर स्थित हो कर हमने हमेशा तरह-तरह के खतरे उठाये हैं। आज भी हमको पाकिस्तान, अमेरिका, चीन सबसे खतरा है। इसलिए अलगाववादियों को मुख्यधारा में लाने से ज्यादा बड़ी प्राथमिकता होनी चाहिए उस धारा में जुड़े लोगों को बचा कर उस धारा को बचाये रखने की। Right of franchise is second to right of survival - जब जिंदा रहेंगे तभी तो वोट देंगे।

जहाँ तक अलगाववादियों को मुख्यधारा में लाने का सवाल है उसकी केवल बात होती है, कोशिश नहीं होती। स्वयं सरकार को या धर्मनिरपेक्ष दिग्गजों को भी इस दिवास्वप्न के बारे में कभी कोई भ्रम नहीं रहा। एक बार नेहरू कश्मीर गये और वहाँ की हिन्दू जनता से कहा, You have no other alternative but to join the Kashmiri mainstream - कश्मीरी (अर्थात् मुस्लिम) मुख्य धारा में शामिल होने के अलावा आपके पास कोई चारा नहीं है। सनातन धर्म योग सभा के तत्कालीन अध्यक्ष शिवनारायण फोतेदार ने तुरंत उनसे पूछा, can you dare to say the same to Indian minority? क्या

आप यही बात पूरे हिन्दुस्तान के अल्पसंख्यकों (अर्थात् मुसलमानों) से कहने का साहस कर सकते हैं? स्वाभाविक है, इसका उन्हें कोई जवाब नहीं मिला। तो हम अगर और कुछ न होकर मात्र कश्मीर की धर्मनिरपेक्षता के प्रतीक हैं या आपके front हैं, तब भी आपको हमें बचाये रखना होगा। नहीं तो 'नैनं छिन्दति शस्त्राणि...' तो झूठ है। आत्मायें मरती भी हैं। भारत की आत्मा कश्मीर मर रही है। इसको आप नहीं बचायेंगे तो -

'अगर अब भी न समझोगे हिन्दोस्तां वालों,
तुम्हारी दास्तां तक न होगी दास्तानों में।'

समस्या को सुलझाने का तरीका ये नहीं है कि शतरंज के हाथी की तरह आँख मूँदकर सामने चल दें यानी सारा दोष पाकिस्तान के सिर मढ़कर निश्चिंत हो जायें। हमें तो वजीर बनकर चारों तरफ, पास-दूर, सब तरफ निगाह रखनी होगी। आशय यह कि मीडिया के अंधानुकरण में पाकिस्तान को हर चीज के लिए दोषी ठहराना काफी नहीं है। स्थानीय मुस्लिमों को दोषमुक्त करार नहीं दिया जा सकता। क्योंकि आपने तो केवल पढ़ा या सुना है, हमने भोगा है-

'तुम कहते कागद की लेखी, मैं कहता आँखन की देखी।'

इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय षड़यंत्रों की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए एक बार पाकिस्तान, अमेरिका को तो छोड़ा जा सकता है। पर स्थानीय लोगों को कटघरे में खड़ा करना जरूरी है जो अंततः उन षड़यंत्रों का लाभ उठाते हैं। जरूरत है नेशनल कॉन्फ्रेंस को जवाबदेह बनाने की जो कि राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त है। एक बात और! विघटन जम्मू कश्मीर तक ही सीमित नहीं है। इसके डैने दिल्ली, कानपुर तक फैल चुके हैं। बहुत संभव है कि भाषा, जाति, क्षेत्रीयता, मत के नये-नये झगड़े किसी व्यापक अंतर्राष्ट्रीय षड़यंत्र के ही हिस्से हों।

अंत में, हम जानते हैं कि भारत की संवेदना पर धूल चढ़ी हुई है, पर-

'वो मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता।
हमें जिद है आवाज में असर पैदा करने की।'

चौधरी नरेन्द्र सिंह

भारत ने नेहरू को प्रधानमंत्री बनाये रखकर कोई गलती नहीं की। देश के विकास का नक्शा उन्होंने ही बनाया। जब मुझे नागरी जी ने इस सेमिनार के लिए आमंत्रित किया तो मैंने यही कहा कि सेमिनार की क्या जरूरत है, एक get together करिये, एक-एक समस्या को समझ कर सुलझा लेंगे। समय की कमी के कारण मैं ज्यादा देर आपके बीच नहीं रह सकता। यही कहूँगा कि निराशा के बजाय आशा का संचार करें।

जगमोहन

फिर वही सवाल कि जवाब क्या है? जवाब यही है कि समझ को दुरुस्त बनाये रखें। नागरिकों की, अपनी ताकत पहचानें। जिन्होंने बच्चों, महिलाओं, सेना के जवानों को मारा वे शहीद बन कर पेश होते हैं, गिरफ्तार नहीं होते, ये किसका कसूर है? आपने कभी इसका विरोध किया? प्रेस का कर्तव्य है कि सही बात लिखें। आतंकवादियों की ज्यादतियों के बारे में लिखें। आज तक सेना के १३४ अफसरों को तबादला, सजा, मुअत्तली हो चुकी है पर एक भी आतंकवादी को अदालत से सजा नहीं हो पायी! प्रेस ने कभी इस बात को उजागर किया? (नलिनी सिंह ने टाइम्स ब्यूरो चीफ का दिल्ली में इण्टरव्यू लिया तो उनका कहना था - &India is one country where the press is hostile to India',हिन्दुस्तान अकेला देश है जहाँ प्रेस ही उसकी जान के पीछे पड़ी है।' - संचालक)

बीमारी में केवल दवा देना काफी नहीं है। खून में भरा जहर भी निकालना पड़ता है। वातावरण ठीक करना पड़ता है। अफसोस होता है कि वो महान विचारधारा, महान संस्कृति आज केवल नकल करने में लगी है। सवाल ये है कि आप तीसरी दुनिया में तीसरे दर्जे की शक्ति बनकर रह जाना चाहते हैं या अपने अतीत के गौरव को पुनः प्राप्त करना चाहते हैं ? इस संदर्भ में कश्मीर समस्या के साथ-साथ सम्पूर्ण भारत भू पर फैलती हुई क्रूरता भी चिंता का विषय है। और सबसे बड़ी बात ये कि निराश होने की कोई जरूरत नहीं क्योंकि -

'जहाँ कारवाँ भूल जाते हैं रास्ता,
वहीं से निकलती हैं मंजिल की राह।'

नीरज कुमार : युग-भारती; शोध छात्र, आई.आई.टी., कानपुर।

निर्वासन में कविता

✍ अग्निशेखर
महाराज कृष्ण संतोषी

कश्मीर में पाकिस्तान समर्थित आतंकवादी हिंसाचार एक राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित विचारधारात्मक संघर्ष है जिसका स्वरूप पुनरुत्थानवादी और सांप्रदायिक है। यह एक 'जेहाद' है जो घिनौने राजनीतिक खेल की तरह कश्मीर की नियति बन गया है। मानवाधिकारों का हनन, अलग इस्लामी राष्ट्र का निर्माण, सभी गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों को जो इस विचार से सहमत न हों, घाटी से बाहर खदेड़ना - कई आयाम हैं इस संकट के। कश्मीर घाटी से गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों का बलात् निष्कासन एक दुर्भाग्यपूर्ण त्रासद घटना है। अपनी मातृभूमि से विस्थापित किया जाना और दूर-दराज के प्रदेशों में बेगानों की तरह दर-दर भटकना, जहाँ-तहाँ आश्रय लेना - एक साथ सहानुभूति, हास्य, अपमान तथा दया का पात्र बनने की लाचारी से बड़ी पीड़ा और क्या हो सकती है।

भारतीय राजनीति की अदूरदर्शिता, स्वार्थपरता, अस्पष्ट नीतियों तथा पाकिस्तान समर्थित 'जेहाद' की साजिश के शिकार हम कश्मीरियों के विस्थापन की दूसरी सालगिरह भी बीत चली है। अपने घर-बार, जमीन-जायदाद, नौकरी-व्यवसाय, स्कूल-कॉलेज, गाँव-शहर, गली-मुहल्ले, यार-दोस्त, चिनार, बर्फ, नदियाँ, तीज-त्योहार, परम्पराएं आदि सब कुछ पीछे छोड़कर आज हम अपने ही देश में शरणार्थी हैं। अपने ही घर में बेघर, बेगाने, अनचाहे से। जम्मू या दिल्ली में जहाँ-जहाँ हमारे शिविर लगे हैं, वहाँ-वहाँ हमारी वेदनाओं का कुंभ लगा हुआ है। हमारे विस्थापन के भी कई दुर्भाग्यपूर्ण आयाम हैं। वितस्ता नदी के स्रोत से लेकर दीनानाथ नादिम की कविताओं तक फैली हमारी सांस्कृतिक विरासत खतरे में पड़ गयी है। विस्थापन ने हमें भौगोलिक, ऐतिहासिक, भाषायी तथा सांस्कृतिक परिवेश से बेदखल कर दिया है। हमारी प्रासंगिकता, हमारी पहचान है कश्मीर। कश्मीर हमारी हजारों वर्ष गहरी जड़ों की धरती है। इसमें हमारे पुरखों की अस्थियाँ हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र, दर्शन, सौंदर्यशास्त्र, संगीत, कविता और लोक साहित्य की भूमि 'शारदापीठ' (कश्मीर) हमारे सपनों में, आकांक्षाओं में, स्मृतियों में, साँसों में रची-बसी है।

पिछले पाँच-छह सौ वर्षों के कालखण्ड में हम अनेक बार बलात् विस्थापन की पीड़ाओं से गुजरे हैं। प्रत्येक बार उजड़कर हम पुनः कश्मीर के लिए तरसे हैं और प्रायः लौटे हैं। आज जबकि कश्मीर में आतंकवादी हिंसा के मूल स्वरूप और उसके खतरों पर हर स्तर पर पर्दा डाला जा रहा है, हमारी शब्द-सत्ता के लिए हस्तक्षेप करना जरूरी हो गया है। देश के अधिकांश नामी-गिरामी बुद्धिजीवियों में सच को सच कहने का नैतिक साहस नहीं है। सब तरफ क्षुद्र स्वार्थों, सुविधाओं और विचारधारात्मक पूर्वाग्रहों की चिंताओं का बोलबाला है। अपनी-अपनी राजनीति के तराजू में हमें तौलकर ही कुछ कहा या नहीं कहा जा रहा है।

ऐसे में हमारे विस्थापित कवि, कथाकार, रंगकर्मी, गायक, कलाकार, बुद्धिजीवी, पत्रकार, शिक्षक, वकील तथा समाजसेवी अब धीरे-धीरे सामने आने लगे हैं। हम सब अपनी-अपनी जगह भारतीय राजनीति के पाखण्ड और विदेशी इरादों के खिलाफ सामर्थ्य के अनुसार लड़ रहे हैं। हम जानते हैं कि इस समर में 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति' फिर भी हमारा संकल्प है कि 'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे' क्योंकि कवि पाश के शब्दों में-

'आपने जानबूझकर अर्थों का अपमान किया है
आवारा शब्दों का इल्जाम
अब किसे देंगे?
मुझसे ये वृक्ष पूछते हैं
कि उस सूरज को क्या कहें
जो कि गर्म न हो
कि जिसका रंग लाल न हो।

क्षमा कौल

इस कारागार से
जैसे दिख रहा है
वर्दी पहना सा नकाबपोश चिनार
जैसे रो रही हैं जड़ें उस चीड़ से आ: दमी की
लाश की तरह निष्क्रिय है
पत्र आच्छादित तना

अपने पत्तों से अपने
मुँह पर पड़ा खून
पोंछ रहा है
पिता चिनार !

यह कैसा ईंट सा
तुम्हारा रंग?
वितस्ते,
तोड़ दो अपना मौन, शैथिल्य
बन जाओ विराट रूप सतीसर
बन ही जाओ सतीसर!

नहीं गलाना तुम अपनी देह आँसुओं में
हम फँसे हैं समय महासागर के बीचों-बीच
और लायेगा समय ही हमें
सुरक्षित तट पर खींच
तुम करना हमारी प्रतीक्षा
हम लौट आयेंगे अवश्य
एक दिन

शशिशेखर तोषखानी

जब मैं चला
गली मेरे पीछे-पीछे चली आयी दूर तक
चुपचाप
लेकिन जब मैंने विदा कहने के लिए
मुड़कर देखा
तो वह कीचड़ बनकर
मेरे पैरों से लिपट गयी
जब मैं चला
नदी ने मुझे पुकारा
एक नितांत आत्मीय नाम से
और तेजी से सीढ़ियाँ चढ़ते हुए
बुदबुदाते हुए गम या गुस्से में जाने क्या-क्या
थमा दिये मेरे हाथों में वे सारे फोटो
जो मेरे बचपन के दिनों ने
उसके साथ खिंचाये थे

जब मैं चला
पहाड़ मेरा रास्ता रोककर खड़ा हो गया
और बोला याद नहीं कैसे तुझे
कंधों पर बिठाकर घुमाया है
एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र तक

मेरी आवाज से। फिर भी आती है
तुम्हारी पत्तियों की तीखी गंध
मेरे खून में घुल जाते हैं
तुम्हारे पहाड़ तुम्हारे पेड़
तुम्हारी गलियाँ घर -द्वार
तुम्हारे मैदान तुम्हारे पठार
और नाचते हैं
एक बेकाबू उत्सव चक्र में
मेरी नसों में झर-झर करके झरता है रात-दिन
तुम्हारे हजारों-हजार झरनों का
पारदर्शी पागलपन
मुझसे छूटे मेरे शहर
मैंने तुम्हारी जड़ों को अपने भीतर छिपा लिया है..

महाराज कृष्ण संतोषी

मेरे पास कुछ भी तो नहीं है
हिंसा के प्रत्युत्तर में
सिवाए बर्फ के
और मैं अपने भीतर की बर्फ सड़कों पर
प्यार भरी हथेलियाँ लिए
लोगों के घर-द्वार खटखटाते हुए
दोस्तों की बेशर्म चुप्पी
तोड़ने का प्रयत्न करता हूँ।

वितस्ता, चिनारों, झीलों की उदासियों को
आँखों में भरकर

लहूलुहान हुए बर्फ पर
घंटों रोता हूँ मैं
सोचता हूँ
मेरी आत्मा एक परिंदा है
और सारी घाटी घोंसला है मेरे लिए
जिसे गोली के डर से
छोड़ चुका हूँ मैं
हवाओं के भरोसे।

ऐसा नहीं कि हमारे बगैर
चिनार छाया देना बंद कर दे
बर्फ आना ही छोड़ दे
सेब पेड़ों पर पकना भूल जाएं
वितस्ता बहना स्थिगत कर दे
मगर इतना तो अवश्य होगा
हमारे बगैर
चिनार का कद गिर जाएगा
बर्फ का रंग मैला होगा
सेबों का स्वाद अधूरा रहेगा
वितस्ता का जल गूंगा हो जाएगा।

रतन लाल शांत

बहुत दिन नहीं हुए जब
हमारे सुरक्षित पहाड़ों में
हुक्म हुआ कि सन्नाटा हो,
नहीं हो धड़कन
मकान हो पर घर न लगे
न ही कुनमुनाए या अंधियारे में जगे
उसने जरूरत भर रोशनी, दीवार पर
कैलेंडर के पीछे चिपका दी
अगला-बकाया चुकाकर
परछाँइयों की छुट्टी कर दी
और मुहरबंद किया हवाओं का रास्ता
मकान के सुरक्षित आवरण में भी वह, लेकिन
सूंघने लगी -
पड़ोसी दरवाजों की मिमियाहट
और मुहरबंद खिड़कियों की जड़ों में
दुबका सन्नाटा

हम समझते रहे थे कि सुरक्षित पहाड़ों के बीच
सन्नाटे का हुक्म
ध्वनि से ज्यादा प्रतिध्वनि है
पर उसका हाथ सदियों की तरह
कोणों के जाले उतारते अचानक रुक गया
और उसके माथे पर उभरी छाया ध्वनियाँ
आधी रात का सन्नाटा तोड़ने को तैनात
पहरुए खर्राटों की
सूरजमुखी रौंदने आए उचक्के पैरों की,
और हमारी भिंची मुट्ठियों में चिटक रही बर्फ की
छाया ध्वनियाँ।
बहुत दिन नहीं हुए जब सन्नाटा छायाओं में
और ध्वनियों में बसा रहा
अब धीरे-धीरे केवल प्रतिध्वनि हुआ जा रहा है।

अग्निशेखर

अरे, मेरा करो अपहरण
ले जाओ मुझे अपने यातना-शिविर में
कुछ नहीं कहूँगा मैं
करो जो कुछ भी करना है
मेरे शरीर के साथ
जिन्दा जलाओ, काटो
या दफन करो कहीं मुझे
नदियों के किनारे
बर्फीले पहाड़ों पर
किसी गाँव में
या कस्बाई गली में कहीं घूरे के नीचे
मैं तरस गया हूँ
अपनी जमीन के स्पर्श के लिए

पापा, क्या उग्रवादी होता है
खतरनाक
उसकी मूँछें कितनी बड़ी होती हैं
उसके सिर पर होते हैं
कितने सींग
हम चुपके-चुपके छीन लेंगे
उसकी बंदूक
और फेंक देंगे दरिया में
पापा, फिर क्या करेगा उग्रवादी?

मेरी सोयी हुयी माँ के चेहरे पर
किसी छिद्र से पड़ रहा है
थोड़ा सा प्रकाश
हिल रही हैं उसकी पलकें
कौन कर रहा है इस अंधेरे में
सुबह की बात

मोतीलाल साकी

मैं पूछता हूँ
उनके हिटलिस्ट पर
जब तुम पहले ही दर्ज हो
तो फिर किस उम्मीद पर
घर में ही दुबक बैठे हो
क्यों उन्हें यह कहने का
दे रहे हो अवसर
कि हाँ हमने मारा उसे
खत्म किया उसके सारे परिवार को
साक्षी भी नहीं छोड़ा कोई
कि वह था एक मुखबिर

यह जानते हुए भी
कि ललद्यद की वाणी का स्रोत
सूख गया है
और शेखुल-आलम अपनी दरगाह से
गायब है
हम कर भी क्या सकते थे।

प्यारे हताश

मुझे घर में ही दिखे जंगल
हर करवट पर लगे जंगल
रेतीली राहों में आग लगी है,
कैसे मरुस्थल में साँसें ले जंगल
हवा है बदलती न आये है बहार
पत्थरों की सोहबत में न मरे जंगल
जिधर देखो रेत के ही टीले हैं
इन नजारों से बचेगा कैसे जंगल
या खुदा इन हवाओं की चीखें
क्या फिर उसी लय में गायेंगे जंगल

अल्पना पंडित

नहीं चाहिए मुझे कश्मीर समाचारों में
चाहती हूँ इसे अपने हाथों में, नजारों में
लौटा दो लौटा दो मेरा कश्मीर
मेरा एक अपना वो मेरा कश्मीर

अर्जुन देव मजबूर

बीत गया साल
मेरा सब कुछ छीन कर
नोच कर मेरी पूरी देह।
इस सौतेले देश में
बेच गया मेरा वजूद
कुतर गया मेरा दामन
छू गयी मेरे हँसते हुए जीवन को
विषाक्त तलवार की तेज धार
उढ़ा गया मेरे इतिहास नगर को
चोला विनाश का
कर गया दरिद्र मेरे तमाम गाँव।

प्रफुल्ला नागरी

मेरी छत से टपकती
ओस की बूँदें
गली में जमी
बर्फ की परतें
मेरे आंगन में उग आई
लम्बी घास
कमरे की ठिठुरती रातें
मेरी रसोई का टपकता नल
और भीगी-भीगी धूप में
खिला मेरा गुलाब
आतंक के अंधेरे में
लिपटा मेरे घर
पूछ रहा है मुझसे
क्या इस साल आना होगा?
हाँ अब के साल
'पनुन कशमीर'!

आशेश नागरी

हवा में तैरती धूप के किनारे
काश एक घर होता
और काश उस घर की खिड़की
न खो जाती।
भीगे-भीगे सपनों के पास
सूर्य रुक जाता
एक-टक देखता रहता
और मुझ से
मेरे अंधेरों में मिल लेता।
छन-छन बरसती
बरसात की पायल
एक साँस भर लेती
मुझ से लिपटती
माथे से फिसल कर
मेरे नाम को भिगो देती।
काश मुझे मिल पाती
मेरे घर की एक मात्र खिड़की
जो साँसों की दौड़
और चेहरों के जंगल में
खो गई कहीं।
मैं दूर तक देखता रहा
तिनका-तिनका जीवन
मेरे माथे को छूकर
बदन से फिसला
और कहीं खो गया।
टप-टप पसीने की बूँदें
हाथों की लकीरों को रींचती
रेत के टीलों पर बरस पड़ीं
जाने कौन सी थी वह हवा
उड़ा के ले गई मेरा सब कुछ
और अब
जाने कब से खड़ा
सूखे होठों पर
उधार की हँसी लिये
मुट्ठी भर धूप से सहमा
अपने हिस्से का आकाश
ढूंढ रहा हूँ मैं।

मैं लौट आऊँगा माँ वितस्ता
और तुम्हारे पवित्र जल से
हवन कुण्ड लेप लूँगा
फिर जाप करूँगा उसी महामंत्र का
और ग्यारह से
ग्यारह करोड़ हो जाऊँगा।

☐ ('कश्मीर में आतंकवाद के खिलाफ हस्तक्षेप',
पनुन कश्मीर, १९९२)

महाराज कृष्ण संतोषी : कश्मीरी कवि।
अग्निशेखर : कवि; राष्ट्रीय संयोजक, पनुन कश्मीर।

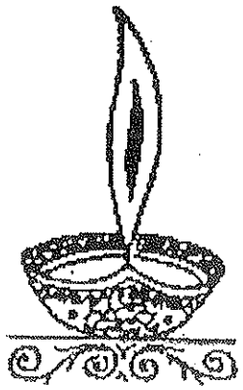

चरार-ए-शरीफ : अनिर्णय में घिरी निष्प्रभावी सरकार

✍ अटल बिहारी वाजपेयी

११ मई, १९९५ की तारीख कोई भी भूला न होगा। इसी दिन कश्मीर के आतंकवादियों और उनके साथ शामिल भाड़े के विदेशी सैनिकों ने ऐसा काण्ड कर डाला जिससे भारत और कश्मीर के बारे में उनके तथा सरहद पार बैठे उनके आकाओं के नापाक इरादे, उनकी विध्वसंक प्रवृत्ति एक बार फिर अपने भयानकतम रूप में सबके सामने स्पष्ट हो गये। सेना की घेराबंदी को तोड़ने और साथ ही भारतीय सेना को बदनाम करने के लिए इस्लाम के इन तथाकथित ठेकेदारों ने प्रसिद्ध सूफी संत नूरुद्दीन उपाख्य 'नुंद ऋषि' की दरगाह चरार-ए-शरीफ और आसपास की पूरी बस्ती को जलाकर राख कर दिया। पूरा देश इस घटना से स्तब्ध रह गया। इस त्रासदी के विरोध में १५ मई, १९९५ को लोकसभा में विपक्ष ने 'काम रोको' प्रस्ताव रखा। प्रस्तुत है 'काम रोको' प्रस्ताव पर हुई बहस में पूर्व विदेश मंत्री तथा अनुभवी, प्रख्यात एवं सर्वादृत सांसद माननीय श्री अटल बिहारी वाजपेयी का भाषण।

अध्यक्ष महोदय, इससे पहले कि मैं काम रोको प्रस्ताव के समर्थन में कुछ कहूँ, मुझसे पहले जो कांग्रेस के सदस्य बोल रहे थे, उनके लम्बे भाषण के बारे में छोटी सी टिप्पणी करके उनकी बात खत्म कर देना चाहता हूँ।

अध्यक्ष महोदय, आपको याद होगा थोड़े दिन पहले कॉमनवेल्थ के सेक्रेटरी जनरल हमारे देश में आये थे। वे मुझसे भी मिलने के लिए आए। मुझे जब उनसे मिलने का सौभाग्य मिला तो वह कहने लगे कि कॉमनवेल्थ के सभी देशों में लोकतंत्र है, मगर भारत का लोकतंत्र अपने ढंग का अनूठा लोकतंत्र है, निराला लोकतंत्र है। इसका उन्होंने एक उदाहरण दिया और कहा कि भारत में पॉलिटिकल एडवर्सरी को एनिमी नहीं समझा जाता, यह भारतीय लोकतंत्र की विशेषता है। अगर वे आज श्री मणिशंकर अय्यर जी का भाषण सुनते तो उनके मन में इस तरह का भ्रम नहीं पनपता।

प्रस्तावक महोदय ने ठीक कहा कि यह काम रोको प्रस्ताव आज असाधारण परिस्थितियों में लाया गया है और ऐसा शायद पहले कभी नहीं हुआ। बजट पर चर्चा चल रही है, वर्षों बाद रक्षा मंत्रालय की अनुदान माँगों पर बहस हो रही है, प्रधानमंत्री को आज चर्चा का उत्तर देना था, लेकिन प्रतिपक्ष ने यह ठीक समझा कि सब काम रोक कर आज चरार-ए-शरीफ शरीफ की त्रासदी पर बहस होनी चाहिये।

इस सदन में कश्मीर के बारे में हम लोग बोलते रहे हैं और अधिकतर एक स्वर में बोलते रहे हैं। मैं २२ फरवरी, १९९४ के उस सर्वसम्मत प्रस्ताव की याद दिलाना चाहता हूँ जो पूरे सदन की भावना को अभिव्यक्त करता था। अपने मतभेद हमने ताक पर रख दिये थे और कहा था :

The State of Jammu and Kashmir has been and is and shall be an integral part of India and any attempt to separate it from the rest of the country will be resisted by all necessary means.

आगे हमने कहा :

India has the will and capacity to firmly counter all designs against its unity, sovereignty and territorial integrity.

उसके बाद हमनें दो माँगें रखी थीं :

Pakistan must vacate the areas of the Indian State of Jammu and Kashmir which they have occupied through aggression and resolve that all attempts to interfere in the internal affairs of India will be met resolutely.

वह सारे देश की भावनाओं को प्रकट करने वाला हमारा संकल्प था।

उसके बाद विदेश मंत्रालय से संबंधित स्टैंडिंग कमेटी ने, कश्मीर का जो हिस्सा पाकिस्तान के पास है, उसमें किस तरह मानवाधिकारों का उल्लंघन हो रहा है,

इस पर गवाही ली, तथ्य इकट्ठे किये और अपनी रिपोर्ट पेश की। वह ब्रर्बदलीय समिति की सर्वसम्मत रिपोर्ट थी। उसमें हमने इस बात पर जोर दिया था कि काश्मीर का जो हिस्सा पाकिस्तान के पास है और उस हिस्से में से कुछ भाग जो पाकिस्तान ने औरों को दे दिया है, उसे वापस लेने के बारे में प्रयत्न होना चाहिये। कम से कम पाकिस्तान का मानवाधिकारों के बारे में क्या रवैया है, इसे बेनकाब किया जाना चाहिए।

काश्मीर के मामले में यह सदन एक स्वर से बोलता रहा है। आज अगर अलग-अलग स्वर सुनाई दे रहे हैं तो सत्ता पक्ष के सदस्यों को उससे विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। हम यहाँ हर समय और हर मामले में आपकी हाँ में हाँ मिलाने के लिए नहीं आये हैं। हम प्रतिपक्ष के धर्म का पालन करेंगे। आपके हाथों से कोई भूल हो जाये, आप चरार-ए-शरीफ की रक्षा न कर सकें, आप आतंकवादियों को चले जाने की छूट दे दें और हम अगर उसकी आलोचना करें तो क्या हम देश के शत्रु हैं?

क्या चरार-ए-शरीफ के भस्मीभूत हो जाने के बाद हम यहाँ सरकार का अभिनन्दन करते? आप क्या आशा करते हैं? जरा जनता में जाकर देखिए और अगर आप जनता में जाने के लिए तैयार हैं, तो हम तो माँग करते रहे हैं कि यह सरकार अब देश के हितों की रक्षा नहीं कर सकती, इस सरकार को इस्तीफा दे देना चाहिए और लोक सभा के नये चुनाव कराने चाहिए।

अध्यक्ष महोदय, मैं विवाद को इस स्तर पर लाना नहीं चाहता हूँ, लेकिन मुझे अपनी बात कहने दी जाए। जब उनका घटिया स्तर था, तब सत्तापक्ष के सदस्य बोले नहीं, अब वे हँस रहे हैं, खीसें निकाल रहे हैं। कांग्रेस को पहला भाषण देने के लिए श्री मणिशंकर अय्यर ही मिले। मैं जब विदेश मंत्री था, तो ये विदेश मंत्रालय में थे। मैं इनकी सारी बातें जानता हूँ। इनकी जो बातें मैं जानता हूँ, वे बुरी बातें नहीं हैं, अच्छी बातें हैं। बस इतना ही है कि बोलते समय ये कभी-कभी पटरी से उतर जाते हैं।

अध्यक्ष महोदय, यह काम रोको प्रस्ताव दुःख की भावना से लाया गया है। सर्वदलीय संसदीय बैठक में प्रधानमंत्री ने जब हमें बुलाया था, तो मैंने कहा था कि हम दुःखी हैं और गुस्से में हैं। यह दोषारोपण इसीलिए किया जा रहा है क्योंकि आप सत्ता में हैं। आखिर किसकी जिम्मेदारी है?

श्री अय्यर ने ठीक कहा कि यह मामला कोई दस दिन से शुरू नहीं हुआ है। सरकार ने अपने वक्तव्य में माना है कि दिसम्बर में आतंकवादी हथियार लेकर, वेश बदलकर, चरार-ए-शरीफ के शहर में आने-जाने लगे थे। दिसम्बर में यह तो मई है। सरकार ने यह भी माना कि फरवरी में, तारीख दी गई है, मस्तगुल, वह भी छिपे हुए, छद्म वेश में आ गया और दरगाह में शरण लेने में सफल हो गया। अब यह पूछा जा रहा है कि चरार-ए-शरीफ का अन्त क्यों हुआ? अन्त तो इसलिए हुआ कि वहाँ एक ट्रेजेडी का आरम्भ हो चुका था। हम आरम्भ के बारे में सरकार से जानना चाहते हैं, जवाब दीजिए।

दिसम्बर में जब आपको पता लग गया था और राज्य सरकार ने जब केन्द्र को सूचना दे दी थी कि आतंकवादी आए हैं और हथियार लेकर आए हैं और इस शहर को अपना अड्डा बना रहे हैं, उसके बाद आपने क्या कार्यवाही की? उन्हें क्यों इकट्ठा होने दिया गया? उन्हें पकड़ा क्यों नहीं गया? राज्य सरकार की सूचना पर केन्द्र की क्या प्रतिक्रिया थी? केन्द्र सरकार स्वयं मानती है कि फरवरी में उसे पक्की जानकारी मिल गई थी। उसके बाद हमने क्या किया? उसके बाद क्या किया यह भी सरकार के वक्तव्य में है। गृह सचिव के वक्तव्य में है कि हमने सेना को डेढ़ किलोमीटर दूर घेराबन्दी में लगा दिया। सेना को लगा दिया गया कि घेरा डाले रहो। लोग आ रहे हैं, अंदर जा रहे हैं, भीतर तैयारियाँ कर रहे हैं, सुरंगें बिछा रहे हैं। केवल दरगाह के चारों तरफ नहीं, सड़कों पर भी। आने-जाने के रास्ते बन्द कर रहे हैं। और सरकार क्या कर रही है? सरकार सेना से कह रही है, जरा दूर-दूर रहो, नहीं तो आतंकवादी भड़क जाएंगे और हो सकता है कि वे दरगाह जला दें।

यह बात तो हमें पहले ही समझ लेनी चाहिए थी कि आतंकवादी पाकिस्तान के जिस ग्रुप से सम्बन्ध रखते हैं, उसके दिल में चरार-ए-शरीफ के लिए कोई आदर नहीं है, कोई श्रद्धा नहीं है। जो कराची में शिया मस्जिदों में गोली चला सकते हैं और नमाज पढ़ने वाले शियाओं को मौत के घाट उतार सकते हैं, वे अगर कश्मीर में आएंगे, तो चरार-ए-शरीफ की रक्षा के लिए नहीं आएंगे। क्या हमने इस बात को शुरू से समझा था? क्या इस बात को

समझकर हमने अपनी रणनीति बनाई? यह सरकार ऐसी निकम्मी सरकार है, ऐसी निष्प्रभावी सरकार है जिसने चरार-ए-शरीफ के बारे में और वहाँ के संत के बारे में कुछ नहीं किया। इस दुर्घटना से पहले, इस त्रासदी से पहले, देश के भीतर, मीडिया में और विश्व में जिस तरह का जनमत बनाना चाहिए था, उसका भी प्रयास नहीं किया गया। जिस दिन वहाँ आग लगी, उसके बाद से भारत के अखबारों में यह खबरें छप रही हैं कि वहाँ जो नूरुद्दीन सूफी संत थे, जिनको नुंद ऋषि कहा जाता था और जिनके गीत, जिनके साहित्य को ऋषि कलाम कहा जाता था, वे कबीर के रास्ते पर चलने वाले सूफी संत थे। वे कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं करते थे, मुल्ला-मौलवियों से वे झगड़ते थे। अगर आतंकवादियों के मन में यह भाव हो कि इस दरगाह की रक्षा करने का तो कोई सवाल ही नहीं है तो कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए। अगर यह दरगाह जाती है, जलती है या टूटती है तो उसे टूटने दो। हमने इसका अनुमान नहीं लगाया। हम चिन्ता करते रहे कि दरगाह को कैसे बचाया जाये? यह चिन्ता करना स्वाभाविक था। पूरी ताकत से दरगाह की रक्षा होनी चाहिए थी, लेकिन अंत में क्या हुआ? आखिर इस सारी कसरत का, इस सारी कवायद का, इस सारे कर्म का क्या फल निकला? फल यह निकला कि दरगाह भस्म हो गयी। दरगाह के साथ एक और मस्जिद जल गयी। खानकाह लपटों में समा गया। मेहमानों के लिए जो भवन बनाया गया था, उसे भी लपटों ने आत्मसात् कर लिया और साथ में एक हजार मकान और जले। अभी भी उन मकानों में से धुँआ उठ रहा है।

चरार-ए-शरीफ की दरगाह ध्वस्त हो गयी, इसका क्या असर हुआ होगा? कश्मीर के मुसलमानों पर इसका क्या असर हुआ होगा? इस पर विचार करने के बजाय अब यहाँ एक नयी बहस छेड़ दी गयी है। आज सेना पर इसका दोष दिया जा रहा है।

अभी श्री अय्यर जी ने भी कहा कि सेना ने अपने कर्तव्य का पालन किया। दरगाह को आग लगाने में किसी भारतीय का कोई हाथ नहीं है। मगर भारतीय समाचार-पत्रों के प्रथम पृष्ठों पर इस तरह की खबरें आ रही हैं और इसके लिए सेना को दोष दिया जा रहा है। सरकार ने इसका खंडन तक नहीं किया है।

सेना तो यहाँ अपनी सफाई के लिए नहीं आ सकती। सेना किन परिस्थितियों में काम कर रही है, यह हमें समझना चाहिए। हम उसे आज बलि का बकरा बनाने को तैयार हैं। क्या यह नीतिमत्ता है? जनतंत्र का तकाजा तो यह था कि प्रधानमंत्री जी कहते कि मेरे से गलती हो गयी, हम चरार-ए-शरीफ की रक्षा करने में विफल हुए, हम आतंकवादियों को और उनके नेता को गिरफ्तार नहीं कर सके। प्रधानमंत्री कहते कि जम्मू कश्मीर का विभाग मेरे पास है और मैं अपने कर्तव्य पालन में विफल रहा। इसलिए देश मुझे जो सजा देगा, उसको मैं भुगतूँगा, लेकिन प्रधान मंत्री जी ने ऐसा नहीं कहा। वे कोई भी जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं हैं। अब बलि के बकरे ढूँढे जा रहे हैं। अच्छा हुआ, पायलट साहब बच गये, नहीं तो बकरीद के दिन उनकी भी कुर्बानी हो जाती (मैं नहीं जानता कि वे हलाल होने से कुर्बानी पसन्द करते या झटके से)।

प्रधानमंत्री जी ने काश्मीर का विभाग अपने हाथों में लिया है तो इसका जवाब भी वे दें कि यह कैसे हुआ? क्या इसे टाला नहीं जा सकता था? क्या आतंकवादियों को वहाँ इकट्ठा होने से रोका नहीं जा सकता था? अगर वे इकट्ठे हो गये थे तो फिर सेना का कर्तव्य क्या था? मुझे तो पढ़कर बड़ा ताज्जुब होता है। यह मैं गृह सचिव के वक्तव्य में से उद्धृत कर रहा हूँ :

The security forces, therefore, occupied the high features of the surrounding hills at a distance of one-and-a-half kilometres and kept a watch over the militants to prevent further infiltration of militants into the Shrine and further smuggling of arms and ammunition.

यह कैसे होता? आप डेढ़ किलोमीटर दूर बैठे हैं, पहाड़ पर बैठे हैं, वॉच कर रहे हैं और इनफिल्ट्रेशन को रोकने का दावा कर रहे हैं। क्या दरगाह तक बिना जाए और बिना विरोध किए हुए घुसपैठ रोकी जा सकती थी? आप देख रहे थे कि हथियार जा रहे हैं। सेना देखती रही क्योंकि सेना को देखने के लिए कहा गया था, किसी कार्यवाही के लिए नहीं।

आज सदन में साफ बातें होनी चाहिए। ऐसे मामले में सेना की क्या भूमिका होगी? वहाँ कोई यूनीफाइड कमांड नहीं है। इकट्ठे होकर फैसले नहीं किए जाते। गवर्नर हैं, सिविल एडमिनिस्ट्रेशन है और फिर दिल्ली में

बैठा हुआ पी.एम.ओ. (प्रधानमंत्री कार्यालय) है। पी.एम.ओ. में हमेशा प्राइम मिनिस्टर से सम्पर्क स्थापित करना सम्भव भी है या नहीं, मैं नहीं जानता। प्रधानमंत्री इतने व्यस्त हैं तो फैसले कौन करता है? यह फैसला किसका था कि सेना डेढ़ किलोमीटर दूर बैठी रहे? अगर बैठी थी तो आप सेना पर यह जिम्मेदारी मत डालिए कि वह इनफिल्ट्रेशन रोक रही थी, हथियारों के जाने पर प्रतिबंध लगा रही थी। यह सेना कैसे कर सकती थी? वहाँ कौन फैसला कर रहा था? आज सेना को दोषी ठहराने की कोशिश हो रही है, यह सेना के साथ बड़ा अन्याय है।

पायलट साहब ने जो कुछ कहा, मैं उससे सहमत हूँ। दरगाह को आग लगाने में सेना का कोई हाथ नहीं है। सेना आग लगाए, इसका सवाल ही पैदा नहीं होता। आतंकवादियों ने जान-बूझकर आग लगाने के लिए बकरीद का दिन चुना। वह संत नूरूद्दीन का जन्मदिन भी था। वे जानते थे कि आग लगेगी तो इसकी प्रतिक्रिया होगी। प्रतिक्रिया घाटी में होगी, भारत में होगी, पाकिस्तान में होगी। इस्लामी देशों को गुमराह करने में मदद मिलेगी। जो कुछ हुआ, उनकी योजना से हुआ। उनकी योजना से जो कुछ होना था, वह हो गया लेकिन हमारा रोना तो यह है कि हम जो चाहते थे, वह नहीं हो पाया।

हम दरगाह बचाना चाहते थे और यह भी चाहते थे कि आतंकवादी दरगाह छोड़कर सही-सलामत सीमा के पार चले जाएं। बार-बार इस बात पर जोर दिया जाता था। वे आतंकवादी, हत्यारे, भाड़े के टट्टू थे। दुनिया भर में उपद्रव करने के बाद उन्होंने कश्मीर को अपना कुकर्म करने का स्थान बनाया लेकिन हमें चिन्ता थी और जितनी चिन्ता दरगाह को बचाने की थी, मुझे नहीं लगता कि उससे कम चिन्ता उनको सही-सलामत वापस भेजने की थी। सरकार ने खुद अपने वक्तव्य में माना है कि हम इसके लिए तीन महीने तक कोशिश करते रहे। तीन महीने तक सरकार उन आतंकवादियों के सामने गिड़गिड़ाती रही, उनकी मिन्नतें मनाती रही कि चले जाओ, हम आपको सही-सलामत पहुँचा देंगे। यह देश की कैसी तस्वीर आपने वहाँ पेश की है? कश्मीर की घाटी के लोगों पर इसका क्या असर होगा? ६० करोड़ लोगों का देश है। इतनी बड़ी सेना रखने वाला देश ३५-४० आतंकवादियों से नहीं निपट सका, दरगाह की रक्षा नहीं कर सका, उनकी परम्परा की रक्षा नहीं कर सका। क्या इसका कश्मीर के अवाम पर अच्छा असर होगा? क्या उनका भाव, उनके सोचने का तरीका भारत के पक्ष में आयेगा? आतंकवादियों से वह पहले ही त्रस्त और भयभीत हैं। अब तो भय और बढ़ेगा। अभी भी मस्तगुल पकड़ा नहीं गया। कैसे चला गया, पता नहीं। क्या यह हमारी विफलता नहीं है? एक जनरल साहब की पहले दिन की प्रतिक्रिया है, जिसमें उन्होंने स्वीकार किया है कि वह पड़ा हुआ है और जिस टाउन में आग लगी है, उसमें वह कहीं है। अब कहा जा रहा है कि वह पुलवामाँ पहुँच गया है। वह बचकर निकल गया। जो मुख्य अपराधी था, वह बचकर निकल गया और जो दरगाह थी, वह राख और खाक में बदल गई। अब क्या हम अपनी पीठ थपथपायें, क्या हम बधाइयों के ताँते लगायें? मैं अपने देश में अपमानित अनुभव करता हूँ। हम छोटे हो गये हैं।

एक और बड़ी विचित्र बात है। अभी दावा किया जा रहा है कि हमारी इंटेलिजेंस बड़ी चतुर है। इतनी चुस्त है कि पाकिस्तान के साथ जो बातें हो रही थीं, हमने उनको इंटरसेप्ट कर लिया। किससे पाकिस्तान में बातें हो रही थीं, आई.एस.आई. से, आपके पास प्रमाण है। क्या इस प्रमाण को लेकर आपने पाकिस्तान को कन्फ्रण्ट किया? क्या पाकिस्तान के राजदूत को बुलाया गया? भाटिया साहब का थोड़ा सा असम्मान हो गया था, इस पर तो पाकिस्तान के राजदूत को विदेश मंत्रालय में बुलाकर विरोध प्रकट किया गया। आपके कहने के अनुसार यह इतना बड़ा प्रमाण है। जो मेसेज इण्टरसेप्ट किये गये, वे पाकिस्तान से आ रहे होंगे, पाक ऑक्यूपाइड कश्मीर से आ रहे होंगे। अगर वह पाकिस्तान से आ रहे थे, जैसा कि साफ है तो क्या खाली हमको बताना काफी है? देश को, पार्लियामेंट को जानकारी देना काफी है? क्या इसका कोई अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम नहीं होना चाहिए? क्या आपको पाकिस्तान को कोई विरोध पत्र नहीं देना चाहिए? क्या और देशों के

प्रतिनिधियों को बुलाकर यह कहना नहीं चाहिए कि देखिए, हम जो कहते थे, उसका और प्रमाण मिला हुआ है? अगर आपका विश्वास करना है, और अविश्वास करने का मैं कोई कारण नहीं देखता तो सीमा पार से वह कह रहे थे, 'बहुत अच्छा किया, अब मजा आया, और करो'। यह भी जानकारी है कि उन्होंने सरकार का सही-सलामत जाने का निमंत्रण इसलिए नहीं माना, क्योंकि पाकिस्तान उनसे कहता था कि वापस आने की कोई गुंजाइश नहीं है, तुम्हें वहीं खत्म होना है, वहीं कुछ करके दिखाओ। जब यह बात सरकार को मालूम थी तब तो साफ था कि दरगाह को बचाने की कोई सूरत नजर नहीं आ रही थी।

मैं मानता हूँ कि अगर योजनापूर्वक प्रारम्भिक दिनों में कोई स्ट्रिक्ट एक्शन लिया जाता तो पूरी दरगाह के जलने की सम्भावना को टाला जा सकता था और बाद में जो विनाश हुआ है, आसपास जो बर्बादी हुई, उसको भी शायद रोका जा सकता था। लेकिन यह सरकार अनिर्णय की सरकार है, अनिश्चय की सरकार है, निर्बल सरकार है, निकम्मी सरकार है, निष्प्रभावी सरकार है, निर्वीर्य सरकार है। मैं यह सब कहने के लिए विवश हूँ। मैं प्रतिनिधिमंडल में जिनेवा गया था। राष्ट्रीय हितों के सवाल पर मैं दलों की दीवारों में नहीं बंधता। मगर आज मैं उद्वेलित हूँ। क्या हुआ है? हमने किया क्या है? क्या इसको टाला नहीं जा सकता था?

अब मैं पुरानी कहानी में नहीं जाता, पुरानी कहानी अगर ठीक होती तो कश्मीर की आज यह स्थिति नहीं होती। हम तो सत्ता में नहीं थे, न कोई गठबंधन सत्ता में था। कश्मीर की स्थिति धीरे-धीरे बिगड़ी और यहाँ तक बिगड़ी कि शेख अब्दुल्ला तक को गिरफ्तार करना पड़ा और वर्षों तक जेल में रखना पड़ा, लेकिन तब नई दिल्ली की नीतियाँ सही थीं, निश्चय पक्का था, इसलिए कश्मीर का मामला नहीं बिगड़ा। आज छोटी सी बात पर बिगड़ जाता है क्योंकि नई दिल्ली फैसला नहीं कर पाती। प्रधानमंत्री निर्भर करते हैं गवर्नर पर और गवर्नर किस पर निर्भर करते हैं, मैं नहीं जानता। वहाँ आर्मी जनरल इकट्ठे हो गये हैं। फिर भी आर्मी को दोष दिया जा रहा है। लेफ्टीनेंट जनरल ढिल्लो साहब ने ठीक कहा कि भारतीय सेना के संयम का परिचय मिल गया, लेकिन हम दरगाह नहीं बचा सके। जब यही हालत होनी थी तो तीन महीने इंतजार करने की क्या जरूरत थी? यह एक सेनापति की प्रतिक्रिया है। यह कोई राजनीतिक प्रतिक्रिया नहीं है। अगर हम सेना को मोर्चे पर खड़ा करते हैं तो सेना के जवान भी शहीद होते हैं। वे देश के लिए जान देते हैं। क्या ऐसे समय में हम उनके साथ न्याय कर रहे हैं? क्या हम उनके मनोबल को बनाये रखने की कोशिश कर रहे हैं? मैं समाचार पत्रों में जो चर्चा हो रही है, उसका उल्लेख कर रहा हूँ। हमें सेना का मनोबल बनाये रखना चाहिये। इसको बनाये रखने की जिम्मेदारी सरकार की है। समय पर फैसले हो रहे हैं या नहीं हो रहे हैं, सही फैसले हो रहे हैं या नहीं हो रहे हैं, इसकी जवाबदेही सरकार पर है।

अध्यक्ष महोदय, मैं जवाबदेही की बात कह रहा था। क्या राज्यपाल की जवाबदेही नहीं है? राज्यपाल किस की सलाह से चलते हैं? उनकी सीधे टेलीफोन पर प्रधानमंत्री से बात होती है या पहले गृहमंत्री से होती थी? रक्षा राज्य मंत्री से बात होती होगी, इसकी तो सम्भावना दिखायी नहीं देती है। राज्यपाल किसलिए हैं? हमारे कांग्रेस के मित्र अगर समझें कि नरसिंह राव जी इनडिसपेन्सेबल हैं तो मैं इनकी बात मान सकता हूँ। कांग्रेस वाले ऐसा कहते हैं तो मैं मान लूँगा लेकिन अब जनरल कृष्णाराव भी इनडिसपेन्सेबल हो गये, यह मैं मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। उनको जाना चाहिये। वैसे भी आप कश्मीर में कुछ नया करना चाहते हैं। वहाँ चुनाव कराने के सवाल पर हमारे मतभेद हैं। इस समय वहाँ चुनाव कराने के सवाल पर प्रामाणिक मतभेद हैं। हर बात पर हमारी नीयत पर शक करना, हर बात में विरोधी पर अप्रामाणिक होने का आरोप लगाना, यह चर्चा का एक घटिया तरीका हो सकता है। किंतु, यह राष्ट्रीय सहमति बनाने का ढंग नहीं है। क्या हमें यह अधिकार नहीं है कि हम कह सकें कि इस समय चुनाव कराने की स्थिति नहीं है। आप कहिये कि नहीं, स्थिति है, हम चुनाव करायेंगे। यह एक अलग बात है। लेकिन पाकिस्तान यह कह रहा है और हम भी कह रहे हैं, इसलिए हम पाकिस्तानी हैं, यह बात करने का

तरीका गलत है।

[व्यवधान... शोर-शराबे में कुछ कांग्रेसियों द्वारा इस आशय की बात कही गयी कि चूँकि पाकिस्तान भी कश्मीर में चुनाव नहीं चाहता और भाजपा भी नहीं चाहती इसलिए भाजपा पाकिस्तान की समर्थक और देश की दुश्मन है। इसके विरोध में माननीय चन्द्रशेखर जी का वक्तव्य -

श्री चन्द्रशेखर : अध्यक्ष महोदय, माननीय सदस्य ने ... (एक्सपंज्ड ऐज़ ऑर्डेडबाई द चेयर) और पाकिस्तान को भी देश का दुश्मन कहा। उन्होंने कहा कि पाकिस्तान भी चुनाव नहीं चाहता है और बी.जे.पी. भी नहीं चाहती है। इनका भाषण अगर एक तारतम्य से पढ़ें तो सब स्पष्ट हो जायेगा। मैं भी कश्मीर में चुनाव नहीं चाहता हूँ। मैं बी.जे.पी. का नहीं हूँ, मैं बी.जे.पी. के खिलाफ हूँ। ऐसे में क्या मैं भी पाकिस्तान का समर्थक हो गया? जो मन में आये बोल देना और कांग्रेस पार्टी की हर बात का समर्थन करना, अगर यही राजनीति है...

Mr. Speaker, Sir, I was referring to his speech. In his spech, he said that the enemies within destroyed the Babri Masjid and the enemy outside destroyed Charar-e-Sharif. What does it mean? He was saying that they destroyed the Babri Masjid. I condemn them for the destruction of Babri Masjid. But I do not consider them to be enemies. He is not the only patriot in this House.]

श्री अटल बिहारी वाजपेयी : अध्यक्ष महोदय, मैं अपने भाषण को उपसंहार की ओर ले जाना चाहता हूँ। पार्टी की ओर से राष्ट्रीय अध्यक्ष, आडवाणी जी, इस बहस में भाग लेंगे। मैं तो यहाँ एक ही मुद्दे का उल्लेख करूँगा।

ढाई साल पहले हजरतबल में जो कुछ हुआ था, उसका अनुभव इतनी जल्दी हम कैसे भूल गए, यह मेरी समझ में नहीं आता। हजरतबल में घेरेबंदी की नीति सफल हो गई इसलिए वह चरार-ए-शरीफ में भी सफल हो जाएगी, यह सोचने का कोई कारण नहीं था। हजरत बल अलग-थलग था, कटा हुआ था। हजरत बल में भोजन नहीं था, वहाँ पीने के पानी का प्रबंध नहीं था, जबकि चरार-ए-शरीफ मोहल्ले से लगा हुआ, आबादी से जुड़ा हुआ एक ऐसा धर्मस्थल है कि वहाँ अन्न, पानी की कभी कमी होने वाली नहीं थी। इसलिए हम डेढ़ किलोमीटर दूर फौज का घेरा लगा कर परिस्थिति पर काबू पा लेंगे, यह सोचने का तो कोई कारण नहीं था। मैं नहीं जानता कि यह फैसला किस तरह से किया गया।

अब आप कहेंगे कि घेरेबंदी के अलावा और क्या किया जा सकता था। इस पर बहस हो सकती है, इसके अनेक रास्ते बताए जा सकते हैं लेकिन जो रास्ता आपने अपनाया वह रास्ता कारगर नहीं था, उस रास्ते की विफलता सुनिश्चित थी, क्योंकि हम सब कुछ आतंकवादियों की मनःस्थिति पर छोड़ने के लिए तैयार थे। दरगाह बचेगी तो उनके कारण बचेगी, अगर वे दरगाह जलाना चाहेंगे तो हम कैसे रोक सकते हैं। हम उन्हें सही सलामत भेजना चाहते हैं, लेकिन अगर वे मरने पर तुले हुए हैं तो हम क्या कर सकते हैं। एक असहाय, निस्सहाय, नीति-विहीन, निश्चयविहीन तस्वीर इस सारे कांड में से उभरती है। यह तस्वीर हमें अच्छी नहीं लगती क्योंकि यह तस्वीर केवल सरकार की तस्वीर नहीं है, इसके साथ देश की तस्वीर भी जुड़ी हुई है। कश्मीर की घाटी के लोग इस तस्वीर को देखकर क्या अनुभव करेंगे?

हम मानते हैं कि वहाँ आतंकवादी धीरे-धीरे पीछे हट रहे हैं। लोगों का मोह भंग हो रहा है, लोग सामान्य स्थिति चाहते हैं। मगर आतंकवादियों ने एक ऐसा कांड कर दिया कि सारे करे-धरे पर पानी फेर दिया। ऐसा कांड हो सकता है, इस पर हमने पूर्व से सोचा नहीं। हमने पूर्व से इसकी तैयारी नहीं की। आज नये सिरे से फिर कश्मीर में आपको लोगों को जोड़ना पड़ेगा, विश्वास कायम करना पड़ेगा। मगर यह काम इस सरकार से हो सकेगा, ऐसा मुझे नहीं लगता है। इसलिए हम सरकार की निन्दा करना चाहते हैं और आपसे प्रार्थना करना चाहते हैं कि अब आप प्रस्थान करिए।

अटल बिहारी वाजपेयी : पूर्व संपादक, राष्ट्रधर्म; पूर्व अध्यक्ष, भारतीय जनता पार्टी; सांसद, दिल्ली।

..ताकि सनद रहे

नीराजकों से

(पत्रिका के प्रारम्भ से ही तत्कालीन प्राचार्य तथा वर्तमान संरक्षक पितृतुल्य माननीय चन्द्रपाल सिंह द्वारा इस नियमित स्तंभ के माध्यम से छात्रों को प्रदत्त व्यावहारिक ज्ञान तथा मार्गदर्शन)

नीराजन, १९७३-७४

नहा-धोकर धुले हुए श्वेत वस्त्र पहने, हाथ में पूजा का थाल लिए, जिसमें अक्षत, चन्दन, रोली, पुष्प आदि पूजा-सामग्री के साथ-साथ एक स्नेह पूरित प्रदीप्त दीपक रखा है, तथा नतमस्तक हो किस देवता का नीराजन करने तुम खड़े हो? तुम तो बोलते भी नहीं। देवता के ध्यान में मग्न जो हो। अच्छा मैं ही जानने का प्रयत्न करूँ कि किस मूर्ति के सम्मुख तुम श्रद्धावनत हो।

यह श्वेतवर्णा, श्वेत वस्त्र धारिणी, दो हाथों में वीणा सम्हाले हुए, तीसरे में पुस्तक लिए तथा चौथे वरद मुद्रा में उठे हुए हाथ में स्फटिक-माला धारण किये हुए, श्वेत हंस पर आरूढ़ तथा श्वेत पद्म पर चरण रखे कौन देवी है? अरे यह तो 'ब्रह्माऽच्युतशंकर प्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता' माँ शारदा है।

ठीक है, तुम विद्यार्थी हो। सब प्रकार की विद्याओं का अध्ययन, सब प्रकार के ज्ञान का अर्जन, सब प्रकार की कलाओं का सीखना ही तुम्हारा लक्ष्य है। अतएव भगवती शारदा को प्रसन्न करके ही तुम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हो। उसका नीराजन पूर्ण मनोयोग से करो। समय बीतने पर फिर हाथ नहीं आता। केवल पश्चाताप ही हाथ रह जाता है। पर यह भी कभी सोचा है कि इन विभिन्न कलाओं और विद्याओं के उपार्जन का लक्ष्य क्या है?

वह देखो हंस-वाहिनी का बदलता हुआ रूप। इसके पीछे से एक नई भव्य मूर्ति प्रकट हो रही है, जिसमें माँ शारदा का रूप समाहित होता जा रहा है। यह देखो इस देवी के सिर पर तुषार-किरीट है, इसकी लम्बी केशराशि पर्वताकार फैली हुई है, जिससे अनेक अमृत-तुल्य धारायें प्रवाहित हैं। कटि में सुन्दर प्रस्तरीय मेखला है। उसके चरण एक अगाध महासागर द्वारा प्रक्षालित हैं जो उसके शरीर को तीन ओर से घेरे हुए है। उन चरणों के नीचे एक सुन्दर कमल खिला हुआ है। वह स्वयं एक शस्य श्यामल रंग की साड़ी पहने हुए है, जिस पर विभिन्न रंगों के बूटे बने हैं।

इस प्रकार माँ भारती भारतगाता के रूप में उपस्थित हैं। पहली की उपासना भी दूसरी की उपासना है। सरस्वती के वरदान से प्राप्त ज्ञान और कौशल की सार्थकता उनके भारतमाता के चरणों में समर्पित किये जाने में ही तो है।

अतएव आइये, हम सब छात्र और आचार्य भारत माँ का नीराजन करते हुए संकल्प लें कि अपना तन, मन, धन माँ को समर्पित करते हुए आजीवन उसकी सेवा में रत रहेंगे। ध्यान से देखने पर माँ के मुख पर विषाद की रेखायें स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। और ये देखो माँ की पूर्व और पश्चिम की ओर उठी हुई भुजायें भी क्षत-विक्षत हैं। असुरों ने माँ के कुछ अदूरदर्शी पुत्रों से मिलकर ही यह कृत्य किया है। अब समय आ गया है कि हम माँ के इस कष्ट को दूर करने का प्रयत्न करें और तब तक दम न लें जब तक माँ फिर से पूर्ण स्वस्थ होकर सुस्मित वदन न हो जाये - 'के बोले माँ तुमि अबले, बहुबल धारिणीं, नमामि तारिणीं, रिपुदल वारिणीं मातरम्।'

नीराजन, १९७४-७५

अपने पिछले संबोधन में मैंने संकेत किया था - 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'? अब प्रश्न उठता है उस देवता का हम नीराजन किस प्रकार करें। बहुत सम्भावना है कि मेरा यह संबोधन तुम लोगों से अन्तिम ही हो।

स्मरण रहे कि राष्ट्रदेवता के नीराजकों की एक

अनन्त गौरवशालिनी श्रृंखला की तुम भी एक कड़ी हो। कड़ियों की संख्या अनन्त होने से तुम्हारा अपना महत्व कम नहीं हो जाता; क्योंकि श्रृंखला की प्रत्येक कड़ी उसकी शक्ति का मापदण्ड होती है, उसकी भी अपनी एक विशेष भूमिका होती है। यह स्मरण ही कितना रोमाञ्चक एवं प्रेरणादायी है कि तुम्हारे पूर्ववर्तियों में ध्रुव और प्रह्लाद, राम और कृष्ण, प्रताप और शिवा, दयानन्द और विवेकानन्द, सावरकर और भगत सिंह, गांधी और गोलवलकर जैसी विभूतियाँ रही हैं। उन सबने अपने ढंग से देवता का नीराजन किया है। नीराजन का महत्व उसकी साङ्गोपाङ्ग विधि तथा अर्पित सामग्री के वैविध्य और मूल्य पर निर्भर नहीं है। देवता तो भाव का भूखा होता है। राम ने शबरी के जूठे बेर खाये। कृष्ण ने विदुर के घर का साग बड़े स्वाद से खाया। तुम भी भारत माँ का नीराजन किस तन्मयता, हृदय की शुद्धता एवं भाव-विभोरता से करते हो - इस पर ही उसका मूल्य आँका जायेगा। जीवन के किसी भी क्षेत्र में तुम क्यों न हो, छोटे से छोटा अथवा बड़े से बड़ा कार्य तुम्हें क्यों न सौंपा गया हो, यदि तुम इसे पूर्ण निष्ठा के साथ अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर, राष्ट्र के हित को सर्वोपरि रखकर करते हो तो तुम मातृ-मंदिर के सच्चे पुजारी हो, सच्चे नीराजक हो तथा तुमने अपनी गौरवमयी परम्परा को पूर्ण रूप से निभाया है - ऐसा समझा जायेगा।

ईश्वर करे तुम अपने जीवन-लक्ष्य को प्राप्त करने में पूर्णरूपेण सफल हो। शुभास्ते पन्थानः!

नीराजन, १९७५-७६

पिछले सत्र के अन्त में तुम लोगों से विदा ले चुका था। परन्तु विधाता के विधान को कौन जान पाया है? मुझे पुनः तुम लोगों के बीच लौटना पड़ा। कदाचित् इसी सत्र के लिए। वर्ष के प्रारम्भ में सारे ही देश में परिस्थिति बदली हुयी थी। उसका विद्यालय पर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था। इस बदली हुयी परिस्थिति में तुमने पूर्ववत् अपने व्रत का, अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार पालन किया, इसके लिए तुम सभी साधुवाद के पात्र हो।

आचार्य भावे के शब्दों में वर्तमान समय अपने देश के लिए अनुशासन पर्व है। परन्तु उन्होंने अनुशासन के दो भेद किये हैं,एक आचार्यों का, दूसरा लादा हुआ। प्रथम कोटि का अनुशासन जो स्वयं के द्वारा, अपने लिए स्वीकृत होता है, वही उत्तम अनुशासन है। जिस समाज में प्रथम कोटि का अनुशासन जितनी अधिक मात्रा में होता है, वह समाज उतना ही अधिक उन्नत कहा जायेगा तथा प्रजातन्त्र उतना ही अधिक वहाँ सफल होगा। किसी भी देश के लिए, विशेषतः हमारे जैसे विकासशील देश के लिए तो अनुशासन न केवल रामबाण औषध है अपितु स्वास्थ्यवर्धक टॉनिक भी है। पर शासन द्वारा लादा हुआ अनुशासन प्रजातन्त्र के स्वास्थ्य का सूचक नहीं है। अनुशासन वही स्थायी एवं व्यक्ति तथा समाज के लिए हितकर होता है जो नागरिकों द्वारा अपने कर्तव्यों को समझकर स्वयं स्वीकार किया हुआ होता है। इसी प्रकार के अनुशासन को जीवन का स्वाभाविक अंग बनाना शिक्षा का उद्देश्य है।

तुम राष्ट्रदेवता की आराधना के लिए अपने को तैयार कर रहे हो। इस समय आत्मानुशासन अथवा संयम के अभ्यास की बड़ी आवश्यकता है। जो व्यक्ति आत्मानुशासन से रहित है वह कभी कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। एक छात्र के जीवन में अनुशासन किस प्रकार होता है? यदि वह विद्यालय तथा छात्रावास के (यदि वह छात्रावासीय है) नियमों का सहज भाव से पालन करता है, निर्धारित समय पर प्रत्येक कार्य आलस्य अथवा प्रमाद त्याग कर करता है, अपने अध्ययन, व्यायाम तथा मनोरंजन में ठीक संतुलन रखता है, अपने गुरुजनों की आज्ञा का सादर पालन करता है, अपने साथियों से सदैव शिष्ट व्यवहार करता है, अपने अध्ययन की ओर सचेष्ट रहते हुए देश व समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य ज्ञान को भी प्राप्त करता रहता है, सभी प्रकार के प्रलोभनों पर विजय पाते हुए अपने नैतिक चरित्र में किसी भी प्रकार की गिरावट नहीं आने देता, कभी असत्य का सहारा नहीं लेता, सदैव यथाशक्ति दूसरों की सहायता करने को तत्पर रहता है, अच्छे साहित्य के स्वाध्याय, कल्याणकारी कार्यों अथवा स्वस्थ मनोरंजन में अपने को व्यस्त रखकर गन्दे विचारों को पास फटकने नहीं देता, किसी भी व्यसन का शिकार अपने को नहीं होने देता तो इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसा छात्र ही आगे चलकर जिस क्षेत्र में भी उसे

कार्य करने का अवसर मिलेगा उसमें अग्रणी होगा तथा वही राष्ट्रदेवता का सच्चा नीराजक होगा। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा भी जीवन ऐसा ही आलोकमय बने जो दूसरों के जीवन पथ को आलोकित कर सके। पर इसके लिए तुम्हें सतत् जागरूक रहना होगा, क्योंकि एक विचारक के शब्दों में - 'सतत् जागरूकता ही स्वतंत्रता का मूल्य है।'

(नीराजन, १९७७-७८)

तुम सब लोगों के बीच न रह पाने पर भी भगवान की कृपा से नीराजन के माध्यम से तुम्हें सम्बोधित करने का अवसर मिला है। मेरे पास तुमसे कहने को कोई नई बात नहीं है, क्योंकि वास्तव में इस सूर्य प्रकाशित पृथ्वी पर नया कुछ भी नहीं है- there is nothing new under the sun. वही चिर पुरातन वेश बदल-बदल कर नये रूप में आता रहता है। मैंने अपने सम्बोधनों में जो अब तक कहा है उसी को दुहरा दूँ।

तुम माँ भारती के नीराजन हेतु इस विद्यालय में प्रविष्ट हुए हो। अधिक से अधिक पाँच वर्ष तक तुम्हें यहाँ रहना है (तब तक विद्यालय में इंटरमीडिएट नहीं था - सम्पादक)। इस बीच यह नीराजन मात्र माँ भारती का न रह कर भारतमाता के नीराजन में परिणत हो जाये - यह हम सब की साधना का लक्ष्य रहा है। इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक नीराजक में कुछ उपयुक्त गुणों का विकास हो। वे गुण हैं - प्रखर राष्ट्र-भक्ति, चारित्रिक शुद्धता, ध्येय-निष्ठा, परिश्रमशीलता एवं निस्वार्थ सेवा भावना। यह विकास सम्पन्न होता है आचार्यों की देख-रेख में, विभिन्न शारीरिक, बौद्धिक एवं भावनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा, एक अनुशासन पूर्ण शान्त वातावरण में। परन्तु स्मरणीय यह है कि ये सभी बाह्य उपादान हैं। मूल कारण तो स्वयं नीराजक ही हैं। जब तक स्वयं छात्र के हृदय में इच्छा नहीं होगी कुछ करने को, कुछ बनने को, तब तक आचार्य, कार्यक्रम और वातावरण प्रभावहीन रहते हैं। अतः यदि तुम इस विद्यालय में रहने का पूरा लाभ उठाना चाहते हो, संसार में अपना जीवन सार्थक बनाना चाहते हो, साथ ही अपने माता-पिता द्वारा अपने ऊपर व्यय किये जाने वाले धन का सदुपयोग करना चाहते हो तो अपने हृदय में इस इच्छा को प्रबल बनाओ कि मैं इस विद्यालय का एक अच्छा छात्र बनूँगा। यह इच्छा अहर्निश तुम्हारी गतिविधियों को प्रेरित करती रहे। इच्छा में बड़ी शक्ति होती है, यह सारा विश्व ईश्वर के संकल्प अथवा इच्छा से ही उत्पन्न हुआ है, व्यक्ति भी अपनी इच्छा से ही अपने भविष्य का निर्माण करता है। इच्छा जितनी बलवती होगी, उतनी मात्रा में ही वह फलवती भी होगी। इच्छा को बलवती बनाने का उपाय भी अपने ही हाथ में है। उस इच्छा पर लगातार मनन करना तथा उसके अनुसार अपने जीवन को ढालना और साथ ही उस इच्छा के प्रतिकूल विचारों को अपने अन्दर न आने देना - यही उपाय है उस इच्छा को बलवती बनाने का। मनो-विज्ञान में आत्म-निर्देश (auto suggestion) का बड़ा महत्व है। एक प्रसिद्ध पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ने आत्म-सुधार के आकांक्षी व्यक्ति को यह सलाह दी है कि वह प्रतिदिन सोने के पूर्व अपने संकल्प पर ध्यान केन्द्रित करे तथा बार-बार अपने आप से कहे कि - Every day in every way, I am getting better and better.

अर्थात् प्रतिदिन सब प्रकार से मैं अधिक से अधिक अच्छा होता जा रहा हूँ। इस आत्म निर्देशन के शब्दों में प्रत्येक नीराजक अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर वांछित फल प्राप्त कर सकता है।

आशा है मेरे सभी बाल एवं किशोर नीराजक बन्धु इस व्यावहारिक सुझाव को अपना कर अपना आध्यात्मिक जीवनस्तर उच्च से उच्च उठायेंगे।

नीराजन, १९७८-७९

यद्यपि पार्थिव रूप से मैं तुम्हारे बीच उपस्थित नहीं हूँ और न विद्यालय से मेरा प्रत्यक्ष कोई संबंध ही है, फिर भी मानसिक रूप से मेरा तुम लोगों से अटूट संबंध है।

इस विद्यालय में रहकर तुम भारतमाता के सच्चे नीराजक अथवा पुजारी बनने की तैयारी कर रहे होगे। जिस प्रकार प्रत्येक पाठ्य विषय के दो पक्ष होते हैं - सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक, उसी प्रकार इस तैयारी का

भी व्यावहारिक पक्ष है। जिन गुणों का ज्ञान तुम्हें अपनी पाठ्य-पुस्तकों अथवा आचार्यों द्वारा होता है, उनका प्रयोग अथवा उन पर आचरण भी साथ ही होना चाहिए। तभी यह पता चल पायेगा कि उन गुणों को तुमने कहाँ तक आत्मसात् किया है।

क्या तुमने कभी यह सोचा है कि जैसे वस्त्र तुम पहनते हो, जैसा भोजन तुम्हें मिलता है, जैसे भवन में तुम रहते हो एवं पढ़ते हो, संक्षेप में जैसी सुख-सुविधाएं तुम्हें मिल रही हैं, क्या वे अपने देश के सभी बालकों को मिल रही हैं? तुम्हारी आयु के पढ़ने वाले बालकों में तुम जैसे सुविधा-भोगी बालकों का प्रतिशत एक से भी कम होगा। समाज के अधिकतर बालक उन विद्यालयों में पढ़ते हैं जिनके भवन जीर्ण-शीर्ण हैं, जिनकी छतें फूस की हैं या खपरैल की, बिछाने को जिनमें टाट भी नहीं है, स्टूल तथा डेस्क की तो बात दूर है। उन बालकों में बहुतों के पास न जूते हैं और न ही सर्दी से बचने के लिए स्वेटर। उन पढ़ने वाले बच्चों के अतिरिक्त, जिन्हें कक्षा ६ तक, और कहीं-कहीं कक्षा ८ या १० तक, कोई शिक्षा शुल्क भी नहीं पड़ता, ऐसे भी बच्चों की पर्याप्त संख्या गाँवों में या शहरों की पिछड़ी निर्धन बस्तियों में है जिन्हें अपने माता-पिता की निर्धनता अथवा शारीरिक अक्षमता के कारण अपना अथवा परिवार का पेट पाने के लिए मजदूरी करनी पड़ती है अथवा अपने अभिभावकों के कार्य में हाथ बँटाना पड़ता है, जिसके कारण वे विद्यालयी शिक्षा से नितान्त वंचित रह जाते हैं।

इन बच्चों की तुलना में तुम कितने भाग्यवान् हो! पर अन्ततोगत्वा क्या इस भाग्य के लिए तुम समाज के ऋणी नहीं हो जिसके ये अभागे बालक भी अंग हैं? क्या इनके प्रति तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं है?

आस-पास की शहरी बस्ती या गाँव में छुट्टी के दिन अपने आचार्य जी के साथ जाकर जरा इन पिछड़े, निर्धन, निरक्षर लोगों के घरों को तो देखो - किन परिस्थितियों में वे अपना जीवन निर्वाह कर रहे हैं? उनके बच्चों से बातचीत करो, उनके साथ खेलो, उन्हें कुछ सामान्य ज्ञान, स्वच्छता, स्वास्थ्य अथवा सदाचरण की बातें बताओ। हो सके तो उस बस्ती या गाँव को अपने विद्यालय का 'दत्तक पुत्र' बना लो और वहाँ नियमित रूप से प्रति सप्ताह रविवार को जाकर एक प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र, अथवा केवल बालकों के लिए संस्कार केन्द्र चलाओ। उन केन्द्रों पर केवल सामूहिक खेल, कथा, सहगान, रामायण पाठ, कीर्तन आदि के द्वारा एक नवीन चेतना जाग्रत की जा सकती है। कभी-कभी उन बालकों को तुम अपने विद्यालय में खेलने अथवा भोजनार्थ बुला सकते हो। इस प्रकार तुम समाज के उस वर्ग के साथ आत्मीयता स्थापित कर सकोगे जिसके प्रति उपेक्षा दिखा कर हमने महान् पाप किया है परन्तु जो पूरे भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है तथा जिसके उत्थान के बिना राष्ट्र को 'परम वैभव' का स्थान दिलाना कोरी कल्पना होगी।

(नीराजन, १९८१-८२)

जब तुम से अपेक्षा की जाती है कि तुम भारतमाता का नीराजन करो तो इसका क्या तात्पर्य है? साधारणतः नीराजक इष्टदेव की मूर्ति के सम्मुख पुष्प, नैवेद्य आदि रखकर उसकी आरती उतारता है, उसकी स्तुति करता है। क्या तुम भी भारत-भू की किसी काल्पनिक मूर्ति अथवा मानचित्र के सम्मुख इसी प्रकार अपना भक्ति-भाव प्रदर्शित करोगे? ऐसा करने से चाहे कोई और देवता प्रसन्न हो जाये और तुम्हें आशीर्वाद दे दे, परन्तु भारतमाता इतनी शीघ्र प्रसन्न होने वाली नहीं है। जैसे काली के लिए कहा जाता है कि वह बिना बलिदान लिए प्रसन्न नहीं होती, इसी प्रकार भारतमाता भी बिना बलिदान के प्रसन्न नहीं होती। जब हम 'भारत' कहते हैं तो हमारा अभिप्राय केवल पर्वतों, वनों, नदियों तथा हरे-भरे मैदानों वाले देश से ही नहीं होता अपितु उसमें रहने वाले, विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले, विभिन्न मत-मतान्तर वाले करोड़ों लोगों से भी होता है। इतना ही नहीं तो उनकी संस्कृति, उनके इतिहास, उनकी गौरवगाथाओं, उनके महापुरुषों, उनके श्रद्धाकेन्द्रों से भी होता है। अतः भारत-भक्ति से तात्पर्य होगा इस महान देश के इस सर्वांगीण रूप से प्रेम। जब तुम प्रातः स्मरण के मंत्रों को बोलते हो तो भारत की पवित्र नदियों, उसके पर्वतों, प्राचीन नगरों, तीर्थों, सतियों, वीरांगनाओं,

महापुरुषों, सन्तों, ऋषियों, दिग्विजयी सम्राटों, कवियों आदि का भी स्मरण करते हो तथा 'सस्मृताखण्ड भारत' होकर अपनी मातृ-भू को पुनः गौरव, वैभव एवं शक्ति से सम्पन्न बनाने का व्रत लेते हो। इस व्रत का पालन प्रतिदिन किसी न किसी रूप में करने का प्रयास करना चाहिये। अपने अनध्याय के समय किसी रोगी की परिचर्या, किसी अन्धे, अपंग आदि की सहायता, किसी दीन-दुःखी के दुःख-दर्द को कम करने में सहयोग, किसी भूखे को भोजन तथा प्यासे को पानी पिलाना आदि सैकड़ों प्रकार के छोटे-छोटे कार्य हैं, जो किए जा सकते हैं। स्काउटिंग में बताया गया है कि प्रतिदिन एक भला काम (a good turn) करना स्काउट का कर्तव्य है। एक प्रकार से स्काउट का पर्याय ही नीराजक है। भारत माता की पूजा, अर्चना, नीराजन अर्थात् सेवा दोनों का ही लक्ष्य है। इस भावना को व्यावहारिक रूप देने के लिए किसी असाधारण अवसर की प्रतीक्षा मत करो। आज ही, इसी क्षण, इसको कार्यान्वित करना प्रारम्भ करो।

नीराजन, १९८२-८३

तुम लोगों को नीराजक नाम से क्यों अभिहित किया जाता है? क्या तुमने कभी सोचा है इस विषय पर? तुम किसकी नीराजना करने आये हो इस विद्यालय में? इस विद्यालय के नामकरण का इतिहास तो तुम्हें बताया ही होगा तुम्हारे आचार्यों ने। साथ ही यह भी बताया होगा कि इस विद्यालय की स्थापना किस उद्देश्य से हुई। दीनदयाल जी की जयन्ती के अवसर पर यह बताया गया होगा कि उनका सारा जीवन किस प्रकार राष्ट्र देवता के नीराजन में ही बीता। तुमसे भी यही अपेक्षा की जाती है कि उनके जीवन से प्रेरणा लेकर अपनी क्षमता के अनुसार इस विद्यालय से प्राप्त संस्कार और ज्ञान के बल पर राष्ट्र-देवता की पूजा-अर्चना में अपनी शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का उपयोग करो।

आवश्यकता इस बात की है कि तुम उस समाज से अपना तादात्म्य अनुभव करो जिसका बड़ा भारी ऋण तुम्हारे ऊपर है। तुम जो कुछ भी हो, वह हो अपने समाज की ही बदौलत। जब यह कहा जाता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है तो उसका अर्थ यही है कि उसकी सारी शक्तियों का विकास समाज में ही होता है। छोटे से बच्चों को यदि समाज से दूर रख दिया जाय तो न तो वह बोलना ही सीख पायेगा और न उसका शारीरिक एवं बौद्धिक विकास ही होगा। वह केवल जंगली पशु के समान ही बन जायेगा। अतएव अपने समाज का ऋण तुम्हारे ऊपर कितना है, यह अनुभव करने की आवश्यकता है।

आज तुम एक अच्छे विद्यालय के छात्र हो। तुम्हें भोजन, वस्त्र, मनोरंजन, अध्ययन आदि सबकी सुविधायें प्राप्त हैं, क्योंकि तुम्हारे पिता या अभिभावक इस स्थिति में हैं कि इन सुविधाओं को तुम्हारे लिए जुटा सकें। पर इन सुविधाओं को जुटाने के साधन उन्हें कहाँ से प्राप्त हुए? समाज से ही न! चाहे तुम्हारे अभिभावक वकील हों, डाक्टर हों, प्रोफेसर हों, इंजीनियर हों, सरकारी कर्मचारी हों या व्यापारी हों। आखिर उन्हें धन समाज से ही तो मिलता है। इस धन के उत्पादक कौन हैं? कारखानों में काम करने वाले मजदूर, खेतों में कड़ा परिश्रम करने वाले किसान, एक-एक ईंट चुनकर महल खड़ा करने वाले राजगीर, हाथ से काम करने वाले छोटे-छोटे कारीगर, रिक्शा-तांगा चलाने वाले आदि समाज के तथाकथित निम्न वर्ग के लोग। उन्हीं के परिश्रम के बल पर समाज चलता है। परन्तु स्वयं वे न अच्छा खा पाते हैं, न अच्छा पहन पाते हैं, न अपने बच्चों को विद्यालय भेजकर पढ़ा पाते हैं। बहुतों को तो एक समय भोजन मिलना भी कठिन है। उनके बच्चे इसलिए नहीं पढ़ पाते कि उन्हें परिवार की अपर्याप्त आय को पूरा करने के लिए मजदूरी करनी पड़ती है। शायद तुम्हें यह ज्ञात नहीं कि ५० प्रतिशत से अधिक भारतीय गरीबी की रेखा के नीचे जीवन-यापन करते हैं। क्या तुम सबका उनके प्रति कोई कर्तव्य नहीं है? यदि तुम इस समाज के ऋण से उऋण होना चाहते हो तो तुम्हें कुछ न कुछ उनके लिए करना चाहिए। क्या करना चाहिये, इसका उत्तर तुम स्वयं सोचो।

यदि सोचकर मुझको लिख सको तो मैं बड़ा प्रसन्न होऊँगा। फिर मुझे जो कुछ कहना होगा, मैं अपने अगले सम्बोधन में कहूँगा।

नीराजन, १९८४-८५

मैंने अपने पिछले सम्बोधन में तुम्हारा आह्वान किया था कि तुम समाज के प्रति अपने कर्तव्य के विषय में आत्म चिन्तन करो तथा गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन करने वालों के लिए तुम क्या कर सकते हो, इसकी अपनी योजना बनाओ और हो सके तो उससे मुझे अवगत कराओ। परन्तु मुझे खेद है कि इस सम्बन्ध में तुममें से किसी ने भी मुझसे सम्पर्क नहीं किया। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होती यदि तुममें से किसी ने इस विषय पर अपने विचार 'नीराजन' में ही प्रकाशित किये होते।

अब तक मैं तुम लोगों से दूर था। परन्तु तुम्हारे प्रधानाचार्य एवं प्रबन्ध समिति के अहैतुक स्नेह ने मुझे खींचकर तुम्हारे बीच लाकर रख दिया है। फलतः मैं विद्यालय परिसर में ही रहता हूँ। अतः मैं अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझूँगा, यदि मैं तुम्हारे जीवनोद्देश्य के निर्धारण तथा उसकी प्राप्ति के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों के निराकरण में कुछ तुम्हारा सहायक हो सकूँ।

वर्तमान सत्र तो आधे से अधिक बीत चुका है। अब तुम्हें अपनी परिषदीय एवं वार्षिक परीक्षाओं की तैयारी करनी है। अगले सत्र के लिए मैं तुम्हारे सामने दो सुझाव रखना चाहूँगा। प्रति वर्ष तुममें से कुछ लोग देश-दर्शन के लिए दूर-दूर जाते हैं। देश-दर्शन की यह यात्रा दिल्ली-आगरा जैसे ऐतिहासिक नगरों, कलकत्ता-बम्बई जैसे औद्योगिक शहरों अथवा मथुरा-वाराणसी जैसे तीर्थस्थलों तक ही सीमित रह जाती है। हम क्यों न महानगरों के कोलाहल से दूर, सभ्यता की चकाचौंधपूर्ण कृत्रिमता से अछूते, ग्रामीण, पहाड़ी अथवा वन्य क्षेत्रों में रहने वालों के जीवन का साक्षात्कार उनके बीच रहकर करें, उनसे आत्मीयता के सम्बन्ध जोड़ें। कुछ उनसे लें, कुछ उनको दें।

दूसरा सुझाव है कि हम अपने विद्यालय से ५-६ किलोमीटर दूर अथवा कानपुर महानगर की ही झुग्गी-झोपड़ी वाली किसी मलिन बस्ती को चुन लें और उसको अपना कार्य क्षेत्र बना लें। वहाँ हम प्रतिदिन एक घंटा अथवा प्रति सप्ताह दो-तीन घन्टे कुछ शैक्षिक, सांस्कृतिक, रचैनात्मक, लोक कल्याण का कार्य कर सकते हैं।

ऊपर मैंने कुछ संकेत दिये हैं। अब मैं तुमसे अपेक्षा करूँगा कि तुम इन पर विचार करो तथा अपनी एक व्यावहारिक योजना बनाकर मेरे पास भेजो। योजना ऐसी हो कि उसे हम अगले सत्र के प्रारम्भ से ही लागू कर सकें। सबसे अच्छी योजना को हम 'नीराजन' में भी स्थान देना चाहेंगे।

नीराजन, १९८५-८६

मैंने अपने पिछले सम्बोधन में तुम लोगों से आग्रह किया था कि समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए तुम स्वयं बताओ कि तुम अपना छात्र-जीवन बिताते हुए समाज सेवा का क्या कार्यक्रम अपना सकते हो। इसके लिए मैंने तुमसे लिखित सुझाव माँगे थे। परन्तु मुझे दुःख है कि केवल एक छोटी कक्षा के आवासीय छात्र ने अपने सुझाव लिखकर दिये थे कि अपना विद्यालय पड़ोस के किसी गाँव को अपना ले और उसका सघन अध्ययन कर उसकी समस्याओं का पता लगाये। तत्पश्चात् एक-एक समस्या को लेकर उसका समाधान ढूँढने का प्रयास किया जाये। इस समाधान को क्रियान्वित करने में जो छात्र रुचि लें, उन्हें इस प्रकल्प में लगाया जाय। उदाहरण के लिए शरीर से पुष्ट छात्र श्रम-दान करें अर्थात् स्वच्छता का कार्य, नाली खोदना, सड़क अथवा बाँध बनाना आदि। जो बौद्धिक कार्य में रुचि रखते हैं, वे विद्यालय न जा सकने वाले बच्चों तथा निरक्षर प्रौढ़ों को पढ़ा सकते हैं। आचार्य तथा बौद्धिक दृष्टि से अधिक विकसित ऊँची कक्षाओं के छात्र समय-समय पर ग्राम-वासियों को एकत्र कर उनके सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को कैसे उन्नत और विकसित किया जा सकता है, इस विषय पर उनको उद्‌बोधित कर सकते हैं।

इस छोटे छात्र की प्रतिक्रिया श्लाघनीय एवं अनुकरणीय थी परन्तु साथ ही एक बड़ी कक्षा के नगर में रहने वाले छात्र के इस मौखिक प्रश्न ने मुझे बड़े ही असमंजस में डाल दिया कि 'आचार्य जी, हमें समाज के

दुर्बल वर्ग के लिए चिन्ता क्यों करनी चाहिये?' यह छात्र सम्पन्न परिवार का है, पढ़ने में साधारणतः अच्छा है और अपने परिवार में ही रहता है। सहज भाव से ही उसने यह प्रश्न पूछा था, जिससे यह स्पष्ट है कि औसत छात्र का आजकल का दृष्टिकोण यही है। वह केवल कैरियरिस्ट (careerist) है अर्थात् अपने जीवन को अधिक से अधिक सुविधापूर्ण बनाना चाहता है। वह पढ़ता इसीलिए है और अच्छी से अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण होना चाहता है ताकि अच्छी नौकरी मिले, अच्छा सम्मानपूर्ण पद मिले, मासिक आय अच्छी हो, सब प्रकार की सुविधाओं से पूर्ण जीवन हो तथा अपना, और अधिक से अधिक अपने परिवार का, स्तर ऊँचा हो। उसकी और उसके परिवार वालों की यही महत्वाकांक्षा है।

परन्तु क्या जीवन का चरम लक्ष्य केवल अपने और अपने परिवार के स्तर को ऊपर उठाना अर्थात् अधिक से अधिक सुख-सुविधा का जीवन बिताना मात्र है? क्या इस प्रकार का सोच मात्र पाशविक स्तर का नहीं है? आलस्य, निद्रा, भय आदि नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ मनुष्य और पशु में समान हैं। केवल धर्म भावना अथवा कर्त्तव्य बोध ही मनुष्य को पशु से श्रेष्ठतर बनाता है। मनुष्य केवल स्वयं अपने अथवा अपने प्रियजनों के लिए ही नहीं सोचता, वह उस समाज और राष्ट्र के विषय में भी सोचता है जिसके द्वारा उसके व्यक्तित्व की निर्मिति हुई है। यदि तुम इस विद्यालय में रहकर एवं पढ़कर अच्छी शिक्षा पाते हो तो यह इसीलिए तो सम्भव हुआ कि तुम्हारे पिता जी, जो शायद डाक्टर हैं अथवा वकील हैं, तुम्हारा व्यय-भार वहन करने में समर्थ हैं। परन्तु उनकी आय का स्रोत क्या है? वह समाज ही तो है। समाज का साधारण व्यक्ति ही, जो अपने बच्चे के इलाज के लिए या किसी मुकदमे को लड़ने के लिए डाक्टर अथवा वकील की भारी फीस अपना पेट काट कर देता है तुम्हारे पिता की आय का स्रोत है। इस प्रकार तुम न केवल अपने भरण-पोषण वरन् अपने पूरे विकास-शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक के लिए अपने समाज तथा उसकी पारम्परिक संस्कृति के ऋणी हो। क्या इस ऋण से मुक्त होना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है? जिस समाज अथवा राष्ट्र ने तुम्हें सब कुछ दिया, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना, उसकी सांस्कृतिक विरासत को और अधिक समृद्ध बनाना तथा उसके उपेक्षित, निर्धन और पीड़ित वर्ग को राहत पहुँचाना क्या तुम्हारा धर्म नहीं है? इस धर्म का पालन करना ही तुम्हें पशुत्व से ऊपर उठाकर मनुष्यत्व की पदवी प्रदान करेगा। यदि तुम ऐसा नहीं करते तो तुम्हारी सारी शिक्षा व्यर्थ है।

वही समाज उन्नति करता है, वही राष्ट्र शक्तिशाली, सम्पन्न और गौरवशाली बनता है जिसके नागरिक अपने समाज के प्रति समर्पित भाव से उसकी सेवा में तत्पर रहते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए अपना सब कुछ - यहाँ तक कि प्राण भी बलिदान करने को तत्पर रहते हैं। अन्ततोगत्वा समाज की उन्नति में ही उसके घटकों की उन्नति समाहित है।

और फिर दार्शनिक दृष्टि से हम सभी उस परम पिता की सन्तान ही तो हैं। अतएव परस्पर भाई होने के नाते एक दूसरे के सुख-दुख में सम्मिलित होना हमारा कर्तव्य हो जाता है। वेदान्त तो सारी सृष्टि को ही एक ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानता है। इसीलिए दूसरे का कष्ट हमारा ही कष्ट है।

नीराजन, १९८६-८७

कक्षा ६, ७ और ८ में तुम्हें स्काउटिंग का प्रशिक्षण दिया गया होगा, जिसके द्वारा जहाँ एक ओर देश-भक्ति, समाज सेवा, सहकारिता, अनुशासन आदि गुणों के संस्कार तुम्हें दिये गये होंगे, वहीं वन-विहार, शिविर-जीवन आदि के कार्यक्रमों द्वारा जीवन की चुनौतियों का सामना करने के व्यावहारिक गुण भी तुम्हें सिखाये गये होंगे। स्काउटिंग एक प्रकार से तुम्हारे पुस्तकीय ज्ञान का आवश्यक पूरक है, जिसके बिना कोरा पुस्तकीय ज्ञान अधूरा एवं पंगु है। तुम्हारे चारित्रिक निर्माण के लिए इस प्रकार का प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है। जीवन की सफलता के लिए जिन-जिन बातों की आवश्यकता होती है, उन सभी का ज्ञान स्काउट को कराया जाता है।

स्काउटिंग एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। किसी भी देश का स्काउट हो, वह जहाँ भी जायेगा, वहाँ के स्काउट उसके साथ भाई जैसा व्यवहार करेंगे। शर्त यह

है कि वह वहाँ की भाषा जानता हो, जिसके माध्यम से वह अपना परिचय दे सके। इस प्रकार कोई भी स्काउट एक अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी का घटक होने का गर्व अनुभव कर सकता है।

एक अच्छे स्काउट को एक व्रत लेना होता है कि वह यथासम्भव प्रतिदिन एक अच्छा काम दूसरों की सहायता का करेगा- He will do a good turn to somebody daily । अच्छा काम क्या हो सकता है? वह अन्धे को भीड़ भरा रास्ता पार करा सकता है, गिरे हुए को उठा सकता है, डूबते को बचा सकता है, बीमार या दुर्घटनाग्रस्त का समाचार पुलिस को दे सकता है, जिसके जीवन की रक्षा के लिए रुधिर की आवश्यकता हो उसे अपना रुधिर दे सकता है, अस्पताल में जिस रोगी का परिचारक कोई न हो, उसकी परिचर्या कर सकता है, किसी निरक्षर व्यक्ति हेतु उसके सम्बन्धी को पत्र लिख सकता है, सड़क पर पड़े केले के छिलके को हटा कर दुर्घटना होने से रोक सकता है, ट्रेन या बस में भीड़ होने पर किसी महिला या वृद्ध पुरुष को अपनी सीट दे सकता है आदि-आदि। इस प्रकार के अगणित काम हो सकते हैं, जिनसे वह दूसरों के काम आ सकता है।

तुम कहोगे, हम तो छात्रावास में रहते हैं, हमें ऐसे अवसर दैनिक जीवन में कहाँ मिलते हैं? तुमको भी मिलते हैं। केवल तुम उनकी ओर ध्यान नहीं देते। तुम्हारा कोई साथी है। उसके सिर में पीड़ा है अथवा उसे ज्वर है। तुम्हें इसकी सूचना छात्रावास अधीक्षक को तुरन्त देनी चाहिए। तुम उसके पास बैठकर उसका सिर दबा सकते हो। उसको समय पर दवा, पानी और पथ्य देने की व्यवस्था कर सकते हो। किसी कमरे में पंखा चल रहा है, बल्ब जल रहा है, कमरे में कोई है नहीं, तो तुम स्विच ऑफ कर सकते हो तथा उस कमरे का दरवाजा बन्द कर सकते हो। पानी व्यर्थ जा रहा है जिससे टंकी के शीघ्र खाली होने का डर है। ऐसी स्थिति में तुम्हारा कर्त्तव्य है कि उसे तत्काल बन्द करो। बरामदे में कागज का टुकड़ा या मूँगफली का छिलका पड़ा है, उसे हटा सकते हो। तुम्हारा साथी या छोटी कक्षा का छात्र किसी विषय में कमजोर है, कोई प्रश्न उसकी समझ में नहीं आ रहा, तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम उसके पास बैठकर उसकी कठिनाई दूर करो। दूसरों को पढ़ाने से अपनी योग्यता बढ़ती ही है। आवश्यकता पड़ने पर अपने किसी साथी की आर्थिक सहायता भी कर सकते हो। मेरे एक मित्र ने बी.ए. परीक्षा के समय मेरी आँख आ जाने पर स्वयं पुस्तक पढ़कर मुझे सुनाई थी तथा इस प्रकार मुझे सम्बन्धित विषय की तैयारी कराई थी।

इस प्रकार तुम देखोगे कि तुम प्रतिदिन कुछ न कुछ दूसरों के काम आ सकते हो और इस प्रकार करते-करते एक दिन अपने देश और समाज के श्रेष्ठ सेवक बन सकते हो। और श्रेष्ठ सेवक ही श्रेष्ठ नेता कहलाते हैं। सभी बड़े लोग इसी प्रकार बड़े बने हैं। प्रतिदिन सोने से पूर्व सोचो- तुमने दिन में क्या-क्या किया, दूसरे की सहायता करने का कोई अवसर खोया तो नहीं? यदि खोया तो आगे के लिए सचेत बनो कि भविष्य में नहीं खोओगे।

नीराजन, १९८७-८८

इस बार मैं तरुण नीराजकों अर्थात् अपने पूर्व छात्रों को विशेष रूप से सम्बोधित करना चाहता हूँ। मैं उन्हें स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि उनका बाल एवं किशोर जीवन ऐसे विद्यालय में अध्ययन करते बीता है जिसका उद्देश्य अपने छात्रों को केवल विभिन्न शैक्षिक परीक्षाओं में गौरवपूर्ण कीर्तिमान उपलब्ध कराना मात्र नहीं है, वरन् उनको ऐसे संस्कार देना तथा उनमें ऐसे चारित्रिक गुणों का विकास करना भी है जिनके बल पर वे न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं का सामना सफलतापूर्वक कर सकें वरन् अपने समाज एवं राष्ट्र की महत्वपूर्ण सेवा भी कर सकें। हमें ऐसे तरुणों की आवश्यकता है जो व्यक्तिगत सफलता के साथ अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति जागरूक हों, जिनके हृदय में दूसरों के दुःख-दर्द के लिए कसक हो तथा उसको दूर करने की ललक भी हो। आज अपना देश जिस स्थिति में से गुजर रहा है वह अत्यन्त भयावह है। चारों ओर समस्याएं ही समस्याएं मुँह बाये खड़ी हैं - चाहे वे सामाजिक हों या सांस्कृतिक, आर्थिक हों या राष्ट्रीय एकात्मता सम्बन्धी। इनकी जानकारी रखना तथा अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार उनमें से एक-दो का चयन

कर उनका निराकरण करने के लिए संघर्षशील होना प्रत्येक देशभक्त तरुण का पावन कर्त्तव्य है। उदाहरण के लिए तुम आये दिन समाचार पत्रों में दहेज की बलिवेदी पर नवपरिणीता वधुओं के बलिदान के समाचार पढ़ते हो। किस प्रकार अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के नाम पर वर का पिता अपने पुत्र के लिए ऊँची से ऊँची धनराशि पर सौदा करता है, मानो वह विक्रेय पशु हो और अपेक्षित राशि न मिलने पर उस निरीह निर्दोष युवती को सास, ससुर, ननद आदि अमानुषिक यातना देकर मार डालते हैं। यदि इस प्रकार की घटनाओं के प्रति हम संवेदनशील नहीं होते तो हमारी सारी शिक्षा व्यर्थ है। अभी कल ही की तो बात है, तुम लोगों ने कानपुर के समाचारपत्रों में पंखे से लटकती हुई तीन सुन्दर नवयुवतियों की लाशों का हृदयद्रावक फोटो देखा होगा। वे १८ से २४ वर्ष तक की आयु की सगी बहनें थीं। ऊँचा दहेज देने में पिता की असमर्थता के कारण उनका विवाह हो नहीं पा रहा था। इसलिए अपने पिता की चिन्ता को सदैव के लिए मिटाने हेतु उन्होंने इस क्रूर प्रथा की वेदी पर अपने जीवन का बलिदान कर दिया। यह दहेज प्रथा हिन्दू समाज का कितना बड़ा कलंक बन गई है। क्या हमारे नवयुवक इतने संवेदनाशून्य हो गये हैं कि वे इस लज्जाजनक कलंक को अपने दृढ़-संकल्प से मिटा नहीं सकते? अवश्य मिटा सकते हैं। किस प्रकार? यह तुममें से ही एक के अनुकरणीय उदाहरण से स्पष्ट करना चाहता हूँ।

विद्यालय के पड़ोस में ही एक शिक्षित संभ्रान्त परिवार रहता है। उस परिवार के एक युवक का नाम है प्रतिपाल सिंह। उसने दीनदयाल विद्यालय से ही १९७६ में हाईस्कूल परीक्षा पास की थी। विद्यार्थी रूप में वह सामान्य ही था। बी.एससी. पास करके उसने नौकरी नहीं की। तकनीकी काम में उसकी रुचि थी। उसने फ्रिज रखने की लकड़ी की चौकियाँ बनाने का काम प्रारम्भ कर दिया और इस व्यापार में उसने उल्लेखनीय प्रगति की। उसके घरवालों ने एक सम्पन्न परिवार से उसका विवाह सम्बन्ध तय किया और उससे कहा कि लड़की को देख लो। उसने माँ-बाप से कहा कि आप जो भी परिवार तथा लड़की देखेंगे मुझे वे स्वीकार होंगे। जब सम्बन्ध निश्चित हो गया तो उसने अपने माता-पिता से कहा, 'आपने जो परिवार चुना है तथा जो कन्या मेरे लिए निश्चित की है, मुझे स्वीकार है, परन्तु अब मेरी भी कुछ शर्तें हैं जो आपको माननी होंगी'। उन्होंने आश्चर्य से पूछा, 'क्या हैं वे शर्तें?' प्रतिपाल बोला, दहेज का एक भी पैसा न लिया जाये, पाँच आदमी से अधिक बारात में न जायें और बाजा, रोशनी, सजावट आदि पर व्यर्थ का व्यय न हो। सीधा-सादा धार्मिक कृत्य हो। इस प्रकार यह दहेज-रहित शुद्ध सात्विक विवाह प्रतिपाल सिंह का सम्पन्न हुआ, जो तुम सभी विवाहेच्छुक तरुणों के लिए अनुकरणीय है।

क्या जो प्रतिपाल ने किया, वह अन्य तरुण नीराजक करके दिखायेंगे?

नीराजन, १९९९-९०

जब से 'नीराजन' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिसे कदाचित् १७ वर्ष हो चुके हैं, मैं लगातार इस स्तम्भ में कुछ न कुछ लिखता आया हूँ। इस विद्यालय के प्रधानाचार्य के रूप में तो 'नीराजन' से मेरा नाता १९७६ से ही टूट गया था, परन्तु तुम्हारे वर्तमान प्राचार्य तथा मेरे अनन्य बन्धु एवं सहयोगी श्री ओमशङ्कर त्रिपाठी के सदाग्रह पर मैं पत्रिका के प्रत्येक अङ्क हेतु अपना सम्बोधन भेजता रहा हूँ। कभी-कभी मैं अपने से पूछता हूँ कि तुम में से कितने इस सम्बोधन को पढ़ते होंगे? पढ़ने वालों में से कितने उस पर ध्यान देकर उसको समझने की चेष्टा करते होंगे? और ध्यान देने वालों में से कदाचित् ही कोई उसके अनुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयास करता होगा।

मैं वास्तव में अपने को कृतकृत्य समझूँगा, यदि एक भी तुम में से मेरे किसी सुझाव को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करे।

तुलसी के इस कथन से मैं अक्षरशः सहमत हूँ कि 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे। मैं तो अपने को पर उपदेश देने में भी कुशल नहीं मानता। परन्तु जब मुझसे तुम लोगों के प्रति कुछ कहने को कहा जाता है तो उस समय अपने लम्बे अनुभव के आधार पर जो भी विचार उभर कर आता है उसे तुम

लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास करता हूँ।

बहुधा मैं तुम लोगों को विद्यालय में आने वाली पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ते हुए देखता हूँ। अधिकतर छात्र क्रिकेट सम्बन्धी समाचारों, पहेलियों, व्यंग्य-विनोद, चुटकलों, कहानियों आदि को ही पढ़ते हैं। अखण्ड ज्योति, राष्ट्रधर्म, कादम्बिनी अथवा पाञ्चजन्य जैसी गम्भीर पत्रिकाओं को तो शायद ही कोई पढ़ता हो। धर्मयुग और साप्ताहिक हिन्दुस्तान को तो केवल उनके रंगीन आकर्षक चित्रों के लिए उलट-पलट लेते हैं। बहुत हुआ तो 'प्रतियोगिता दर्पण' को वे छात्र ही पढ़ते हैं जो किसी प्रतियोगिता की तैयारी में संलग्न हैं। पुस्तकालय का सदुपयोग तो कोई-कोई छात्र ही करता है, जबकि पुस्तकालय में एक से एक बढ़कर विभिन्न विषयों की पुस्तकें हैं।

इस विद्यालय में पढ़कर ससम्मान कक्षा उत्तीर्ण करना ही तुम्हारा जीवनोद्देश्य नहीं है। अपनी पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ जीवनोपयोगी साहित्य के अध्ययन की भी तुम्हें आवश्यकता है। हल्की मनोरंजक पाठ्य सामग्री के अतिरिक्त कुछ गम्भीर विचारोत्तेजक अध्ययन भी तुम्हारे भविष्य निर्माण के लिए उपादेय होगा। महत्वपूर्ण सामयिक घटनाओं से तुम्हें अवगत होना ही चाहिये। राष्ट्र के सामने जो ज्वलन्त समस्यायें हैं उन पर सम्पादकीय लेख अथवा प्रमुख विचारकों की टिप्पणियाँ भी पठनीय होती हैं। तुम राष्ट्र के भावी नागरिक हो। तुम्हें अपने भावी कर्त्तव्यों और दायित्वों की दृष्टि से भी अपनी तैयारी करनी है। अच्छी पुस्तकें हमारी 'never-failing friends (कभी धोखा न देने वाले मित्र)' हैं। इन मित्रों के चयन में तुम्हारे आचार्य सदैव सहायता हेतु तत्पर हैं। केवल तुम में जिज्ञासा की तीव्रता की आवश्यकता है।

नीराजन, १९९०-९१

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक महत्व की बात है - जिस कार्य में हम सफलता चाहते हैं उसका उद्देश्य होना। बिना उद्देश्य के हमारी मानसिक, बौद्धिक अथवा शारीरिक गतिविधियों को न उपयुक्त दिशा मिल पाती है और न उनमें तीव्रता आ पाती है। जैसे सूर्य की किरणें जब एक बिन्दु पर पड़ती हैं तो वे कड़े से कड़े पदार्थ में छेद बना सकती हैं, उसी प्रकार अपनी मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों का उपयोग जब हम उन्हें एक विशेष उद्देश्य पर केन्द्रित करके करते हैं तो हमें सफलता निश्चित रूप से मिलती है। तुमने अपने अध्ययन में देखा होगा कि जब परीक्षा निकट आती है तो तुम अपना सारा समय और अपनी सारी ऊर्जा अपने पाठ्य विषयों को तैयार करने में लगा देते हो और परिणाम होता है कि तुम अभिलषित अङ्कों से परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हो। जितने अधिक मनोयोग से तुम अपनी बौद्धिक ऊर्जा को अपने अध्ययन पर केन्द्रित करते हो उतनी मात्रा में तुम्हें सफलता प्राप्त होती है। यही सूत्र जीवन के अन्य क्षेत्रों में सफल होने के लिए भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्देश्य हमारी गतिविधियों को न केवल एक दिशा देता है वरन् उन्हें केन्द्रित कर अधिक सक्षम बनाता है।

जितना ऊँचा हमारा उद्देश्य होगा उतनी ही मूल्यवान हमारी सफलता समझी जायेगी। अतएव हमारा उद्देश्य ऊँचा एवं उदात्त होना चाहिये। उच्च अथवा उदात्त उद्देश्य से क्या तात्पर्य है? जो काम हम अपने स्वयं के अथवा अपने परिवार के लिए करते हैं वे साधारण कोटि के हैं। वे पाशविक हैं, क्योंकि पशु भी तो ऐसा ही करता है। पशु और मनुष्य में क्या अन्तर है? जहाँ तक मनुष्य पशुओं के समान आहार, निद्रा भय और सन्तानोत्पत्ति जैसी सहज प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर भौतिक सुख प्राप्त करने हेतु कार्य करता है वह भी पशु ही है। वह मनुष्य तभी कहलाता है जब मनन पूर्वक, सदसत् का विचार कर अपने सीमित 'स्व' के ऊपर उठकर वह धर्म का आचरण करता है, क्योंकि मनुष्य 'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः'। धर्म का अर्थ है - परहित, समाजहित, राष्ट्रहित, मानवमात्र का हित, सम्पूर्ण सृष्टि का हित। 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' - गोस्वामी तुलसीदास का कथन है। जैसे-जैसे हम अपने संकीर्ण 'स्व' की परिधि को विस्तृत करते हुए सारी सृष्टि के हित की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे मनुष्यता के सोपान पर अग्रसर होते जाते हैं।

अभी तो तुम्हें यही दृष्टि में रखना है कि तुम अच्छे इंजीनियर, डाक्टर, अधिवक्ता, वैज्ञानिक, प्राध्यापक, व्यवसायी अथवा राजनीतिक बनना चाहते हो तो तुम्हारा

उद्देश्य अथवा लक्ष्य केवल अपना अथवा अपने परिवार की सुख समृद्धि नहीं वरन् अपने समाज एवं राष्ट्र की सुख समृद्धि तथा गौरव वृद्धि होना चाहिए।

नीराजन, १९९१-९२

मैं तुम्हें 'नीराजक' क्यों कहता हूँ ? आज इसका भी उत्तर देने का मन है मेरा। जब से यह पत्रिका प्रकाशित होनी प्रारम्भ हुई है, तभी से लगातार इस स्तंभ के द्वारा मैं तुम्हें सम्बोधित करता रहा हूँ। नीराजन का अर्थ होता है पूजन अथवा अर्चन। इस प्रकार नीराजक का अर्थ हुआ पूजक अथवा अर्चक। तुम किसके नीराजक हो? किस देवता की नीराजना प्रतिदिन करते हो? निस्संदेह बिना किसी हिचक के तुम कहोगे - देवी सरस्वती की तथा रामभक्त हनुमान की। एक विद्या की देवी है, जिससे हम छात्र अपने मुख्य उद्देश्य विद्योपार्जन में सहायता चाहते हैं तथा दूसरा शारीरिक एवं बौद्धिक बल का देवता है, जिससे हम आशा करते हैं कि वह हमें कठिन से कठिन परिस्थितियों से उबार सके।

हनुमान जी का जीवन तो अतुलनीय शारीरिक बल, अपार बौद्धिक क्षमता तथा अगाध भगवद् भक्ति का आदर्श है। उनसे हम ब्रह्मचर्य व्रत के पालन, शारीरिक बल को उत्तरोत्तर बढ़ाने, अत्याचारियों का दमन करने, दूसरों की प्राणपण से सहायता करने को तत्पर रहने तथा निष्काम भाव से प्रत्येक कार्य को भगवदर्पण करते हुए सम्पन्न करने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

सभी देवता उस परोक्ष, निर्गुण निराकार महाशक्ति को बुद्धिगम्य करने के साधन मात्र हैं। बिना उस महाशक्ति को कोई आकार दिये हम उसका चिंतन नहीं कर सकते और बिना उसका चिंतन किये हम न उससे प्रेरणा ले सकते हैं, न कुछ प्राप्त कर सकते हैं। वास्तव में हम भी तो उसी महाशक्ति के अंश हैं। जितना ही हमारा संकल्प दृढ़ होगा उतनी ही सफलता हमें अपने उद्देश्य की प्राप्ति में मिलेगी, क्योंकि सभी सफलताओं का स्रोत वही है।

ऊँचे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तुम्हारा संकल्प भी प्रबल होना चाहिए और साधना भी अप्रतिहत। संकल्प को दृढ़ता प्रदान करने एवं साधना को अप्रतिहत बनाए रखने हेतु ही तुम्हारी प्रतिदिन माँ शारदा एवं आंजनेय के समक्ष होने वाली नीराजना (आरती) सार्थक होनी चाहिए नहीं तो केवल औपचारिक रूप से देवता को दीप दिखाना निरर्थक ही होगा।

सरस्वती देवी की कृपा से तुम लोगों ने अपनी परीक्षाओं में ऊँचे-ऊँचे स्थान प्राप्त कर विद्यालय को गौरव प्रदान किया है, जिसके फलस्वरूप प्रदेश में उसका सर्वोच्च स्थान है। परन्तु अपने चारित्रिक एवं सामाजिक गुणों द्वारा भी तुम्हें अपने विद्यालय का नाम करना है। तुम्हारे जीवन में न केवल महाराज मनु द्वारा बताये गये धर्म के दस लक्षणों की छाप हो, वरन् अनुशासन, उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य बोध, राष्ट्रप्रेम, सेवाभावना आदि सामाजिक गुणों का पूर्ण विकास भी हो। यही हम आचार्यों की कामना है।

नीराजन, १९९३-९४

तुम लोग जिस आयु से गुजर रहे हो उसकी अपनी कुछ विशेषतायें हैं, जिन पर न केवल तुम्हारे आचार्यों एवं अभिभावकों को ध्यान देना चाहिए, वरन् तुम्हें भी उनको याद रखना चाहिए।

चाणक्य नीति दर्पण का एक प्रसिद्ध श्लोक है -

'लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे, पुत्र मित्रवदाचरेत्।'

आज के बड़े से बड़े मनोवैज्ञानिक को भी इस श्लोक के भावार्थ पर कोई आपत्ति नहीं होगी। केवल उसके अनुसार लालन, ताड़न और मित्रवत् व्यवहार की समय सीमाओं तथा इन शब्दों के तात्पर्य में कुछ अन्तर हो सकता है। यह बच्चे के शारीरिक एवं मानसिक विकास पर निर्भर होता है।

बाल्यावस्था (जो प्रायः छठे वर्ष में आरम्भ होती है) में लालन के साथ थोड़े ताड़न की भी आवश्यकता होती है। ताड़न का अर्थ शारीरिक दण्ड ही नहीं है। ताड़न का अभिप्राय बालक को अनुशासन में रखने से है, जो शारीरिक के अतिरिक्त मानसिक, वाचिक एवं भावात्मक भी होता है। इस अवस्था में बालक अपनी ऊर्जा के

प्रकटीकरण हेतु पूरी आजादी चाहता है, जो बहुधा गलत दिशा में चली जाती है। इसीलिए इस पर नियंत्रण की आवश्यकता होती है। परन्तु यह नियंत्रण उतना ही होना चाहिए जितना बालक सहन कर सके, ताकि नियंत्रणकर्ता के प्रति उसके हृदय में जो आदर है वह यथावत् बना रहे। यह तभी सम्भव है जब दण्डदाता आवेश अथवा क्रोध में अपना मानसिक सन्तुलन न खोये।

बाल्यावस्था में आदतों का निर्माण होता है। अच्छी आदतों के निर्माण के लिए बड़ों का स्वयं का आचरण, सही मार्गदर्शन तथा समुचित नियंत्रण अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। इस आयु में बालक की अनुकरण करने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। यदि इस समय कोई बुरी आदत पड़ गई तो उससे जीवन भर छुटकारा पाना कठिन हो जायेगा। इसीलिए कभी-कभी विवेकपूर्ण अनुशासन की आवश्यकता होती है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में तो विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक बताया गया है कि वह गुरुकुल में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ, सभी सांसारिक सुखों से दूर, गुरु की सेवा करता हुआ विद्याध्ययन करे। 'विद्यार्थिनः कुतः सुखम् (विद्यार्थी को सुख से क्या मतलब)' के आदर्श का पालन करे। आज के विद्यार्थी से इस प्रकार के कठोर जीवन का पालन करने की अपेक्षा नहीं की जाती, परन्तु उसको अपने आचार्यों के मार्गदर्शन में आवश्यक अनुशासन का पालन तो करना ही चाहिए। विद्या प्राप्ति के लिए अनुशासन तथा अनुशासन-पालन के लिए आचार्य के प्रति श्रद्धा आवश्यक है।

जब बालक सोलहवें वर्ष में प्रवेश कर किशोर कहलाने के योग्य हो जाता है तो उसमें शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। वह अपने को पूर्ण विकसित मानव समझने लगता है, यद्यपि वह ऐसा अभी होता नहीं। उसमें आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता आ जाती है। उसे सभी प्रकार के नियंत्रण खलने लगते हैं। प्रत्येक बात के लिए वह क्यों और कैसे सोचने लगता है। अपने से बड़ों की बात को भी तर्क की कसौटी पर कसने लगता है। इसीलिए बड़ों को, विशेष रूप से माता-पिता और बड़े-बूढ़ों को, चाहिए कि उसके साथ मित्रवत् व्यवहार करते हुए, उसे सन्मार्ग पर लाने हेतु जो कुछ कहना आवश्यक हो वह तर्कसंगत और शास्त्र सम्मत हो। तभी किशोर उसे ग्रहण करेगा, अन्यथा उसके उद्दण्ड हो जाने की सम्भावना हो जाती है। जो बात उस पर बलात् लादी जायेगी, उसका वह विरोध करेगा। विद्रोह करना, विशेषतः लादी हुई व्यवस्था का, किशोर का स्वाभाविक गुण होता है।

किशोर बालक अपने से बड़ों के बजाय अपने समवयस्कों से स्वभावतः अधिक निकट सम्बन्ध स्थापित कर उनसे न केवल प्रभावित होता है वरन् उनको प्रभावित भी कर लेता है। उनमें भी समान रुचि वालों से उसका सहज सामीप्य स्थापित हो जाता है। आचार्यों में भी किशोर छात्र उसी आचार्य अथवा गुरुजन से अधिक प्रभावित होता है तथा उसकी बात मानता है जो उससे निश्छल स्नेह एवं निष्कपट व्यवहार करता है, जिसका आचरण उसकी दृष्टि में आदर्श है तथा जिसके प्रति उसके हृदय में विश्वास है कि जो वह कहेगा अथवा करेगा वह छात्र के लिए हितकर ही होगा।

किशोरावस्था में स्वाभिमान विशेष रूप से जाग्रत हो जाता है। सामान्यतः बाहर वालों तथा अपने से छोटों के सामने किशोर बालक अपना अपमान सहन नहीं कर पाता। इसके साथ ही बड़ों का पक्षपातपूर्ण व्यवहार भी उसे असहनीय हो जाता है। इसीलिए पक्षपातपूर्ण अथवा तर्करहित आदेशों की अवहेलना करना किशोरों का स्वभाव बन जाता है। परन्तु इस प्रकार की अवहेलना करने से पूर्व किशोरों को अपने परिवार अथवा विद्यालय की प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुए कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिससे अपयश हो। बड़े से बड़े व्यक्ति में दोष होते हैं, परन्तु तुम्हें उन पर दृष्टि न रखकर उनके द्वारा प्रतिपादित आदर्शों में निष्ठा रखनी चाहिए। तभी तुम अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हो तथा उस संकल्प को पूरा कर सकते हो जो तुम विद्यालय को छोड़ते समय लेने वाले हो अथवा ले चुके हो।

अपनी बात

तेरी, मेरी, उसकी बात नहीं, अपनी बात। नीराजन के संपादकीयों में ध्वनित विद्यालय परिवार की भावना का समवेत स्वर। इनमें आपको मिलेंगी सम्पादकों के विविध व्यक्तित्वों की छाप छोड़ती अनेक भावनायें, विद्यालय के विकास और लक्ष्य तक पहुँचने का दृढ़ संकल्प, गुरुओं का अन्तर्वेषण (introspection), कवियों का फक्कड़ाना अंदाज, शोधार्थियों का विश्लेषण, तथा छात्र सम्पादकों का अदम्य उत्साह और आत्मविश्वास।

नीराजन १९७१-७२ — सम्पादक - ओमशङ्कर

बीसवीं शती के इस बुद्धापे में उगते ये अंकुर, समस्याओं के उष्ण जल से सिंच कर कुछ रुक्ष, कुछ विकृत तथा कुछ हिचकते हुए से बढ़ते देख कर संवेदनशीलता सहज ही फफक उठती है, क्योंकि यह भारत की नवांकुरित पौद है। स्नेह के स्थान पर उपेक्षा, विश्वास की ओट में प्रतारणा, संयम के अवगुण्ठन में कुत्सा, और न जाने किन-किन सुकोमल मनोवृत्तियों के परिवेश में कार्कश्य की पर्तें टकरा-टकरा कर उसे किस रूप में प्रस्तुत कर रही हैं, यह मर्मज्ञों से छिपा नहीं।

समस्यायें प्राक् समय में भी रही होंगी। प्राचीन काल इनसे अछूता नहीं था। मध्यकाल में भी अनेक बवंडर विभीषिकाओं को लेकर आते रहे, टकराते और चूर भी होते रहे, किन्तु आज की समस्याओं के स्वरूप ही कुछ भिन्न से दीखते हैं। उनके मनोरम परिवेश में क्रूरता ऐसी छिपी पड़ी है जैसे विषकन्याओं में विष। उनको समझकर आज का चिंतन घबराया हुआ, विचार शिथिल और अनुभव मिथ्या से प्रतीत होने लगे हैं। कभी-कभी तो ज्ञान पर अज्ञान की विजय-भेरी स्पष्ट सी सुनाई देने लगती है।

किन्तु क्या यही सत्य और ऋत् है? क्या सत्य की परिभाषा ही बदलनी होगी? क्या विश्वासों को नया संबल खोजना होगा? क्या विध्वंस ही सृजन को दिशा देगा? ऐसा नहीं होगा!

यह भारत है। ईश्वर की लीला-भूमि। समस्याओं की निर्मिति और परिष्कार दोनों ही यहाँ कुछ ऐसे नाटकीय ढंग से होते रहे हैं, जिन पर आशा न होते हुए भी विश्वास करना ही पड़ता है।

यह भारत है। पौरुष और पराक्रम का अतुलित भण्डार, जहाँ अपरिमेय शक्ति समय आने पर सहज ही प्रस्फुटित हो उठती है और शमन के साथ साथ दमन भी करने में संकोच नहीं करती।

यह भारत है। श्रद्धा और स्नेह का, आशा और विश्वास का महिमा-मण्डित धाम, जहाँ जन-जीवन का प्रत्येक अंश सदा सर्वदा पुलकित रहा है और आशान्वित करता रहा है समग्र विश्व को।

यह भारत है, जहाँ अक्षयवट और कल्पवृक्ष आदर्श रहे हैं, जिनकी सत्ता प्रलयकाल में भी मिटती नहीं, सिमटती नहीं और देती रही है प्रेरणा नश्वर संसार को।

धैर्य का संबल, विश्वासमय प्रेरणा, श्रद्धा और स्नेह का पाथेय लेकर हम शाश्वत सुनहरा प्राची की ओर बढ़े हैं। विश्वास है, बढ़ेंगे। त्याग है, सफल होंगे। संतोष है, बढ़ते रहेंगे।

आज नीराजन करने की उत्सुकता इन कोमल कलियों में आई है। सम्भवतः इतिहास-पुरुष का नेत्रोन्मीलन हो अथवा सृष्टि-पुरुष की स्वाभाविक प्रेरणा। कुछ भी हो, यह कालोच्छिन्न प्रेरणा-मूर्ति का चिंतन, स्तवन और वंदन है।

नीराजन का प्रथम पुष्प, पहली बाती और पूर्ण शक्ति-समन्वित अर्चना गीत उस अलौकिक प्रेरणा को सभक्ति।

अव्यवस्थित व्यवस्थायें, विशृंखलित श्रृंखलायें (वैचारिक अथवा व्यावहारिक), दुविधा-युक्त विधायें (साहित्यिक, सामाजिक अथवा यान्त्रिक), तमसाच्छन्न प्रकाश की ये तैलाक्त रश्मियाँ क्या वास्तव में हमारी इस और उस पीढ़ी की पगंडडियों को प्रकाशित एवं चौराहों को विस्तारित और सुस्पष्ट करने में सक्षम हैं?

क्या आज भी 'अन्तर्निहित शक्तियों' के विकास का स्मरण (थोड़ा सा भी) किसी द्रोणाचार्य अथवा धौम्य को है?

क्या अभी भी शिक्षा (education) और प्रशिक्षण (training) का अन्तर हमारे चाणक्यों को स्मरण है? अथवा अर्जुन, आरुणि एवं चन्द्रगुप्त ही सम्पूर्ण दोषों का पिटारा अपने माथे पर धरे घूम रहे हैं?

प्रश्न जलते हुए हैं। सहसा असावधानी से स्पर्श करने पर पीड़ा ही प्राप्त होगी, प्रकाश नहीं। अतः उठें, देखें। बाहर ही नहीं, भीतर भी। अब भी रस है, अमृत भी है, किन्तु कर्म साध्य, आलालोचन-साध्य।

कर्म-मार्ग बड़ा कण्टकाकीर्ण है, इसमें संदेह नहीं। बाहरी काँटे तो तनिक प्रयास से निकल जाते हैं और थोड़े समय में उनका प्रभाव भी, किन्तु कभी-कभी आन्तरिक काँटे भी चुभने लगते हैं, जिनका निकलना और निष्प्रभावी होना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

तो क्या हार बैठेंगे? यात्रा ही स्थगित हो जाएगी? अरमान मन के मन में ही उमड़ते रहेंगे? नहीं, दृढ़व्रती मनुपुत्र! ऐसा नहीं होगा।

हम उठेंगे, चलेंगे, बढ़ेंगे और बढ़ते रहेंगे। कब तक? अनन्तकाल तक। ज्ञान के सारथी को उठायें, कर्म की वल्गायें हिलायें, भाग्य के घोड़े केवल चलेंगे ही नहीं, दौड़ेंगे भी। और विश्वास रखें, जितनी जल्दी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, उससे पहले ही अपने लक्ष्य केन्द्र पर पहुँच जायेंगे।

निस्सन्देह यह हमारा विश्वास है, प्रयोग और परिणाम भी।

इसी विश्वास के साथ यह द्वितीय नीराजन पुष्प आपकी अप्रतिम मेधा और जागरूक चेतना को सादर समर्पित।

नीराजन की तृतीय आवृत्ति। बाह्य रूप में वही पत्र-पुष्प, धूप-दीप; किन्तु सर्वथा नया रूप, नये रंग, नवल गन्ध और अभिनव ज्योति। हो भी क्यों न? हम सभी नित नयी सृष्टि के विधायक जो हैं।

द्वितीय अङ्क में हमने द्रोण, धौम्य और चाणक्य को ही दोषी ठहराकर आज के गुरुओं को झंकृत करने का एक प्रयास मात्र किया था। यह प्रयास केवल 'नीराजन' तक ही सीमित न रखकर व्यवहार जगत के अर्जुन, आरुणि और चन्द्रगुप्तों के जीवन-क्रमों में भी उतारने का प्रयास किया है। प्रयास, मात्र प्रयास ही नहीं, एक सफल प्रयास।

इन प्रयासों के अन्तर्गत ही हमने आज के किशोर के पुरानी पीढ़ी के प्रति आक्रोश को सही दिशा देने के लिए किशोर-भारती व बाल-भारती जैसी जीवन्त संस्थायें स्थापित कीं, जिनके अन्तर्गत विभिन्न महापुरुषों की जयन्तियाँ, कथा-कहानी एवं काव्य-लेखन प्रतियोगितायें, सुलेख-प्रतियोगिता, मशीनी उपकरण बनाने की प्रतियोगिता, भाषण, निबंध, कविता-पाठ, अन्त्याक्षरी एवं इसी प्रकार की अनेकविध प्रतिस्पर्धात्मक प्रवृत्तियों को जाग्रत करने वाले कार्यक्रमों का आयोजन एवं प्रोत्साहन हेतु पुरस्कार आदि वितरण भी किया। इन सभी आयोजनों में आचार्यों का केवल वानप्रस्थी मार्ग-दर्शन ही रहा, इनमें 'हस्तक्षेप' बिल्कुल नहीं।

इन्हीं प्रयासों के अन्तर्गत देश-दर्शन कार्यक्रमों के आयोजन भी अत्यन्त प्रेरणादायी सिद्ध होते रहे हैं। आचार्य और शिष्य मर्यादित भाव से कन्धे से कन्धा मिलाकर उन दुर्गम मार्गों एवं दुःसाध्य कर्मों को सरल करने में सफल होते देखे जा सकते थे, जिसकी आज के युग में कल्पना भी कठिन लगती है।

छायाङ्कन, लक्ष्यभेद, सन्तरण आदि भौतिक विकासों के साथ ही आध्यात्मिक उन्नति हेतु सदाचरण-शिक्षण एवं उसका व्यावहारिक प्रयोग भी हमारी एक अनुपम उपलब्धि है।

विभिन्न संस्थाओं में आयोजित निबंध लेखन, वक्तृत्व एवं कला प्रतियोगिताओं में भी हमारे आशादीपकों ने सर्वोत्कृष्ट एवं उत्कृष्ट स्थानों को प्राप्त कर हमारे उत्साहवर्द्धन में पूरा सहयोग दिया है।

इसी प्रकार ऐसे अनेक कार्यक्रम एवं आयोजन हमारे द्वारा चलाए जा रहे हैं, जिनके परिणाम आज के इस निराशाजनक वातावरण में भी बड़े आशाप्रद प्रतीत हो रहे हैं। हमारे इस नीराजन में भी उन नीराजकों के सर्वथा मौलिक नहीं तो मधुमक्खी के शहद की भाँति मौलिकता एवं उसी की भाँति मधुरता का दावा रखने वाले रचना-उपचारों का परिचय प्राप्त कर विशेष आनन्दानुभूति न सही फिर भी एक आशा, एक विश्वास तथा एक सन्तोष आपको अवश्य प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं।

अपने आराध्य के श्री चरणों में समर्पित करने के लिए 'नीराजन' का चतुर्थ पुष्प लेकर हम फिर प्रस्तुत हैं। हमारे अधरों पर स्मित, चरणों में दृढ़ता और अन्तर में विश्वास की उर्मियाँ हिलोरे ले रही हैं, क्योंकि हमारे आदर्श हमको सिखा गये हैं कि सांसारिक झंझा हमारी परीक्षा के विषय तथा हमारा धैर्य उस परीक्षा का उपकरण, उपादान है।

द्वितीय पुष्प के साथ हमने कहा था कि आज द्रोण, धौम्य और चाणक्य ही स्वयं के अन्तर्तम में झाँकें, समस्याओं का हल स्वतः प्राप्त हो जायेगा। तृतीय पुष्प के साथ हमने इस दिशा में किये गये प्रयासों की कतिपय फलवती उपलब्धियाँ भी दर्शायी थीं और आज अपने इस चतुर्थ सुमन की सुगन्धि में ही अपने स्वरों को तरङ्गायित करते समय हम पूर्ण आश्वस्त हैं कि हमारे अर्जुन, आरुणि तथा चन्द्रगुप्तों ने हमारी अपेक्षाओं को शतधा भास्वर बनाकर हमें तोष प्रदान किया है, जिसका विस्तृत विवरण प्राचार्य श्री ने अपनी आख्या में प्रस्तुत किया है।

राष्ट्रीय स्पंदनों के साथ ही हमारा यह विद्या-केन्द्र भी उसी प्रकार स्पंन्दित हुआ है, जिस प्रकार अङ्गइंकृति के साथ ही रोम सहज ही कण्टकित हो उठते हैं; किन्तु हम स्पष्ट कर चुके हैं कि धैर्य हमारा चिर-सहचर है, अतः अपने लक्ष्य में हमारा डिग जाना असम्भव है। हमारा तो परम साध्य अपनी समस्त व्यक्तिगत शक्तियों को विधिवत् अर्जित कर भारत माता के श्री चरणों में समर्पित कर देना ही रहा है, आज भी है और कल भी यथावत् रहेगा।

'अनुशासन' हमारा प्राण और 'व्यवस्था' हमारी जीवन-शैली है। इसी भाव को सहस्रशः जाग्रत करने का उपक्रम हम करते चले आ रहे हैं। विनम्र निवेदन उस परम पिता से है कि हमें शक्ति दे, विवेक और साहस भी, जिससे कि हम उस दुर्गम मार्ग को पार करते हुए अपने दिव्य लक्ष्य तक पहुँच जायें, जिस पर लोग प्रायः ही भटक जाया करते हैं।

नीराजन के पुराने अङ्कों की भाँति ही इसके संबंध में भी हमारा निवेदन यही है कि रचनाओं में रचनाकारों की सर्वथा मौलिकता का दम्भ तो नहीं, पर उनमें उनकी मधुमक्षिका-वृत्ति पर विश्वास अवश्य करना पड़ेगा।

अन्त में प्रस्तुत हैं आपके अपने ही उगते अंकुरों एवं उनके सिंचन-कर्ता मालियों के हृदयस्थ भाव, जिन्हें दोनों ने मिल-बैठकर चाव से सँवारा-सजाया है।

अपनों के प्रति

नीराजन का पंचम पुष्प। जाने कितने झंझाओं को झेलकर म्लान, विक्षत और कुछ-कुछ रुक्ष भी। कारण हमारे पाठक बन्धुओं को ज्ञात ही है। सारा देश ही विगत २२ महीने तक किसी गहनतम में भटक रहा था; फिर हम नीराजक इससे अछूते कैसे रह सकते थे? अभी-अभी ११ अप्रैल, १६७७ को हम कांग्रेस सरकार द्वारा लगाये गये प्रतिबंध से मुक्त हो पाये हैं। 'नीराजकों से' शीर्षक के अन्तर्गत अपना प्रेरक संदेश देने वाले हमारे आदर्श प्राचार्य श्री चन्द्रपाल सिंह जी उसी 'दुःशासन' की चपेट में अपने परिवार से अलग कर दिये

गये। हमने प्रयास किया कि उनका संदेश पुनः प्राप्त हो जाये; किन्तु समयाभाव ने हमको सफल नहीं होने दिया। अस्तु अपने उपास्य के श्री चरणों में अपना विनत निवेदन करते हुए आप सबसे सहानुभूतिपूर्ण सहयोग की अपेक्षा करता हूँ।

अपने उपास्य के प्रति

श्रद्धेय!

सत्ता लोलुप 'दुःशासन' की दुस्सह चोटों से पिचकी थाली, पञ्चपात्र और पञ्चारती, दमन के 'अनुशासन' में कुम्हलाये पूजा-प्रसून, मदान्धता की क्रूर दृष्टि में झुलसे हुए अक्षत चन्दन और कलुषित इरादों के निर्मम प्रहारों से जर्जर हम नीराजक आज पाँचवी बार तुम्हारा नीराजन करने आये हैं।

अजात-शत्रु!

तुमने सदा इस समग्र भारत-देश को ही अपना घर माना था। हर देशवासी का दुख-दर्द तुम्हारी अपनी कसक थी। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के उद्घोषक तथा 'चरैवेति-चरैवेति' के दृढ़ पालक ही के आदर्शों पर तो हम चल रहे थे। फिर भी न जाने क्यों तुम्हारी ही जीवन शैली पर ढला हुआ हमारा चरित्र, अनुशासन और समाजोन्मुखी मनोवृत्ति सत्ताधीशों को कड़काने लगी।

दृढ़व्रती!

तुम्हारे जीवन का हर आयाम और तुम्हारी चिन्तन धारा की हर बूँद हमको दृढ़ता और धैर्य की ही प्रेरणा देती रही है। कदाचित् इसीलिए इन गत झंझाओं को हमने यथाशक्ति पूरी हिम्मत से झेला है और आज संघर्षों की थकान कलेवर से भले ही प्रतीत हो रही हो; किन्तु नीराजन करते हुए हमारे चरण यत्किञ्चित् भी डगमगा नहीं रहे।

विषपायी!

तुमने जीवन भर हलाहल पीकर अपने इष्ट देवता राष्ट्र को जीवन दायी अमृत ही प्रदान किया है और तुम्हारी ही प्रेरणा से आज हम फिर संकल्प करते हैं कि-

'जब तक शेष एक भी दम है,
है अविशिष्ट एक भी धड़कन,
सदा आत्म - गौरव से ऊँची
पलकें,ऊँचा सिर, ऊँचा मन।

नीराजन का षष्ठ पुष्प एक लम्बे संघर्ष के पश्चात् पुनः अपने पूर्व-रूप की ओर बढ़ते हुए साहस-सम्पन्न नीराजक और अभिनव ज्योतिष्मती दीपमाला - सभी कुछ परम्परा की नींव पर अभिनव निर्मिति के रूप में।

प्रारम्भ में ही हमने धौम्य, चाणक्य और समर्थ गुरु रामदास को झंकृत करने का प्रयास किया था। शनैः शनैः हमने आरुणि, चन्द्रगुप्त और शिवा को भी दिशा-बोध कराने का सर्वथा सफल प्रयास प्रस्तुत किया। काल के क्रूर झंझावातों से झुलसे प्रसूनों को भी वज्रचरणी नीराजकों से अर्पित करवाया और अब आज फिर से परिस्थितियों का रोना न रोकर यथा-प्राप्य सामग्री समेत अपने लक्ष्य-देवता के श्री चरणों की ओर बढ़ते हुए अपने को सचमुच में गौरवान्वित अनुभव कर रहा हूँ।

११ अप्रैल १९७७ के पश्चात् से; तूफान के बाद के ध्वंसावशेषों में रंग भरते हुए आज हमको लगभग एक वर्ष हो रहा है। कितनी चमक आ पाई है, यह तो समय ही बतायेगा; किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साधना-पथ की कठोरता को हम सब सही रूप में आँक सकने में सर्वथा समर्थ रहे, जिसके परिणाम स्वरूप आज भी हमारी आस्थायें, मान्यतायें एवं कल्पनायें अक्षुण्ण हैं, अडिग हैं।

परिस्थितियों के प्रभाव से अगली कक्षायें न खोल पाने के बाद भी हमने अपने ध्येय-पथ के सहयात्रियों को, जिन्हें पूर्व अंकों में आरुणि और चन्द्रगुप्त कहा जा चुका है, एक नये सूत्र में पिरोने का सत्प्रयास किया है। 'तरुण-भारती' नामक यह संस्था अपनी बाल तथा किशोर-भारती संस्थाओं की ही अगली कड़ी है।

नीराजन के तीन अंगों को हमारी एक-एक छात्र संस्था तथा चौथे समवेत् नीराजना को सुधी आचार्यों ने सजाया है। प्रसून, दीप, नैवेद्य एवं नीराजना नाम के इन चार खण्डों में क्रमशः अष्टम कक्षा पर्यन्त, दशम कक्षा तक, दशम से आगे तथा आचार्य वृन्द की रचनायें समाहित हैं।

अन्त में अपने सुविज्ञ पाठकों से एक ही निवेदन है कि नीराजकों के इन बाल-प्रयासों में विद्वत्ता की गहराई न ढूँढकर उत्साह की उर्मियाँ देखने का प्रयास करें। मौलिकता के दम्भ को सर्वथा त्याग कर मधु-मक्षिकावृत्ति का जो श्रम-पूर्ण परिचय प्रस्तुत अंक में है, उसका मधु आपको रुचेगा, इसी विश्वास के साथ।

यह वर्ष हमारे विद्यालय परिवार के लिए सौभाग्य का और नये कीर्तिमानों की स्थापना का रहा है। इसकी प्रतिध्वनि आपको प्राचार्य जी की वार्षिक आख्या से मिलेगी ही। परन्तु कुछ कीर्तिमानों का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है। गत वर्ष की नीराजन के छात्र-सम्पादक 'नवनीत अग्रवाल' द्वारा माध्यमिक शिक्षा परिषद् की हाईस्कूल परीक्षा में पंचम स्थान प्राप्त करना एक कीर्तिमान ही तो है। साथ ही बरबस स्मरण स्मरण आ गया सन् १९७५ की नीराजन के सम्पादक शशि शर्मा का जिन्होंने उस वर्ष की हाईस्कूल परीक्षा में नवम स्थान प्राप्त किया था।

शशि शर्मा और नवनीत अग्रवाल के बीच तीन वर्ष की ही कालावधि है परन्तु इन तीन वर्षों में इनके श्रमसीकरों की निर्झरिणी ने सम्पूर्ण प्रान्त तो क्या देश के ध्यान को भी आकृष्ट किया है। हम सभी कितने गौरवान्वित हैं,यह कैसे व्यक्त करें!

इसी वर्ष हमारे विद्यालय के कुछ पूर्व छात्र स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए प्रयत्नशील हैं। अर्थात् १९७९ की जुलाई-अगस्त में वे ऐसे स्नातक छात्र होंगे जो हमारे विद्यालय में कलिका से विकसित हो पुष्प बने थे और अब संस्कारों की सुगन्धि से अपनी अन्तर्मञ्जूषा को लबालब भरकर मधुप के समान यत्र-तत्र गुंजार करने लगेंगे। आज वे सभी प्रकार से पूर्ण विकसित हो राष्ट्र देवता के पुनर्निर्माण की देहरी पर आ खड़े हुए हैं। सच में वे गर्वित तो हैं परन्तु अपने को संख्या में न्यून अवश्य पा रहे हैं। वे बीच-बीच में एक आशा भरी दृष्टि पीछे आने वाले उन नीराजकों की ओर डालते हैं, जो उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर वैभव सम्पन्न भारत के निर्माण का उपयोगी उपकरण बनने की क्षमता रखते हों।

हम सभी नीराजक उनकी आकांक्षाओं को समझते हैं। हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि आप न्यून नहीं है। जरा एक बसंत तो और आने दीजिए और हम सभी आपके द्वारा राष्ट्र-निर्माण के कंटक पथ पर छोड़े हुए उभरते-निखरते पद बिम्बों का अनुसरण करने को कटिबद्ध हो रहे हैं।

इस वर्ष नीराजन की सज्जा कुछ लीक से हटकर करने का प्रयत्न किया है। नीराजकों ने लेखन की लगभग हर विधा में अपनी लेखनी का रंग भरने का प्रयत्न किया है और इसलिए उनकी पाल्वेतर अभिरुचि का दर्पण बना कर यह नीराजन आपको प्रस्तुत कर रहे हैं, हमारे नन्हे नीराजक।

इस बाल वर्ष में इस अंक की रचनाओं के संकलन, संयोजन और सम्पादन सभी में बाल हस्त का कोमल स्पर्श रहा है।

हमारी हार्दिक आकांक्षा है कि यह जिसके हाथों में एहुँचे, वे अपना मत हमें अवश्य भेजें कि यह अंक आपको कैसा लगा। आपके मत अवश्य ही हमें बल देंगे। हम यह दावा तो नहीं करते कि इस अंक में त्रुटियाँ नहीं हुई हैं परन्तु अनुभव की पगडंडी पर उनका यह प्रथम पग निक्षेप है। अतः त्रुटियों के लिए क्षमा की याचना करते हुए आपका,

ओमशङ्कर

गत वर्ष के खेदपूर्ण अवकाश के उपरान्त विद्यालय परिवार की वार्षिक-पत्रिका का नौवाँ अंङ्क आपके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे उतनी ही प्रसन्नता हो रही है, जितनी एक नौसिखिये माली को किसी पौधे को एक स्वस्थ तथा हितकारी वृक्ष में परिणत करने में होती है। इस कार्य में जहाँ उसके गुरु का अनुभव व मार्गदर्शन प्रमुख रहता है, वहीं मित्रों का सहयोग भी महत्वपूर्ण होता है। इस अंक के विकास में भी हमारे आचार्यों के मार्गदर्शन तथा सहयोगियों ने प्रमुख भूमिका निभायी है। हमने पारस्परिक विचार-विमर्श से त्रुटियों का यथासम्भव बचाव किया है और गत वर्षों में जो त्रुटियाँ जाने-अनजाने छूट जाती थीं, उनके निवारण हेतु

यथाशक्ति प्रयत्न किया है। स्पष्ट है कि यह कार्य हमारे ------ सहयोग से ही सम्भव हो सकता था। अतः मैं अपने सभी आचार्यों एवं सहयोगियों का हार्दिक रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने इस कार्य में यथेष्ट योगदान किया है।

विद्यालय की वार्षिक पत्रिका हम विद्यार्थियों के लिए अपनी बात को समुचित रूप से कहने का एक सुअवसर होती है। अतः रचनाओं के चयन में हमने इस बात को ही प्राथमिकता दी कि रचनाएँ तत्वपूर्ण, स्पष्ट और सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम से तथ्यात्मक रूप से संबद्ध हों। इधर-उधर से उठाकर रचनाएँ (?) छपवाने की प्रवृत्ति को हमने पूर्णतया हतोत्साहित करने का प्रयास किया है। फिर भी, यदि कोई इस प्रकार की रचना अनजाने में आ गयी हो तो भूल के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

आशा है, हमारा परिश्रम कुछ तो रंग लायेगा ही। और भविष्य के लिए त्रुटियों के निराकरण हेतु मार्गदर्शन का आकांक्षी, आपका

आनन्द गुप्ता

समर्पण

राष्ट्र देवता की नीराजना में,
अपनी इन्द्रधनुषी बहुआयामी प्रतिभाओं के
काव्य, ज्ञान, विचार, संस्मरण, निबन्ध, हास्य-व्यंग्य,
रिपोर्ताज, कथा, यात्रावृत्त व प्रेरक प्रसंग के
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से भरी
सैकड़ों हथेलियों का अर्घ्य
नीराजन के इस अंक के साथ
आपको सादर समर्पित

ओ जीवन चितेरे!
अनगढ़ मिट्टी के ढेले-माँस-पिण्ड में,
जीवन के इन्द्रधनुषी रंगों से
रूप आकार गढ़ने वाले,
मेरे चितेरे! मेरे शिल्पी!
हमारी शिराओं की बहती रक्तधारा में
मनुष्यत्व की अरुणाभा को,
रेत हो गयी अमृत सलिला नदी के जल की तरह
कौन पी गया?
क्या अब न उठाओगे,
हमारी डूबती स्याह पड़ती अस्मिता में
जीवन का नया रंग चढ़ाने के लिए
अपनी जादुई तूलिका?
क्या यों ही विस्मृत कर दोगे
हमारी खण्डित मूर्ति को
काल की अनन्त गहराई में दफन हो जाने के लिए?
उठो मेरे चितेरे! मेरे शिल्पी!
हम पर अपने हजार रंग चढ़ाओ
अपनी हथौड़ी - छेनी उठाओ,
हमें रंगो और गढ़ो
कि हम गा सकें -
ॐ सहनाववतु...

नीराजन के इस अङ्क की प्रस्तुति नई शिक्षा-नीति विशेषांक के रूप में हो रही है - कदाचित् इस प्रस्तुति से श्रद्धालु पाठकों की मनःस्थिति क्षण भर के लिए अभिभूत हो सकती है कि नई शिक्षा नीति के विवेचन का दायित्व नीराजन ने क्यों लिया? वस्तुतः वर्तमान पंचवर्षीय योजना में प्रशासनिक स्तर पर शिक्षा को गम्भीरता से लिया गया है और शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन की बात कही गई है, साथ ही तत्सम्बन्धी कुछ आयाम स्पष्ट भी हुए हैं। परन्तु देखा यह गया है कि अभी तक किसी पत्र-पत्रिका ने नई शिक्षा-नीति के ज्ञात बिन्दुओं का सम्यग्रता के साथ विवेचन-अनुशीलनादि करने का प्रयास नहीं किया है। अतएव एक ओर तो इस अभाव की पूर्ति के लिए तथा दूसरी ओर शिक्षा-नीति को स्पष्ट करना किसी भी विद्यालयीय

पत्रिका का धर्म हो जाता है, इन्हीं दृष्टियों ने 'नीराजन' को इस ओर प्रेरित किया है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि शिक्षा विशेषांक की प्रस्तुति में नीराजन की कुछ सीमायें और समस्यायें भी रही हैं। एक तो यह कि नई शिक्षा नीति अभी तक अपने समग्र रूप में स्पष्ट नहीं हुई है। इस संदर्भ में हमें बताया गया है कि प्रशासनिक स्तर पर नई शिक्षा-नीति सम्बन्धी जो विचारणा निर्मित हुई है, उसका अभी समीक्षात्मक अध्ययन किया जा रहा है। दूसरी यह कि विशेषांक हेतु शिक्षाशास्त्रियों और प्रशासक महानुभावों के विचार माँगने पर हमें निराश होना पड़ा है। तीसरी यह कि छात्र अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार ही इस विषय को ग्रहण कर सका है। फलतः नई शिक्षा-नीति के जो बिन्दु अधिक चर्चित व स्पष्ट हुए हैं, नीराजन ने उन्हें ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अतएव जिस उत्कृष्टता के साथ विशेषांक की प्रस्तुति होनी चाहिए, कदाचित् नहीं हो सकी है। अतएव विशेषांक का अर्थ इस रूप में समझने का प्रयास करना चाहिए कि 'नीराजन' ने शिक्षा के स्वरूप पर दृष्टिपात कर अपने शैक्षिक धर्म तथा कर्तव्य का निर्वाह किया है तथा नई शिक्षा-नीति के नाम पर बदलते हुए शिक्षा-प्रणाली के आयामों को अपनी दृष्टि, जिसे सुविधा के लिए भारतीय दृष्टि कह सकते हैं, से देखने का प्रयास किया है।

इस कथन को पिष्टपेषित करने की आवश्यकता नहीं है कि शिक्षा व्यक्ति की ही नहीं, प्रत्युत् राष्ट्रीय जीवन (समाज, संस्कृति, सभ्यता आदि) की गंगोत्री व निर्मात्री भी होती है। शिक्षा और ज्ञान दो अलग-अलग बातें हैं। शिक्षा की परिधि विस्तृत होती है, ज्ञान शिक्षा का एक अंग है। अतएव ज्ञानी के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह शिक्षा की वास्तविक परिभाषा में शिक्षित भी कहा जाये। इसके अतिरिक्त शिक्षा का उद्देश्य केवल व्यवसाय अर्जित करना नहीं है। यदि शिक्षा का उद्देश्य रोजगार प्राप्त करना होता, तो सुविधा-सम्पन्न एवं अर्थ की दृष्टि से सशक्त व्यक्तियों के बालक-बालिकायें उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए देश-विदेश के चक्कर नहीं लगाते। किन्तु हम देखते हैं कि जो व्यक्ति आर्थिक रूप से सम्पन्न हैं, वे भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। यह हो सकता है कि शिक्षा प्राप्त करने से उनका अर्थ मात्र ज्ञानार्जन करना रहता हो, पर यह अलग बात है। यहाँ आशय यह है कि शिक्षा और ज्ञान की इस भेद-सापेक्ष स्थिति को नई-शिक्षा नीति में स्पष्ट नहीं किया गया है। अन्यथा सरकार नई शिक्षा-नीति के संदर्भ में बार-बार जोर देकर यह न कहती कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली रोजगारोन्मुख नहीं है, अतः इसे रोजगारोन्मुख बनाना है। प्रश्न उठता है कि सम्प्रति जो छात्र अनेकों तकनीकी शिक्षा संस्थानों से तकनीकी शिक्षा प्राप्त कर निकल रहे हैं, क्या सरकार उन सबकी खपत कर पा रही है? यदि नहीं तो बेरोजगारों के समक्ष यह रटा-रटाया वाक्य कह देना कि बेरोजगारी का प्रमुख कारण शिक्षा-पद्धति की विसंगतियाँ हैं, सत्य से मुँह मोड़ लेना है। हमारे शास्त्र हमें बताते हैं कि सत्य का मुख हिरण्यमय (सोने के) ढक्कन से आवृत रहता है (हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्)। इस सोने के ढक्कन को घबड़ाहट में या हड़बड़ाहट में नहीं खोलना चाहिए क्योंकि एकाएक अनावृत सत्य असहनीय होता है। अतएव नई शिक्षा-नीति के निर्माता या तो इस देश की वास्तविक समस्याओं को समझ नहीं पा रहे हैं, अथवा समझते हुए भी उसे इसलिए उपेक्षित कर रहे हैं कि अनावृत सत्य को सहन करने की शक्ति उनमें नहीं है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर शिक्षा सम्बन्धी जितने भी आयोग गठित किये गये, उनमें से किसी आयोग ने यह स्पष्ट क्यों नहीं किया कि भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों का आधेय अथवा सम्प्रत्यय क्या होगा। नई शिक्षा-नीति में सर्वप्रथम भारतीय जीवन-दर्शन, उसकी संस्कृति एवं परम्पराओं को विश्लेषित कर तदनुकूल शिक्षा उद्देश्यों को स्पष्ट करना चाहिए था, किन्तु दुर्भाग्य से नई शिक्षा-नीति में यह नहीं बताया गया है कि शिक्षा के उद्देश्यों को स्पष्ट करना चाहिए था, किन्तु दुर्भाग्य से नई शिक्षा नीति में यह नहीं बताया गया है कि शिक्षा के उद्देश्यों का आधार क्या होगा। मेरी समझ में भारत की वर्तमान ज्वलन्त समस्याओं के अनेक कारणों में से एक प्रमुख कारण यह भी है कि भारतीय शिक्षा प्रणाली भारतीय जीवन-मूल्यों के अनुरूप नहीं है। भारतीय जीवनादर्शों का वातावरण पाश्चात्योन्मुख भारतीय समाज नहीं दे सकता। यह कार्य विद्यालयों के माध्यम से ही हो सकता है। नवोदय विद्यालयों में इस विचारणा को प्रश्रय मिल सकेगा, ऐसा भी समझ में नहीं आ रहा है। भारतीय जीवनादर्शों का वातावरण आज के

विद्यार्थी को दिया जाना बहुत अनिवार्य हो गया है, यह बात इस देश के भाग्य-विधाताओं को आज समझ में नहीं आ रही है। परन्तु भविष्य इसके लिए प्रतीक्षा कर रहा है कि उन्हें इसे समझना ही पड़ेगा। पाश्चात्य जीवनादर्श न केवल राष्ट्र के लिए अपितु व्यक्ति के लिए भी घातक हैं, यह सर्वविदित है। इसके बाद भी शिक्षालयों में उन्हीं आदर्शों के आधार पर व्यक्ति-निर्माण का प्रयत्न करना कितना भयावह होगा! इतिहास-मनीषा इस त्रुटि को शायद क्षमा भी नहीं कर पायेगी। अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपनी वेशभूषा, अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं तथा अपने प्राचीन ज्ञान का हस्तान्तरण हमें अपनी भावी पीढ़ियों को करना ही चाहिए, यह आज के समय की माँग है। हमारे चारित्रिक विश्वासों, मानवीय आदर्शों, चिर आस्थाओं का समावेश नई शिक्षा-नीति में होना ही चाहिए, ऐसा लगता है। हमें बताया जा रहा है कि किस प्रकार पढ़ाना है, जबकि इस बात का कम महत्व नहीं है कि हमें क्या पढ़ाना है। नई शिक्षा-नीति के निर्धारकों के समक्ष अहम प्रश्न यह है कि उन्हें स्पष्ट रूप से बताना चाहिए कि भारत की सन्तानों को प्राचीन भारतीय पुरुषार्थों की ओर ले जाना है कि मैकाले की ओर वापस धकेलना है। परकीय दातव्य ग्रहण करने में दोष नहीं होता, परन्तु उनका विश्लेषण किये बिना ही, जो कुछ उनका है, वह श्रेष्ठ है, यह मान लेने की प्रवृत्ति घातक है। अमर साहित्यकार हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस ओर संकेत करते हुए कहा था - **"लक्षा प्रकाश ग्रहण करने में नहीं होती, अन्धानुकरण में होती है। अविवेकपूर्ण ढंग से, जो भी सामने पड़ गया, उसे सिर-माथे चढ़ा लेना, अन्धभाव से अनुकरण करना, जातिगत हीनता का परिणाम है। जहाँ मनुष्य विवेक को ताक में रखकर सब कुछ की अन्धभाव से नकल करता है, वहाँ उसका दैन्य और सांस्कृतिक दारिद्रय प्रकट करता है और अपनी त्रुटियों को कम करने का प्रयत्न करता है, वहाँ वह अपने जीवन्त स्वभाव का परिचय देता है। विवेक दाता की पहचान की शक्ति देता है। अन्धानुकरण दान की ओर सतृष्ण भाव से झुकाता है। दातृत्व तपस्या से प्राप्त होता है, अविवेक साधना के अभाव से उपजता है। यूरोप जितनी दूर तक तपस्वी है, उतनी दूर तक दाता भी बन सकता है। जहाँ वह तपस्या से चलित न होकर तृष्णा से, लोभ से चालित हो रहा है, वहाँ वह स्वयं दीन है, वहाँ उसमें ऐश्वर्य का अभाव है। इसलिए सब कुछ बटोर लेने की प्रवृत्ति गलत है। वस्तुतः जो राष्ट्र जीवन रस से भरा है, वह प्रभावों से डरता नहीं फिरता। वह खुली आँखों से जगत के समस्त पदार्थों को, धर्मों को, मतों, काव्यों को, चित्रों को देखता है और उसमें जीवन की पूर्ति के लिए जो आवश्यक होता है, उसे ग्रहण करता है और अपने आप जीवन रस की परिपूर्णता के कारण जो ऐश्वर्य आलोकित हो उठता है, वह दूसरों को देता है। देने और लेने में विवेक की बात जाना चाहिए, संस्कारों की नहीं। लेकिन ठीक-ठीक विवेक के लिए हमें अपने और पराये संस्कारों का ज्ञान होना चाहिए।"** परन्तु अन्धानुकरण की दौड़ में लगता है कि हमने अधिकाधिक बौद्धिक बन जाने के मिथ्या मोह में, विवेक का आश्रय लेना बन्द कर दिया है और अपने संस्कारों का ज्ञान हमें नहीं रह गया है। यह चिन्ता का विषय तो है ही, साथ ही हमारे मानसिकता तथा बौद्धिक खोखलेपन का प्रमाण भी है।

नई शिक्षा-नीति के संदर्भ में एक बात और उल्लेख्य है। संप्रति इस नीति के क्रियान्वयन में राष्ट्रीय आय के एक महत्वपूर्ण भाग को पानी की तरह बहाने का उपक्रम प्रारम्भ हो गया है। नवोदय विद्यालयों और प्रौढ़ शिक्षा के नाम पर सरकार करोड़ों रुपये व्यय कर रही है, उसने कभी इस बात का सर्वेक्षण नहीं किया कि अभी तक कितने प्रौढ़ों को प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत साक्षर बनाया गया है। साथ ही उसने कभी यह नहीं सोचा कि जिन ग्रामीणों के नाम पर आदर्श विद्यालय स्थापित किये जा रहे हैं, वे ग्रामीण किन बैसाखियों के सहारे वहाँ तक पहुँच सकेंगे। जिन ग्रामीणों को जन्म लेते ही अपने पैरों पर खड़े होने के लिए बाध्य कर दिया जाता है, वे इन विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने तो नहीं आ सकेंगे, भवन निर्माण काल तक उन्हें रोजगार अवश्य मिल जायेगा। यह हमारे राष्ट्र का दुर्भाग्य है और विडम्बना भी, कि लोक-मानस को भ्रमित करने के लिए अथवा आकर्षित करने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में एक नई बात कह दी जाती है और पुरानी बातों को, चाहे वह कितनी ही, ग्रहणीय क्यों न हों, सड़ने के लिए, मर जाने के लिए छोड़ दिया जाता है। पुनः एक बार नवीनता के नाम पर, नई शिक्षा-नीति पर प्रयोग प्रारम्भ हो गये हैं। देखना है ये प्रयोग भारतीय शिक्षा को नया क्या दे सकते हैं?

नीराजन का गतांक 'नयी शिक्षा नीति विशेषांक' के रूप में प्रकाशित हुआ था, जिसका उद्देश्य नयी शिक्षा-नीति की विश्लेषणात्मक समीक्षा करना था, जिसके लिए मैंने कुछ शिक्षाविदों और जागरूक शिक्षकों के विचारों को आमंत्रित किया था, परन्तु इसमें हमें निराशा ही मिली थी। वस्तुत वह अद्भु नयी शिक्षा-नीति के प्रति, उसकी विसंगतियों के प्रति जागरूक होने की प्रेरणा मात्र था। कतिपय सीमाओं के कारण उसे समग्रता प्रदान करना सम्भव नहीं था, परन्तु नयी शिक्षा नीति के कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को अवश्य स्पर्श करने का प्रयास किया गया था, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हमारी शिक्षा व्यवस्था, शिक्षार्थियों तथा भारतीयता से है। उदाहरण के लिए 'सपुस्तक' परीक्षा को लिया जा सकता है। मेरी दृष्टि से 'सपुस्तक परीक्षा' आज के शैक्षिक वातावरण में केवल अनपयुक्त ही नहीं अपितु पाश्चात्य संस्कृति के रंग में रंगे कुछ तथाकथित भारतीयों द्वारा विद्यार्थियों के भविष्य के साथ साजिश है। जहाँ तक मैंने अनुभव किया है, वहाँ तक यह स्पष्ट हुआ है कि १९८८ ई० की परिषदीय परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाला छात्र इस त्रुटि के दुष्परिणामों का भोक्ता तो होगा ही, साथ ही इसका प्रभाव उसके जीवन को भी प्रभावित करेगा। अपने बच्चों को दून और पब्लिक स्कूलों में पढ़ाने वाले नयी-शिक्षा-नीति के निर्धारक यह भूल गये कि सपुस्तक परीक्षा प्रणाली प्रयोग उस देश या प्रदेश के विद्यार्थियों पर किया जा रहा है, जहाँ के बहुसंख्यक विद्यालयों में कक्षायें ही नहीं लगती। इसके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनका उत्तर कदाचित् ये तथाकथित शिक्षाविद् और प्रयोगकर्ता नहीं दे सकते। क्या शिक्षा विभाग इसका सर्वेक्षण करता है कि प्रत्येक विद्यालय निर्धारित समय पर पाठ्यक्रम पूर्ण कर पाता है? क्या शिक्षक कक्षा में नियमित रूप से पढ़ाने जाता है? क्या अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन किसी शिक्षक को निलम्बित किया जाता है? परीक्षा कक्ष में नकल पकड़ी जाती है? परीक्षार्थी दण्डित होता है? क्या निरीक्षण में लगे अध्यापक के साथ किसी प्रकार की कार्यवाही होती है? क्या पूर्व उपस्थिति के न होने पर कोई प्रधानाचार्य किसी विद्यार्थी को परीक्षा में बैठने से रोकता है? यदि इन प्रश्नों का समाधान करने का प्रयास किया गया होता, तो कदाचित सपुस्तक परीक्षा की अवधारणा को आधार ही नहीं मिलता। वास्तव में जो होना चाहिये वह नहीं होता; और जो नहीं होना चाहिए वही किया जाता है। यह इस देश के बहुसंख्यक समाज का दुर्भाग्य है। उल्लेखनीय है कि इससे हमारा शिक्षक समाज सम्भवतः गौरवान्वित तो नहीं हुआ होगा परन्तु दुर्भाग्य यह कि उसने लज्जा का अनुभव भी नहीं किया, क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में उसे पाठ्यपुस्तक के बाहर का ज्ञान देना तो दूर, निर्धारित पाठ्यपुस्तक का वाचन कराना भी कठिन लग रहा है। शिक्षक का कर्त्तव्य जितना पुनीत है, उससे भी अधिक गुरुतर। किन्तु शिक्षक शिक्षा को व्यवसायिक दृष्टि से देखने और भापने लगा है। इससे उसे समृद्धि चाहे अवश्य मिल रही हो, परन्तु उसका देश के प्रति यह सर्वाधिक पापपूर्ण कृत्य है। देखा गया है कि शिक्षक की त्रुटिपूर्ण नीतियों का अनुभव लगभग ६० प्रतिशत शिक्षक करता रहता है, चाहे वह स्वयं विचार कर करता हो अथवा सुने-सुनाये जुमलों को दोहरा देता हो। परन्तु ध्यातव्य यह है कि शिक्षक समुदाय अपने हितों और स्वार्थों की बात तो करता है, इसके लिए बड़े-बड़े आन्दोलन भी करता है, परन्तु शिक्षा और शिक्षार्थी के हित में उसकी वाणी मुखर क्यों नहीं? प्राचीन काल में हमारे शिक्षक ही शिक्षा सम्बन्धी नियम बनाते थे और उनकी विचारणा पर ही शिक्षा-व्यवस्था संचालित होती थी। यह ठीक है कि आज शिक्षा भी राज्य का विषय हो गयी है, पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि शिक्षक 'कक्षा शिक्षण' तक ही सीमित रह जाये। ऐसी शिक्षा व्यवस्था जो भारतीय संस्कृति, भारतीय आदर्शों व भारतीय विद्यार्थी के अनुकूल नहीं है, उसका विरोध करना भी शिक्षक का दायित्व है, केवल 'शिक्षक' के पद पर मोटी रकम प्राप्त करना ही नहीं। नीराजन का यह अंक भी इसी कारण के साथ प्रकाशित हो रहा है कि आज के विद्यार्थी व शिक्षक शिक्षा के प्रति अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सजग व प्रयत्नशील रहें। विद्यालयीय पत्रिका केवल विद्यालय की गतिविधियों पर ही सीमित रहे, यह बात किसी भी विद्यालयीय पत्रिका की परिभाषा नहीं बन सकती।

विद्यालय की गतिविधियों के साथ ही हमारे छात्र यदि राष्ट्र, समाज आदि के संदर्भ में चिंतन व लेखन करते हैं, तो यह हम सब के लिए गौरव और हर्ष का विषय है, साथ ही उसका प्रकाशन 'नीराजन' का धर्म हो जाता है।

नीराजन १९८८-८९ — सम्पादक - सुमन दुबे

एक लम्बे समय से साहित्य से रचनात्मक स्तर पर जुड़ा हूँ। इस दौरान हिन्दी पत्रकारिता से भी जुड़ा रहा हूँ और तमाम पत्र-पत्रिकाओं से भी। कभी लेखक के रूप में, कभी परामर्शदाता के रूप में और कभी सम्पादक के रूप में। लेकिन, विद्यालय की पत्रिका का सम्पादन मेरी समझ में, बिल्कुल ही अलग ढंग का काम है, थोड़ा टेढ़ा भी। टेढ़ा तब न होता, यदि बच्चों से कहीं से भी, कैसी भी रचनायें लाने को कह दिया जाता और उन्हें चाहे जैसे भी पत्रिका में छाप दिया जाता। जैसा कि अधिकांशतः होता है कि अन्य औपचारिक गतिविधियों के साथ-साथ पत्रिका-प्रकाशन भी मात्र औपचारिक रूप में पूरा कर लिया जाता है। लेकिन हमारे विद्यालय में ऐसा नहीं है। प्रधानाचार्य श्री ओमशंकर जी, जो स्वयं भी सुधी रचनाकार और सूझ-बूझ वाले व्यक्ति हैं, पत्रिका को मात्र औपचारिक स्तर की पत्रिका बनाये रखने के पक्ष में नहीं हैं। पत्रिका के सम्बन्ध में विचार-विमर्श के दौरान उन्होंने एक उल्लेखनीय बात कही, 'हम चाहते हैं कि हमारे विद्यालय की पत्रिका खाना-पूरी मात्र न हो। इसके लिए हमें विद्यार्थियों में अभिरुचि उत्पन्न करनी पड़ेगी।'

यह बात मुझे सर्वथा उपयुक्त लगी थी। पूरे प्रदेश में अपना विशेष स्थान रखने वाले विद्यालय के प्रधानाचार्य का यह सोच मुझे गरिमापूर्ण लगा था।

हम चाहते हैं कि हमारे विद्यालय की पत्रिका में विद्यार्थियों की भी रचनात्मक साझेदारी रहे। उनकी मौलिक प्रतिभा का सम्वर्द्धन तथा आकलन भी हो सके, इसलिए पत्रिका के सम्पादन की प्रक्रिया सहज रूप से सत्र के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है और पूरे सत्र चलती रहती है। इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत हमने अपने यहाँ 'साहित्यिक प्रतिभा खोज प्रतियोगिता' का आयोजन भी किया था। इसमें षष्ठ कक्षा से लेकर द्वादश तक के तमाम विद्यार्थियों ने बड़े उत्साह के साथ भाग लिया। यद्यपि उन सभी रचनाओं का उपयोग पत्रिका में नहीं हो सका है, लेकिन हमारा यह विश्वास और भी अधिक दृढ़ हुआ है कि हमारे विद्यार्थियों में साहित्यिक प्रतिभा है और उनमें ऐसे आयोजनों के लिए उत्साह भी खूब है। वस्तुतः हम विद्यार्थियों को अच्छा परीक्षाफल लाने के लिए तैयार करने के साथ-साथ उनकी रचनात्मक प्रतिभा के विकास के लिए भी संस्कारित करते हैं। हम उनके व्यक्तित्व के हर सम्भव विकास के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। यद्यपि यह वैसा ही है जैसे कोई दूर-दूर तक फैले हुए रेगिस्तान के किसी कोने में फूल वाले कुछ पौधे उगाना चाहता हो। लेकिन हमारा दृष्टिकोण निराशावादी नहीं है। हमारा विश्वास है कि इस पूरे रेगिस्तान को हम हरीतिमा से भले ही न भर सकें, लेकिन बीच-बीच में कुछ नखलिस्तान तो बना ही सकते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी हमारे प्रयास इसी तरह के हैं, यही हमारी पहचान है। हम हर जगह बगीचे भले ही न उगा सकें लेकिन हमारे अपने बगीचे के फूलों की गन्ध दूर-दूर तक फैल रही है, फैलती रहेगी।

नीराजन १९८९-९० — संपादक - सुमन दुबे

मैं जानता हूँ कि 'नीराजन' हमारे कुछ विद्यार्थियों, उनके अभिभावकों और उनके कुछ परिचितों तक ही सीमित रहेगी और मेरी ये पंक्तियाँ भी उतने ही, बल्कि उनसे भी कम लोगों तक पहुँच पायेगी। क्योंकि समस्या यह भी तो है कि इसे पढ़ेंगे कितने लोग। जो पढ़ेंगे भी उनमें से कितने लोग मेरे मन्तव्य से जुड़ पायेंगे और जो थोड़े बहुत जुड़ेंगे भी उनकी संख्या इस पूरे देश की जनसंख्या के अनुपात में अत्यल्प होगी। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि पढ़ने वालों की संख्या कम होने के कारण मुझे लिखना ही नहीं चाहिये या पत्रिका का प्रकाशन ही नहीं करना चाहिए।

मैं जानता हूँ कि जिन तथाकथित साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने-देखने वालों की संख्या लाखों में है, वे किस प्रकार अपना प्रचार-प्रसार बढ़ाने की धुन में सूचना-पत्रक मात्र बनकर रह गई हैं। वे ब्यौरे छाप रही हैं और सामान्य ज्ञान बढ़ाने का काम कर रही हैं। मसलन विश्व में कहाँ, कौन सी घटना हुई, कौन पदारूढ़ हुआ और कौन अपदस्थ, किस साहित्यकार को कौन सा पुरस्कार मिला या कौन मरा, कौन जिया आदि। इन्हें मौलिक रचनात्मकता से कोई मतलब नहीं। नई प्रतिभाओं को सजाने-सँवारने और प्रोत्साहन देने में इनकी कोई रुचि नहीं। बल्कि जो मौलिक और स्थापित लेखक हैं उनसे भी वे वही लिखवाना चाहती हैं, जिसे भीड़ पसन्द करती है और पढ़ना चाहती है। वे भी वही लिख रहे हैं जो पत्रिकायें छापना चाहती हैं। परिणामतः रचनात्मकता बाधित हो रही है और मौलिकता का टोटा होता जा रहा है। जो पत्रिकायें साहित्यिक मर्यादा का निर्वाह कर रही हैं उनके पाठकों की संख्या कम होती जा रही है। यानी कि मदिरा अपने ठौर पर बिक रही है - पूरी ठसक के साथ बिक रही है और गोरस को अपने ग्राहकों के लिए गली-गली जाना पड़ रहा है। किन्तु इसमें आश्चर्य क्या है? हर युग में यही हुआ है। रहीम के समय में भी मूल्यों का ऐसा ही संकट रहा होगा। तभी तो कवि को लिखना पड़ा - 'वे रहीम अब बिरछ कहँ..' इसलिए मुझे भी इस बात का कोई अफसोस नहीं है कि हमारे पाठकों की संख्या कम है। हम तो जो भी हैं, जैसे भी हैं, जितने भी हैं - रचनात्मक से जुड़ना चाहते हैं। ज्योति जलाने के काम में लगे हैं। एक भी दिया और जल गया तो हमारे लिए उपलब्धि की बात होगी। हम तो प्रतिभा की खोज में लगे हैं। प्रतिभा को धारदार बनाने के काम में लगे हैं। लोगों में साहित्यिक रुचि जगाना चाहते हैं।

हमारा यह काम प्रमाण-पत्रों की दौड़ से अलग है। यह एक नई दौड़ है। रचनात्मकता की दौड़। इसमें वही भागीदार हो सकता है जिसमें क्षमता होगी। इस दौड़ में बैसाखी लगाने की आवश्यकता नहीं। बैसाखी लगाकर दौड़ने वाले कुछ कदम चलकर ही बैठ जायेंगे। जो क्षमतावान हैं वे आगे, बहुत आगे बढ़ते जायेंगे। साहित्यिक प्रतिभा कभी सीमित नहीं होती। वह तो जीवन के हर क्षेत्र तक व्यापक है। हर क्षेत्र को उसकी आवश्यकता है। वह कुशलता देती है। वैज्ञानिक के साथ जुड़ेगी तो वैज्ञानिक क्षेत्र में, चिकित्सक के साथ जुड़ेगी तो चिकित्सा के क्षेत्र में, अभियन्ता को अभियन्त्रण में, प्रशासक को प्रशासन में और राजनीतिज्ञ को राजनीति में कुशलता देगी। वह तो निखारने का काम करती है। जीवन को पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। क्योंकि मनुष्य की पूर्णता बुद्धि और भाव के समन्वय में है और यह समन्वय साहित्य ही स्थापित कर सकता है। साहित्य मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने वाली राह का अन्तिम पड़ाव है। वह जीवन का आध्यात्मिक मूल्य है। वह सत्य, शिव और सुन्दर से जुड़ने का साधन है। तभी तो साहित्य, संगीत और कला से विहीन मनुष्य को पशु कोटि का माना गया है। अन्य जैविक मूल्य हमें पशुता से जोड़ते हैं लेकिन साहित्य हमें मनुष्य की कोटि में ले जाता है। उससे भी आगे मनुष्योत्तर कोटि पाने के लिए भावनात्मक होना आवश्यक है, जो साहित्य के माध्यम से ही सम्भव है।

रही बात मेरे लिखने की, सो मैं तो लिखूँगा ही। इसलिए नहीं कि लिखना मेरा शौक है। इसलिए भी नहीं कि खानापूरी करने के लिए लिखना आवश्यक है। मैं इसलिए लिखूँगा कि लिखना मेरी विवशता है। लिखना मेरी नियति है। इसलिए कहानी, कविता, निबन्ध, ललित निबन्ध, संस्मरण या किसी भी रूप में लिखूँगा। कुछ नहीं तो अपनी डायरी के रूप में ही लिखूँगा। लेकिन आज के समाज की किसी न किसी समस्या को लेकर ही लिखूँगा। रहना तो इसी समाज में है, इसलिए इसकी समस्याओं से आँखें कैसे बन्द कर लूँगा?

इस बात की मुझे वास्तव में कतई चिन्ता नहीं है कि मेरा लिखा हुआ पढ़ने वालों की संख्या कम है। बनी रहे। इससे क्या होता है? सच्चाई का पाठकों की संख्या से क्या सम्बन्ध? सच्चाई तो हर हाल में सच्चाई ही रहेगी। अन्धों की बहुत बड़ी भीड़ यदि सूरज को नकार दे तो इसका आशय यह तो नहीं हो जाता कि सूरज का अस्तित्व है ही नहीं। सूरज तो सूरज ही रहेगा। बहरों की बस्ती में यदि चिड़ियों के चहकने, भौरों के गुनगुनाने और झरनों की कल-कल ध्वनि को महत्व न दिया जाय तो इसका मतलब यह तो नहीं है कि चिड़िया चहकना बन्द कर दे, भौंरे गुनगुनाना बन्द कर दें और झरने अपनी कल-कल ध्वनि को स्वयं पी जायें। इसका अर्थ यह भी नहीं होगा कि किसी तरह का आहत या अनाहत नाद है ही नहीं। न सुन पाने वालों को तो समय चक्र का घर्घर नाद और क्रान्ति का शंखनाद भी सुनाई नहीं

देता। लेकिन जो सुनना चाहते हैं वे सब कुछ सुन लेते हैं। 'देव' कवि को गुलाब की पंखुरियों की चटकारी तक सुनाई देती है-

'मदन महीप जू कौ बालक बसन्त ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दे।'

यह अतिशयोक्ति नहीं, भाव की सिद्धावस्था है। कबीर की तो बात ही और है। वे तो और भी आगे की सुनते हैं। उनके पास तो चींटी के पगों के 'नेवर' तक सुनने की क्षमता है। यदि ऐसा न होता तो चींटी के पग नेवड़ बाजे, सो भी साहिब सुनता है' कैसे लिख देते? कबीर सन्त थे। सत्य के उद्घोषक थे। वे अप्रामाणिक बात नहीं कह सकते थे। वे राजनीतिज्ञ तो थे नहीं कि जो दूसरों को रिझाने वाला हुआ वही कह दिया। कबीर ने कहने के पहले अनुभव अवश्य किया होगा। स्वयं सुना होगा। जैसे 'हिये की आँखें' होती हैं, वैसे ही 'हिये के कान' भी होते हैं। हो सकता है हिये के कानों से ही सुना हो। तभी तो 'अनहद' के रहस्य को भी समझ सके थे वे।

आज अन्धों, बहरों की भीड़ में मुझे ऐसे कबीर की तलाश है जो हिये की आँखों से देख सके और हिये के कानों से सुनने में दक्ष हो। मुझे अन्धों की भीड़ से कोई मतलब नहीं। बहरों के जमघट से कुछ भी लेना-देना नहीं। मैं तो अपने कबीर को ढूँढ रहा हूँ। कबीर, जो स्वभाव से फक्कड़ और व्यवहार से अक्खड़ हो। क्योंकि मैं जानता हूँ कि अक्खड़ वही हो सकता है जिसके मन में कोई लाग-लपेट नहीं होती। जो अपनत्व परत्व की भावना से दूर रहता है। जो दो टूक बोलता है। किसी को बुरा लगता है तो लगता रहे। वह तो सत्य का पक्षधर है। कथनी से भी और करनी से भी। जो कथनी और करनी में फर्क करता है वह अक्खड़ नहीं हो सकता, फक्कड़ भी नहीं हो सकता। फक्कड़पन के लिए निर्लिप्त भाव चाहिये। स्वार्थ रहित होना चाहिए। चादर तभी बेदाग रह सकती है। यह स्वार्थ ही तो चादर को दागी कर देता है। लेकिन कबीर ने अपनी चदरिया ज्यों की त्यों तहाकर धर दी थी। आसक्ति तो चदरिया के प्रति भी नहीं है। यह तो देने वाले के प्रति श्रद्धा भाव है। उसके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन है। वैसे तो पूरे फक्कड़ हैं। तभी लुकाठी हाथ में लिए बाजार में खड़े होकर कहते हैं- 'जो घर जारै आपनो, चलै हमारे साथ'। यह घर ही तो स्वार्थ का केन्द्र है। कबीर का आशय ईंट-गारा या मिट्टी के घर से नहीं है, स्वार्थ के सम्बन्धों से बने घर से है, जिसे ज्ञान की लुकाठी से जलाकर ही कबीरपंथी हुआ जा सकता है। जब यह घर ही नहीं रहेगा तो सारी दुनिया अपना घर लगेगी। परायापन रहेगा ही नहीं।

साहित्य-सर्जना तो सृष्टि रचना की तरह स्वतः प्रेरित प्रक्रिया है। कोई चाहे या न चाहे, वह तो होगी ही। जैसे सृष्टि का क्रम नहीं रुकता वैसे ही साहित्य-सर्जना भी नहीं रुकती। यह तो वाग्देवी के अनुग्रह का फल है। इसे कोई बाधित नहीं कर सकता। स्वयं रचनाकार भी नहीं। इसलिए मैं तो लिखूँगा ही। किसी के चाहने न चाहने से क्या होता है? तुलसी बाबा ने भी तो यही किया था। इतना बड़ा काम 'स्वांतः सुखाय' का सहारा लेकर कर गये। वही बाद में 'सर्व जन हिताय' सिद्ध हुआ। उनका 'स्व' इतना विराट हो गया था कि उसमें पूरा विश्व समाहित हो गया। उनके तप की चिन्गारी भवभूति बन गई। राम-कथा के आदिद्रष्टा भव की नगरी (काशी) में बैठकर लिखी गई राम-कथा भव को समर्पित करके तुलसी ने मानों भव-सागर पार उतरने के लिए भव वासियों को जलयान दे दिया।

मैं तुलसी तो हूँ नहीं। हो भी नहीं सकता। मैं तो उनकी पग-धूल से अलग हुआ एक कण मात्र हूँ जो उनके चरण-चिन्ह पाने के लिए भटक रहा है। इसीलिए, इस रूप में भी, सक्रिय और सचेत रहना चाहता हूँ। यही मेरी विवशता है। इसीलिए कुछ न कुछ लिखते रहना चाहता हूँ। मेरे बाल और किशोर रचनाकारों, तुम भी उठो, जागो और लक्ष्य को पहचान कर उस पर अचूक शर-सन्धान करो। अपनी रचनात्मकता का यही चरम प्राप्तव्य मानता हूँ मैं। यही मेरे लेखन का इष्ट है। अस्तु।

नीराजन १९९०-९१ सम्पादक - सुमन दुबे

'नीराजन' का यह अंक उन्हें समर्पित है जो राम-काज की धुन में राममय हो गये। धन्य है वे जिन्होंने राष्ट्र की अस्मिता के लिए प्राणों की आहुति दे दी। शत-शत नमन है अयोध्या के उन अमर शहीदों को

जिन्होंने आसुरी प्रवृत्ति वाले 'अधम अभिमानी' लोगों को यह बता दिया कि राम का प्रभाव, जो युगों-युगों से भारत-भूमि के साथ जुड़ा रहा है, आज भी है और सदैव ही बना रहेगा। यह भी बता दिया कि हिन्दू-चेतना प्रतिबंधित नहीं हो सकती। इसलिये, आइये! हम सब मिलकर उस चेतना से जुड़ें। अपने हृदय के श्रद्धाभाव को संघ-बद्ध करते हुए सात्विक संकीर्तन का रूप दें। राष्ट्रीय अस्मिता से जुड़ी राम-जन्म भूमि की समस्या को निर्मूल करने में सहभागी बनें।

राम-जन्म-भूमि की समस्या राष्ट्रीय अस्मिता की ही समस्या है। क्योंकि राम, कोटि-कोटि भारतीयों के आराध्य राम, राष्ट्रीय अस्मिता के प्रतीक हैं। राम का आदर्श ही तो भारतीय आदर्श है। बिना राम के भारत कहाँ? भारतीयता कहाँ? राम तो हर भारतीय के रोम-रोम में रमे हैं। यहाँ की मिट्टी के कण-कण में व्याप्त हैं।

जो लोग आज राम के विरोध में खड़े हैं वे भारत में रहते हुए भी भारत के विरोधी हैं भारतीयता के विरोधी हैं। वे राष्ट्रीय धारा के सहज प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करने वाले विषम शिला-खण्ड हैं।

लेकिन यह धारा रुकने वाली नहीं है। यह बहेगी और निर्बाध बहती रहेगी। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक, भारतीय परिवेश को अपने में समेटे हुए। स्वयं राम ने भी तो यही किया था। पूरी उत्तर दक्षिण धुरी को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास। समुद्र पार के उस तामसी प्रभाव को, जो उत्तर की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा था, रोक कर सात्विक सनातन संस्कृति का विस्तार सुदूर दक्षिण तक फैलाने का प्रयास किया था राम ने।

राम के अस्तित्व बोध से विमुख या भयभीत होने वालों को क्या कहूँ? निशाचर! पशु! या उलूक! या फिर तीनों की प्रवृत्तियों का मिला जुला रूप! तभी तो ये लोग अंधेरा - केवल अंधेरा - चाहते हैं ताकि उस अंधेरे में इनके दुष्कृत्य फलते-फूलते रहें। स्वार्थ के खूँटे से बँधे इन लोगों का विश्वास इनके गले में पड़े मोह-पाश में ही सीमित है। इनकी आस्था इनके चारे से जुड़ी है। उजाला इन्हें अन्धा बना देता है। इसलिए सूर्यवंशी राम के नाम से भी इन्हें भय लगता है। इनका अहंकार इन्हें सत्य को नहीं स्वीकारने देता। क्योंकि वे जानते हैं कि सत्य स्थापित हो गया तो उनका अस्तित्व खतरे में होगा। इसलिए वे आसुरी ढंग से संगठित हो रहे हैं। गाँव की पगडण्डी से संसद के गलियारों तक इन्होंने अपनी माया फैला दी है। इनके चारों ओर अनीति और भ्रष्ट आचरण का समुद्र खाई के रूप में भरा हुआ है। इस समुद्र को पार करके इनकी आसुरी योजनाओं को ध्वस्त करना होगा। यह राम कृपा से ही सम्भव हो सकेगा। राम कृपा से ही ऐसे पत्थर प्राप्त किये जा सकते हैं जो पानी पर तैर सकें। अर्थात् इनके अनैतिक और भ्रष्ट आचरण से निर्लिप्त रह सकें। ऐसे ही पत्थर डूबने से बचे रह सकेंगे और इन असुरों के दुर्भेद्य दुर्ग तक पहुँचने के लिए सेतु बना सकेंगे। राम-कृपा से ऐसा पुल बनाने वाले संगठित होने लगे हैं। अब पानी पर पत्थर तैराने भर की देर है। राम-कृपा से यह असम्भव काम भी सम्भव होकर रहेगा। यही तो रावण के साथ भी हुआ था। तीनों लोकों में आतंक फैलाने वाले रावण का अन्त भी ऐसे ही हुआ था। अग्नि, मरुत आदि को अपने संकेतों पर चलाने वाला तथा काल को भी अपनी पाटी में बांध कर रखने वाला रावण अपने अहंकारवश यह भूल गया था कि राम-विमुख होकर उसकी कुशल नहीं है। शिव का अखण्ड उपासक रावण भी राम-विमुख होकर शिवत्व नहीं पा सका। क्योंकि राम-विमुख होकर वह सांसारिक अनुरक्ति का केन्द्र बनकर रह गया था। होता भी यही है - जहाँ काम तँह राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम'। काम का ही पसारा तो थी रावण की रक्ष संस्कृति जो राम का विरोध करके नाश को प्राप्त हुई।

१९९० के अक्टूबर-नवम्बर महीनों में जो कुछ भी अयोध्या में हुआ, उसने विदेशी दमनकारियों को भी पीछे छोड़ दिया। यही राव कुछ तो रावण-राज्य हो हुआ था। तामसी रक्ष संस्कृति के विस्तार के लिए यज्ञ-विध्वंस, ऋषि-मुनियों का उत्पीड़न और उनका सामूहिक संहार ही तो रावण की राजनीति थी। राम ने इसका सटीक उत्तर दिया था सात्विक सनातन संस्कृति पर विश्वास करने वालों को संगठित करके। तभी तो वे उस रक्ष संस्कृति को निर्मूल करने में सफल हुए।

इसीलिए इस सनातन श्रद्धाभाव को स्वीकारना है। राम के प्रति श्रद्धा-भाव। राम भक्तों के प्रति श्रद्धा-भाव। यह श्रद्धा शब्दों की औपचारिकता मात्र नहीं है, हमारे अस्तित्व-बोध की अनिवार्यता है।

श्रद्धा बुद्धि का विषय नहीं हो सकती। है भी नहीं। वह तो हृदय का उद्गार है। भावना की सहज अवाक्

प्रस्तुति है। इसीलिए स्वतः उद्गमित होती है और एक बार फूट पड़ी तो रुकती थमती नहीं। इसके लिए देश काल की कोई शर्त नहीं। अनिवार्य रूप से फूट पड़ना ही इसकी शर्त है। वैसे ही जैसे धरती के अन्तर की रस धारा ऊर्ध्वमुखी होकर उत्स का रूप ले लेती है। यह ऐसी सुरसरि है जो हृदय के गोमुख से निकल कर निरन्तर बहती रहती है। बौद्धिक प्रपंचों के प्रस्तर खण्ड व्यवधान बनकर इसकी निरन्तरता को रोक नहीं पाते। जो भी इसके सम्पर्क में आता है, उसे पुण्य-लाभ बाँटती चलती है। यह ऐसी पतित पावनी है जो स्वार्थों से मुक्ति देती है। इसीलिए जहाँ श्रद्धा है वहाँ स्वार्थ तो टिकता ही नहीं। मुक्तिदायिनी है श्रद्धा की यह सुरसरि। माया-मोह से मुक्ति। सांसारिक स्वार्थों से मुक्ति। सुख दुःख के भाव से मुक्ति।

यही शुद्ध ज्ञान की स्थिति है। इस प्रकार ज्ञान का भी कारक सात्विक श्रद्धा ही है। तभी तो कहा गया है - 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्', जो श्रद्धावान है वही ज्ञान पा सकता है। बिना श्रद्धा के ज्ञान का आडम्बर तो किया जा सकता है, शुद्ध ज्ञान नहीं पाया जा सकता। ज्ञान पाने के लिए श्रद्धावान होना ही पड़ेगा। स्वार्थ यहाँ वर्जित है। कोई भी सांसारिक भाव यहाँ वर्जित है। क्योंकि जहाँ स्वार्थ, सांसारिकता है वहाँ शुद्ध ज्ञान की स्थिति हो ही नहीं सकती। इसका आशय स्पष्ट रूप से यह है कि ज्ञान बुद्धि का विषय नहीं है। विवेक का भी नहीं। विवेक भी अपूर्ण है। पूर्ण है प्रज्ञा और शुद्ध ज्ञान प्रज्ञा का विषय है। प्रज्ञावान वही है जो बुद्धि और हृदय में समन्वय स्थापित कर लेता है। इसी को गीता में 'स्थितिप्रज्ञ' कहा गया है। स्वतंत्र बुद्धि तो प्रपंच पूर्ण होती है। वह स्वार्थों से आवेष्टित रहती है। वही बुद्धि भावना से संयुक्त होकर प्रज्ञारूप हो जाती है।

यही मानव का सही रूप है। किसी एक पर टिकना अपूर्णता है। बुद्धि और हृदय में समन्वय स्थापित करना ही उसकी पूर्णता है। अकेला हृदय अंधा है क्योंकि वह सुनता तो है और अनुभव भी करता है लेकिन देखता कुछ भी नहीं। संसार में रहते हुए भी, उसका अनुभव करते हुए भी, प्रत्यक्ष नहीं कर पाता। इसीलिए गुण-दोष को परखने में असमर्थ रहता है। इस स्थिति में वह संसार से मुक्त भी नहीं हो सकता। बुद्धि उसे दृष्टि देती है। लेकिन अकेली बुद्धि लँगड़ी है, गति शून्य है। इस जड़ता को दूर करने के लिए आनन्द की आवश्यकता होती है। आनन्द हृदय का विषय है। इसलिए हृदय का योग अत्यन्त आवश्यक है। बुद्धि के साथ, हृदय के साथ हृदय का योग उसे सरसता प्रदान करता है। चेतन कर देता है।

सांख्य दर्शन के प्रकृति पुरुष में भी ऐसा समन्वय है। प्रकृति जड़ है, लंगड़ी है, गतिशून्य है। पुरुष उसमें चेतना जगाता है, गति संचार करता है। लेकिन पुरुष स्वयं अंधा है। संसार रूपी वैतरणी पार करने के लिए दोनों में समन्वय होना आवश्यक है। यही श्रेष्ठ युक्ति है। इसके बिना दोनों असमर्थ हैं।

यही बुद्धि का रचनात्मक रूप है। श्रद्धा भी रचनात्मक होती है शिवं से संयुक्त होकर। यही श्रद्धा जब सामूहिक होती है तो विश्व कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है। आइये, हम राममय होकर इसी सामूहिक श्रद्धा में अपनी भागीदारी जोड़ें। उनके लिए श्रद्धावान होकर जो राममय हो गये हैं। सत्य के लिए संघर्ष करते-करते जो अपने प्राणों की आहुति दे गये हैं। तुलसी ने पूरे जग को 'सीय राम मय" जानकर अपना प्रणाम निवेदित किया था, हम भी राममय हुई उन दिव्यात्माओं को कोटि कोटि प्रणाम प्रेषित कर रहे हैं। अस्तु ये लड़ने के लिए लामबंद होने की शुरुआत है यज्ञ। यही सात्विक जंग है।

मीडिया का संकट

तमाम राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक संकटों के साथ-साथ आज देश के सामने एक और भी बड़ा संकट है - मीडिया का संकट। अभिव्यक्ति का संकट भी कहा जा सकता है इसे। चूँकि हमारे देश में तथाकथित लोकतांत्रिक प्रणाली है, इसलिए 'मीडिया' के संकट की बात कुछ अटपटी अवश्य लगेगी; लेकिन है सोलह आने सच। वस्तुतः मीडिया का संकट दो तरह का होता है - प्रतिबंधात्मक और उपेक्षात्मक। एक में किसी झूठ को स्थापित करने के लिए सत्य पर प्रतिबंध लगाया जाता है। अथवा उसे किसी न किसी तरह हतोत्साहित और

बाधित किया जाता है। इसके लिए, कभी कभी सत्य से जुड़ी पूरी चिंतन धारा को विकृत करने का प्रयास किया जाता है। दूसरे में सत्य की उपेक्षा करके असत्य को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया जाता है। लोगों के सामने असत्य की व्यवस्था खड़ी की जाती है, एक भ्रम-जाल बुना जाता है। आज हमारे देश में दोनों ही प्रकार के संकट उपस्थित हैं। सरकारी और गैरसरकारी - दोनों ही प्रकार के 'मीडिया' इस संकट को दिन दूना-रात चौगुना गहराने में लगे हैं। कुछ जान-बूझ कर और कुछ अज्ञानता वश। तभी तो, हर क्षेत्र में अंधे रेवड़ियाँ बाँट रहे हैं और बार-बार अपनों को, सिर्फ अपनों को ही दे रहे हैं।

इसका प्रमाण यह है कि आजादी के बाद के दशकों में गरीब और गरीब हुआ है तथा अमीर और अधिक अमीर हुआ है। सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल्यों में जितनी गिरावट पिछले चार दशकों में हुई है, उतनी शायद सदियों में भी नहीं आयी थी। यह भी कहा जा सकता है कि हमारे चिन्तन की धारा उल्टी बहने लगी है। हमारी अपनी पहचान खो गयी है। जगद्गुरु कहा जाने वाला भारत चिंतन और दर्शन के क्षेत्र में भी परमुखापेक्षी हो रहा है। अब हमारे लिए सबसे बड़े दार्शनिक 'सार्त्र' और 'कीर्केगार्द' तथा सबसे बड़े कवि 'इलियट' और 'एजरा पाउण्ड' हो गये हैं। उन्हीं के भारतीय संस्करण दर्शन और साहित्य में मूर्धन्य माने जा रहे हैं। हमारे 'मीडिया' भी उन्हीं को महान बनाने के प्रयास में लगे हैं।

भूखी-नंगी जनता को लोकतंत्र का ख्याली पुलाव परोसा जा रहा है। लोकतंत्र भी तो अपने आप में झूठ का एक समुच्चय मात्र बन कर रह गया है। तमाम सारे राजनैतिक झूठ इसी लोकतंत्र के प्रतिपाद्य हैं। आपसी सौहार्द, भाईचारा और समता का दम भरने वाले सभी दल अपनी चुनावी प्रक्रिया सम्प्रदायवाद, जातिवाद और वर्गभेद से प्रारंभ करते हैं।

'मीडिया' का संकट तो अंग्रेजों के शासन काल में भी था। उस समय भी प्रतिबंधात्मक कार्यवाही होती थी। लेकिन सब कुछ स्पष्ट था। इसीलिए भारतीय जनमानस उसे नकारने में सफल हुआ था। क्योंकि गैरसरकारी मीडिया हमारे साथ था। ऐसे लोगों के हाथों में था जो राष्ट्र-प्रेम के अंगारों को दहकाना चाहते थे। हर एक राष्ट्रभक्त उससे जुड़ा था, उसका अंग था। आज की स्थिति वैसी नहीं है। आज तो गैरसरकारी 'मीडिया' भी दिशाहीन है। हम ऐसे दौर से गुजर रहे हैं, जिसमें यह संकट और भी गहराता जा रहा है, बल्कि देश के लिए घातक स्थिति तक पहुँच गया है। आज राष्ट्रीयता का कोई मूल्य नहीं रह गया है।

हमारी सामाजिक चेतना शून्य होती जा रही है। प्रांतवाद, भाषावाद, जातिवाद और घटकवाद की संकीर्णताओं में पूरा देश घिरता जा रहा है। आज समाज के सामने जो संप्रेषित होकर आना चाहिए, वह नहीं आ पा रहा है, और जो नहीं आना चाहिए, वह थोपा जा रहा है। यह थोपा गया आदर्श हमें न तो सामाजिक आधार दे पा रहा है और न नैतिक ऊँचाई। विडम्बना तो यहाँ तक है कि आजादी के इतने दिन बाद भी हम राष्ट्र और राष्ट्रीयता का अर्थ नहीं समझ सके हैं। हमारा मीडिया राष्ट्र ध्वज का अर्थ कितने लोगों को समझा सका है? स्वतंत्रता संग्राम में जिस राष्ट्र ध्वज की मर्यादा को बचाने के लिए तमाम राष्ट्र-भक्तों ने अपने प्राणों की आहुतियाँ दी थी, उसकी गरिमा की लौ जन-जन तक क्यों नहीं पहुँच पाई? यह काम क्या मीडिया का नहीं था? यदि था तो उसने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह क्यों नहीं किया? शायद इसलिए कि वे झूठ को स्थापित करने में लगे थे। वे किसी न किसी बड़े नेता के प्रशस्ति-पाठ में शामिल थे। वे कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को राष्ट्र से भी महान बनाने में लगे थे।

किसी न किसी झूठ को हमारे सिर पर मढ़ने का क्रम आजादी के ठीक बाद से ही चल पड़ा था। वस्तुतः जिन हाथों में आजादी की बागडोर सौंपी गयी, वे हाथ ही गलत थे। सच तो यह है कि आजादी के नाम पर सिर्फ सत्ता का हस्तांतरण ही किया गया था। और पूरे जन मानस के माथे पर यह झूठ मढ़ दिया गया, कि आजादी हमें हाथ जोड़ कर ही मिल गयी है। आजादी के लिए किये गये असंख्य बलिदानों को भुला दिया गया इसलिए हम मानसिक रूप से आज भी गुलाम है। हमारी कोई राष्ट्र-भाषा नहीं है। हमारी कोई राष्ट्रीय पहचान नहीं है। आज भी हम अंग्रेजों के बनाये कानून से मुक्त नहीं हो पाये हैं। विशेष रूप से हमारी शिक्षा आज भी 'मैकाले' का बोझ ढो रही है और प्रमाण पत्रों पर आधारित यह शिक्षा पद्धति पूरे देश में कागजी विद्वानों की फसल पैदा कर रही है

झूठों की स्थापना के सिलसिले में पहला झूठ था

जनमानस को यह समझाने का प्रयास करना कि आजादी हमें गांधी और गांधी के भक्तों की अहिंसावादी कृपा के सहारे मिली है और इसमें कुछ प्रमुख परिवारों का ही योगदान रहा है। जबकि सच यह है कि इसके लिए असंख्य अनाम बलिदानियों ने अपने प्राणों की आहुतियाँ दी हैं। गांधी का योगदान तो इतना ही था कि सत्ता के हस्तांतरण में उनकी 'हाँ' कारगर रही और उनके राजनैतिक दत्तक पुत्र नेहरू को सत्ता सौंप दी गयी। वहीं से राजनैतिक झूठ को स्थापित करने का सिलसिला बढ़ता रहा।

भारतीय जनमानस के माथे पर 'धर्मनिरपेक्षता' का झूठ भी मढ़ा गया। 'मीडिया' ने भी उसे खूब उछाला, खूब प्रचारित किया। जबकि 'धर्मनिरपेक्षता' अपने आप में एक निरर्थक शब्द है, 'आकाश-कुसुम' की तरह। इसकी कोई नयी अर्थ-भंगिमा भी नहीं बन सकती। 'देवानां प्रियः' की तरह यह नया अर्थ-बोध भी नहीं देता। लेकिन इसे प्रसारित किया गया; केवल मुस्लिम तुष्टीकरण के लिए। देखा जाय तो सृष्टि में कुछ भी धर्म-निरपेक्ष नहीं हो सकता। चेतन तो चेतन, जड़ भी धर्म निरपेक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ के लिए भी तो उसके धर्म 'जड़त्व' की अपेक्षा होती है। धर्म तो अस्तित्व का पर्याय है। फिर निरपेक्षता कैसी? पूरे संसार में जिसका, जिस रूप में भी अस्तित्व है वह धर्म-सापेक्ष होकर ही है। लेकिन कहने वालों ने कह दिया और 'मीडिया' ने सिर-आँखों पर लेकर प्रसारित कर दिया। एक सिरफिरे झूठ को स्वीकार लिया गया।

एक और झूठ भी स्थापित हुआ। राष्ट्रगान के रूप में। जो 'वंदे मातरम्' आजादी के तमाम-तमाम दीवानों का प्रेरणास्रोत रहा और तमाम बलिदानियों के लिए मंत्र के रूप में पवित्र था, जिसे गाते-गाते उन्होंने अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया, उसे पीछे करके जॉर्ज पंचम की प्रशस्ति में लिखे गये गीत को राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार लिया गया। राष्ट्र के लिए इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है? यह सब जान-बूझ कर किया गया। इसके पीछे भी नायकों की खोटी नीयत और किसी न किसी के तुष्टीकरण की घिनौनी राजनीति ही थी। मजे की बात तो यह है कि हमने राष्ट्र-अपमान के इस घिनौने कृत्य को राष्ट्र-प्रेम के रूप में श्रद्धा के साथ स्वीकार किया

'राष्ट्र पिता' की अवधारणा भी एक सफेद झूठ के समान है। क्योंकि भारत को भारत बनाने में, पौराणिक युग में आज तक तमाम महापुरुषों की भूमिका रही है। वे सबके सब भारत माँ के बेटे थे। राष्ट्र के सपूत थे। राम, कृष्ण, राणा, शिवाजी, सुभाष, भगत सिंह और ऐसे ही तमाम महापुरुष भारत माँ के सपूत ही तो थे। माँ को आततायियों से मुक्त कराने वाला कोई भी बेटा माँ के लिए बेटा ही रहता है, पिता नहीं बन जाता। लेकिन कुछ सिरफिरे लोगों की यह दिमागी फितरत मीडिया का सहारा पाकर खूब प्रचारित हुई। लोग यह भूल गये कि इसके पहले भी भारत था और अपनी पूरी जीवंतता के साथ विदेशी सत्ता से जूझ रहा था।

विडम्बना तो यह है कि गांधी को राष्ट्रपिता बताने वाले ये चतुर राजनैतिक ग्वाले उन्हीं गांधी के नाम की 'करती' बनाकर भोली-भाली जनता रूपी गाय को दुहते रहे। आज भी दुह रहे हैं।

यही नहीं, किसी को भारत का भाग्य विधाता, किसी को उद्धारक और किसी को युग का अवतार बताया गया। इसी क्रम में नेहरू को 'नये भारत का निर्माता' कहा गया। कैसा नया भारत? किसी व्यक्ति की राजनैतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए टुकड़ों में बाँटा गया भारत? राजनैतिक तिकड़मों से भरा भारत? अहिंसावाद का ढिंढोरा पीटते हुए प्रतिद्वंद्वियों की हत्या से कराहता भारत? अथवा अपने कद को अंतर्राष्ट्रीय ऊँचाइयाँ देने के लिए किसी व्यक्ति विशेष के विषैले और घातक प्रहार सहता हुआ घायल भारत? देश का विभाजन, कश्मीर का मसला, तिब्बत की भूल और राष्ट्रभाषा हिन्दी का सवाल तथा ऐसे ही तमाम प्रश्न-चिन्हों वाला भारत? यदि ऐसा नहीं है तो निश्चित रूप से यह भी एक सफेद झूठ था जो हमारे सिर पर लादा गया-

'आजादी की डोली जो ढोकर लाये थे
हमने भुला दिया है उन घायल कंधों को।
जीवन भर जो करते रहे कबूतर बाजी
श्रेय दिया है उन मालाधारी अंधों को।

यह भी मीडिया की मेहरबानी से ही हुआ है कि तमाम बौने विराट बन गये। तमाम बैडौल व्यक्तित्व अलंकृत हो गये। पदमश्री, पद्मभूषण और पद्म विभूषण तथा ऐसे ही तमाम सरकारी - गैर सरकारी अलंकरण खैरात में बाँटे गये। जिसने भी हाथ जोड़े और झोली फैलाई उसी को अलंकृत कर दिया गया।

'भारत-रत्न' जैसी उपाधि को मामूली प्रमाण-पत्र की तरह बाँटा गया और अंत में, इस अलंकरण की गिरती गरिमा को सँवारने के लिए, पूरे ४५ वर्ष के बाद नेताजी सुभाष चंद्र बोस को अलंकृत कर दिया गया। बड़ा उपकार किया उन पर!

ऐसे ही तमाम उदाहरण हैं जो राजनैतिक क्षेत्र में 'मीडिया' के संकट के सूचक हैं। यह स्थिति इसलिए हुई कि आजादी के बाद सत्ता के गलियारों में घटिया दर्जे के लोग पहुँचने लगे और अपनी चालों में कामयाब भी होते रहे। वहाँ भी राष्ट्र-चिंतन करने वाले लोग दकियानूस और अलोकतांत्रिक माने गये तथा उपेक्षित रहे। यह सिलसिला आज भी चल रहा है।

इस दौर में पतन की सर्वाधिक पीड़ा झेलनी पड़ी हिन्दी कविता को। यहाँ भी कुछ लोगों ने अपने को स्थापित करने के लिए कविता के साथ ऐसे-ऐसे प्रयोग किये कि वह पूरी तरह विद्रूपता का शिकार हो गयी। दार्शनिक गहनता, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और सामाजिक समझ से समन्वित रस-सिद्धान्त की उपेक्षा करके 'हाइकू' कविता के नकली गुलदस्ते सजाये गये और 'मीडिया' ने इस काम में पूरा सहयोग दिया। क्योंकि ऐसे लोग मीडिया की जुगाड़ में पूरी तरह फिट थे। परिणामतः 'प्रगतिवाद' के बाद तो हिन्दी कविता इतनी अधिक प्रगतिशील हुई कि 'प्रयोगवाद' से लेकर 'नयी कविता', 'अकविता' और ठोस-कविता के पड़ावों को पार करती हुई कवि-सम्मेलनों के मंचों पर आते-आते कुकविता में बदल गयी। पारदर्शी परिधानों में सजी कैबरे-नर्तकी की तरह फिल्मी अंदाज में थिरकने लगी। वह सत्य के ऊँचे शिखर से उतर कर किन्हीं अंधी कंदराओं में खो गयी। आनंद के मानसरोवर में मोती तलाशने में उसे ऊबन होने लगी। इसीलिए गंदी नालियों में सीप और घोंघों की तलाश बन गयी है कविता। उसका शिवं भाव तिरोहित होता चला गया।

'मीडिया' के इस संकट के लिए हम सब किसी न किसी रूप में दोषी हैं। कुछ इसलिए दोषी हैं कि झूठ की हाँ में हाँ मिला रहे हैं और कुछ इसलिए कि तटस्थ हैं। व्यक्ति से लेकर दल के स्तर तक यही स्थिति है। परिणामतः सरकारी मीडिया सरकार का उद्घोषक मात्र रह गया है। वह ऐसे लोगों के हाथों का खिलौना है जो अपनी पहचान बनाने के लिए अनर्गल बातों का प्रचार कर रहे हैं। विसंगतियाँ बाँट रहे हैं।

इन माध्यमों से प्रचारित होने वाली कविताओं को ही लें तो लगेगा कि विश्व साहित्य में हिन्दी कविता ही निकृष्टतम है। दूसरी और गैर सरकारी मीडिया और व्यावसायिक पत्रिकाओं की भूमिका भी प्रश्न वाचक बनी हुई है। इनमें से अधिकांश तो पाश्चात्य शैली में सजने-सँवरने के ढंग अथवा विविध व्यंजन बनाने के तरीके ही परोसने तक सीमित हैं। कुछ नारी मुक्ति के नाम पर अमर्यादित स्वच्छंदता की सीख दे रही हैं। नारी मुक्ति की पक्षधर ये पत्रिकायें अपने ही पृष्ठों पर नारी के अर्द्धनग्न और अश्लील विज्ञापन छापने से मुक्त होने की इच्छा नहीं रखती। उन्हें इस बात का प्रचार करने में भी कोई रुचि नहीं है कि नारी को विज्ञापन की वस्तु बनाना उसे अपमानित करना है।

धीरे-धीरे लोगों की मानसिकता ऐसी बदलती जा रही है कि साहित्य को, विशेष रूप से कविता को, केवल सस्ते मनोरंजन का साधन माना जाने लगा है। सत्साहित्य का टोटा होता जा रहा है। ऐसा लगता है कि विषमताओं और विसंगतियों से जूझते लोगों को बेवजह हँसाने का प्रयत्न किया जा रहा है और लोग हैं कि हँसना भी चाहते हैं। या यूँ कहिये कि मन के दर्द को हँसी की पर्तों में ढँकने का झूठा प्रयास कर रहे हैं। हँसी का शिकार होते जा रहे हैं। लोगों की यह हँसी स्वाभाविक नहीं है। सहज नहीं है। रस के स्तर की नहीं है। यह पागलों की हँसी जैसी है। हँसने वाला स्वयं नहीं जानता कि वह क्यों हँस रहा है। वह तो किसी दूसरे को देखकर हँस रहा है और दूसरा किसी तीसरे को देख कर और तीसरा किसी चौथे को देख कर। इस प्रकार हम सामी हँसी की संक्रामकता के शिकार हो रहे हैं। अनायास ही, अनचाहे ही।

कभी तुलसी बाबा ने कहा था-
'कवित रसिक न राम पद नेहूँ
तिन्ह कँह सुखद हास रस एहू।'

अब रस-ग्राह्यता कहाँ? न काव्य रस की ग्राह्यता और न राम-रस की। इसीलिए सच्ची व्यंजना की पैनी धार भी भोंथरी लगने लगी है। हम उसके पैनेपन को समझने में असमर्थ होते जा रहे हैं। हास्य और व्यंग्य को एक ही पैमाने पर नापने लगे हैं। जबकि दोनों में रस की स्थितियों का अंतर है। एक तो हास्य का उत्पाद्य है और दूसरा करुणा का। सच्चा व्यंग्य तो सदैव ही करुणा की भूमि पर उगता है। लेकिन हम

इतने संवेदन शून्य होते जा रहे हैं कि अब करुणा भी हमें द्रवित नहीं करती। तभी तो रचना और रस-ग्राहता दोनों ही स्तरों पर हम वाल्मीकि और तुलसी की परम्परा से टूटते जा रहे हैं।

ऐसे में पत्रिकाओं - विशेष रूप से विभिन्न संस्थानों और विद्यालयों की स्मारिकाओं तथा अन्य अनियतकालीन पत्रिकाओं, का दायित्व बनता है कि अनजानी और अनमनी प्रतिभाओं की उदासीन बौद्धिकता को सक्रिय और मुखरित करने का प्रयास करें। माना कि यह प्रयास घनी अंधेरी रात में, कहीं कोई नन्हा सा दिया जलाने जैसा है, लेकिन इसी तरह एक-एक दिया जलाने का प्रयास तमाम लोग करें तो रात के वक्ष पर उजाले की तहरीर लिखी जा सकती है। सूरज के नाम लिखा गया ऐसा हर ज्योति-पत्र नयी सुबह ला सकता है। आओ हम सब मिल कर यह प्रयास करें।

इतना तो है यकीन कि पुर्दों की भीड़ में
गिनती में चाहे कम हों, मगर आदमी भी हैं।
इस रात की महफिल में अंधेरा है, घुटन है
लेकिन कहीं पै धड़कनें भी रोशनी की हैं।
ये थरथराते, टिमटिमाते, काँपते दिये
ये आने वाली सुबह के इशारे सभी हैं।
इस फैली हुई राख में गर्मी है अभी तक
हम को भी हौंसला है कि अंगारे कहीं हैं।
इसलिए
कलियों से कह दो आज वे चिन्गारियाँ बनें,
फूलों से कह दो आज वे शोलों में बदल जायें।
कोयल से कह दो आज अग्नि-राग गाये,
तो गीत के स्वर बिजली बोलों में बदल जायें।

तेरा तुझको अर्पण....

किसी के द्वारा किये गये शुभ कर्म जब उसके जीवन के स्मारक बनने लगते हैं तो व्यावहारिक भाषा में उसे यश कहते हैं। वस्तुतः स्मारक व्यक्ति का नहीं, उसके सुकर्मों का होता है ताकि आगे आने वाली पीढ़ियाँ उन सुकर्मों से जुड़ सकें। उन्हें स्वीकार कर सकें। किसी का यश-गान भी उसके द्वारा किये गये सुकर्मों का स्मरण ही है क्योंकि इस असार संसार में यश ही शेष रह जाता है। यश ही व्यक्ति का अमूर्त स्मारक है। वह व्यक्तिवाचक न होकर भाववाचक होता है।

ऐसे यशस्वी लोगों के द्वारा किये गये सुकर्मों से लोक हित का विस्तार होता है। इसी के साथ यश का भी विस्तार होता है। वैसे ही जैसे वायु के स्पंदन के साथ सुगंधि का विस्तार सभी दिशाओं में होता है। जैसे तेल की बूँद पानी में पड़ कर चारों ओर फैल जाती है - 'विस्तीयते यशो तैल विन्दुरिवाम्भस'। यह विस्तार देश और काल दोनों में होता है। अर्थात् दूर दूर तक, पीढ़ी दर पीढ़ी, सुकर्मों की सराहना और अनुकरण होता है। फिर व्यक्ति व्यक्ति न रह कर एक संस्था बन जाता है। सिद्धान्त बन जाता है। सुरसरि के समान सबका हित करने के लिए मृत्यु के बाद भी वह अपने यशः शरीर के माध्यम से हमारे बीच रहता है - यशः शेष बन कर। यही महापुरुषत्व है, जो शुभ कर्मों के द्वारा अर्जित होता है। इसे पद या पैसे से नहीं पाया जा सकता। यही देवत्व है।

श्रद्धेय बैरिस्टर साहब देवत्व की महिमा से युक्त ऐसे ही महापुरुष थे, हैं। अपने सुकर्मों, श्रेष्ठ आदर्शों और पावन स्मृतियों के रूप में, लगता है, वे आज भी हमारे बीच में हैं। 'नीराजन' का यह अंक उन्हीं की पुण्य स्मृति में उन्हीं को समर्पित।

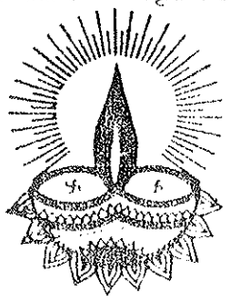

विद्यालय वार्षिकोत्सव (१९९१-९२)

प्रवीण गंगवार, द्वादश

प्रथम दिवस

२४ सितम्बर १९९१, मंगलवार। आज पं. दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय के इक्कीसवें वार्षिकोत्सव के प्रथम दिन का कार्यक्रम विद्यालय प्रांगण में सम्पन्न हुआ। प्रस्तुत है कार्यक्रम की रिपोर्ट।

प्रथम सत्र

आज सुबह ८ बजे जब विद्यालय पहुँचा तो पाया कि विद्यालय शानदार सुसज्जित मंच के साथ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त नेता, विचारक, मनीषी और दीनदयाल जी के निकट सहयोगी मा. अटल बिहारी बाजपेयी की प्रतीक्षा में रत है। विद्यालय के गोल प्रांगण में सामने की ओर श्वेत पृष्ठभूमि के ऊपर केसरिया रंग के कपड़े पर सितारों द्वारा बनाया गया विद्यालय के वार्षिकोत्सव का बैनर, पृष्ठ भूमि के बीच में लगा दीनदयाल जी का चित्र, सीमा बनाती हुई पीली झालरें सहज ही हर व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर रही थीं।

अचानक सुनाई दी सीटी की आवाज, जो संकेत थी कि कार्यक्रम के मुख्य अतिथि मा. अटल जी विद्यालय में प्रवेश कर रहे हैं। इसके साथ ही प्रारम्भ हो गयी विद्यालय के छात्रों द्वारा उनके स्वागत में बजायी गयी बाँसुरी की मधुर धुन। जैसे ही मा. अटल जी मंचासीन हुए, विद्यालय की घोष-टोली ने उनका स्वागत, स्वागत-प्रणाम की रचना द्वारा किया। साथ ही जोरदार धमाकों से सलामी दी गयी।

पंडित जी के चित्र पर पुष्पार्पण के पश्चात् भारतीय संस्कृति एवं विद्यालयीय परम्पराओं का निर्वाह करते हुए समवेत् स्वर में सरस्वती वन्दना की गयी और इसके बाद हुआ विद्यालय की किशोर भारती के अध्यक्ष आदर्श श्रीवास्तव द्वारा मुख्य अतिथि का औपचारिक स्वागत।

विद्यालय की सैन्य इकाई, जूनियर एवं सीनियर डिवीजन एन.सी.सी. के जवानों द्वारा मुख्य अतिथि को सैल्यूट दिया गया। विद्यालय के छात्रों द्वारा तीव्र योग, मंद योग, आसन, मुष्टिका योग एवं योग चाप का सामूहिक प्रदर्शन किया गया।

प्रधानाचार्य श्री ओमशंकर त्रिपाठी जी द्वारा विद्यालय की वार्षिक आख्या प्रस्तुति के पश्चात् मा. मुख्य अतिथि जी द्वारा विद्यालय को गौरवान्वित करने वाले छात्रों को पुरस्कृत किया गया। इनमें इण्टरमीडिएट व हाईस्कूल की परिषदीय परीक्षाओं में प्रदेश की वरीयता सूची में अपना स्थान बनाने वाले छात्र थे। इण्टरमीडिएट परीक्षा में प्रदेश में तृतीय स्थान पाने वाले सतीश चन्द्र गुप्त व हाईस्कूल में तृतीय स्थान पाने वाले विश्वम्भर दयाल को विद्यालय का प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ।

इस वर्ष हमारे विद्यालय में पाठ्यक्रम सहित अन्य सद्गुणों को प्रोत्साहन देने के लिए एक ऐसे पुरस्कार की योजना की गयी, जो वास्तव में लीक से हट कर है। पुरस्कार का नाम है 'विद्यालय रत्न'। इस पुरस्कार को पाने के लिए छात्र में निम्नांकित दस गुणों का होना अनिवार्य माना गया - सत्यनिष्ठता, मृदुभाषी, एकाग्रचित्त, परिश्रमी, दृढ़निश्चयी, व्यवहारकुशल, कर्तव्यनिष्ठ, विश्वासी, मितव्ययी तथा देशप्रेमी। यह मेरा सौभाग्य है कि आचार्य वर्ग के आशीर्वाद व उनकी प्रेरणा तथा परमात्मा की कृपा से यह पुरस्कार मुझे ही प्रदान किया गया।

राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत गीत - "फिर पुरातन राष्ट्र का, फिर से नया निर्माण हो" की नवम कक्षा के छात्र पवन शुक्ल द्वारा प्रस्तुति के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त एवं कार्यक्रम के मुख्य अतिथि मा० अटल जी द्वारा मुख्य उद्बोधन दिया गया, जिसमें उन्होंने युग द्रष्टा पं. दीनदयाल उपाध्याय के संस्मरणों एवं उनके विचारों पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि हम यह सोचकर कार्य करें कि यदि दीनदयाल जीवित होते तो किस प्रकार कार्य करते।

दीनदयाल जी की राष्ट्रीय सम्पत्ति के प्रति निष्ठा का उदाहरण देते हुए अटल जी ने बताया कि एक बार रेलगाड़ी में सफर करते समय जब किसी कार्यवश

माननीय गुरु जी ने उन्हें अपने पास प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बुलाया तो स्वयं ही उन्होंने टी.टी. को बुलाकर उतनी दूर के प्रथम श्रेणी के किरायें का भुगतान किया।

बीज में वृक्ष समाया रहता है। नर में नारायण होता है। हम साधारण हैं परन्तु एक ध्येय को पकड़ कर महान बन सकते हैं। यह पंडित जी के जीवन से परिलक्षित होता है। विपरीत परिस्थितियों में भी यदि व्यक्ति मन में तय कर ले तो वह आगे बढ़ सकता है। व्यक्ति को अपना मन बनाना चाहिये, कार्य करने में आने वाली कठिनाइयाँ फिर किसी भी प्रकार से समाप्त हो सकती हैं।

पंडित जी के देहावसान को याद करके भावुक होकर अटल जी ने बताया कि जब हमारे घर से कोई चला जाता है तो दुःख होता है। परन्तु उससे भी अधिक दुःख हमें पंडित जी की मृत्यु के समय हुआ था। पंडित जी उच्चकोटि के विचारक, लेखक, सम्पादक तो थे ही वरन् आवश्यकता पड़ने पर वह कम्पोजिंग, प्रिंटिंग और हॉकर का भी कार्य करते थे।

विद्यालय की प्रबन्ध समिति के सचिव द्वारा धन्यवाद ज्ञापन व सामूहिक राष्ट्रगान के पश्चात् कार्यक्रम समाप्त हो गया।

द्वितीय सत्र

मा० अटल जी द्वारा विद्यालय में आयोजित अन्तर्विद्यालयीय वैज्ञानिक प्रदर्शनी' के उद्घाटन व अवलोकन के पश्चात् छात्रावासीय एवं भूतपूर्व छात्रों के प्रश्नों के उत्तर देते हुए मा. अटल जी ने कहा कि सृष्टि में कोई जीव ऐसा नहीं है जिसकी सार्थकता न हो। जिसकी सार्थकता नहीं वह सृष्टि के क्रम में नष्ट हो जाता है और उसका स्थान उपयोगी जीव ले लेता है। इसी प्रकार जीवन के सभी संस्कार उपयोगी हैं। अतः उनकी उपयोगिता की जानकारी करो और दूसरों को समझाने का प्रयास करो।

भारत की स्थिति के संबंध में बताते हुए मा. अटल जी ने कहा कि वह भी एक दिन आयेगा, जिस दिन भारत अखण्ड होगा लेकिन तब तक हमें सोचना होगा कि हमारी पाकिस्तान और बांग्लादेश के साथ क्या नीतियाँ होंगी? वह ऐसी होनी चाहिए जिसमें सब प्रकार से भारत का हित निहित हो।

विद्यालय के वर्तमान छात्रों की ओर से सर्वप्रथम द्वादश कक्षा के छात्र अक्षय माथुर द्वारा प्रश्न किया गया कि बताया जाता है कि जो स्वयं को सभा में ठीक प्रकार से स्थापित कर सके वही सभ्य है और यदि हम बताये गये आदर्शों के अनुसार जीवन यापन करने का प्रयास करते हैं तो समाज में स्थापित नहीं हो पाते।

इसके उत्तर में मा० अटल जी ने बताया कि यह प्रश्न बार-बार हमारे सामने आता है परन्तु मुझे नहीं लगता कि बाहर की दुनिया इतनी खराब हो गयी है कि इसमें आदर्शों के अनुसार चला ही नहीं जा सकता। व्यवहार के साथ आदर्श का मेल बिठाना तो जरूरी है ही लेकिन आदर्श को बिल्कुल भुला दें ये भी ठीक नहीं होगा और आदर्श की निष्ठा के कारण व्यवहार को बिलकुल भुला दें तो भी ठीक नहीं होगा। लेकिन हमें अनाप-शनाप धन कमाने की इच्छा पर रोक लगानी होगी।

इस प्रकार विद्यालय के प्रथम दिवस के कार्यक्रम का समापन हुआ।

द्वितीय दिवस

२५ सितम्बर १९९१, बुधवार। आज सायं ६.०० बजे जब विद्यालय वार्षिकोत्सव के दूसरे दिन के कार्यक्रमों के अवलोकनार्थ पहुँचा तो देखा कि मुख्य द्वार तो उसी प्रकार सज्जित है परन्तु कुर्सियाँ जो कि कल गोल पथ परलगी थीं आज मैदान के अंदर हैं और मंच है तो उसी जगह परन्तु उसका रंग-रूप पूरी तरह परिवर्तित हो गया है। स्पष्टतः यह मंच किसी बौद्धिक कार्यक्रम के लिए न होकर रंगमंचीय प्रस्तुतियों के लिए था। परन्तु अचानक ध्यान गया कि पर्दा खुला हुआ है और मंच पर आज के कार्यक्रम के मुख्य अतिथि एवं दीनदयाल शोध संस्थान, दिल्ली के निदेशक डॉ० देवेन्द्र स्वरूप जी आ रहे हैं। ज्ञानदायिनी माँ सरस्वती एवं माँ भारती को पुष्पार्पण व समवेत् स्वर में वन्दना के पश्चात प्रारम्भ हुआ हाईस्कूल व इण्टरमीडिएट में ससम्मान उत्तीर्ण छात्रों को पुरस्कार प्रदान करने का एक लम्बा सिलसिला।

मुख्य अतिथि जी ने अपने उद्बोधन में कहा कि छात्रों के सर्वांगीण विकास हेतु एवं छात्रों में सोयी अभिनय की प्रतिभा को जगाने के लिए ऐसे कार्यक्रम अत्यंत उपयोगी होते हैं। साथ ही नाटकों का मंचन राष्ट्र जन शक्ति में चेतना का स्पंदन जगाने का एक सशक्त माध्यम है।

कार्यक्रम में राष्ट्रीय नाट्य अकादमी द्वारा मान्यता प्राप्त निर्देशक एवं सर्वोत्कृष्ट रंगकर्मी श्री सिद्धेश्वर अवस्थी भी उपस्थित थे।

छात्रों की रंगमंचीय प्रस्तुतियों के क्रम में सर्वप्रथम विद्यालय के छोटे छात्रों द्वारा माँ भारती की वन्दना स्वरूप अभिनय गीत का प्रस्तुतीकरण किया गया। इसे सराहना के क्रम में द्वितीय स्थान प्राप्त हुआ।

सर्वाधिक सराहना सबसे अंत में मंचित प्रधानाचार्य श्री ओमशंकर त्रिपाठी द्वारा लिखित एवं कलाविद् नाट्य संस्था के प्रतिभाशाली निर्देशक विकास कपूर द्वारा निर्देशित कार्यक्रम के एकमात्र गम्भीर नाटक 'युगपुरुष' की हुयी।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के इस नाटक में सिकंदर के आक्रमण के समय राष्ट्रोद्धार में लगे आचार्य चाणक्य के प्रयासों की कथा दर्शायी गयी थी। श्रेष्ठ अभिनय का प्रथम पुरस्कार चाणक्य की भूमिका करने वाले क्षेमेन्द्र बाजपेयी तथा द्वितीय पुरस्कार पुरुराज की भूमिका के लिए क्षितिज जयपुरियार तथा घनानन्द की भूमिका के लिए अमित राय को प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त के किरदार को निभाने वाले पुष्पेश सिंह को तथा मगध के महामात्य राक्षस के सबसे कठिन रोल के सफलता पूर्वक अभिनय के लिए अक्षय माथुर को भी सराहा गया।

लघु भूमिकाओं में भारतीय सैनिक आत्म प्रकाश तथा यूनानी सैनिक पवन मिश्र के युद्ध के दृश्य ने प्रशंसा अर्जित की।

सराहना अर्जित करने के क्रम में तृतीय स्थान अंग्रेजी हास्य झलकी 'The prince and his teachers' का रहा। यद्यपि नाटक का निर्देशन अनुभवहीन हाथों से हुआ था फिर भी प्रस्तुति की दृष्टि से इसे यह स्थान प्राप्त हुआ। यह पूर्ण रूप से इंग्लैण्ड की पृष्ठभूमि पर आधारित था। इसके निर्देशक व अभिनेता दशम कक्षा के गौरव आनन्द मिश्र थे। इन्होंने राजकुमार की भूमिका का निर्वाह किया। राज प्रासाद के मुख्य परिचारक दुष्यंत सिंह को तथा पागलों की भूमिका में अष्टम कक्षा के छात्र विनय यादव व नवम कक्षा के अमित अवस्थी को सराहा गया।

विकास कपूर द्वारा लिखित सामयिक हास्य एकांकी 'गड्ढा' ने यद्यपि दर्शकों का अत्यधिक मनोरंजन किया परन्तु अच्छी प्रस्तुति की कमी के कारण इसे गड्ढे में ही स्थान दिया गया। फिर भी श्रेष्ठ अभिनय का द्वितीय पुरस्कार इस नाटक में पान वाले की भूमिका निभा रहे अमित त्रिपाठी को तथा नेता की भूमिका निभा रहे सौरभ सारस्वत को प्रदान किया गया। अच्छे सेट व कुशल निर्देशन की कमी इसके मंचन के समय खलती रही अन्यथा यह सर्वश्रेष्ठ स्थान भी पा सकता था।

इसके अतिरिक्त विवेकानन्द का शिकागो भाषण, वायलिन वादन, तथा तीन छात्रों द्वारा प्रस्तुत एक गीत अपेक्षाकृत बहुत कम पसंद किये गये।

कार्यक्रम में सभी प्रकार की प्रस्तुतियाँ थी जिनके कारण यह कार्यक्रम हर दृष्टि से परिपूर्ण था। कुल मिलाकर यह कार्यक्रम सफल रहा। आगे के कुछ कार्यक्रमों के स्थगन की सूचना होने के पश्चात् सभी के सम्मुख कारण जानने के लिए आशंका भरी जिज्ञासा थी। बाद में पता चला कि उस दिन विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री ओमशङ्कर त्रिपाठी के पिता जी का लम्बी अवधि की बीमारी के पश्चात् निधन हो गया था। वास्तव में यह दुःखद सूचना सम्पूर्ण विद्यालय परिवार के लिए विशेष व्यथा कारक थी।

तृतीय दिवस

२७ सितम्बर १९९१, शुक्रवार। विद्यालय के वार्षिकोत्सव के तृतीय दिवस के कार्यक्रम आज प्रातः ८.०० बजे विद्यालय सभागार में ज्ञानिनामाग्रगण्यम् हनुमान जी, ज्ञानदायिनी माँ सरस्वती व माँ भारती के चरण कमलों में सम्पन्न हुए।

प्रथम कार्यक्रम इसी वर्ष से प्रारम्भ अष्टम कक्षा तक के छात्र-छात्राओं की पं. दीनदयाल स्मारक अंतर्विद्यालयीय राष्ट्रीय गीत गायन प्रतियोगिता का था। जिसमें कानपुर नगर के पन्द्रह विद्यालयों के कुल तीस छात्र-छात्राओं ने भाग लिया।

चूंकि इस कार्यक्रम का आयोजन विद्यालय की बाल भारती के तत्वावधान में किया गया था, अतः इसकी अध्यक्षता एवं संचालन बालभारती के पदाधिकारी पवन शुक्ल एवं संजय शुक्ल द्वारा किया गया।

कार्यक्रम के मुख्य अतिथि एवं मुख्य निर्णायक के रूप में नगर ही नहीं वरन् समग्र प्रदेश के उत्कृष्ट संगीतज्ञ 'मा. काशीनाथ शंकर बोडस जी' उपस्थित थे। जिस कारण से एक दिन का कार्यक्रम निरस्त कर दिया गया था, उसी कारण से ही गायन में वाद्ययंत्रों का प्रयोग

निषेध कर दिया गया। परिणाम की घोषणा करते हुए बोडस जी ने कहा कि अगले वर्ष जब कार्यक्रम में वाद्ययंत्र भी जुड़ जायेंगे तो कार्यक्रम और भी चमक उठेगा। प्रतियोगियों के मूल्यांकन के लिए तीन निर्णायकों ने विद्यार्थियों को गीत के चयन, लय, भाषा और प्रभाव पर अंक दिये।

आज का द्वितीय कार्यक्रम पं. दीनदयाल उपाध्याय स्मारक वाद विवाद प्रतियोगिता का था। इसका विषय था - 'भारत वर्ष की उन्नति धर्म सापेक्षता से ही सम्भव है।' इस कार्यक्रम में बीस विद्यालयों के प्रतियोगियों ने हिस्सा लिया। प्रतियोगी दो भागों में विभाजित किये गये थे। एक 'छात्र वर्ग' जिसमें १० विद्यालयों के २० प्रतियोगी छात्र थे। दूसरे छात्रावर्ग में भी १० विद्यालयों की २० छात्रायें थीं।

कार्यक्रम का संचालन विद्यालय की किशोर भारती द्वारा किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता द्वादश कक्षा के छात्र 'अक्षय माथुर' ने की। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि के रूप में विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म विद्यालय के अवकाश प्राप्त प्राचार्य 'श्री शिव शरण शर्मा' एवं मुख्य निर्णायक के रूप में प्रतिष्ठित विद्वान 'श्री जागेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव' विद्यमान थे। माननीय शर्मा जी ने अपने उद्‌बोधन में बताया कि इस प्रकार के कार्यक्रमों में विषय के पक्ष व विपक्ष में रखे गये तर्कों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करके उनसे ऐसे निष्कर्ष निकालने चाहिए जिनसे समाज एवं राष्ट्र का उत्थान हो सके। इन्हें केवल प्रतियोगिता एवं पुरस्कार तक सीमित करके संतोष नहीं कर लेना चाहिए।

प्रतियोगियों का मूल्यांकन तीन विद्वान निर्णायकों द्वारा विषयवस्तु, भाषा, शैली और प्रभाव के आधार पर किया गया।

चतुर्थ दिवस

२८ सितम्बर १९९२, शनिवार। आज विद्यालय वार्षिकोत्सव कार्यक्रमों की श्रृंखला में विज्ञान प्रदर्शनी के अंतर्गत अंतर्विद्यालयीय वैज्ञानिक प्रदर्श प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इसमें पं. दीनदयाल विद्यालय के अतिरिक्त नगर के तीन विद्यालयों ने भाग लिया। ये विद्यालय थे - क्राइस्ट चर्च इंटर कॉलेज, बी.एन.एस.डी. शिक्षा निकेतन तथा सरस्वती ज्ञान मंदिर, इंदिरा नगर।

सम्पूर्ण प्रतियोगिता दो भागों में विभाजित थी। एक भाग में चल प्रदर्श व दूसरे भाग में अचल प्रदर्श थे। प्रदर्श की उपयोगिता, बनाने का ढंग, उसके बारे में जानकारी आदि बिंदुओं के आधार पर पाँच निर्णायकों द्वारा कुल १०० अंकों में प्रतियोगी छात्र-छात्राओं के प्रदर्शों का मूल्यांकन किया गया।

इस प्रकार पं. दीनदयाल उपाध्याय के जन्मोत्सव के अवसर पर मनाये गये विद्यालय के वार्षिकोत्सव कार्यक्रम का पूर्ण हर्षोल्लास के साथ समापन हो गया।

☐ नीराजन, १९९१-९२

जिस सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति और व्यक्ति के बीच अर्थात् समाज के व्यवहार में परस्पर अनुकूलता होगी, वहां व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसका सम्मान सुरक्षित होगा।

— दीनदयाल उपाध्याय

वार्षिक खेलकूद (१९८४-८५)

✍ गयाप्रसाद वर्मा

शीत निष्प्राण हो चली है। सूर्य की किरणों की प्रखरता बढ़ रही है। प्रकृति में चारों ओर सजीवता है। मकर संक्रान्ति के अवकाशोपरान्त आज विद्यालय खुला है। सभी आचार्यों व छात्रों के हृदय में एक नवीन उत्साह का संचार हो रहा है। पक्षियों का कलरव वातावरण की नीरवता को भंग कर रहा है। तब छात्र भी कैसे मौन रह सकते हैं? वार्षिक खेलकूद की चर्चा सुनाई पड़ रही है। बालकों की चंचलता, शरीर की क्रियाशीलता के माध्यम से प्रकट होने को उत्सुक है। आखिर उनकी उत्सुकता उन्हें क्रीड़ा प्रमुख आचार्य श्री सुभाष जी के पास खींच ही लाई- 'आचार्य जी इस बार खेलकूद कब से प्रारम्भ कर रहे हैं?'

आचार्यों को तो कोई जल्दी नहीं है किन्तु छात्रों के मान में तो उथल-पुथल है, अधीरता है। सबकी दृष्टि यत्र-तत्र लगे हुए नये वर्ष के पञ्चांग पर है। किसी ने सुझाव दिया, "२३ जनवरी से क्रीड़ा प्रतियोगितायें शुरू की जा सकती हैं।" पर इतनी जल्दी व्यवस्थायें करनी हैं। मैदान में रेखांकन करना है। बाँस, बल्ली, कनात, शामियाना, ध्वनि-विस्तारक, मंच और चित्रांकन आदि व्यवस्थायें पूर्ण करनी हैं। आज २० तारीख हो गई है। यह सब कठिन दीखता है। पर छात्रों को ये सब व्यवस्थायें खेल की तरह ही दिखाई पड़ रही हैं। कोई कबूतरों का पिंजड़ा लिये चला आ रहा है तो कोई कैमरा लटकाये चित्रांकन की व्यवस्था सम्हालने का वचन दे रहा है। कुछ छात्र मैदान में रेखांकन में अपनी कुशलता का प्रमाण दे रहे हैं तो कोई ध्वनि-विस्तारक पर आदेश प्रेषित करने की अनुमति माँग रहा है। शीघ्र ही सारी व्यवस्थायें बँट जाती हैं और वार्षिक खेलकूद की तिथियाँ २३, २४, २५ जनवरी को निश्चित कर दी जाती हैं। दिनांक २३ जनवरी, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की जयन्ती के स्वर्णिम प्रभात को ९ बजे से उद्‌घाटन समारोह प्रारम्भ हुआ। उद्‌घाटन के अवसर पर मुख्य अतिथि के रूप में माननीय बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह के साथ जिला विद्यालय निरीक्षक श्री राज किशोर सिंह का आगमन हुआ।

ध्वजारोहण के पश्चात् मुख्य अतिथि का परिचय, स्वागत एवं आगे के कार्यक्रमों का श्रीगणेश। छात्रों के चार दल बनाये गये हैं। अभिमन्यु दल, एकलव्य दल, ध्रुव दल और लवकुश दल। लवकुश सबसे छोटे छात्रों का और अभिमन्यु सबसे बड़े छात्रों का दल है। इसी क्रम में आयु और ऊँचाई के अनुसार बीच के दो दल बने हैं। खेल-खेल में सदाचार की शिक्षा। अपने दल के नाम से कुछ सद्‌गुणों के संस्कार मिल जाना स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्रत्येक छात्र की एक नई टोली है। हर छात्र को अपने दल को विजयी बनाने का आत्म-विश्वास है। प्रत्येक दल के चार कुंज हैं। सत्य कुंज, शौर्य कुंज, धैर्य कुंज और शक्ति कुंज। उद्‌घाटन के अवसर पर छात्र कुंजशः खड़े हैं। क्रीड़ा प्रतियोगिता के नियमों के पालन का संकल्प दोहरा रहे हैं। हर कुंज का ध्वज उसके सामने लहरा रहा है। हर कुंज के ध्वज का अपना एक रंग है, अपना वैशिष्ट्य है। किन्तु विविधता में भी एकता है। वह है अपने विद्यालय की भावना। सभी छात्र अपने ही विद्यालय के हैं। उद्‌घाटन समारोह के कुछ विशेष आकर्षण हैं। पहला है मशाल प्रज्ज्वलित होना। इस वर्ष मशाल को प्रज्ज्वलित करने का गौरव मिला चि० आनन्द को जिन्होंने गतवर्ष की इण्टरमीडिएट बोर्ड की परीक्षा में प्रदेश में प्रथम स्थान प्राप्त कर विद्यालय का गौरव बढ़ाया। यह अच्छे धावक भी रहे हैं। मशाल प्रज्ज्वलित हुई। आनन्द गुप्त उसे लेकर तीव्रगति से विद्यालय प्राङ्गण का एक चक्कर लगाते

हुए विद्यालय भवन की ऊपरी मंजिल के शिखर तक ध्वज और मशाल प्रतिस्थापित कर दी। अब सबका ध्यान कबूतरों की ओर गया। मुख्य अतिथि, प्रधानाचार्य जी, कुंज प्रमुख आचार्य और उनके सहायक छात्रों ने एक साथ कबूतर छोड़े। कबूतरों के साथ सबके मन बड़ी ऊँचाई तक उड़ते चले गये और तभी लौटे जब कबूतर दृष्टि से ओझल हो गये।

इधर एस.डी. कालेज का रेखांकित क्रीड़ास्थल बड़ी व्यग्रता से छात्रों की प्रतीक्षा कर रहा है। मैदान के एक ओर कनातों से घिरा शामियाना और उसके सामने लगाई गई उद्घोषक व लेखाधिकारी की कुर्सियाँ उनके आने की बाट जोह रही हैं। शामियाना के ठीक सामने दूसरी ओर लगा हुआ स्काउट टेन्ट अपने बालचरों का आह्वान कर रहा है। छात्र संकेत की प्रतीक्षा में हैं। संकेत होता है। छात्रों का प्रवाह क्रीड़ास्थल की ओर उमड़ पड़ता है। ध्वनि विस्तारक भी क्रीड़ास्थल पर पहुँच गया है। अब उद्घोषक श्री रामतीर्थ जी यहाँ कैसे रुक सकते हैं? वह जाकर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। वाणी मुखरित होती है। पहले दिन के कार्यक्रमों की घोषणा से छात्रों के मन में हर्ष की लहर दौड़ गयी। आज १०० मीटर की दौड़ होनी है। भाला फेंक, गोला फेंक, लम्बी कूद, ऊँची कूद इत्यादि अनेक कार्यक्रम सम्पन्न होने हैं।

यह वर्ष का सबसे मधुर कार्यक्रम है। मैदान में चारों ओर चहल-पहल है। यहाँ कोलाहल एक मधुर संगीत का सा आनन्द देता है। कक्षा में कहीं इतना शोर हो जाये तो आफत हो जाये लेकिन यहाँ तो आचार्य भी शोरगुल में सम्मिलित हैं। सभी के चेहरे पर मधुर मुस्कान है। प्रधानाचार्य जी की गम्भीरता आज कहाँ चली गई? छोटे-छोटे बालक उनके आस-पास सटे खड़े हैं। प्रतियोगिता प्रारम्भ होती है। क्रीड़ा स्थल का दृश्य बड़ा ही मनोरम एवं कौतूहलपूर्ण है। एक स्थान पर श्री महेश जी गोला फेंक की प्रतियोगिता करा रहे हैं तो दूसरे कोने पर बिहारी लाल जी व राजकरन जी भाला फेंक प्रतियोगिता का संचालन कर रहे हैं। उद्घोषणा होती है, "बिहारी लाल जी! जरा संभल कर, कहीं भाला लग न जाये। और प्रत्युत्तर में बिहारी लाल जी के मुँह से आवाज आती है, "आप अपना ध्यान रखिये।" उधर शामियाने के निकट लम्बी व ऊँची कूद के लिए अखाड़ा खोदा जा रहा है। यहाँ दीपक जी व गणेश जी नाप-जोख कर रहे हैं। छात्रों की कतार कूद के लिए सीध में खड़ी है। बीच में दौड़ चल रही है। दर्शक छात्र ट्रैक के किनारे पंक्तिबद्ध बैठे हैं, धावकों का उत्साहवर्धन करने के लिए।

सभी छात्रों के चेहरे पर आत्म-विश्वास है। एक दूसरे से आगे निकल जाने की होड़ लगी है। प्रथम तो एक को ही आना है, कभी दो भी आ जाते हैं। तो क्या स्थान न पाने की आशंका से मैदान छोड़ दें? कभी नहीं! प्रतियोगिता में भाग लेना है। खेल के लिए खेल खेलना है। विजयी होने से ज्यादा महत्वपूर्ण है डटकर मुकाबला करना। लो पटाखे की आवाज हुई। दौड़ शुरू। छात्रों की तालियों की गड़गड़ाहट धावकों के पैरों में जैसे मशीन लगी हो। दो मिनट में निर्णायकों के हाथ में प्रथम, द्वितीय और तृतीय और एक दो छात्र सांत्वना के योग्य घोषित हो जाते हैं। कोई स्थान नहीं तो ग्लूकोज़ तो मिलना ही है। उद्घोषक व लेखाधिकारी श्री राजेश जी को सजग कर रहे हैं। लेखाधिकारी की लेखनी की रफ्तार कुछ तेज हुई और हर कुंज के अंक जुड़कर उद्घोषक के सामने आ जाते हैं। आज की प्रतियोगिताओं में धैर्यकुंज प्रथम, शक्ति कुंज द्वितीय। सत्य कुंज की जय पराजय में विलीन हो गयी। धैर्य कुंज के छात्रों के चेहरे खिले हैं। हृदय में अपार उल्लास है। ऐसा लगता है मानो सभी छात्रों को प्रथम स्थान मिला हो। इसे कहते हैं दलीय भावना (Team Spirit) अपनी टीम की विजय-अपनी विजय। आज यह टीम की भावना कल की राष्ट्र भावना का बीजारोपण है। सभी अपने कुंज के ध्वज को ऊँचा रखने का संकल्प लिए हुए हैं। ये छात्र भविष्य में अपने राष्ट्र के ध्वज को भी झुकने नहीं देंगे, ऐसी आशा संजोये यह शिक्षा संस्था

अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर है।

शौर्य कुंज चतुर्थ स्थान से निराश नहीं है। यह तो पहले दिन की प्रतियोगिता का परिणाम है। कल किसने देखा है? सायंकाल के ४ बज रहे हैं। पहले दिन की प्रतियोगितायें समाप्त हुई। घण्टी बजी। सभी छात्र अन्यमनस्क भाव से विद्यालय प्राङ्गण की ओर चल पड़े। रोज तो विद्यालय की घण्टी सबके मन में उल्लास उत्पन्न करती थी। किन्तु आज की अन्तिम घण्टी ने तो छात्रों के चेहरों की मुस्कान छीन ली। आज की स्थिति भिन्न है। किसी का घर जाने का मन नहीं। विद्यालय से इतना मोह! विद्यालय के प्रति छात्रों का यह अनुराग कल जब देश प्रेम का रूप लेगा, तो यह वसुन्धरा धन्य हो जायेगी।

दूसरे दिन की प्रतियोगितायें भी पहले दिन की भाँति सम्पन्न हुई। तीसरे दिन समय से पूर्व ही सभी छात्र विद्यालय प्राङ्गण में चहल कदमी कर रहे हैं। आज सेमी फाइनल होना है। नित्य की भाँति प्रार्थना के पश्चात् क्रीड़ा-स्थल पर छात्रों का समूह पहुँच चुका है। उद्घोषक की वाणी में और निखार आ गया है। आज मैदान में विशेष चहल-पहल है। श्री बिहारीलाल जी भाला लेकर निर्धारित स्थान पर पहुँच गये हैं। श्री महेश जी गोला फेंक की तैयारी में हैं। ट्रैक निरीक्षक सावधान हैं। श्री सुभाष जी सेमी फाइनल की दौड़े सम्पन्न कराने जा रहे हैं। श्री दीपक जी उछल कदम में व्यवस्था कर रहे हैं। प्रतियोगितायें प्रारम्भ हो गयीं। स्काउट दल सक्रिय हो गया। कूद चालू हुई।

उद्घोषक का मौन भंग हुआ - 'क्या इस वर्ष आचार्यों की दौड़ नहीं होगी? क्यों नहीं? वह तो होनी ही है।' और आचार्यों का आह्वान करते हुए उद्घोषक आचार्य माइक एक छात्र विशाल श्रीवास्तव को देते हुए स्वयं इस कार्यक्रम के लिए चल पड़ते हैं। छात्रों ने आचार्यों के भी दो दल बना दिये हैं। एक है भीष्म दल, दूसरा अर्जुन दल। भीष्म दल में वयोवृद्ध आचार्य हैं, जिनमें कार्यालय प्रमुख श्री अवस्थी जी, श्री श्रीराम जी और श्री प्रयाग जी के नाम उल्लेखनीय हैं। अर्जुन दल में बाकी आचार्य हैं।

दौड़ के लिए भीष्म दल तैयार। कारतूस की आवाज। दौड़ शुरू। दौड़ के प्रारम्भ में ही एक दो आचार्य लापता। श्री राजेश जी एवं अवस्थी जी कंधे से कंधा मिलाकर दौड़ रहे हैं। लेकिन यह तो प्रतियोगिता है। साथ निभाना ठीक नहीं। राजेश जी आगे निकल जाते हैं। अवस्थी जी कुछ दूर के बाद वापस। राजेश जी अकेले प्रतिद्वन्दी इसलिए प्रथम। ग्लूकोज की माँग और उसकी पूर्ति। अब अर्जुन दल की बारी है। आचार्य इधर-उधर बिखरे हैं। छात्र उन्हें पकड़-पकड़ ला रहे हैं। कुछ आचार्य मनौती लेते हुए देखे जा रहे हैं। आखिर काफी लोग फन्दे में आ गये। उद्घोषक छात्र आचार्यों का उत्साह वर्धन कर रहा है। कारतूस का धमाका। दौड़ प्रारम्भ। छात्रों की तालियों की गड़गड़ाहट ही आचार्यों का सम्बल। दौड़ के प्रारम्भ होते ही कुछ आचार्य पलायन कर जाते हैं। आधी दूर तक मैं प्रथम। फिर किसी ने मुझे क्रॉस किया। मैं द्वितीय। फिर किसी ने क्रॉस किया। पीछे मुड़कर देखा। पीछे कोई धावक नहीं अतः स्वयमेव तृतीय। ग्लूकोज की तलाश। किन्तु डिब्बे खाली। कोई बात नहीं, अगले वर्ष देखा जायेगा।

❐ नीराजन, १९८४-८५

गया प्रसाद वर्मा : आचार्य, अंग्रेजी, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

पूज्य बापू के सपनों का आदर्श गाँव -सियालकुची

देश दर्शन

✍ आशीष कुमार, नवम

विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास के लिए पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त व्यावहारिक एवं प्रायोगिक ज्ञान भी आवश्यक है। इसी विचार को ध्यान में रखते हुए देश-दर्शन कार्यक्रम का भी अपना एक महत्व है। प्रतिवर्ष छात्रों के दल देश के किसी दर्शनीय, ऐतिहासिक या औद्योगिक महत्व के स्थानों को जाकर, वहाँ की स्थितियों का अध्ययन करते हैं।

इस वर्ष भी हमने अपने इस कार्यक्रम में अपने देश के पूर्वांचल को चयनित किया। देश का यह भाग जहाँ एक ओर अपनी प्राकृतिक रमणीयता के लिए पर्यटकों को अपनी ओर आकर्षित करता है, वहीं पर्यटन की सुविधाओं की कमी पर्यटकों को भयाक्रान्त कर उस दिशा की ओर कदम बढ़ाने से रोकती है। आज पंजाब जल रहा है तो पूर्वांचल भी धीरे-धीरे सुलग रहा है। अलगाववादी शक्तियाँ अपना सिर उठाने का प्रयत्न कर रही हैं। सीमाओं का अतिक्रमण कर विदेशी नागरिक हमारी मातृभूमि के भागों पर अपना अधिकार जमाने में लगे हैं।

त्रिपुरा, मणिपुर, मिजोरम, नागालैण्ड, असम, अरुणांचल, मेघालय सभी किसी न किसी समस्या से ग्रस्त हैं। हमारे मन में एक ललक उठी, चलो, चलें, देखें वहाँ समस्याओं को। उन समस्याओं से जूझते अपने बन्धु-बान्धवों से मिलें। जिस किसी ने हमारी योजना को सुना, यही कहा कि बड़ा ही कठिन कार्य चुना है। सफलता कितने प्रतिशत हाथ लगेगी, कहना कठिन है। पर हमने तो गीत की एक पंक्ति सुनी थी, वही हमारे पाथेय के रूप में रही -

'उर में हो यदि आग लक्ष्य की पंथ स्वयं आयेगा।'

निश्चित तिथि पर १३ छात्रों एवं २ आचार्यों का छोटा सा दल चल पड़ा अपने पूर्व निर्धारित स्थल गुवाहाटी की ओर। बाढ़ की विभीषिका उस समय अपना ताण्डव असम में दिखा रही थी। पर हम सबका असीम उत्साह हमें अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर रहा था।

गुवाहाटी;मेघालय की राजधानी शिलांग का दर्शन करने के उपरान्त हम दिनाङ्क १८ अक्टूबर को गुवाहाटी स्थित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यालय में, जो कि इस यात्रा के काल खण्ड में हमारा केन्द्र था, में बैठ कर अपने आगामी कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार कर रहे थे। हमारे मन में एक इच्छा थी कि हम असम के ग्रामीण जीवन को निकट से देखें। उसके साथ अपने आपको जोड़ने का प्रयास करें। हमने अपनी इच्छा वहाँ के विभाग प्रचारक श्री विनायक राव जी कानिटकर के सम्मुख व्यक्त की। उन्होंने हमें बताया, 'हम तुम्हें एक ऐसे गाँव को दिखायेंगे जो वास्तव में श्रद्धेय बापू के सपनों का एक स्वावलंबी गाँव है, जहाँ पर आज भी पूर्वांचल की संस्कृति जीवंत रूप में देखने को मिल सकती है।'

१६ अक्टूबर १९८६ की प्रातः हम सभी नहा धोकर, तैयार होकर, पूर्व में दक्षिण भारतीय व्यंजनों का आनन्द लेने एक जलपान गृह में पहुँचे। जलपान ग्रहण कर हम तेजी से कदम बढ़ाते हुए बस स्टेशन पहुँचे। बस खड़ी थी। यात्रियों की प्रतीक्षा थी। हमने टिकट खरीदे और बस में जाकर खिड़कियों के पास की सीटों पर अधिकार जमा कर बैठ गये। अभी तक हमारे मन में एक जिज्ञासा थी कि हम जा कहाँ रहे हैं? बस पर लगी पट्टिका ने हमारी जिज्ञासा को शमित किया। लिखा था - 'गुवाहाटी से सियालकुची।' यह स्थान गुवाहाटी से ४० किलोमीटर दूर कामरूप जिले में स्थित है। हमारी प्रतीक्षा के क्षणों को कम किया बस के चालक ने गाड़ी स्टार्ट करके। बस धीरे-धीरे आगे को दौड़ रही थी। पास-पड़ोस के परिचित क्षेत्रों को पीछे छोड़ते हुए हम अज्ञात की ओर बढ़ रहे थे। हरियाली से ढकी छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, शस्य श्यामला भूमि के क्षेत्र हम सबको इस पंक्ति को गुनगुनाने को बाध्य कर रहे थे-

'हरियाली साड़ी पहने माँ, गीत तुम्हारे गायें हम'

दूसरी ओर विशालकाय ब्रह्मपुत्र अपने पूर्ण यौवन से हमारे मन को मोह रही थी। लगभग १ घण्टे के सतत् प्रवास के उपरान्त हम अपने लक्ष्य पर पहुँच ही गये। बस खचाखच भरी हुई थी। कारण दुर्गा पूजा जो कि असम का एक विशेष पर्व है, अभी-अभी पूरा ही हुआ था। लोग मिलने-जुलने के लिए अपने नातेदारों, रिश्तेदारों के यहाँ इसी काल में जाते हैं।

सियालकुची गाँव में प्रवेश करते ही हमने देखा कि ग्राम की रचना एक विशेष प्रकार की है। गाँव दो भागों में विभक्त है। एक भाग में आवास के लिए घर तो दूसरे भाग में हरियाली से लहलहाते खेत।

श्रीमान विनायक राव जी भी हमारे ही साथ थे। उनके सामाजिक जीवन का यह भी एक कार्यक्षेत्र होने के कारण, उनका अधिकांश परिवारों से घनिष्ठ संबंध था। उन्होंने हमारे वहाँ पहुँचने की सूचना पहले ही भेज दी थी। अतः बस से उतरने के बाद ही वहाँ के कुछ स्थानीय महानुभाव हमें लेने के लिए आये। उनमें से एक थे श्री दिनेश जी वैश्य जिनका पुत्र कुरुक्षेत्र के गीता विद्या मन्दिर में अध्ययनरत है। हमें देखकर उन्हें ऐसी अनुभूति हुई कि उनका पुत्र अपने कुछ मित्रों के साथ अपने घर आया है। बड़ी ही आत्मीयता एवं स्नेहपूर्वक उन्होंने हमें ग्राम का भ्रमण कराया।

गाँव को देख कर प्राकृतिक सौंदर्य से परिपूर्ण, लघु कुटीर उद्योगों से पूरित स्वावलम्बी गाँव की कल्पना, जो केवल हमने सुनी थी, आँखों के सम्मुख स्पष्ट रूप से साकार होती दिख रही थी। यह गाँव 'रेशम उद्योग' के लिए प्रसिद्ध है। रेशम उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल अर्थात् रेशम के कीड़ों के पालन से लेकर तैयार वस्त्र को बाजार में भेजकर उसका लागत मूल्य प्रत्येक निर्माता तक पहुँचाने का कार्य एक विशेष सहकारी समिति के माध्यम से सम्पन्न होकर सहकारिता का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। गाँव के प्रत्येक घर में कपड़ा बुनने के लिए करघे लगे हैं। गाँव के कुछ लोग केवल 'रेशम के कीड़ों' को पालने का कार्य करते हैं तथा वही कीड़ों को पानी में उबालकर रेशम निकालते हैं तथा उसे सामान्य यंत्र की सहायता से धागे के रूप में बाँटकर सभी को रेशम उपलब्ध कराते हैं। इस रेशम की सहायता से साधारण से लेकर उत्तम कोटि का रेशमी वस्त्र घरा-घर में करघों पर तैयार किया जाता है। इस तैयार वस्त्र को ग्राम में बनी सहकारी समिति के पास भेजकर समिति के माध्यम से बिक्री का कार्य होता है। उनके द्वारा तैयार माल की उचित कीमत भी वे सहकारी समिति के माध्यम से प्राप्त कर लेते हैं। हमने कई घरों में जाकर इस कार्य को देखा। बड़ी ही आत्मीयता से लोगों ने हमें सम्पूर्ण विधि को समझाया।

कार्य सम्बन्धी सम्पूर्ण विधि को देखने के पश्चात् हम ग्राम के जन जीवन के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा को शमित करने का प्रयास करने लगे। पहाड़ी क्षेत्र में स्थित होने के कारण बयालीस हजार की जनसंख्या होने के बाद भी सियालकुची ग्राम का ही विशेषण प्राप्त किये हुए है। सम्पूर्ण आबादी हिन्दुओं की है। गाँव में सामूहिक प्रार्थना के लिए मन्दिर है जिसे 'नामघर' के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक नामघर एक बड़े परिसर में स्थित होता है, जिसमें एक विशाल कक्ष है, जिसकी दीवारों पर बाहर की ओर महाभारत की कथायें चित्रमय रूप में अङ्कित हैं। विशाल कक्ष में एक मंच है जिस पर प्राचीन ग्रंथों को रखने की व्यवस्था है। नगाड़ा, शंख, घंटा आदि उपकरण अनिवार्य रूप से प्रत्येक नामघर में विद्यमान रहते हैं। विविधता में भी एकता के दर्शन हमने यहाँ पर किये। अन्य पहाड़ी प्रदेशों की भाँति यहाँ पर भी प्रसाद रूप में पुष्प दिये जाते हैं जो प्रत्येक अपने कानों पर लगाता है।

अपनी प्राचीन धरोहर के रूप में सत्रहवीं शताब्दी में निर्मित एक शिव मंदिर एक छोटी सी पहाड़ी पर स्थित है। भगवान शंकर के दर्शनार्थ हम भी उस पहाड़ी पर चढ़े। मंदिर में भगवान महेश्वर के दर्शनोपरान्त पहाड़ी पर से ब्रह्मपुत्र का वह दृश्य बड़ा ही मनोरम लग रहा था। सामने नदी की दूसरी ओर कुछ पहाड़ियाँ दिख रही थी। हम उन पहाड़ियों की दूरी आदि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर रहे थे।

तभी एक पहाड़ी को इंगित करते हुए विनायक जी ने हमें बताया कि इस पहाड़ी को 'काला पहाड़' कहते हैं। उत्तर प्रदेश के देवा मेला, अजमेर के अजमेर शरीफ की भाँति ही काला पहाड़ पर भी एक विशाल मेला लगता है। सम्पूर्ण पूर्वांचल एवं बंगला देश के मुस्लिम इसे अपने एक तीर्थ के रूप में मान्यता देते हैं। प्रति वर्ष वहाँ पर एकत्र होते हैं। इसके पीछे एक ऐतिहासिक कथा भी है जिसे विनायक जी ने हमें बता कर हमारे ज्ञान वर्धन में सहायता की। कथा इस प्रकार है- एक ब्राह्मण था, उसको किसी मुस्लिम महिला से प्रेम हुआ।

प्रेम की परिणति विवाह के रूप में हुई। फलस्वरूप उसे धर्म से निष्कासित कर दिया गया। उसने धर्माचार्यों के पास जाकर पुनः हिन्दू धर्म में वापस आने का आग्रह किया। भगीरथ प्रयास में असफलता मिलने पर वह क्रुद्ध हो उठा। उसने 'काला पहाड़' नाम धारण कर हिन्दुओं का बलात् धर्म परिवर्तन प्रारम्भ कर दिया। धर्मान्तरण न करने वाले हिन्दुओं का कत्ले आम करना शुरू कर दिया। परिणाम - आज का मुस्लिम समाज उसके द्वारा निर्मित समाज है। इसी पहाड़ी पर वह युद्ध में मारा गया। अतः उस पहाड़ी का नाम ही 'काला पहाड़' पड़ गया है। उसी पहाड़ी पर उसकी कब्र है जहाँ पर मेला लगता है।

ग्राम दर्शन की तीसरी एवं अन्तिम कड़ी थी पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित करने एवं रीति, परम्पराओं का अध्ययन। हमें गाँव में घूमते हुए लगभग ४ घण्टे हो चुके थे। श्री दिनेश जी वैश्य के आग्रह पर हम उनके घर पहुँचे। हमारे घर पर पहुँचने पर किसी को यह अनुभूति हुई कि हमारा पुत्र अपने मित्रों के साथ आया है तो किसी को यह अनुभूति कि उनका भाई आया है। परिवार के सदस्यों के साथ पारस्परिक परिचय करने के पश्चात् हम सभी जलपान के लिए बैठे। साथ ही देख रहे थे टी.वी. पर क्रिकेट मैच प्रसारण भी। जलपान में खाने की सामग्री के साथ मिला माँ का वात्सल्यपूर्ण आग्रह, तो बहनों का प्रेमपूर्ण आग्रह। मन में बार-बार अङ्कित हो उठती थी अपनी माँ, अपनी बहन की छवि। यह लगा ही नहीं कि हम अपने घरों से सैकड़ों किलोमीटर दूर हैं। लगभग १.३० घण्टे तक एक आत्मीय वातावरण का आनन्द लाभ कर चल पड़े अपनी वापसी यात्रा के लिए।

पर देखते हैं कि मार्ग अवरुद्ध है। एक स्वर सुनायी दिया कि आप सबको हमारे घर भी चलना ही होगा। सामने देखते हैं कि एक वृद्ध सज्जन हाथ जोड़े खड़े हैं और घर चलने का आग्रह कर रहे हैं। ये और कोई नहीं वरन् असमिया भाषा के प्रतिनिधि कवि श्रीराम कृष्ण दास। हम उनके आग्रह को टाल न सके। कुछ समय हमने उनके घर पर बिताया। जलपान ग्रहण कर, उनसे अपनी आगामी यात्रा की सफलता के लिए आशीष लेकर गुवाहाटी के लिए वापस लौट चले। बस स्टैण्ड तक ग्राम के कई विद्यार्थी बन्धु, अन्य महानुभाव हमें छोड़ने आये। बस के चलने पर हाथ हिलाकर हमने उनसे भावभीनी विदाई ली।

आज जब कभी भी हम अपने देश दर्शन के इस कार्यक्रम के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो अनायास ही कुछ गीतों की विशेष पंक्तियाँ फूट पड़ती हैं -

'कानपुर हो या गुवाहाटी,
एक ही देश एक ही माटी'

☐ (नीराजन, १९८६-८७)

आशीष कुमार : युग - भारती।

सन्यासी का जीवन निष्क्रियता, आनंद और सुख का नहीं अपितु सतत कर्मण्यता, कष्ट और दुःखों का जीवन है। उसका काम समाज का भार बढ़ाना नहीं किन्तु उसका भार हल्का करना है।

— दीनदयाल उपाध्याय

विवेकानन्द भारत परिक्रमा

एक संकल्प दिवस

✍ सुमन दुबे

हर किसी भौगोलिक परिधि को राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। किसी विशेष भूखण्ड में रहने वाले एक ही रूप-रंग और आकृति वाले लोगों के समूह को भी राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। राष्ट्र तो सांस्कृतिक चेतना का सामूहिक निर्वाह है। परम्परा का एकात्मीय संयोजन है। इतिहास और महापुरुषों के प्रति एक जैसे आदरभाव की सामूहिक अभिव्यक्ति है । एक जैसी चिंतन धाराओं का संगम-स्थल है राष्ट्र, जहाँ अवगाहन करने वाले तमाम लोगों का उन धाराओं के प्रति एक जैसा पवित्र भाव-बोध होता है। राष्ट्र तो वह चेतना है जो सतत् प्रवाहित होती हुई एक-दूसरे को परस्पर जोड़ती है। संस्कृति के उदात्त शिखर से उद्गमित होती हुई यह धारा सामाजिक धरातल को अभिसिंचित करती हुई आध्यात्मिकता के लक्ष्य तक पहुँचती है।

जब कभी इस धारा के प्रवाह-मार्ग में बाह्य अवरोध उत्पन्न होने लगते हैं अथवा आंतरिक भँवर पड़ने लगते हैं, तो युग के मनीषी चिन्तित होते हैं और उसे निर्बाध गति देने के लिए निकलते हैं। यह क्रम वैदिक युग से आज तक चला जा रहा है इसी क्रम में कभी अगस्त्य ऋषि ने उत्तर से दक्षिण की यात्रा की थी और विन्ध्याचल को शिर झुकाने के लिए विवश किया था; सागर को चुल्लू में भर कर पीते हुए अपनी क्षमता बता दी थी कि हम चाहें तो समुद्र और पर्वत की सीमायें भी निर्मूल हो सकती हैं। त्रेता में राम ने उत्तर से दक्षिण को एक सांस्कृतिक सूत्र में बाँधा था। द्वापर में कृष्ण ने मथुरा से द्वारिका तक पूर्व-पश्चिम धुरी को एकता के सूत्र में बाँधा था। आदि गुरु शंकराचार्य ने पूरे राष्ट्र को दार्शनिक एकता के सूत्र में बाँधने के लिए पूरे भारत की परिक्रमा की थी। १९६२ ई० में भारत के महान मनीषी स्वामी विवेकानन्द ने भी सम्पूर्ण भारत की एकात्मता के दर्शन किए थे और नवजागरण का संदेश पूरे देश में फैलाने का संकल्प लिया था।

'विवेकानन्द भारत परिक्रमा' भी उन्हीं तमाम यात्राओं की कड़ियों में से एक है। इसका उद्देश्य स्वामी विवेकानन्द के सपनों का भारत बनाना है। भारत को विश्व गुरु के पद पर आसीन करने की तैयारी है। पूरे समाज में सेवा-भाव जगाना और विशेष कर सुप्त युवा-मानस में आत्म विश्वास और गौरव की चेतना जगाना इसका लक्ष्य है।

हमारे लिए गौरव की बात है कि हमारा विद्यालय भी इस यात्रा का एक पड़ाव रहा। ११ मार्च १९९२ को प्रातः ११ बजे विवेकानन्द भारत परिक्रमा का काफिला हमारे विद्यालय में आ पहुँचा। कानपुर जिला संयोजक एवं विद्यालय प्राचार्य श्री ओमशङ्कर त्रिपाठी द्वारा स्वागत के बाद, विशाल कक्ष में, माननीय बैरिस्टर साहब की अध्यक्षता में मुख्य कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। नगर के श्रद्धालुजनों का समूह उमड़ पड़ा। विशाल कक्ष की परिधि छोटी पड़ गई तो बैठक व्यवस्था बाहर की गयी। मुख्य वक्ता के रूप में, विवेकानन्द भारत परिक्रमा समिति की अध्यक्षा डॉ० एम० लक्ष्मी कुमारी मंच पर उपस्थित थीं। उन्होंने एवं माननीय बैरिस्टर साहब ने स्वामी विवेकानन्द जी के चित्र पर पुष्पार्पण किया और कार्यक्रम के संयोजक श्री ओमशङ्कर त्रिपाठी ने आख्या प्रस्तुत की। उसके बाद युवा-संकल्प की भूमिका के साथ प्रारम्भ हुआ युवा-संकल्प दिवस का अविस्मरणीय कार्यक्रम। विवेकानन्द के आदर्शों के प्रति अपने आपको समर्पित करने वाले २१ संकल्पी युवक पहले से ही मंच पर उपस्थित थे। प्राचार्य श्री ओमशङ्कर जी ने उन सभी से सामूहिक प्रतिज्ञा कराई। विशाल कक्ष में उपस्थित जन-समूह हर्ष-विभोर हो उठा। मंच पर उपस्थित लोग

भी अपने आप को हर्षातिरेक से अछूता नहीं रख सके। संकल्पी नवयुवकों के चेहरों पर उदात्त भाव की झलक थी।

प्रतिज्ञा इस प्रकार थी - "परम पिता परमेश्वर और अपने पूर्वजों को साक्षी मान कर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जीवनपर्यन्त स्वराष्ट्र और स्वधर्म के प्रति समर्पित रहूँगा। साथ ही विवेकानन्द केंद्र द्वारा निर्धारित प्रत्येक राष्ट्रीय हित के कार्य हेतु मैं अपने आपको अपनी सम्पूर्ण क्षमताओं के साथ समर्पित कर रहा हूँ।"

सभी युवकों को तिलक-प्रेरणा दी डॉ० लक्ष्मी कुमार जी ने। विद्यालय के लिए यह गौरव की बात थी कि इतने युवकों ने एक साथ एक मंच से राष्ट्र-सेवा के लिए समर्पित होने का संकल्प लिया। विवेकानन्द भारत परिक्रमा के लिए भी शायद यह अपने प्रकार का पहला कार्यक्रम था, जिसमें इतने युवक एक साथ संकल्पी हुए।

प्राचार्य श्री ओमशङ्कर जी भी गद्‌गद् थे। भावातिरेक से अँसुवाई हुई उनकी आँखें उनके अंतर्मन के हर्ष को अभिव्यक्त कर रही थीं। उनकी दशा उस माली जैसी थी जो अपनी बगिया की पहली 'फरन' के चुने हुए नव विकसित पुष्पों को देवता के नाम समर्पित करने का संकल्प लेकर पूरी बगिया की खुशहाली की कामना करता है। आने वाली हर 'फरन' की श्रेष्ठता की कामना करता है।

पूर्व प्राचार्य चंद्रपाल सिंह जी के हृदय का भावातिरेक उनकी भाषा को काव्यात्मक रूप देते हुए फूट पड़ा-

"सार्थक हो गया जीवन। जीवन भर का श्रम आज
पूजा की तरह पवित्र लगने लगा। आज धन्य हो गया हूँ मैं।"

कार्यक्रम के प्रारम्भ में जगपाल जी द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रेरणा-गीत मानो चरितार्थ हुआ-

"देश का युग का तुम्हीं पर ध्यान है
तरुण तेरे तेज का आह्वान है।"

संकल्प के समवेत् स्वरों ने पूरे वातावरण को पवित्र कर दिया, वे स्वर जिनके थे वे संकल्पी युवक थे-

१- श्री राजेश गर्ग (पूर्व छात्र, इंजीनियर, उद्योगपति)
२- श्री गोपालकृष्ण शुक्ल (पूर्व छात्र, मुद्रण उद्योग, व्यवसाय)
३- श्री सुनील गुप्त (पूर्व छात्र, डॉक्टर)
४- श्री मनोज अवस्थी (पूर्व छात्र, संप्रति अध्यापक)
५- श्री दिनेश सिंह भदौरिया (पूर्व छात्र, संप्रति अध्यापक)
६- वीरेन्द्र त्रिपाठी (पूर्व छात्र, खेल प्रशिक्षक, व्यवसायी)
७- शशिभाल सिंह सेंगर (पूर्व अध्यापक)
८- शुभेन्द्र सिंह परिहार(पूर्व छात्र,बी०एससी०)
९- दिनेश प्रताप सिंह (छात्र बी०एससी०)
१०- प्रवीण गंगवार (द्वादश)
११- अक्षय माथुर (द्वादश)
१२- संजय वाजपेयी (द्वादश)
१३- गौरव गुप्त (द्वादश कक्षा)
१४- चक्रपाणि सिंह सेंगर (एकादश)
१५- अरूण त्रिपाठी (एकादश)
१६- मुकेश उत्तम (एकादश)
१७- अर्जुन सिंह (एकादश)
१८- महेन्द्र सिंह सेंगर (दशम)
१९- दुर्गेश वाजपेयी (दशम)
२०- दिव्य मिश्र (दशम)
२१- विकास तिवारी (दशम)

☐ नीराजन, १९९१-९२

सुमन दुबे : आचार्य, हिन्दी, पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

युग-भारती

जो घर फूँके आपना ...

✍ नीरज कुमार

('युग-भारती' की पत्रिका 'युग-प्रभा' के प्रथम अंक का सम्पादकीय)

'पूर्व चलने के बटोही, बाट की पहचान कर ले'। युग-भारती का उद्देश्य वही है जो विद्यालय का है, जो विद्यालय की स्थापना के पीछे 'बूजी' का था, जो पं० दीनदयाल उपाध्याय का था या जो किसी भी देशभक्त, समाज सेवक का रहा है - देश सेवा और समाज सेवा, अपने देश और समाज के वासियों की सेवा, उनको मूलभूत सुविधायें और मानवोचित सम्मानजनक जीवन जीने का अवसर प्रदान करना। 'कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्तनाशनम्' - सभी प्राणियों के दुख-दर्द दूर करने की इच्छा। जिस भी व्यक्ति या संस्था ने इस दिशा में कार्य किया है या कर रहे हैं, किसी भी नाम से, उनका उद्देश्य हमारा उद्देश्य है। सुनने में यह सब घिसा-पिटा लग सकता है क्योंकि भ्रष्ट नेता, ढोंगी समाजसेवक नित्य इसका पारायण करते हैं। पाखण्डपूर्ण लग सकता है क्योंकि स्वार्थों में घिरे व्यक्तियों का अच्छाई पर से विश्वास उठ गया है। यह सब समझते हुए भी हम इस उद्देश्य पर दृढ़ हैं क्योंकि इसका मर्म, इसकी कठिनता जान कर ही हमने इसका वरण किया है।

व्यावहारिक रूप से 'युग-भारती' का उद्देश्य रखा गया है- 'राष्ट्रनिष्ठा से परिपूर्ण समाजोन्मुखी व्यक्तित्व का उत्कर्ष'। अर्थ यह कि युग-भारती के सदस्य जो भी कार्य कर रहे हैं- चिकित्सा, नौकरी, व्यापार, अध्ययन, अध्यापन वह पूरी लगन और ईमानदारी से करते रहें। अपने क्षेत्र में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करें। यह भी देश और समाज के प्रति एक प्रकार की निष्ठा ही है। पर अपने व्यवसाय के परे शेष राष्ट्र और समाज को आँखों से ओझले न होने दें। अपने वैयक्तिक, पारिवारिक खोल से बाहर आयें। सोचें कि देश-समाज-सेवा हेतु वे क्या योगदान दे सकते हैं। केवल पैसा कमाना, प्रतिष्ठा प्राप्त करना, अपने परिवार के लिए भोग के साधन जुटाना ही उनका लक्ष्य न रह जाये।

इसीलिए 'युग-भारती' बहुतायत में उपलब्ध 'ओल्ड ब्वॉयज़ एसोसिएशन' किस्म की चीजों से अलग है। 'युग-भारती' कोई क्लब नहीं है, जहाँ सारे सदस्य यदा-कदा मिलें, चुटकलें सुनायें, व्यापारिक सम्पर्क बनायें, अच्छा खाना खायें और अपने रस्ते लगें। 'युग-भारती' तो वह यज्ञ है जहाँ आकर कोई भी अपना तन-मन-धन-सर्वत्र देश-समाज को अर्पण कर दे। पर हम जानते हैं कि इस जड़ीभूत समाज में किसी से ऐसी आशा रखना दिवास्वप्न ही है, इसीलिए प्रारम्भ में सदस्यों से न्यूनतम त्याग अपेक्षित है जड़ता का, मोह का- वैचारिक जड़ता का; धन, परिवार, सुविधाओं के अत्यधिक मोह का। तदनुसार 'युग-भारती' ने योजना की है — नियमित बैठकों की जिनमें माह में कम से कम एक-दो बार सदस्यगण अपना सब कुछ भूलकर दो-तीन घंटे एक साथ व्यतीत करें। सामाजिक विषयों पर चर्चा करें। नियमित अध्ययन करें। अपने विचारों को लिखने का प्रयास करें। अपने परिवेश का अध्ययन करें। 'युग-भारती' ने योजना की है — देशाटन की जिसमें सदस्य वर्ष में कम से कम एक बार कुछ दिन तक परिवार, व्यवसाय छोड़कर देश-भ्रमण करें। 'युग-भारती' ने योजना की है अन्य कार्यक्रमों की जिनमें सदस्य अपने मातृ विद्यालय के विकास की चिंता करें, अन्य सदस्यों से सम्पर्क करें, पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित करें, शरीर-मन-बुद्धि की जंग छुड़ायें।

प्रथम दृष्टि में ये सब योजनाएं निरुद्देश्य , महत्वहीन और बड़ी आसान लगती हैं, पर हमारा अपना अनुभव बताता है कि इनमें भाग लेने वाले भी उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। शेष के आगे न आने का कारण यह नहीं है कि वे बड़े उत्कृष्ट अथवा उदात्त कार्यों में व्यस्त हैं (सोचते वे यही हैं!) बल्कि यह है कि जंग इतना गहरे खा चुका है कि उनको वही मूल तत्व लगने लगा है। भौंरे और गुबरैले की कथा के गुबरैले की भाँति मल की दुर्गन्धि ही उनके लिए अब सर्वश्रेष्ठ गन्ध है, पुष्प-गन्ध उनके लिए अपना अर्थ खो चुकी है।

'युग-भारती' के ताजे अनुभव बताना यहाँ समीचीन होगा। कई सदस्यों को, जो यदा-कदा ही दर्शन देते हैं, लगता है कि कुछ काम तो होता नहीं, केवल बातें होती

हैं। ऐसे में बैठकों के लिए आने जाने, बैठने में तीन घण्टे खर्चना उन्हें समय की बरबादी लगती है। जो सदस्य बैठकों और बात-चीत को व्यर्थ समझते हैं, क्या कोई काम दिए जाने पर वे अपना धन या समय उसमें लगायेंगे? कदापि नहीं! क्योंकि ऐसे काम भी उनको शायद व्यर्थ जान पड़ेंगे। ऐसे तथा अन्य सभी लोगों से हमारा यही कहना है कि यह तो जमीन की तैयारी है। इसीलिए प्रारम्भिक जोर है बैठकों व अन्य वर्तमान कार्यक्रमों के माध्यम से सदस्यों को उनके संकुचित दायरे से उत्तरोत्तर बाहर लाने पर। इन कार्यक्रमों में भागीदारी का लाभ यह भी है कि सदस्यों में पारिवारिक भाव और परस्पर विश्वास विकसित होता है। टीम भावना बनती है। एक दूसरे का स्वभाव, कार्य प्रणाली, विचार-प्रक्रिया समझ में आती है। कौन किस कार्य के लिए उपयुक्त है यह दिखता है। दिया गया छोटे से छोटा कार्य समय से, जिम्मेदारी से करने की भावना पल्लवित होती है। अपने को छोटा या अकेला मानने की भावना दूर होती है। 'युग-भारती' को ऐसे लोग नहीं चाहिए जो केवल 'बड़ी' बातें या 'बड़े' स्तर पर काम करना चाहते हों, बजाय विचार-विमर्श या नियमित अध्ययन-लेखन के।

अभी तक 'युग-भारती' की सदस्यता विद्यालय के पूर्व छात्रों को ही दी गयी है, परन्तु भविष्य में 'युग-भारती' की सदस्यता हेतु अर्हता का एकमात्र मापदण्ड होगा : देश-समाज के प्रति लगाव, सेवा की भावना और त्याग का साहस। विद्यालय के पूर्व छात्र को भी आँखें बंद करके सदस्य नहीं बनाया जाएगा। 'युग-भारती' के उद्देश्यों के प्रति समर्पित पूर्व छात्र ही सदस्यता के पात्र होंगे। अन्य कोई भी लोग जो पूर्व छात्र नहीं हैं पर हमारे उद्देश्यों के प्रति सहानुभूति रखते हैं, आग्रह पूर्वक सदस्य बनाये जायेंगे।

अंत में हम विनम्रता पूर्वक निवेदन करते हैं कि न तो हम किसी के धन-वैभव से प्रभावित हैं न सामाजिक प्रतिष्ठा से। तथाकथित सम्पन्न लोगों के किये-धरे कुछ होता तो 'युग-भारती' की आवश्यकता ही न होती। हम तो खोज में हैं उनकी जो सम्पन्न हैं मानवीय संवेदना से, व्यापारिक ईमानदारी से। इसीलिए, जो अहम् त्याग सकता हो, मैं मेरा की भावना छोड़ सकता हो, वही करे हिम्मत हमारे साथ चलने की-

कबिरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारे हाथ करि, तब पैठे यहि माँहि।'

कबिर खड़ा बजार में, लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूँकै आपना, चलै हमारे साथ।'

☐ ('युग-प्रभा', प्रथम रश्मि, सितंबर १९९४)

नीरज कुमार : युग-भारती; शोध छात्र, आई.आई.टी. कानपुर।

समाजवाद का अर्थ
यदि सबके लिए रोटी होगा,
रोटी - रोजी होगा,
तब फिर समाजवाद से हमारा विरोध नहीं है।
— दीनदयाल उपाध्याय

'तरुण-भारती' से 'युग-भारती' तक - एक सिंहावलोकन

✍ वीरेंद्र त्रिपाठी

(विद्यालय के पूर्व छात्रों की संस्था के अद्यतन इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि)

युगद्रष्टा, एकात्म मानववाद के प्रणेता पं० दीनदयाल उपाध्याय की स्मृति में उनके जीवनादर्शों को मूर्त रूप देने का स्वप्न लेकर पं० दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय की स्थापना की गयी थी।

संस्कारपूर्ण शिक्षा और देश-प्रेम की भावना के जिस दीप को माध्यमिक शिक्षा के समय किशोर वय में प्रज्वलित किया, उसे जीवन भर जलाए रखने के लिए आवश्यक था विद्यालय के पूर्व छात्रों से नियमित सम्पर्क। यही उद्देश्य लेकर वर्ष १९७८ में तत्कालीन प्राचार्य श्री ओमशङ्कर जी ने 'तरुण भारती' नाम से पूर्व छात्रों की संस्था के गठन की कल्पना की थी। राष्ट्रोत्थान का संकल्प लेकर निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करने वाले व्यक्तियों का निर्माण करने वाली इस संस्था का प्रथम अधिवेशन विद्यालय परिसर में वर्ष १९८३ में सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर तरुण भारती के प्रथम अध्यक्ष स्व० राजेश पाण्डेय एवं महामंत्री नीरज कुमार के कुशल संचालन में लगभग ८० पूर्व छात्रों ने एक बार पुनः अपने को उसी विद्यालय में जहाँ 'जियो देश हित, मरो देश हित' का मंत्र मिला था, पाकर फिर से अपने संकल्प को दोहराया। प्रतिवर्ष पं० दीनदयाल जी के जन्मोत्सव (विद्यालय वार्षिकोत्सव) पर ही तरुण भारती का सम्मेलन रखने का निर्णय भी इसी अधिवेशन में हुआ।

कार्य की गति कभी तेज थी तो कभी धीमी परन्तु कार्य निरंतर चल रहा था। इस बीच हमें वर्ष १९८६ में मा० यज्ञदत्त जी शर्मा (पूर्व राज्यपाल, उड़ीसा) का अति प्रेरक मार्ग दर्शन मिला। मा० शर्मा ने 'तरुण भारती' से जो आशायें कीं हम उनको पूरा कर सकें, यही हमारा प्रयत्न रहा है। यहाँ पर मैं दो और प्रेरक कार्यक्रमों का उल्लेख अवश्य करना चाहूँगा। १९९१ में 'तरुण भारती' का वार्षिक सम्मेलन उपस्थित सदस्यों को एक नया आत्मविश्वास प्रदान करने वाला रहा। मुख्य अतिथि मा० अटल बिहारी वाजपेयी के साथ प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम चल रहा था। लगातार ऐसे ही प्रश्न आ रहे थे कि हम इन विपरीत परिस्थितियों में अपने को कैसे राष्ट्रकार्य से जोड़ें, कैसे समाज के लिए अधिक से अधिक योगदान कर सकें। अटल जी एक क्षण रुके, फिर आँख बन्द कर बोले, "जो अपना साक्षी अन्तरात्मा है उससे पूछो हम क्या करें"। कितना सटीक और स्पष्ट उत्तर था! सही है, अपने मन की शक्ति ही हमारे लिए कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद स्पष्ट कर सकती है।

१९९२ में विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी ने स्वामी विवेकानन्द द्वारा शिकागो सम्मेलन के पूर्व की गयी भारत परिक्रमा के सौवें वर्ष के उपलक्ष्य में उनकी उसी परिव्राजक मुद्रा की विशाल मूर्ति के साथ भारत परिक्रमा का कार्यक्रम बनाया। इस विशिष्ट आयोजन में परिक्रमा दल का तीन दिवसीय कार्यक्रम कानपुर में भी होना था और दायित्व दिया गया वर्तमान प्राचार्य मा० ओमशङ्कर जी को। उन्होंने ठीक ही सोचा कि तरुण भारती को प्रेरित करने हेतु इससे अच्छा भला कब अवसर मिलेगा। वास्तव में इस कार्यक्रम ने ही तरुण-भारती को एक नई ऊर्जा, एक नवीन चेतना प्रदान की।

तरुण भारती के संख्या में कम परन्तु ऊर्जान्वित, निष्ठावान नवयुवकों ने इस कार्यक्रम को वह कलेवर प्रदान किया कि परिक्रमा दल के सम्पूर्ण भारत में आयोजित सभी कार्यक्रमों में से पं० दीनदयाल विद्यालय का वह कार्यक्रम सर्वाधिक प्रभावी एवं प्रेरणास्पद बन सका। विद्यालय से पाये संस्कारों का ही परिणाम था कि इसी कार्यक्रम में 'तरुण भारती' के इक्कीस सदस्यों (२० पूर्व छात्र, १ पूर्व अध्यापक) ने स्वेच्छा से जीवन पर्यन्त राष्ट्रनिष्ठा के साथ जीने एवं राष्ट्र भावना को प्रदीप्त रखने का संकल्प लिया। विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी की अध्यक्षा डॉ० एम० लक्ष्मी कुमारी द्वारा तिलक लगाये जाने के पश्चात् अपने पूर्वजों और स्वर्णिम अतीत का स्मरण करते हुए राष्ट्रसेवा का संकल्प लेने वाले इन सदस्यों के नाम निम्नवत् हैं : राजेश गर्ग, सुनील गुप्ता, गोपाल कृष्ण शुक्ल, वीरेन्द्र त्रिपाठी, दिनेश सिंह भदौरिया, दिनेश प्रताप सिंह, शुभेन्द्र सिंह परिहार, प्रवीण गंगवार, अक्षय माथुर, संजय वाजपेयी, गौरव

गुप्त, चक्रपाणि सिंह, अरुण त्रिपाठी, मुकेश उत्तम, अर्जुन सिंह, महेन्द्र सिंह, दुर्गेश वाजपेयी, दिव्य मिश्र, विकास तिवारी एवं शशिभाल सिंह।

वर्ष १९९२ के ही वार्षिक सम्मेलन में मार्गदर्शन हेतु हमारे बीच उपस्थित थे लाखों देशभक्तों के प्रेरणास्रोत पूर्णरूपेण राष्ट्रसेवा में संलग्न राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह सर कार्यवाह मा० कुप० सी सुदर्शन जी, जिन्होंने हमें किस प्रकार कार्य करना होगा इस विषय पर तो दिशा निर्देश दिया ही, साथ ही साथ हमारी 'तरुण भारती' को तरुणों की सीमा से मुक्त करने का विचार देते हुए इसे 'युग भारती' नाम दिया।

इसी बीच अक्टूबर ३ से ६ तक चित्रकूट में 'तरुण भारती' के संयोजन में होने वाले 'तरुण चेतना शिविर' की तैयारियां पूर्ण हो चुकी थीं। संरक्षक मा० ओमशङ्कर जी, गोपाल कृष्ण शुक्ल (महामंत्री), सुनील गुप्त (उपाध्यक्ष), वीरेन्द्र त्रिपाठी (मंत्री), अजय शङ्कर दीक्षित तथा श्री अगंद सिंह (प्रधानाचार्य, बी०एन०एस०डी० शिक्षा निकेतन) चित्रकूट में शिविर की व्यवस्था में लगे हुए थे। इस 'तरुण चेतना शिविर' में अपने विद्यालय तथा बी०एन०एस०डी० शिक्षा निकेतन के छात्रों, अध्यापकों एवं तरुण भारती के सदस्यों ने भाग लिया। तीन दिवसीय इस शिविर में शारीरिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों द्वारा वास्तव में शिविर के नाम को सार्थक किया गया।

बौद्धिक गोष्ठियों में जहाँ शिविरार्थियों ने अपने विचार प्रस्तुत किए, वहीं हर गोष्ठी में विद्वानों ने निष्कर्षात्मक वक्तव्यों से सारी शंकायें शमित करने का प्रयास किया। समाज, धर्म, राजनीति, अर्थ एवं शिक्षा जैसे सामयिक विषयों पर हुई इन विचार गोष्ठियों में हमें चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० कपूर, सुप्रसिद्ध समाज शास्त्री डॉ० त्रिलोकी नाथ सिन्हा तथा विवेकानन्द भारत परिक्रमा से ही हमारे सम्पर्क में आये युवा वैज्ञानिक प्रो० गणेश बागड़िया जैसे व्यक्तियों का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ। सांस्कृतिक कार्यक्रम भी स्तरीय एवं रोचक रहे। इस प्रकार यह शिविर न केवल पूर्व छात्रों के लिए वरन् वर्तमान छात्रों के लिए भी एक अविस्मरणीय अनुभव रहा। शिविर समाप्ति पर मा० सुदर्शन जी द्वारा प्रदत्त विचार से संगठन का नाम 'युग-भारती' कर दिया गया और इसी समय यह भी निर्णय हुआ कि हर मास के रविवार को सभी सदस्यों की तथा तीसरे रविवार को कार्यकारिणी की नियमित बैठक हो।

'युग-भारती' को गति प्रदान करने के उद्देश्य से संरक्षक श्री ओमशङ्कर जी ने अपने आवास (विद्यालय का प्राचार्य आवास) का एक कक्ष युग-भारती के कार्यालय हेतु सौंप दिया। नियमित बैठकों में नये विचार आते गये और जुड़ती गई नई उपलब्धियाँ। ग्रामों में ही ८० प्रतिशत देशवासी हैं, यह जानते हुए भी उनके विकास पर सबसे कम ध्यान दिया जा रहा है, यह विचार कर 'ग्रामोदय से ही राष्ट्रोदय' का मंत्र लिए युग-भारती ने भिन्न-भिन्न ग्रामों का निरीक्षण कर स्थान-स्थान पर अपनी योजनायें शासन से सहायता लेकर आरम्भ करने का निश्चय किया है। अभी इस योजना में उन्नाव जिले के कुछ ग्रामों में कार्य हेतु प्रयत्न चल रहे हैं। १९९३ के वार्षिक सम्मेलन में सुप्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता एवं चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय के कुलाधिपति मा० नाना जी देशमुख ने ग्राम्य विकास के प्रकल्पों में रुचि लेने पर ही बल दिया और आशा की कि युग-भारती के सदस्य न केवल स्वयं वरन् अपने सम्पूर्ण परिवार से ही समाज-सुधार की नींव डालेंगे तथा अपनी पत्नी, अपने बच्चों सभी को इस समाज रचना और राष्ट्रोत्थान के कार्य से जोड़कर कार्य करेंगे।

सामयिक समस्याओं पर युग भारती का क्या विचार है? भावी कार्यक्रम क्या हैं? इन सारी बातों को अपने सभी साथियों एवं शुभचिन्तकों तक पहुँचाने का उद्देश्य लेकर युग-भारती का प्रकाशन विभाग आरम्भ हो तथा एक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन जुलाई १९९४ से ही प्रारम्भ कर दिया जाए, यह विचार बना २९ तथा ३० मई, १९९४ को हरिद्वार में सम्पन्न राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक में। कार्यकारिणी सदस्य विवेक भागवत तथा अध्यक्ष राजेश गर्ग के प्रयत्नों से १५ जुलाई, १९९४ से यह पाक्षिक आरम्भ हो गया। भाई नीरज कुमार के प्रयत्नों से यह वार्षिक पत्रिका युग-प्रभा आपके हाथों में है।

विचारवान, चरित्रवान, ऊर्जावान राष्ट्र प्रेमियों का यह संगठन युग-परिवर्तन में सहयोगी होगा, ऐसा हम सभी का विश्वास है और सतत् प्रयास है।

☐ 'युग-प्रभा', प्रथम रश्मि, सितंबर १९९४

वीरेंद्र त्रिपाठी : महामंत्री, युग-भारती, राष्ट्रीय स्तर की मुक्केबाजी के पश्चात् अब खेल प्रशिक्षक।

एक पीढ़ी की छटपटाहट

आज का दौर उपभोगवाद का दौर है। सर्वप्रथम तो शरीर धारण ही शरीर पोषण की आवश्यकता का निर्माण करता है, फिर मनुष्य का पारिवारिक रूप परिवार पोषण हेतु भौतिक उपक्रमों के एकत्रीकरण को अनिवार्य बनाता है। परन्तु आज तो विशेष रूप से पाश्चात्य दर्शन की प्रेरणा ने उपभोगवाद को इतना प्रबल कर दिया है कि मनुष्य की शेष सभी बौद्धिक और आत्मिक प्राथमिकताएँ गौण होती जा रही हैं। ऐसे में जो थोड़ा भी संवेदनशील है, जो मनुष्य के अंतिम लक्ष्य या समाज-बन्धुओं के बारे में सोचता है, वो दुविधाग्रस्त हो जाता है- कुछ व्यापक भ्रष्टाचार के कारण तो कुछ अपनी चिंतनशील प्रवृत्ति की दुर्लभता के कारण। तरह-तरह के संशय उसे घेर लेते हैं। पर जो सोचेगा वही तो संशय का शिकार होगा, जो सोचना छोड़ चुका है, उसको संशय से क्या वास्ता-

'गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग में ।
वो क्या खाक गिरेंगे जो घुटनों के बल चलें ।'

लेकिन संशय हैं, तो समाधान भी होगा, नई दिशा होगी-

'जहाँ कारवाँ भूल जाते हैं रास्ता,
वहीं से निकलती है मंजिल की राह।'

युग-भारती में भी ऐसे Doubting Thomases की कमी नहीं है। उनमें भी सर्वप्रमुख हैं ... नहीं, नहीं नाम नहीं लूंगा। वैसे ही उनके व्यक्तिगत पत्र (प्रधानाचार्य जी के नाम) छापने की इतनी बड़ी धृष्टता (उनके उलट निर्देशों के बावजूद) कर रहा हूँ, अगर नाम भी बता दिया तो इतने स्पष्ट, इतने बेलाग, इतने सुंदर रूप में प्रस्तुत किये गये विचार कभी शायद सुनने को भी नहीं मिलेंगे। खैर ... वो मेरी चिन्ता है, आप तो पढ़ डालिये और सोचना मत भूलियेगा।

... कुछ करना चाहता हूँ, किन्तु साहस नहीं होता, कायरता (यही कहना चाहिए) रोक लेती है। पिछले तीन वर्ष से मैं इसी स्थिति में जी रहा हूँ। सही मायनों में मै अपनी Priorities निश्चित तौर पर define नहीं कर पा रहा हूँ।

ये प्राथमिकतायें क्या हैं- समझ नहीं पा रहा हूँ। प्रायः career की बात उठती है किन्तु उसकी अन्तिम सार्थकता Convince नहीं करती। किसी विचार से जुड़ना चाहता हूँ तो उसमें लगे लोगों का खोखलापन, उनकी mediocrity, उनके double standards देखकर मन क्षुब्ध होकर वापस career की दिशा में लौट जाता है। भारत के एक मध्यम वर्गीय परिवार का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण घर की जिम्मेदारियों से भी विमुख नहीं हो सकता। घर से अन्य दबाव भी रोकते हैं। इन सब बातों के कारण स्थिति यह है कि एक ही स्थान पर खड़ा-खड़ा दौड़ रहा हूँ, समय निकला जा रहा है। अनिश्चय की चरम सीमा है।

यह भी एक त्रासदी ही कही जाएगी कि मेरी कुछ ऐसी वृत्ति है कि जब तक मैं पूर्णतः किसी बात से convince नहीं हो जाता, उस ओर बढ़ने की इच्छा नहीं होती। options तो मेरे पास कई एक हैं। यदि career की बात करें तो IAS; और आगे की पढ़ाई; M.B.A..

इसके अतिरिक्त और भी कई बातें हैं दिमाग में।

बार-बार लिखना चाहता हूँ किन्तु न जाने क्यों खुद रुक जाता हूँ। किसी से कह भी नहीं सकता। जिस किसी से सोचता हूँ- कहूँ तो लगता है कि वह इस योग्य ही नहीं। इस अनिश्चय का दुष्परिणाम यह है कि बस विचारों में ही खोया रहता हूँ। इससे बड़ी कष्ट की बात क्या हो सकती है कि इस आयु में आपको कष्ट दे रहा हूँ। विश्वास मानिएगा, इसमें कोरी भावुकता नहीं है, विश्वास की, आस्था की, अन्तरतम अनुभूति है। विडम्बना तो यह है कि प्रमाण नहीं दे सकता।

हमारी उम्र के लोग प्रायः सिद्धता-सफलता की कोई मंजिल, दूरी निश्चित कर, उसे पाकर सफल कहलाते

हैं। मेरे पास कोई निर्धारणता नहीं है, कोई मापदण्ड नहीं। हो सकता है, इसमें लीक से हटकर चलने की बात छुपी हो, इंकार नहीं करता; किन्तु चित्र धुँधला है।

मैंने कभी सोचा भी न था कि आपको ऐसा पत्र लिखूँगा। सोचा तो था जिन आदर्शों को देखता हूँ, उनसे जुड़कर दिखाऊँगा, पर पग स्थिर नहीं हैं। प्रायः परिणाम यह रहता है कि मैं ऊपर से हँसता - रहता हूँ, किन्तु हर समय स्वयं से लड़ता रहता हूँ। इस आत्म-संघर्ष की परिणति कभी-कभी यह रहती है कि और अधिक तीव्रता से खुद से जूझता हूँ। बीच में तो, ऊबकर इन सब बातों को किनारे छोड़कर सोचना ही बन्द कर दिया। तो कुछ दिनों में लगा कि आत्म-वञ्चना कोई बहुत दूर नहीं। फिर, लौट आया। ये सिर्फ भाव नहीं है - सत्य है, मेरा सत्य.....

इस लम्बे अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम यह हुआ है कि एकाग्रता क्षरित हो रही है, आत्म-विश्वास सन्दिग्ध हो चला है, अधकचरे विचार ही कभी-कभी लगता है- जीवन के संचालक न बन जायें यही भय है। मैं जिस बात से सर्वाधिक डरता हूँ वह है mediocrity। भय लगता है, अन्तिम फलश्रुति यही न बन जाये। यदि ऐसा हो गया तो सब समाप्त। ढर्रे की जिन्दगी से मैं अपने convictions जोड़ना नहीं चाहता। अपनी भूमिका क्या है- यह भी नहीं जानता। पीड़ा तब और बढ़ जाती है जब मैं इन्हीं से स्वयं को घिरा पाता हूँ। महत्वाकांक्षायें जब जागती हैं तो प्रश्न उठते हैं कि क्या यही मैं हूँ, क्या ऐसा ही होकर रह जाऊँगा-कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

आपसे एक-दो बार खुलना चाहा तो आपने कहा, जीने के लिए कुछ तमगों की बहुत आवश्यकता होती है। प्रेरणा मिली थी, किन्तु बार-बार यही लगता था (आज भी लगता है) कि 'क्यों' से जूझना बन्द करूँ और 'क्या' 'कैसे' से निबटूँ। पर इनका भी ज्ञान नहीं है।

स्वयं को बहुत कष्ट देने के बाद यह पत्र लिख रहा हूँ। आपको न हो यही प्रभु से प्रार्थना है।

वर्तमान Job भी सन्तोषजनक नहीं है और न उत्साहवर्धक ही। इतना बुरा हाल है कि हर चीज, हर काम स्वार्थ के कारण राजनीतिकृत दिखाई देता है। क्या ठीक है, क्या गलत और जो ठीक है वह सही में ठीक है- इतने आपस में घुल गये हैं ये प्रश्न कि सही चीज उभरकर सामने नहीं आती। विकल्प यही है कि या तो इसी enginering profession से जुड़कर excel करने के लिए प्रयत्न करूँ, संघर्ष करूँ अथवा आगे पढ़ूँ और academics में जाऊँ या फिर profession बदल लूँ, I.A.S. के लिए प्रयत्न करूँ। M.B.A. भी एक अच्छा विकल्प हो सकता है।

एक प्रार्थना और - मुझे लगता है कि नीरज भी इस मनःस्थिति से जूझ रहे हैं। वे शायद कह न पायें किन्तु अच्छा होगा, आप उससे भी बात करें।

कुछ राह मिलेगी, इसी विश्वास के साथ-

आपका

७-१०-६२ **अनिल महाजन**

दीपावली पर ही, नीरज और विवेक दोनों से ही I.I.T. में मिला। लगभग ४ घण्टे तक हम लोग साथ थे। युग-भारती की प्रारम्भिक योजना, कार्य-विस्तार, आदि पर काफी बातें हुई। कई बार गहमागहमी भी हुई- लेकिन निष्कर्ष (अभी निष्कर्ष कहना जल्दी होगी) प्रायः यही था कि प्रारम्भ से ही सावधानीपूर्वक, योजना से, सिद्धान्ततः चलेंगे तभी ठीक रहेगा। हमें ऐसा शुरू से ही करना पड़ेगा। नहीं तो क्षणिक उत्साह इसे क्षणभंगुर ही बनाकर छोड़ेंगे- उससे अधिक कुछ नहीं। साथ ही (यदि हम लोग सीमा का अतिक्रमण न कर रहे हों, तो), प्रारम्भ से ही यह भी ध्यान रखना पड़ेगा कि व्यक्ति आधारित बनकर ही न रह जाये यह। इनमें से कुछ को हमेशा back ground में रहना होगा। बाकी, नीरज विस्तार से बता देगा। जहाँ तक साहित्य जुटाने की बात है- प्रश्न उठता है कि किस प्रकार का साहित्य। इसमें सभी प्रकार का साहित्य समन्वित है, पर निश्चित ही अन्वेषी या विश्लेषी साहित्य को प्रमुखता देनी चाहिए- मेरा यह मत था। आगे, जो तय हो।

अब अपने 'फ्रण्ट' पर !

मुझे लगा कि क्यों न ऐसा व्यवसाय ढूँढूँ जो सब प्रकार से फिट हो तो मुझे लगा कि या तो शोध-प्रवृत्त पत्रकारिता अथवा I.A.S.। पत्रकारिता इसलिए क्योंकि यह हमारे समय के सत्य की संवाहिका है, साथ ही इसमें स्वतंत्रता भी है ही। दूसरे I.A.S. में- संसाधन (resources) रहते हैं जिन्हें जुटाने-जुटाने में ही संस्थाओं, लोगों के प्रयत्न-वर्ष बीत जाते हैं। पत्रकारिता के लिए मैंने कई लोगों से सम्पर्क किया, इस क्षेत्र में ऐसे-ऐसे लोग दिखे जो grants के पैसों, विशेष रूप से विदेशी पैसों पर, मस्ती करते नजर आये। गाँधीवादी आन्दोलन ('सर्वोदय' कहना अधिक उचित होगा) से

जुड़े एक व्यक्ति अनुपम मिश्र से मिला (आप हिन्दी के कवि भवानी प्रसाद मिश्र के सबसे छोटे पुत्र हैं)। इतना सादा, स्वाभिमानी, स्वार्थहीन व्यक्तित्व 'संघ' के बाहर पहली बार देखने को मिला। उनसे दो बार मिला हूँ। वर्तमान दशा (पत्रकारिता, समाज-सुधार में जुटे लोगों की) से वे भी पीड़ित हैं। उनकी सलाह थी कि अपना काम करते हुए जो कुछ बन पड़े, वही हमें करना चाहिए। मुझे लगा कि यह सलाह तो अगले पांच वर्ष बाद की है (मेरे लिए)। तो, इसलिए तय सा ही कर लिया I.A.S. दूँगा। हिन्दी माध्यम में। हिन्दी-साहित्य और गणित विषयों से। पढ़ना भी प्रारम्भ कर दिया है। आपके मार्ग-दर्शन, विचार, सलाह की तुरन्त आवश्यकता है।

जैसा मैंने ऊपर कहा है कि मेरी किसी से निभती नहीं। इसका मूल कारण यही है कि प्रत्येक के विचार पर सहज उपजा एक doubt (यह doubt) उत्सुकता के करीब है, सन्देह के नहीं)। पर, मेरी यह अस्वीकृति प्रायः अग्राह्य हो जाती है औरों के लिए। इसलिए, न जाने क्यों मुझे लगता है धीरे-धीरे मैं कट जाऊँगा mainstream से। इसीलिए, मैं ऊपर के दो में से किसी व्यवसाय में जाना चाहता हूँ। I.A.S. में जाने की प्राथमिकता तो है ही। पद के स्वार्थों का मोह न हो- इंकार नहीं करता, किन्तु निर्माण से जुड़े पहलू की उपस्थिति मुख्य कारक है इस प्राथमिकता का, अभी और कुछ नहीं। अपनी ओर से बहुत सोच-समझ कर यह निर्णय लिया है। आशा है, आप उचित-अनुचित पक्षों का विवेचनात्मक मार्ग-दर्शन करेंगे।

युग-भारती की योजना में मुझे background का ही काम दीजिएगा। प्रकाश में नीरज, विवेक को ही रखें- क्योंकि ये बड़े हैं, अनुभवी भी और अजातशत्रु भी। विवेक के आ जुड़ने से युग-भारती को लाभ मिलेगा, मिल रहा है- आप को भी लग रहा होगा।

आपका

२३-१-६३ **अनिल महाजन**

आज सायं ४ बजे 'युग-भारती' (दिल्ली इकाई) की पहली बैठक थी। इसके आयोजन की सूचना सम्भवतः नीरज ने आपको दी हो। बैठक में चार लोग थे- प्रदीप शुक्ल, अनुपम त्रिवेदी, मुकुल सक्सेना और मैं। बैठक मुख्यतः इस रुप में रही-

१) अधिक से अधिक सदस्यों को आपके कार्यक्रम की सूचना दी जाए।

२) आपके कार्यक्रम को दीनदयाल शोध संस्थान या अन्य किसी केन्द्रीय स्थान पर रखने का प्रयत्न किया जाए (इसके लिए बलराज पासी से भी सम्पर्क किया जा सकता है)।

३) सदस्यता के फार्म भरकर दें ('युग-प्रभा' भी सभी को दी)।

४) रजत-जयन्ती वर्ष के कार्यक्रमों के लिए सुझाव दें।

५) अपने संसाधनों (resources) के माध्यम से धन जुटाने प्रयत्न करें (अनुमानित लक्ष्य- ३ लाख)

६) युग-प्रभा के लिए रचनायें भेजें।

७) दीनदयाल जी की प्रतिमा का उल्लेख भी हुआ (अनुपम का कहना था कि उसके, जयपुर में मूर्तिकारों से व्यावसायिक सम्पर्क हैं, उनसे मदद ली जा सकती है)

सुझाव :

सुझाव मुख्यतः अनुपम त्रिवेदी की ओर से ही आये। उनका कहना था कि युग-भारती के दिल्ली चैप्टर के सभी सदस्य निरन्तर सम्पर्क में रहें तथा दीनदयाल विद्यालय के दिल्ली में आने वाले पूर्व छात्रों की मदद सब प्रकार से करें। हम लोग विद्यालय जाकर वर्तमान छात्रों को भी उनके भविष्य के लिए उन्हें guide करें, ताकि दिल्ली जैसी संस्कृति में आकर उन्हें एक 'नये संसार' की वास्तविकतायें निराश न कर दें।

बैठक लगभग ४.३० बजे प्रारम्भ होकर ५.२० तक चली।

यह तो था बैठक का वृत्त। संख्या से भी मुझमें कोई अनुत्साह नहीं जगा। अच्छा लगा सभी को लगा।

लौटते समय मैं भानु जी के यहाँ गया। 'युग प्रभा' की एक प्रति दी। पलटते रहे। आपकी कविता पूरे ध्यान से पढ़ी। कहने लगे- 'ओमशंकर जी की भाषा अच्छी है, प्रभावी है- गद्य में भी और पद्य में भी। यह उनसे जरूर कह देना।' जब पूरी पत्रिका पलट चुके तो मैंने उनसे रायं पूछी। बोले- 'कौन पढ़ेगा इसे, इसकी पत्रिका है यह।' उत्तर अनपेक्षित न था- 'लक्ष्य क्या है तुम लोगों का, किसे पढ़ाना चाहते हो, लोग लेंगे और रख देंगे किनारे। हाँ-हाँ और बस। तुम लोगों की सारी मेहनत बेकार जाएगी। अपने आनन्द के लिए पैसा खर्च कर रहे हो तो ठीक है भाई। श्रीलाल शुक्ल के लेख और दूसरे बोझिल लेख छाप रहे हो- कोई नहीं पढ़ेगा।' अभी तक तो मैं मुस्कराता चुप बैठा था। मैंने कहा- इस

पत्रिका को कोई हमने सभी के लिए तो छापा नहीं है। अपने विद्यालय के पूर्व छात्रों (छात्रों के वर्तमान व्यवसाय भी बताये) और विद्यालय की विचारधारा से जुड़े लोगों के लिए हैं यह। वैसे भी यदि हम किसी से मार्गदर्शन या लेख माँगते हैं तो देता तो कोई नहीं (संकेत समझ गये), तो जैसा बन पड़ा चार लोगों से, वही छाप दिया है और फिर पहला अंक है, अनगढ़ तो होगा ही। फिर कहने लगे- यदि यह पत्रिका इन लोगों के लिए है तो भी भाषा का सरल रूप रखो और विशेषांक निकालो। चाहे साल में दो अंक ही निकलें, लेकिन सामयिक मुद्दों को लो। सामग्री जमा करो। मेरे यह पूछने पर कि आप भी देंगे क्या! सिर्फ मुस्कुरा दिए। लेकिन, मुझे उनकी बात ठीक लगी। इससे पत्रिका की approach बढ़ेगी, स्वीकृति बढ़ेगी और हमारे अपने लोगों को इसमें जुटा पाये तो हमारे पास ही खासा informatino bank बन जाएगा। लेकिन, बात फिर शोध पर ही आ जाती है। तब लगता है कि हम कच्चे हैं। नीराजन के अंक की तो उन्होंने खूब प्रशंसा की और कहा कि उसे उन्होंने संकलित कर रखा है और पूरी पढ़ी है। उनके पास नीराजन की तीन प्रतियाँ पहुँची हैं- इसकी हल्की सी खिल्ली भी उन्होंने उड़ायी- क्या ज्यादा छपा ली थीं? इसका भी हमें भविष्य में ध्यान रखना पड़ेगा।

नीरज के उत्साह के सब कायल थे। अनुपम का यहाँ तक कहना था कि नीरज को आपके कार्यक्रम से पूर्व एक preparatory visit भी करनी चाहिए।

यह तो थी युग-भारती की बैठक की कथा। अब कुछ अपनी बात। आपसे कुछ बातें करने के लिए काफी समय से इच्छा थी। दीपावली में भी मिलना चाहता था और बाद में भी। कारण कई हैं- युग-भारती से जुड़े हुए और व्यक्तिगत भी। एक पत्र, सितम्बर में लिखा था, टिकट भी लगायी, पर अभी तक रखा है। कुलबुलाहट बहुत है।

जहाँ तक युग-भारती का प्रश्न है- अभी भी मुझे इससे जुड़े कई 'क्यों' के उत्तर नहीं मिल पा रहे हैं। पहली बात तो यह है कि 'Philosophy of Yug Bharati' क्या है- वही नहीं स्पष्ट है मुझे, कई विश्लेषण करने पर भी मात्र jistifications ही मिलते हैं, और कुछ नहीं। प्रयत्नों से जुड़ा हूँ पूर्व सम्पर्कों और कुछ वैचारिक ईमानदारी (सभी की) और अपनत्व के कारण। लेकिन आचार्य जी, आज के युग में ये तीनों ही सर्वाधिक अस्थिर और आधारहीन हैं- मुझे यह स्पष्ट दीखता है। उनकी आयु कोई बहुत नहीं रह गयी है। इसलिए, यदि हम इससे जुड़ी, इससे ही सम्भव philosophy को समझ नहीं पाये या समझा नहीं पाये तो सिर्फ श्रद्धा के दम पर हम कब तक चला लेंगे। आपके अतिरिक्त आत्मबल भी कितनों में है (क्षमा कीजिएगा, यदि मैं धृष्टता कर रहा होऊँ तो!)। इसके अतिरिक्त, ideology से भी जुड़कर चलने वाले लोग मुझे निराश ही दिखे हैं क्योंकि ideology बहुत जल्दी सीमित करके पाशबद्ध बना देती है। तब छटपटाहट बहुत तीव्र हो जाती है। विद्रोह कर नहीं सकते, लौट सकते नहीं, तोड़कर जा नहीं सकते क्योंकि स्वतंत्रता को भी बाँधकर तब तक हम रख लेते हैं या यूँ कह लीजिए कि हमने कब स्वतंत्रता किनारे रख दी पता नहीं चलता। कई कम्युनिस्टों का मोह-भंग होते हुए भी देखा है। ऐसे में, वर्तमान में क्या हो, क्या करें- बहुत बड़े प्रश्न हैं।

अभी तक हमारे पास जो है उसके खाके में जो कुछ आ जाता है वह है रजत-जयन्ती-वर्ष का कार्यक्रम और एक ग्राम परियोजना हाथ में लेने का विचार। उसके बाद? क्या यहीं पूर्ण विराम होगा? आज तक स्पष्ट नहीं हुआ है मुझे। हम इसे कैसा रूप देना चाहते हैं! मात्र एक intellectual प्यास बुझाने की बात है या कुछ करने की भी हो सकता है मैं थोड़े समय एक ही जीवन में बहुत कुछ अपनी सामर्थ्य के बाहर करना चाहता होऊँ और मूखर्तापूर्ण आशावाद से घिरा होऊँ इससे अस्वीकृति नहीं है। मेरे कई मिथक टूटे हैं,आगे क्या होगा-क्या मालूम?

मुझे लगता है धीरे-धीरे state of anarchy सम्पूर्ण अराजकता आएगी और उसके बाद जन-नेतृत्व से ही कुछ होगा। क्यों न हम अभी से इस दिशा में कुछ सोचें कि आन्दोलन का कैसा रूप हम ले सकते हैं। आन्दोलन से मेरा तात्पर्य मुलायम सिंह 'हल्ला बोल' पद्धति से नहीं है बल्कि सर्वोदय या एकात्म मानववाद (दोनों में विरोध नहीं दिखता) जैसी कोई बात हम निकाल सकते हैं क्या? बहुत बड़े कैनवास पर सोचना होगा, पर उसके लिए विनोबा या दीनदयाल उपाध्याय भी तो नहीं है कोई! हो सकता है कि मैं बह रहा होऊँ, पर मेरे दिमाग में यह बात प्रारम्भ से थी। ख्याली-पुलाव हो सकते हैं ये। पर, मूर्खता नहीं है कोई इसमें।

आपका

१८.१२.६४ **अनिल महाजन**

विविध

प्रेरणा

✍ विक्रम शहाणे, एकादश

आचार्य विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने भारतीय शास्त्रीय संगीत के विस्तार हेतु १९२५ में कानपुर भेजा था अपने शिष्य आचार्य शङ्कर श्रीपाद बोडस को। उन्हीं के यहाँ १९३४ की ४ दिसम्बर को जन्म लिया काशीराम शङ्कर बोडस ने। 'दादा' ने सतत् साधना के माध्यम से जिस पौधे को एक वृक्ष का रूप दिया, उसे पुष्पित एवं फलयुक्त करने के दायित्व का निर्वहन किया काशीनाथ जी ने। चरितार्थ की यह उक्ति - 'बाप सवाई बेटा'। संगीत के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से कनाडा गये काशीनाथ जी ने मीराबाई के पद 'अब उठ तो चले अवधूत...' को प्रत्यक्ष साकार किया।२० जुलाई १९९५ को भारतीय शास्त्रीय संगीत का यह दीप कनाडा में सदैव के लिए बुझ गया। हमारी श्रद्धांजलि उन्हें अर्पित है।

प्रत्येक बालक अपने जीवन में कोई न कोई विशेष गुण अपनी माँ से धरोहर के रूप में प्राप्त करता है। मुझे भी गायन के रूप में एक धरोहर अपनी माँ से मिली। इसी कारण मेरा ध्यान आकाशवाणी व दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले शास्त्रीय संगीत व भजनों के कार्यक्रमों की ओर बरबस ही चला जाता है। ऐसे में आकाशवाणी से प्रसारित भजन 'मेरो मन लागो यार फकीरी में' के स्वर ने मुझे अत्यन्त मुग्ध किया। पुनश्च उस भजन को सुनने की इच्छा बारम्बार मन में उठती रही।

जुलाई १९९१ में मेरा प्रवेश इस विद्यालय में हुआ। भगवान श्री कृष्ण की छठी के अवसर पर प्रवचन के अतिरिक्त भजन-गायन का भी कार्यक्रम था। मंच से 'मेरो मन लागो यार फकीरी में' के स्वर सुनाई दिये। ठीक वही स्वर जो मैंने अपने घर पर सुने थे। जिज्ञासा बढ़ी गायक का नाम जानने की। पूछने पर ज्ञात हुआ कि गायक आचार्य विष्णु दिगम्बर पलुस्कर की परम्परा के उन्नायक श्री काशीनाथ शंकर बोडस हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, नियति के माध्यम से मुझे उनका सान्निध्य प्राप्त करने मिला।

कुछ एक दो वर्षों के बाद विद्यालय के वार्षिकोत्सव के अवसर पर आयोजित 'राष्ट्रीय गीत-गायन प्रतियोगिता में अपने विद्यालय का प्रतिनिधित्व करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। मुझे अपने पूर्व तैयार गीतों के अतिरिक्त नवीन गीत तैयार करने को कहा गया। मेरे सामने प्रमुख समस्या यह थी कि नये गीतों का स्वर कैसे तैयार किया जाये। काफी उलझन में था। अन्ततः अपनी समस्या मैंने श्री दीपक जी के सामने रखी। आचार्य जी ने कहा, "अरे, यह तो कोई समस्या नहीं है। इसके लिए तो बोडस जी पर्याप्त हैं।"

यह उत्तर सुनकर मेरे मन में विचार उठे कि इतने बड़े संगीतकार के पास कैसे जाऊँ। किस प्रकार उनसे गीत सिखाने का आग्रह करूँ।

मेरे मन की इस ऊहापोह की स्थिति को समझकर आचार्य जी मुझे बोडस जी के पास ले गये। बोडस जी ने समस्या को जाना। फिर एक भी क्षण न लगाते हुए सर्वप्रथम मेरे स्वर ज्ञान का परीक्षण किया तथा गीत अपने पास रखकर मुझे अगले दिन आने को कहा।

अगले दिन जब मैं पहुँचा तो गीत का स्वर वे तैयार कर चुके थे तथा उन्होंने मुझे सिखाना प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम गीत जो मैंने उनके मार्गदर्शन में तैयार किया था, - 'शुद्ध सात्विक प्रेम अपने कार्य का आधार है।'

उनके आशीष व शिक्षा का ही प्रभाव था कि मुझे प्रतियोगिता में 'द्वितीय स्थान' मिला। मैं अपने भीतर एक अद्भुत गायन प्रतिभा का अनुभव करने लगा था जो मुझे चार दिन के अभ्यास के माध्यम से श्रद्धेय काशीनाथ जी से प्राप्त हुई। उसके पश्चात् तो मैं प्रतिवर्ष

वार्षिकोत्सव के अवसर पर नवीन गीतों को सीखने के लिए उनके पास जाने लगा। कई बार उन्होंने आचार्य जी से कहा, "इसके पास प्रतिभा है, इसे सप्ताह में एक दिन सीखने के लिए मेरे पास भेज दिया करें।" उनका यह वाक्य मुझे आज भी प्रेरणा प्रदान करता है और करता रहेगा।

उनके पास सीखने की इच्छा से अनेकानेक विद्यार्थी आने का प्रयास करते थे। प्रत्येक को शिक्षा का अवसर भी प्राप्त नहीं होता था परन्तु यह अवसर मुझे अनायास ही प्राप्त हो रहा था।

जब कभी नया गीत तैयार होता था और मैं उसे कार्यक्रमों में प्रस्तुत करता था तो मैं पाता था कि श्रोताओं के मध्य श्री काशीनाथ जी भी उपस्थित थे। गीत समाप्ति के पश्चात् वे मंच के समीप आकर मुझे प्रोत्साहित भी करते थे।

उनके घर पर मुझे कभी भी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि मैं किसी बहुत बड़े कलाकार के घर पर हूँ। हास्य-विनोद के माध्यम से वे बहुत सी बातें समझा देते थे। इस वर्ष मैंने यह निर्णय किया था कि २७ अगस्त को उनके स्वदेश लौटने के पश्चात् उनके पास मैं सीखने के लिए अवश्य जाऊँगा। पर शायद नियति को यह मंजूर नहीं था। इसी कारण क्रूर काल ने २० जुलाई १९९५ को आदरणीय काशीनाथ जी को हमसे छीन लिया। श्री काशीनाथ जी का महाप्रयाण जहाँ मेरी व्यक्तिगत क्षति है वहीं भारतीय संगीत की भी एक अपूरणीय क्षति है। अपने भीतर छिपी हुई इस विधा को जिसे स्वर्गीय बोडस जी ने उजागर किया था,उसे मूर्त रूप दे सकूँ यही मेरी उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। मुझे विश्वास है कि मैं प्रभु की कृपा और स्वर्गीय बोडस जी के आशीर्वाद से यह कार्य सम्पादित कर सकूंगा। संगीत के उस अनन्य साधक को मेरा शत-शत नमन।

व्यक्तिवाद अधर्म है। राष्ट्र के लिए कार्य करना धर्म है। राष्ट्र - कार्य को साधने के लिए जो कुछ आ पड़े करना ही उचित है। सच, झूठ सबकी कसौटी समष्टि का हित है।

— दीनदयाल उपाध्याय

हिन्दुत्व और भारत

✍ जे०पी० श्रीवास्तव

भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री लालकृष्ण आडवाणी ने मार्च ९४ में हैदराबाद में हुई पार्टी की कार्यसमिति की बैठक में बहुत साफ-साफ घोषणा की कि हिन्दुत्व भाजपा के राजनीतिक दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। समीक्षकों, सम्पादकों ने अपने-अपने ढंग से टिप्पणियाँ की हैं और सम्पादकीय लिखे हैं। जान-बूझ कर भाजपा के विरुद्ध अपप्रचार भी किया जा रहा है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जिससे भाजपा अटूट रिश्तों में बंधी है, अपने जीवन के प्रारम्भिक दौर में प्रचार से पूर्णतया पराङ्मुख था, यहाँ तक कि अपने विषय में लिखे गये सर्वथा असत्य लेखों का भी प्रतिवाद करना उचित नहीं समझता था। इससे जहाँ संगठन को सुदृढ़ बनाने वाली एकनिष्ठ शक्ति का विकास हुआ वहीं संघ के विषय में प्रवादों, संदेहों एवं शरारत भरी आलोचनाओं का एक घटाटोप छा गया। संघ आज तक इससे पूर्णतया मुक्त नहीं हो सका है और सम्बन्ध सूत्र के कारण भाजपा को भी इसका शिकार बनना पड़ता है। हिन्दुत्व को लेकर एक अपप्रचार उन लोगों द्वारा खड़ा किया जा रहा है जो सीधे विवाद से कतराते हैं। बेचारे अपनी दुर्बलता से सुपरिचित हैं। वे जानते हैं कि सीधी सपाट बहस में उन्हें चारों खाने चित्त हो जाना पड़ेगा।

हिन्दुत्व पर विशुद्ध चर्चा करना समीचीन होगा। भारत एक सनातन राष्ट्र है। वैदिक राष्ट्रगान इस बात का साक्षी है - श्आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसो जायताम् आ राष्ट्रे राजन्या शूर...' आदि। इस राष्ट्रगान में सबके मंगल की कामना एवं भारतीयों के सबल, समृद्ध बनने की भावना निहित है। इसमें मजहबी राज्य की कहीं गन्ध तक नहीं है। फिर वेदों में ही घोषणा की गई कि 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' अर्थात् भारत भूमि हमारी माता है और हम सब उसके पुत्र हैं। मातृभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर माना गया है। श्री रामजी के वचन हैं -'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। स्पष्ट है कि भारत की पावन भूमि और उसमें पनपी सनातन, पुरातन संस्कृति के उपासक जन ही भारत के राष्ट्रीय जन हैं। इसी को भूसांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में व्याख्यायित किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन न्यायाधीशों मुख्य न्यायाधीश श्री पी.एन. भगवती एवं न्यायाधीश श्री ए.एन. सेन व श्री रंगनाथ मिश्र के एक संयुक्त फैसले को उद्धृत करते हुए श्री आडवाणी जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में ठीक ही कहा है, 'भारतीय इतिहास का यह दिलचस्प तथ्य है कि भारत को एक राष्ट्र न तो एक भाषा के आधार पर बनाया गया और न 'एक क्षेत्र पर एक राज' की ऐतिहासिक अवधारणा पर। बल्कि शताब्दियों से चले आ रहे समान सांस्कृतिक प्रवाह के कारण ही भारत एक राष्ट्र के रूप में विकसित हुआ। यह सांस्कृतिक एकता ज्यादा आधारभूत है, ज्यादा टिकाऊ बन्धन है, जो लोगों को एक करती है और जिसने इस देश को एक राष्ट्र बनाया'।

स्पष्ट है कि संस्कृति राष्ट्र की प्राण चेतना है। संस्कृति के अभाव में राष्ट्र सिर कटे कबन्ध जैसा निष्प्राण हो जायेगा। यह संस्कृति मूलतः हिन्दू संस्कृति है। इससे स्वयं सिद्ध हो जाता है कि 'हिन्दू' संस्कृति सूचक है, पंथ या मजहब सूचक नहीं। यहाँ मैं धर्म की बात नहीं करता। धर्म तो धारणा का नाम है जो सार्वभौम, शाश्वत और सनातन है। अतएव भारत में रहने वाले सभी जन सांस्कृतिक दृष्ट्या हिन्दू हैं। यह हिन्दू संस्कृति एक और अविभाज्य है। इसमें विभिन्न पंथों और मत-मतांतरों का योगदान है। हम उसे सिर माथे रख स्वीकार करते हैं और उस योगदान का आदर करते हैं। इस दृष्टि से देखें तो विविधता में एकता है। पर आग्रह विविधता का नहीं एकता का है।

वीर सावरकर ने हिन्दू की परिभाषा यों की है

'आसिन्धु सिन्धु पर्यन्ता, यस्य भारत भूमिका।

पितृभू पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः।।'

पुण्यम् से संकेत भारत की पावन संस्कृति से सुवासित भारत भूमि की ओर है और पितृभू से स्पष्ट संकेत मिलता है कि भारत के रहने वाले सभी लोगों के पूर्वज एक हैं। जो ऐसा नहीं मानते वे भारत के राष्ट्रीय कैसे हो सकते हैं? यही मान्यता तो भारत की एकता का बीजमंत्र है और इसी के आधार पर भारत के रहने वाले सभी लोग एक जन हैं। तभी तो एक बार भारत के तत्कालीन शिक्षामंत्री स्व. मुहम्मद करीम छागला ने ठीक ही कहा था, 'मैं संस्कृति से हिन्दू और मजहब से मुसलमान हूँ'। पुनः दोहराना समीचीन होगा कि सांस्कृतिक द्रष्ट्या भारत में रहने वाले सभी जन हिन्दू हैं और इसीलिए यह देश हिन्दुस्थान है। यहाँ सबका समन्वय हो जाता है और यह समन्वय हमारी संस्कृति का परम विशिष्ट गुण है।

ऊपर हमने धर्म को सार्वभौम, शाश्वत और सनातन कहा है। वह तो सबके लिए है। पंथ अथवा मजहब, एक ग्रन्थ, विशिष्ट पूजा पद्धति, विशिष्ट प्रकार के पूजा स्थल विभिन्न लोगों के लिए अलग-अलग हो सकते हैं पर धर्म सब का एक है। धर्म राज्य की बात को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। ऐसा करने पर भ्रान्तियाँ अपने आप मिट जायेंगी। धर्मराज्य का अर्थ मजहबी राज्य (theocratic state) कदापि नहीं है। एक बार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री गुरुजी से भारतीयकरण के विषय में प्रश्न किया गया तो उन्होंने कहा था, भारतीयकरण का यह अर्थ नहीं कि कोई अपनी पूजा पद्धति त्याग दे। यह बात हमने कभी नहीं कही, और कभी कहेंगे भी नहीं। हमारी तो यह मान्यता है कि उपासना की एक ही पद्धति सभी मानव जातियों के लिए सुविधाजनक नहीं'।

भारतीय जनसंघ के महामंत्री और बाद में अध्यक्ष रहे पं. दीनदयाल उपाध्याय जी का कहना था, 'धर्मराज्य का मतलब Theocratic state नहीं है, इसे अच्छी प्रकार समझ लें Theocratic state अर्थात् जहाँ पर किसी पंथ या गुरू का राज्य हो। धर्मराज्य में ऐसा नहीं होता अपितु प्रत्येक को अपने मजहब की पूरी स्वतंत्रता रहती है। Theocratic state में एक पंथ को स्वतंत्रता और दूसरों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बंधन रहते हैं। धर्मराज्य व्यक्ति के विकास, उसके सुख और शान्ति में मजहब का स्थान स्वीकार करता है। इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसी अवस्था पैदा करे जिसमें व्यक्ति अपने मतानुसार जीवन यापन कर सके। अपने मत को मानने की स्वतंत्रता में दूसरे के मत के प्रति सहिष्णुता स्वयमेव आ जाती है'।

यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि धर्मराज्य पूर्णतया पंथ निरपेक्ष (secular) हो सकता है। यही कारण है कि यह बात बार-बार कही जाती है कि भारत पंथ निरपेक्ष है क्योंकि वह हिन्दू देश है। हिन्दू संस्कृति पंथ वैभिन्य को समाज का गुण मानती है, दोष नहीं और इस वैभिन्य में आत्मैक्य के दर्शन करती है। अतएव पंथनिरपेक्षता उसका प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक गुण है। इस संदर्भ में हिन्दुत्व को साम्प्रदायिकता का पर्याय बनाना एक अपराध सा लगता है। विडम्बना यह है कि बड़े-बड़े उत्तरदायी पदों पर आसीन लोग भी बिना विचार किये यह अपराध करते रहते हैं।

तो हिन्दुत्व हमारे चिन्तन का केन्द्र बिन्दु रहना ही चाहिए। हिन्दुत्व केन्द्र बिन्दु रहा तो संस्कृति के स्वरूप को समझने में भ्रान्तियाँ नहीं रहेंगी। इतिहास के क्षेत्र में चलने वाले राजनीतिक प्रपंचों को हिन्दुत्व ही काट सकेगा। समान पूर्वजों की बात बिना हिन्दुत्व की अवधारणा के सब लोगों के गले उतरेगी ही नहीं या यों कहिये कि लोग काट छाँट करते रहेंगे और इस अकाट्य सत्य को भी काट्य कहते रहेंगे। अपने देश में जब कभी सच्ची राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता स्थापित होगी तो इसी शाश्वत सत्य के अधिष्ठान पर खड़े होने से ही सम्भव हो सकेगी। यह बात जोर-जबर्दस्ती से नहीं, सदाग्रह, प्रेम की भाषा और व्यवस्थित प्रचार की

व्यापकता से ही सम्भव होगी। प्रेम की भाषा का अर्थ दुर्बलता की भाषा और सभी के लिए कुछ अच्छा कह देने की भाषा नहीं वरन् तर्कों से सब के मन को अपनी ओर आकृष्ट करते हुए अपने व्यवहार द्वारा सब के हृदयों को जीत लेने वाली भाषा है। इस भाषा और उसके निघंटु एवं मुहावरों को समझने-समझाने की आज महती आवश्यकता है।

सर्वथा उचित होगा कि अन्त में हिन्दू संस्कृति के रूप, स्वरूप और चरित्र पर भी कुछ विचार किया जाये। वेदों से लेकर आज तक के सद्ग्रन्थों के सार तत्व से पूर्ण यह संस्कृति मंगला संस्कृति है। यह विश्व हितैषिणी होने के कारण 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु' का उद्घोष करती है। इसका हृदय विशाल है और सारी वसुधा इसके लिए एक कुटुम्ब है - 'वसुधैव कुटुम्बकम्'। इसके प्राण आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत हैं। आस्तिकता इसका हृदय है। परन्तु साथ ही इसका उद्घोष है - 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' - ईश्वर एक है परन्तु विद्वज्जन उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। यह वर्णाश्रम धर्मा है पर वर्ण जन्मना नहीं कर्मणा है, श्रम विभाजन के रूप में - 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः'। इसमें दुराग्रह के स्थान पर सदाग्रह है। इसमें वाद विवाद भी होता है पर तत्वबोध के लिए, असहमत होने वाले का सिर काटने अथवा वैर बुद्धि बढ़ाने के लिए नहीं। भारत की यह पावन संस्कृति तर्क प्रधान न होकर भावप्रधान है। इसीलिए यहाँ माटी चन्दन, गाय माता और वृक्षों की छाल दुकूल बन जाते हैं। यहाँ लोक कल्याण के लिए श्रीराम की तरह मर्यादायें स्थापित की जाती हैं और लोक कल्याण के लिए ही श्री कृष्ण की तरह मर्यादायें तोड़ी भी जाती हैं। स्पष्ट है कि यह संस्कृति पश्चगामी न होकर पुरोगामी है। पुरानी नींव में इसका विश्वास हो सकता है पर निर्माण सर्वथा नया होगा। यहाँ एकात्मता में विश्वास है, एकरूपता में नहीं क्योंकि इसमें काया से कहीं अधिक महत्व उस काया को सचेतन बनाने वाली आत्मा का है। यह संस्कृति रंगारंग है। संगीत, कलाओं, पर्वों, कारीगरियों की रचना में इसने अपनी आत्मा को पिरोया है। यह सर्वस्पर्शी और समन्वयमूलक है। इसका विरोध केवल अशिव और असत्य से है। सत्य और शिव चाहे जिस दिशा से सम्प्राप्त हो इसके लिए ग्राह्य है और इसलिए इसकी भारत या हिन्दुस्थान नामक पुण्यभूमि पर सबको अभय का वरदान प्राप्त है।

हिन्दू संस्कृति, जिसे भारतीय संस्कृति का पर्याय मानना चाहिए, एक कमल पुष्प के समान है जो चतुष्पदी पर अधिष्ठित है। चतुष्पदी के पाये हैं - समता, प्रेम, भक्ति और सर्वात्म दर्शन। कमल की पंखुड़ियाँ हैं - यज्ञ, दान, तप, संयम, त्याग, दया, कर्तव्यपालन, शौर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा कर्मफल, पुनर्जन्म एवं परलोक में विश्वास-भला इनसे किनका वैर हो सकता है? ये गुण तो सभी पंथों, मत मतान्तरों के मानने वालों के लिए समानरूप से कल्याणकारी हैं।

स्पष्ट है कि यह संस्कृति जीवित रहेगी तो भारत जीवित रहेगा। यह संस्कृति मर गई तो यूनान, मिस्र और रोम की तरह हम भी निष्प्राण हो जायेंगे - मात्र कायिक अस्तित्व वाले जीवनहीन लोगों की एक भीड़। अतएव इसे जीवित रखना हम सबका साझा राष्ट्रीय दायित्व है। यदि हिन्दुत्व को न भूले तभी भारत को जीवित रखने में हम सक्षम रहेंगे।

इसीलिए विवेकानन्द जी ने उद्घोष किया था 'गर्व से कहो हम हिन्दू हैं'। इस उद्घोष से उनका मन्तव्य जातीय अभिमान से नहीं था वरन् ऐसे व्यक्ति से था जो आत्मरक्षा के साथ-साथ अन्य असहायों की रक्षा में तो सक्षम है ही, साथ ही इतना विशाल हृदय भी है जो सबको अपना बना लेने की सुशील भरी क्षमता रखता है- 'सुशीलं जगद्येन नम्रं भवेत्'।

यदि विश्व की कसौटी पर हिन्दुत्व को कसें तो दिखाई पड़ेगा कि हिन्दुत्व विश्व के लिए एक सर्वग्राह्य जीवन दर्शन बन सकता है। आज विश्व जिन पीड़ाओं से ग्रस्त है - भौतिकता का अतिरेक, अशान्ति, रक्तिम प्रतिस्पर्धा, भयंकर स्वार्थ आदि - उन सबका समाधान इस जीवन दर्शन के पास है। शायद इसीलिए भारत के

महान् विचारक माननीय श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने कहा था कि इक्कीसवीं शताब्दी हिन्दुत्व की शताब्दी होगी - हिन्दुत्व की शताब्दी अर्थात् यावत् मानव समुदाय ही नहीं यावत् जीवधारी समुदाय के श्रेय-प्रेय को सुनिश्चित करने वाली शताब्दी। सच्चे अर्थों में सहअस्तित्व का बीजमंत्र इसी संस्कृति में निहित है। यह समन्वय प्रधान संस्कृति है, इसमें बहुत्व में एकत्व की पहिचान है। संसार के सारे भोग अल्प, सीमित, तुच्छ और जीतने योग्य हैं - यह दृढ़ प्रतीति हिन्दू मन में सदा ऊँची प्रतिष्ठा की पात्र बनी रही, इसीलिए हिन्दू मन अध्यात्म के प्रकाश में खिल उठता है। हमारा धर्म सनातन है और इसीलिए वह सबका और सब के लिए ग्राह्य है। 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः' से किसको आपत्ति हो सकती है अथवा 'धारणात् धर्म इत्याहुहो धर्मो धारयते प्रजाः' से कौन असहमत हो सकता है? इसमें कर्म पर पूरा जोर है पर बिना धर्म के कर्म अधूरा है। इसीलिए हिन्दू दर्शन में धर्म-अध्यात्म सर्वोपरि है। जहाँ ऐसा होता है वहाँ सर्वापहारी राजसत्ता का अस्तित्व कभी हो ही नहीं सकता। १९७५ का आपात्काल हिन्दू चिन्तन के सर्वथा विपरीत था, इसीलिये उसे बुरी तरह ध्वस्त होना पड़ा।

महात्मा गांधी ने श्री योगानन्द जी से वार्तालाप में एक बार कहा था - 'प्रत्येक हिन्दू की भाँति मैं ईश्वर और एकेश्वरवाद में और पुनर्जन्म और मुक्ति में विश्वास करता हूँ। हिन्दुत्व की सारी त्रुटियों और ससीमताओं के होते हुए भी मैं इसके प्रति हार्दिक श्रद्धा रखता हूँ। गीता या तुलसीदास की रामायण से अधिक मुझे किसी अन्य संगीत का आनन्द नहीं मिलता। जब मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं अन्तिम साँस ले रहा हूँ, तब एकमात्र गीता ही मेरा सम्बल थी'।

हिन्दुओं का सनातन धर्म कोई एकान्तिक धर्म नहीं है। इसमें विश्व के सभी महापुरुषों की पूजा के लिए स्थान है। सामान्य भाषा में जिसे प्रचार धर्म (missionary religion) कहते हैं ऐसा यह नहीं है। हिन्दुत्व प्रत्येक व्यक्ति को अपने विश्वास या धर्म के अनुसार ईश्वर की आराधना करने की शिक्षा देता है और इसीलिए किसी धर्म के साथ इसका विरोध नहीं है।'

'विश्व का कल्याण हो' का उद्घोष करने वाले हिन्दुओं का यह पावन कर्तव्य है कि वे आदर्शजीवी बनें और 'शिवोभूत्वा शिवं यजेत्' की भावना को सार्थक करें। इस हेतु डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल को उद्धृत करना चाहूँगा जिनके शब्दों को यथार्थ जीवन का अंश बनाने से विश्वकल्याण सम्भव बनेगा - 'हिन्दू का मन हिन्दू संस्कृति का ही एक टुकड़ा है। यह मन उदार, सहिष्णु, नूतन भावों का जागरुकता से स्वागत करने वाला है। अनुशासन या अंकुश की अपेक्षा वह उच्च आदर्श, त्याग की भावना, स्वगत कर्म-प्रेरणा से अधिक द्रवित होता है। उस मन को दृढ़ता से लोकहित में लगाने, उसमें उदात्त भावों को भरने के लिए त्याग, तप या यज्ञ का धरातल ही एकमात्र उपाय है। त्याग की भावना को सामाजिक स्तर पर जो उतार सकता है, वही हिन्दू संस्कृति की छिपी हुई मानसनिधि तक पहुँच पाता है अन्यथा भारतीय मन समाज की ओर से अपने तन्तु समेटे पड़ा रहता है'।

जे. पी. श्रीवास्तव : अवकाश प्राप्त प्रवक्ता, बी.एन.एस.डी. इंटर कॉलेज कानपुर।

बाती अभी भी गीली है

✍ ओमशङ्कर

मैंने अपने अन्तरतम का सारा स्नेह
एक ही दीपक में उड़ेल दिया,
किन्तु हैरान हूँ
कि
बड़ी देर से अपनी मेधा की जलती हुई तीली
उसकी सजीली बाती में लगाए खड़ा हूँ
फिर भी
वह भरभराती, झरझराती
कई बार भभकती भी है
पर
सतत जलकर
दूधिया प्रकाश नहीं बिखेर पा रही है।
शायद बाती पानी से गीली थी
अब क्या करूँ?
तीली जलते-जलते उँगलियों को झुलसाने लगी है।
थोड़ी देर में,
अपना चिलचिलाता निशान छोड़कर
वह भी बुझ जायेगी
और मैं,
ठगा सा खड़ा रह जाऊँगा,
क्योंकि,
मेरी दियासलाई की शायद यह अन्तिम तीली है।
और
बाती अभी भी गीली है
बाती अभी भी गीली है

❐ नीराजन, १९९१-९२

मैं अमा का दीप...

✍ ओमशङ्कर

मैं अमा का दीप बनने की ललक ले सो रहा हूँ,
तुम प्रभा के गीत गाते जा रहे हो, भा रहे हो।

मैं सपन की शृंखला हूँ, तुम सृजन की स्वर्ण वेला।
तुम अकेले में मगन हो, भीड़ में भी मैं अकेला।
मैं विमन हूँ, तुम प्रमन हो, घर लुटाते जा रहे हो,
भा रहे हो।

मैं उदासी हूँ युगों की, क्षणों का उल्लास हो तुम।
शिशिर का पतझार मैं हूँ, सुरभिमय मधुमास हो तुम।
मैं मगन हूँ, तुम कथन हो, खिलखिलाते जा रहे हो,
भा रहे हो।

गीत की परिकल्पना मैं राग की अनुगूँज तुम हो।
भावना हूँ मैं बसन्ती, काकली की कूज तुम हो।
मैं गगन हूँ, तुम चमन हो, महमहाते जा रहे हो,
भा रहे हो।

मान का सन्धान मैं, अभिमान की अवधारणा हो।
ज्ञान का सूना दिया हूँ, नेह की अवतारणा हो।
मैं भुवन हूँ, तुम धरा हो, नाचते इठला रहे हो,
भा रहे हो।

सत्य का आदर्श मैं, तुम तथ्य का परिपथ सुहावन।
तत्व के विग्रह बने तुम रंजना की परिधि भावन।
दिग्भ्रमित मैं, तुम शमित हो, गुनगुनाते जा रहे हो,
भा रहे हो।

ओमशंकर : संस्थापक आचार्य, संप्रति प्राचार्य, पं०दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर।

छात्राणां जीवनम्

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत" (अथर्व वेद)

✍ गणेश शंकर वाजपेयी

छात्राणां जीवनमतिरोचकमुल्लासपूर्णञ्च भवति।

ते च कदापि चिन्ताकुलाः न सञ्जायते। स्वाध्याय काले स्वाध्यापकैः सह तेषां सम्बन्धो भवति। तेषामध्यापकाश्च तान् अध्येतुं क्रीडितुमेव वा समुपदिशन्ति। अध्ययनेन तेषु बुद्धिप्रागम्यं व्यवहारदाक्ष्य चोपजायेते। क्रीडनेन तेषां गात्रेषु स्फूर्तिः बलं च समुद्भवतः। छात्रजीवनञ्च शारीरिक मानसिक शक्ति प्रातये सकल जीवनस्या धारभूतमस्ति। यथाहि केनचिदुक्तम् -

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति।।

वस्तुतः ब्रह्मचर्यादिषु चतुर्ष्वाश्रमेषु जीवनानन्द सन्दोहमवासुं छात्र-जीवनमेव श्रेयस्करम्। यतोहि -

"प्रासादस्य विनिर्माणे मूलभित्तिपेक्ष्यते।
तथैव जीवनस्यादौ ब्रह्मचर्यमपेक्ष्यते
ब्रह्मचर्यव्रतं चीर्णं यैस्तैरेव तपस्विभिः।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवने लभ्यते ध्रुवम्।
चारित्रयस्य विनिर्माणं विधाया अर्जनं तथा।
आश्रमे प्रथमे नूनं कर्तव्यं ब्रह्मचारिणा।।

ये छात्र जीवनं व्यर्थमेवमापयन्ति ते आगामिनि जीवने पश्चातापमेव लभन्ते। अतस्तपोमयं छात्रजीवनं सर्वदैव सफलतां याति। तपो द्वन्द्वसहनमित्युक्तमनुसारं विद्यार्थिभिः विद्यार्जने तप आचरणीयम्। पारम्पर्य समागतस्याचारस्य सेवनमपि तपसा एव भवितुमर्हति। लोके विद्यावन्तो धनवन्तश्च शक्तिसम्पन्नाः अपि आचाराद्विच्युताः सन्तः निन्दनीया एव भवन्ति। सदाचारणं बिना अध्ययनाध्यापनमपि निरर्थकमेव। यथाहि मनुना प्रतिपादितम् -

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्।।

ये हि छात्राः विद्या प्रार्य वस्थायामभिमान् दोषान् सर्वदैव परित्यजन्ति तेषां शेषमपि जीवनं सुखमयं सञ्जायते एतेषा दोषाणां परित्याग एव छात्राणां कृते तपः, तपसा तु अनवाप्तव्यमपि वस्तु अवाप्तव्यं सञ्जायते। यथोपनिषदि प्रतिपा दितम् -

"यद् दुर्गं यद्दुपरापं यद्य दुष्कृतम्, तत्सर्वं तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम् इति।"

शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्येमुनि वृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यनाम्।।

छात्रैः स्वजीवनं स्वदेशस्यावश्यकतामवलोक्यैव निर्मातव्यम्। येन स्वदेशरक्षायां दीक्षितास्ते स्वदेश रक्षा भारोद्वहनमपि कर्तुं प्रभवेयुः। आङ्ग्लशासकानां शासने विद्यालयेषु सैनिक शिक्षणन्नासीत्। इदानीं स्वतंत्र भारते सैनिक शिक्षणमपि प्रबन्धकर्तृभिः व्यवस्थापितम्। तस्मिन्हि प्रवृत्ते विद्यालयेषु नवजीवनमिव समुदितम् प्रतिभाति। अन्यच्च अनेक विद्यायाः विकासे छात्राः स्वप्रवत्यनुसारं स्वाध्ययनं समाप्य केचित् देशरक्षायां केचन् साहित्योन्नयने अपरे नीति प्रयोगेषु स्वजीवन प्रवर्तयितुमर्हन्ति। तदैव हि छात्राणां जीवनमपि सफलतामेष्यतीति विदुषाम्मतम्।

गणेश शंकर वाजपेयी : आचार्य, संस्कृत, पं. दीनदयाल सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर

कल्पना शाश्वत राष्ट्र की

✍ ब्रजेन्द्र सिंह यादव, द्वादश

आजकल 'राष्ट्र' शब्द बहुत प्रचलित है किन्तु इसके वास्तविक अर्थ पर ध्यान बहुत कम दिया जाता है। विद्वानों के मतानुसार राष्ट्र उस जन समुदाय का नाम है जिसमें जन की स्वाभाविक समानताओं के बन्धन ऐसे दृढ़ और सच्चे हों कि वे एकत्र रहने से सुखी व अलग-अलग हो जाने से असन्तुष्ट रहें और ऐसी समानताओं के बन्धनों से असम्बद्ध अन्य लोगों की पराधीनता को सहन न कर सकें।

भूमि, भूमि का निवासी जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है। इसमें भूमि प्रधान है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना राष्ट्रीय स्वरूप को उद्घाटित करती है। मातृभूमि के निवासी जन राष्ट्र का दूसरा अंग हैं। पृथ्वी व जन के सम्मिलन से ही राष्ट्र का स्वरूप संपादित होता है। जन की संस्कृति राष्ट्र का तीसरा अंग है। संस्कृति को ही जन का मस्तिष्क माना गया है, अतः संस्कृति के अभ्युदय के द्वारा ही राष्ट्र की प्रगति सम्भव है।

जन की स्वाभाविक समानताओं के बन्धन निम्नलिखित हो सकते हैं -

क) देश की एकता
ख) राज्य की एकता
ग) भाषागत एकता
घ) धर्म की एकता
ङ) वर्ग की एकता
च) इस एकता का अभिमान जो ऐतिहासिक पूर्वजों के गौरव व अन्य ऐसे ही कारणों से उत्पन्न होता है

राष्ट्र के निर्माण में सबसे प्रमुख स्थान देश संबंधी एकता का है। देश राष्ट्रशरीर के पैर हैं जिनके बिना राष्ट्र खड़ा नहीं हो सकता।

जिस प्रकार देश राष्ट्र के पैर हैं, उसी प्रकार राज्य राष्ट्र की भुजाएं हैं। राष्ट्र के प्रत्येक अंग को नियमित रूप से चलाने और सुरक्षित रखने के लिए राज्य-शक्ति नितांत आवश्यक है। यदि राष्ट्र का अपना दृढ़ राज्य नहीं है तो राष्ट्रभाषा का स्थान राजभाषा ले लेगी, धर्म नाशोन्मुखता की ओर अग्रसर हो जायेगा व सामाजिक संगठन जड़ से हिल जायेगा।सम्पूर्ण राष्ट्र की राज्य शक्ति अदृश्य रूप से उसकी रक्षा करती है। यही कारण है कि संसार के इतिहास में अगणित जन समुदाय स्वराज्य के लिए अपने को न्यौछावर करते आये हैं।

भाषा की एकता राष्ट्र की विशेषता व उसके प्रत्यक्ष रूप से पृथक होने का उत्कृष्ट प्रमाण है। हर मनुष्य अपने भावों की अभिव्यक्ति किसी न किसी भाषा के माध्यम से ही करता है। भाषा के अभाव में न तो किसी सामाजिक परिवेश की कल्पना की जा सकती है और न ही सामाजिक व राष्ट्रीय प्रगति की। साहित्य, विज्ञान, कला, दर्शन सभी का आधार भाषा है। भाषा वही है जिसे अमीर-गरीब, पढ़े-बेपढ़े, व शहरी-ग्रामीण सब समझते हों। राष्ट्र भाषा के समर्थन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था-

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल।

राष्ट्र के लाभ के लिए या विद्या प्रेम के कारण थोड़े व्यक्ति विदेशी भाषाओं को सीख सकते हैं किन्तु राष्ट्र की भाषा तो वही रहेगी जिसमें गाकर कवि गण राष्ट्र के गाँव-गाँव में अपनी वाणी पहुँचाते हैं, धर्माचार्य घर-घर उपदेश देकर लोगों को धर्मपथ पर आरूढ़ करते हैं, सुधारक आन्दोलनकारी विचारों को फैलाते हैं, इतिहासज्ञ पुराना गौरव बताकर राष्ट्र को उत्साहित करते हैं और राजनीतिज्ञ राष्ट्र के हानि-लाभ को राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के सामने रखने में समर्थ होते हैं।

उपरलिखित मुख्य बन्धनों के अतिरिक्त कुछ और भी बन्धन हैं जिनकी उपस्थिति से राष्ट्र सुदृढ़ होता है तथा व्यक्तिगत जीवन शान्ति से व्यतीत होता है। इनमें प्रमुख स्थान धर्म की समानता का है। व्यक्ति की तरह राष्ट्र की आत्मा के लिए भी धर्म की आवश्यकता होती है। राष्ट्र में जितने अधिक व्यक्ति समान धार्मिक विचार रखने वाले होंगे, उतनी ही अधिक सुविधा से एक साथ रह सकेंगे। धर्म के साथ दूसरी बहुत सी बातों का संबंध रहता है जैसे आचार-विचार, सामाजिक संगठन तथा

साहित्य का विशेष रूप। यही कारण है कि धर्म के एक होने से राष्ट्र की स्थिति सुदृढ़ हो जाती है। कई धर्म होने पर भी एक राष्ट्र हो सकता है किन्तु यदि एक धर्मावलंबी प्रधान रूप से होंगे तो आपस में मेल की संभावना और भी अधिक होगी।

इन गौण बन्धनों में दूसरा स्थान वर्ग की एकता का है। व्यक्ति या परिवार जिस प्रकार अपने शुद्ध रक्त का गौरव करते हैं वैसे ही राष्ट्र भी कर सकते हैं। किसी भी राष्ट्र में स्थायी रूप से निवास करने वाला व्यक्ति समान वर्ग की भावना से ओत-प्रोत होना चाहिए। 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' की भावना को प्रधानता देनी चाहिए।

इन सब के होते हुए भी एक बात ऐसी है, जिसके अभाव में राष्ट्र रूपी शरीर बिना आत्मा का कहना चाहिए। यह बात जन समुदाय में इस विचार का होना कि हम एक हैं। इसे राष्ट्रीयता का भाव कह सकते हैं। जन समुदाय में इस भाव का जाग्रत रूप में होना एक साथ सुख-दुःख उठाने से उत्पन्न होता है। जहाँ श्रीमान् से लेकर कङ्गाल तक का रक्त एक में मिलकर बहता है। जहाँ अवसर पड़ने पर एक ही रोटी का टुकड़ा अमीर और गरीब दोनों बाँटकर खाते हैं। जहाँ किसी एक ही पूर्वज का नाम लेने से विद्वान और अनपढ़ दोनों का हृदय वेग से धड़कने लगता है। वहाँ समझना चाहिए कि राष्ट्र जीवित अवस्था में है। राष्ट्रीयता का भाव चिरकाल तक तभी स्थायी रह सकता है, जब प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार राष्ट्र कार्य का सम्पादन करने का समान रीति से अवसर मिलता रहे। आर्थिक स्थिति, विशेष जाति अथवा कुल में उत्पत्ति इस समानता में बाधक नहीं होनी चाहिए।

राष्ट्र के परिपक्व हो जाने पर राष्ट्रीयता का रूप छोटी-छोटी बातों में प्रकट होने लगता है। सब लोगों का खान-पान, रहन-सहन, कपड़े-लत्ते एक ही साँचे में ढलने लगते हैं। राष्ट्रीयता की जड़ें राष्ट्र की भूमि में जितनी गहरी होंगी, राष्ट्रीय भावों का अंकुर उगना ही पल्लवित होगा।

विद्वानों का मत है कि देश, अर्थ,राज्य, भाषा, धर्म व इतिहास संबंधी गौरव की समानताओं से बंधे हुए प्रत्येक जन समुदाय को स्वतंत्र और पृथक राष्ट्र के रूप में रहने का जन्म सिद्ध अधिकार है।

आज की राजनीति दो युगों के संधिकाल की राजनीति है। संक्रमण की कामचलाऊ व्यवस्था है। उसे टिकाऊ समझने की भूल न करें और न उसे भावी राजनीति का नमूना ही समझें।

— दीनदयाल उपाध्याय

चरैवेति - चरैवेति

✍ प्रवीण कटियार, द्वादश

'दुनियाँ उन्हीं की रागिनी पर सजती है, हरदम
जो जलती चिता पर बैठकर वीणा बजाते हैं।'

तात्पर्य यह है कि समाज उसी को सिर - आँखों पर बिठाता है, उसी का अनुकरण करता है जो संघर्ष पथ की कठिनाइयों को झेलते हुए, उस पर आगे बढ़ते हुए, उसे विजय पथ का रूप देकर, विजय अर्थात् सफलता प्राप्त करता है। सफलता की प्राप्ति के लिए विद्रूपताओं एवं विसंगतियों को अपने पैरों तले रौंद कर आगे बढ़ना ही एकमात्र मंत्र है। इसी संदर्भ में हमारे प्रेरणापुंज पं. दीनदयाल जी का 'चरैवेति-चरैवेति' का सिद्धान्त सर्वथा उचित है। चरैवेति-चरैवेति का तात्पर्य है - लगातार आगे बढ़ो। लक्ष्य प्राप्ति हेतु हाथ पर हाथ धर कर बैठना उचित नहीं है अपितु लगातार संघर्ष करते हुए आगे बढ़ते रहना आवश्यक है।

कोलम्बस अपना सर्वस्व दाँव पर लगाकर जब भारत की खोज करने निकला था तो एक समय ऐसा आया जब सागर की उद्दाम एवं कालसर्पिणी सदृश भयंकर लहरों से भयाक्रांत होकर उसके कुछ साथियों ने उसे आगे बढ़ने के बजाय वापस लौट जाने का परामर्श दिया परन्तु उसने अपने साथियों के परामर्श की उपेक्षा करते हुए कहा, 'सफलता आगे बढ़ते रहने से ही मिलती है। पीछे लौटना कायरों का काम है, असफलता का नाम है। अतः जिन्हें लौटना है, वे लौट जायें। मेरा तो यही ऐलान है - आगे बढ़ो, आगे बढ़ो (Sail on, Sail on)

हमारा यह कर्तव्य है कि हम जहाँ भी हों, जैसे भी हों, उससे आगे बढ़ें। जो कुछ है, उससे अधिक बनें, प्रत्येक चुनौती स्वीकार करें। छोटे से बड़ा होना, निरन्तर गतिमान रहना ही प्रकृति का नियम है। पीछे रहने वाले को केवल पछतावा ही प्राप्त होता है क्योंकि 'Opportunity knocks the door but once.'

साथियो, हमारा उद्देश्य केवल आगे बढ़ना ही नहीं होना चाहिये अपितु अपने बराबर वालों से व श्रेष्ठतरों से भी,अपने से भी श्रेष्ठ से, श्रेष्ठ बनना होना चाहिए। सागर की उत्ताल लहरों ने कोलम्बस को यही संदेश दिया था कि 'हमारे साथ बढ़े चलो। तुम भी हमारी तरह कदम दर कदम निरन्तर आगे बढ़ते जाओगे।' वेदों में भी लिखा है - 'सगपति क्राम, उक्रामत पुरुषः' अर्थात परिश्रम से भागो मत, पुरुषार्थ से भाग्य को बदलो। अन्यत्र भी कहा गया है -

"उद्यमेन हि सिध्यंति कार्याणि न मनोरथैः।"

किसी ने ठीक ही कहा है- 'निष्क्रियता से जंग लग जाती है - resting is rusting|कार्य में आने वाली चाबी सदैव चमकती रहती है - used key is always bright| प्रिय मित्रो, हमारे इस जीवन का उद्देश्य Eat, Drink and Be marry व जलधार में जड़हीन पदार्थ की तरह बहते रहना नहीं होना चाहिये अपितु अपने लक्ष्य को पहचानकर उसे प्राप्त करना होना चाहिए। हमारे मुख में एक ही गुरुमंत्र होना चाहिए -

'ध्येयं वा साध्येयं देहं वा पातेयम्'

अर्थात् मैं लक्ष्य को प्राप्त करके ही रहूँगा, भले ही ऐसा करते हुए हमारा जीवन ही क्यों न समाप्त हो जाये।

स्वामी विवेकानन्द ने भी हमें अपने लक्ष्य पथ की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी है -

"उठो, जागो, स्वयं जागकर औरों को जगाओ। अपने नर जन्म को सफल करो-उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।"

आगे बढ़ने वाले को किसने बाँधा है और कौन से संकट उसको रोक सके हैं

"बाधायें कब बाँध सकी हैं,
आगे बढ़ने वालों को।
विपदायें कब रोक सकी हैं,
मरकर जीने वालों को।"

मरकर वही जीता है, जो जीने योग्य काम करते हुए मरता है। आगे बढ़ने (सफलता प्राप्त करने) का मोह व लोभ जीवन के समस्त लोभ व मोह को समाप्त कर देता है।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है (Change is the law of Nature)। अतएव कालचक्र के परिवर्तन के साथ

वीर, कर्मशील पुरुष के कदम प्रतिपल आगे बढ़ते रहते हैं। आगे बढ़ते रहना सफलता की कुंजी नहीं अपितु स्वयं सफलता है। कुछ व्यक्ति निरन्तर जल सदृश प्रवाहित होकर स्वयं तो निर्मल बनते ही हैं, साथ ही प्राणि मात्र को भी पवित्र बनने का संदेश देते हैं। कुछ व्यक्ति ठहरे हुए जल की भाँति स्वयं तो अपवित्र होते हैं, साथ ही अपनी सड़ांध द्वारा वातावरण को भी प्रदूषित करते हैं। यह हमारे हाथ में है कि हम कर्मशील होकर दूसरे को कर्म का संदेश देने वाले बनें या फिर कर्महीन हो समाज को अवनति की ओर ले जायें।

उपरिलिखित प्रथम वर्ग के लोगों के पास जाने में, उनका अनुकरण करने में समाज स्वयं को गौरवान्वित महसूस करता है, वहीं दूसरी ओर दूसरे वर्ग के लोगों से समाज दूर भागता है। गति जीवन है, गति विकास है, अगति का अर्थ ह्रास है। जो लोग आगे बढ़ने के लिए उपयुक्त अवसर या समय की प्रतीक्षा करते हैं वे अपने भविष्य के द्वार पर अवसर का ताला लगा देते हैं और विनाश की ओर अग्रसर होते हैं। कहा भी गया है -

"संशयात्मा विनश्यति।"

परमात्मा ने मानव का सृजन इस लिए किया कि वह उसकी विकास योजना में सहायक हो। परमात्मा की योजना में सहायक होने का अर्थ है 'विकास के पथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहना। थक कर बैठना, विश्राम करना नियम विरुद्ध है। पीछे मुड़कर देखना मना है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है -

"होके मायूस न यों शाम से ढलते रहिए।
जिन्दगी भोर है सूरज से निकलते रहिये।
एक ही पाँव पे ठहरेंगे तो थक जायेंगे।
धीरे-धीरे ही सही राह पर चलते रहिये।"

अतएव साथियो, हमें मिलकर यह प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि हम ईश्वर के पुत्र हैं, अतः कभी भी हार न मानेंगे, कभी रुकेंगे नहीं जैसे कि कोलम्बस नहीं रुका था। हम संघर्ष पथ पर 'चरैवेति चरैवेति' सिद्धान्त का पालन करते हुए सदैव आगे बढ़ेंगे व अपने देश, समाज व संस्कृति की उन्नति व रक्षा का प्रयास करेंगे। कविवर जयशंकर प्रसाद भी हमें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं - " अमर्त्य वीर पुत्र हो न मृत्यु से डरो कभी बढ़े चलो बढ़े चलो।"

विद्यालय के छात्रों व देश की युवा पीढ़ी के नाम विद्यालय की छात्र संस्था 'तरुण भारती' की ओर से इस संदेश के बाद मैं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ।

प्रवीण कटियार : अध्ययनरत, अध्यक्ष, तरुण भारती।

नये युग का आविर्भाव हो रहा है। उसके लिये नये विचार, नयी नीति और नये नेतृत्व की आवश्यकता है। पुरानी पीढ़ी अपना काम कर गयी, अब नई पीढ़ी को आगे आना होगा।

— दीनदयाल उपाध्याय

सफलता का रहस्य - संकल्प शक्ति

✍ अतुल श्रीवास्तव, द्वादश

सृष्टि की रचना करने वाले ने मनुष्य के अन्दर वे सब गुण कूट-कूट कर भर दिये हैं जिन्हें जगाने और सदुपयोग करने वाले मनुष्य महामानवों जैसा अनुकरणीय जीवन बिताते हैं। वे जैसा भी चाहते हैं वैसा ही परिस्थितियों को बना लेते हैं। बहुधा लोग समझते हैं कि भली व बुरी परिस्थितियों के लिए ग्रह-नक्षत्र और भाग्य उत्तरदायी हैं किन्तु ऐसा नहीं है। मनुष्य की अनुकूल परिस्थितियाँ और उसका भाग्य सब उसके मन की संकल्प शक्ति से प्रेरित होकर उसके द्वारा किये गये कार्यों से बनते है। मनुष्य अपने कार्यों की पूर्ति अपनी इच्छाशक्ति से करता है। कहा भी गया है - "जहाँ चाह वहाँ राह।"

यह इच्छा - आकांक्षा कल्पना, कामना से पूर्ण नहीं बल्कि साहस, विवेक और कर्मनिष्ठा से युक्त होनी चाहिए। इसी मनःस्थिति को 'संकल्प' कहते हैं। कठिनाई तभी तक रहती है जब तक अपना निश्चय दुर्बल है। यदि महानता की दिशा में 'संकल्प शक्ति' के साथ चल दिया जाये तो निश्चय ही सफलता हमारे कदम चूमेगी। किसी व्यक्ति का छोटा या महान बनना उसकी अपनी इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है। संकल्प ही व्यक्ति के सामूचे ढाँचे को परिवर्तित कर एक नये व्यक्तित्व का निर्माण करता है। इस 'इच्छा शक्ति' में असाधारण चुम्बकत्व होता है। प्राणियों में जब-जब जितने परिमाण में आकांक्षायें उत्पन्न हुयीं, तब-तब उतने ही परिमाण में अनुकूलन क्षमता उसके भीतर से विकसित हुई। यदि यह आकांक्षा प्राणियों में न विकसित हुयी होती तो सम्भवतः आज यह सम्पूर्ण विकसित विश्व न होता। आकांक्षा के आधार पर बाह्य जगत से सभी साधन जुटने लगते हैं और एक नये इतिहास का निर्माण होता है। प्राणि जगत के विकास का यही रहस्य है।

जब विचारपूर्ण दृढ़ निश्चय कर्मशीलता के साथ जुड़ जाते हैं तो सफलता को प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लगता क्योंकि हमारी गतिशीलता आंधी-तूफान जैसी हो जाती है। सारे अवरोध इस आंधी-तूफान में उड़ जाते हैं। प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने और सफलता प्राप्त करने के लिए हमें छोटे-बड़े सभी कामों को तत्परता और लगन के साथ पूरा करना होगा। सामान्यतः जिन कामों को हम छोटा समझकर अपने अहंकार वश त्याग देते हैं, वे ही हमारी सफलता का मार्ग अवरुद्ध कर देते हैं। अतः इन कार्यों पर भी हमें ध्यान देना चाहिए।

संकल्प का तात्पर्य कल्पना की रंगीन उड़ानों से उठकर एक सुनियोजित योजना के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है। प्रायः लोग अपनी कामनाओं के लिए मन में चिन्तन करते हैं जिसे मनोकामना कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति बस मन भर ही चला कर रह जाते हैं क्योंकि वे सदा उस कल्पना की रंगीन ऊँचाइयों में ही खोये रहते हैं। वे सदा उस सफलता को देख-देख ललचाते रहते हैं और इच्छा पूर्ण न होने का ढोंग करते हैं। भला सफलता कहीं उद्देश्य को देख-देख ललचाने से आयेगी? जब तक हमारे अन्दर संकल्प का बीज नहीं होगा तो क्या हम उस वृक्ष को कभी बना पायेंगे जिसकी छाया में बैठकर हम थोड़ा सुख पा सकें। क्या कभी अपनी सफलता का 'फल' पा पायेंगे? नहीं! वास्तव में यदि देखा जाये तो मनुष्य के अन्दर शक्ति की कमी नहीं है। वह सब कुछ कर सकता है। तभी तो कहा भी गया है -

"धरती की शान तू है मनु की संतान,
तेरी मुट्ठियों में बन्द तूफान है,
मनुष्य तू बड़ा महान है भूल मत,
मनुष्य तू बड़ा महान है।"

प्रायः हमको पूर्वजों के कर्मों को सुनाकर उनकी कर्मशीलता को बताया जाता है। ऐसा इसलिए कहा जाता है ताकि हम अपने अन्दर संकल्प को उत्पन्न कर सकें। हमारे पूर्वजों के कर्मों में इतना तेज होता है कि आज भी उनके कार्यों को सुनकर हमें प्रेरणा मिलती है। लक्ष्य तक पहुँचने का यही राजमार्ग है। नेपोलियन के अनुसार - "इस प्राणवान संकल्प शक्ति के सामने सचमुच ही असम्भव नाम का शब्द टिक नहीं सकता।" श्रेष्ठता इस संकल्प के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि यह संकल्प एक

प्रकार का व्रत ही है। जिस प्रकार व्रत में वस्तुओं का त्याग किया जाता है। उसी प्रकार कर्मों की पूर्ति के लिए हमें कुछ वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक है। यह सही भी है क्योंकि कुछ पाने के लिए कुछ खोना भी आवश्यक होता है। जागरूक मनुष्यों का प्रथम चरण ही संकल्प है। जिस प्रकार हम अन्य कृत्यों को करते हैं। उसी प्रकार हमें 'संकल्प कृत्य' को भी करना होगा। यही ऐसा कृत्य है जिसमें हमारे मन की भावनायें कर्म के रूप में परिणत होती हैं। इस कृत्य को करने में कुछ कठिनाइयाँ भी आती हैं। किन्तु यह हमारी संकल्प शक्ति की परीक्षा होती है। इन परिस्थितियों में हमें अपने मनोबल को नहीं तोड़ना चाहिए और जीवन को एक चुनौती के रूप में स्वीकार कर स्वाभिमान की रक्षा के लिए बड़े से बड़े कर्म से विमुख नहीं होना चाहिए। अतएव सफलता के लिए इस संकल्प को जगाना नितांत आवश्यक है। वस्तुतः कुछ अन्य गुण भी सफलता के आवश्यक हैं किन्तु वे सब इस संकल्प के साथ स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं। अतः बिना संकल्प के उद्देश्य की प्राप्ति असम्भव है। यही हमारे जीवन को अर्थ देने में सक्षम है और यही हमारी सफलता का रहस्य है।

हमें मुसलमान भी चाहिए, हमें साम्यवादी भी चाहिये, हमें सभी प्रान्त के व्यक्ति चाहिए, जो भारत में हैं और जो भी भारतीय परम्पराओं में आस्था रखने को तत्पर हैं, वे कोई भी हों, हमें उन सबका सहयोग चाहिये।

— दीनदयाल उपाध्याय

राष्ट्र चैतन्य के प्रतीक : राम

✍ मनोज राजपूत, दशम

राजनीति की लकीरें और भौतिक परिसीमायें राष्ट्र का निर्माण नहीं करतीं।राष्ट्र तो स्वयं अस्तित्व ले धरा पर उतरते हैं। राष्ट्र की काया, प्रकृति, चैतन्य और जीवन सब कुछ अपना है। राजनीति की लकीरें तो केवल एक ऐसे राज्य का निर्माण करती हैं जो आज बना और कल टूटा। सीमायें तो पर्वतों की, सागरों की, देश की, राज्य की होती हैं। राष्ट्र तो जीवन्त स्वरूप है जो व्यक्ति विकास का चरम है, जिसके करोड़ों नेत्र हैं, करोड़ों कर हैं, करोड़ों चरण हैं, परन्तु एक कृति, एक मति और एक दृष्टि है। कण-कण में एक ही स्पन्दन है, एक ही जीवन है। चैतन्य रहा तो राष्ट्र रहा। चैतन्य जाते ही राष्ट्र चला जाता है।

चैतन्य जाते ही स्व की अभिव्यक्ति चली जाती है। इसीलिए चैतन्य की रक्षा करना चाहिए। धरती छिन जाए तो पौरुष उसे वापस ला सकता है। सम्पदा चली जाए तो कर्म-श्रम से झोली फिर भर सकती है। परन्तु चैतन्य चला जाये तो न तो पौरुष और न ही कर्म कभी उसे वापस ला सकता है। यह चैतन्य राष्ट्र के प्रकाश को विश्व भर में प्रकीर्ण करता है। यही चैतन्य है भारत : भ = प्रकाश, आ = पूर्ण, र = देना, फैलाना, प्रकीर्ण करना, त = तट, दूर-दूर तक। इस प्रकार भारत का अर्थ है - विश्व को पूर्ण प्रकाश देने वाला।

राष्ट्र चैतन्य का सशक्त और समग्र प्रकटन जिनके आचरण में हुआ है, वह हैं- राम । इसकी धरती उनके लिए माँ है, उन्हें स्वर्ग से भी प्यारी है। अपनी माँ की दिव्यता, अखण्डता हेतु कैलाश से लेकर कन्याकुमारी तक उनके चरण चले हैं। राम के द्वारा ही अखण्डता आयी है। राम श्रेष्ठ मानव जीवन के आदर्श हैं। उनके विशाल हृदय में छोटों के लिए प्यार, बड़ों को श्रद्धा और आराध्य के लिए भक्ति का समन्वय है। प्यार, श्रद्धा व भक्ति के सम्बन्धों में समाज बँधा हुआ है। राम के अपने चिन्तन ने, शब्दों ने, आचरण ने मानव को ही नहीं इस प्रकृति के मूक सदस्यों - पर्वतों, झीलों तक को सुसंस्कृत बना दिया है। राम का व्यक्तित्व विशाल सागर के समान चारों दिशाओं में फैल गया है। राम ने व्यक्ति, समाज व राज्य की सुसंचालित व्यवस्था को जन्म दिया जो धर्माधारित व्यवस्था है।

धर्म के तो वह साक्षात् स्वरूप हैं। मनुष्यत्व का आदर्श ले खड़े हैं। मर्यादा की चरम सीमा - व्यक्ति धर्म, समाज धर्म व राष्ट्र धर्म - तीनों ही उनके आचरण में हिमाद्रि के शिखर से शोभित हैं। अर्थ को अनर्थ की गन्दी नाली से निकाल सुख व शान्ति के समर्थ पथ पर वह लाये हैं। सोने की लंका भस्म हुयी है, सोने की अयोध्या नहीं। अयोध्या! जहाँ युद्ध नहीं। अवध जहाँ वध नहीं! भारत माता उनके व्यक्तित्व में व्यक्त है। पुत्र में माँ का ही स्वरूप मिलता है। यहाँ की धरती, यहाँ का जल, यहाँ का आकाश, यहाँ का तेज, और यहाँ का पवन उनके अंग-अंग में बसा है। हर पिता कामना करता है- पुत्र चाहिए राम-सा। भाई चाहता है- भाई चाहिए राम सा। सब इच्छा करते हैं- मित्र चाहिए राम सा। शत्रु भी चाहता है कि शत्रु मिले राम सा, जिनके आचरण में कल्याण ही कल्याण है। कल्याण जिसे लेकर राम भारत के चैतन्य के सगुण स्वरूप बने हैं। वह राष्ट्र पुरुष हैं, राष्ट्र देवता हैं, राष्ट्र-प्राण हैं।

आज हम देश की अखण्डता के लिए उन्हीं की आराधना करें। राष्ट्र की एकता के लिए उनके पथ का अनुसरण करें। सुख-शान्ति और व्यवस्था के लिए उन्हीं के चरण चिह्नों पर चलें। लोकतंत्र के लिए लोक अराधक और लोकाराध्य राम का आदर्श स्वीकार करें। समाजवाद के लिए, समाजहित पूर्ण समर्पित राम की जीवन लीला देखें। भारत के लिए लेनिन और लिंकन का पथ नहीं, राम का ही पथ श्रेयस्कर है।

ईश प्राप्ति का एकमेव मार्ग - आत्म साक्षात्कार

✍ दुष्यन्त सिंह दशम

एक फकीर है हरिराम। कोई उसके द्वार पर दस्तक दे रहा है और कह रहा है, द्वार खोलो। हरिराम भीतर से पूछता है, कौन द्वार खोले, किसको बुलाते हो, किसको खोजते हो? द्वार पर खड़ा आदमी कहता है और किसको बुलाऊँगा, किसको पुकारूँगा, हरिराम को पुकारता हूँ। अन्दर से आवाज आती है, तो फिर क्षमा करो। वर्षों से मैं यही खोज रहा हूँ कि यह हरिराम कौन है और अभी तक नहीं खोज पाया हूँ। मुझे खुद पता नहीं कि हरिराम कौन है, मैं कौन हूँ, क्यों हूँ, कैसे हूँ?

सिर्फ हरिराम ही क्या कोई यह नहीं जानता कि वह कौन है। अर्थात् मनुष्य अपने आप को नहीं जानता। अपने अस्तित्व को खोजने की कोशिश नहीं करता और निकल पड़ता है ईश्वर की खोज में, उसके अस्तित्व की तलाश में। कैसी विडम्बना है यह मानव की। इस प्रकार से भला कौन खोज पाया है ईश्वर को?

यदि ईश्वर को जानना है तो पहले अपने आप को जानो, अपने बारे में सोचो। जिस दिन अपने आप को जान जाओगे, उसी दिन से ऐसा मानना कि तुम ईश्वर की खोज कर सकते है। ईश्वर को मानना और न मानना दो अलग-अलग बातें न होकर एक ही बात के दो पहलू हैं। जिस प्रकार सिक्के को पूरा देखने, समझने के लिए उसके दोनों पहलू देखना आवश्यक है, उसी प्रकार ईश्वर को समझने के लिए आस्तिकता के साथ साथ नास्तिकता का भान होना भी बहुत जरूरी है। आस्तिक होने से पहले नास्तिक होना आवश्यक है। जिस प्रकार हिंसा का अर्थ बिना समझे कोई अहिंसक नहीं हो सकता, बेईमानी को बिना जाने कोई ईमानदार नहीं हो सकता, उसी प्रकार नास्तिक हुए बिना कोई सच्चा आस्तिक नहीं हो सकता। जो व्यक्ति अपने को जितना आस्तिक प्रदर्शित करता है, उसके लिए ऐसा मानना चाहिये कि वह व्यक्ति अन्दर से ईश्वर के प्रति उतना ही अविश्वासी है। लेकिन समाज को दिखाने के लिए अन्दर की कमी को वह बाहर से आस्तिकता ओढ़कर छिपा लेता है। ईश्वर को समझने के लिए जरूरी है कि हम पहले अपने-आप को खोजें। इसलिए आत्म साक्षात्कार करो और अपने अन्दर ईश्वर को समझने की पात्रता लाओ। ईश्वर कोई माटी का पुतला नहीं है कि तुम मंदिर में गये, घंटा बजाया और ईश्वर को प्राप्त कर लिया। ईश्वर तो ऐसा अस्तित्व है जो अनादि है, अनन्त है और सर्वव्यापी है। उस अस्तित्व को तुम देख नहीं सकते, सिर्फ उसका अहसास कर सकते हो। उसको अपने पास मौजूद मानकर अपनी आत्मा द्वारा ही उसका आनन्द ले सकते हो। कई लोगों के मन में ईश्वर को देखने की तीव्र उत्कण्ठा रहती है, लेकिन ईश्वर उन्हें दृष्टिगोचर नहीं होता। क्यों नहीं होता? क्योंकि ईश्वर और संसार का सम्बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसा फूल और उसकी सुगन्ध काहोता है। हम फूल को तो देख सकते हैं, लेकिन उसकी सुगन्ध को नहीं देख सकते, सिर्फ उसका अहसास कर सकते हैं। उसी प्रकार व्यक्ति इस लौकिक संसार को तो देख सकता है, लेकिन इस संसार में रचे-बसे परम तत्व ईश्वर को देख नहीं सकता, सिर्फ उसका अहसास कर सकता है।

एक बार एक दार्शनिक ने विचार किया कि मैं ईश्वर को साक्षात् देखूँगा। परन्तु बहुत प्रयत्नों के बाद भी वह सफल नहीं हो सका और अन्ततः थक-हार कर निराश हो गया। उसके निराश मन में आया कि अब ऐसे जीवन से क्या फायदा। और वह आत्महत्या करने के लिए समुद्र तट पर आया। तट पर उसने देखा कि एक बच्चा हाथ में प्याला लिये रो रहा है। दार्शनिक ने पूछा, बच्चे, क्यों रो रहा है? बच्चे ने उत्तर दिया कि मैं इस समुद्र को अपने प्याले में भरना चाहता हूँ। उत्तर सुनकर दार्शनिक के मस्तिष्क को झटका लगा और उसने सोचा कि समुद्र, जिसकी सीमायें मनुष्य को ज्ञात हैं, को जब प्याले में नहीं भरा जा सकता तो उस परमात्मा को जिसकी कोई सीमा नहीं है, जो चिरन्तन है, जो इस जगत के जीवमात्र में, कण-कण में छाया हुआ है, उसे कैसे देखा जा सकता है। यदि परमात्मा को पाना है तो उसके लिए आपको विचार करना पड़ेगा, खोज करनी पड़ेगी उस मार्ग की जो उसका अहसास कराये। और इसके लिये आपको अपने अस्तित्व में सार्थकता के जीवन्त रंग भरने होंगे, सोचना होगा नये सिरे से। तो सोचिये, युद्ध से शान्ति की ओर सोचिये, निर्वाण से निर्माण की ओर सोचिये, गम्भीरता की गहराइयों तक सोचिये, उत्साह की ऊँचाईयों तक सोचिये। और सोचते-सोचते उस स्थिति को प्राप्त हो जाइये, जिस स्थिति में राम के अन्दर का राम बोल उठा, कृष्ण के अन्दर का कृष्ण बोल उठा, सुकरात के अन्दर का सुकरात बोल उठा, बुद्ध के अन्दर का बुद्ध बोल उठा, क्राइस्ट के अन्दर का क्राइस्ट बोल उठा। और तब आप देखेंगे कि तर्क, विचार,.ध्यान आदि सीढ़ियों से होते हुए आप उस मंजिल तक पहुँच जायेंगे जो समाधि होती है। समाधि के बाद परमात्मा के विशाल स्वरूप को आप अपने सम्मुख पायेंगे अर्थात सत्य का विराट स्वरूप आपके सम्मुख होगा। क्योंकि इस संसार का सबसे बड़ा सत्य परमात्मा है, शेष सब झूठ है, असत्य है। इस सत्य स्वरूप के सम्मुख आप अपने को सत्य के सौंदर्य से घिरा हुआ पायेंगे। हाँ, सत्य का सौंदर्य, जो उस परमसिद्ध, परमस्वरूप, परमश्रेष्ठ, परमशून्य और परमसमाधिस्थ को अपने में समाहित किये हुए है। यही है वह एक विराट अस्तित्व, एक परमसमाधिस्थ, जिससे लाखों करोड़ों लोग समाधान पाते हैं। और यह परमसमाधिस्थ, जिसे परमात्मा कहते हैं, सबके लिए उपलब्ध है।

दीनदयाल विद्यालय

✍ -के०आर० गोपाल कृष्णन
अष्टम क

यह दीनदयाल विद्यालय है,
उत्तम शिक्षा का आलय है।
पढ़ते यहाँ सैकड़ों बच्चे,
नियम नीति के हैं जो सच्चे।
शिक्षक सभी गुणों विद्वान्,
देते शिक्षा का नित दान।।
इंगलिश यहाँ पढ़ाई जाती,
अन्य विषय भी अपनी थाती।
चित्रकला समझाई जाती,
रेखागणित सिखाई जाती।।

जो-जो यहाँ पढ़ाया जाता,
व्याख्या करता मैं थक जाता।
शिक्षक गण जो बुन देते है,
ज्ञान-वस्त्र से तन ढक जाता।
विधिवत् करते देखभाल सब,
अनुशासन की वज्र ढाल सब।
देश धर्म का पुण्यालय है,
यह दीनदयाल विद्यालय है।।

कर्म ही जीवन है

आशुतोष द्विवेदी
अष्टम

जीवन ही कर्म है। जन्म कर्म का प्रारम्भ है, तो मृत्यु उसका अन्त। जहाँ-जहाँ जीवन है, वहाँ-वहाँ कर्म है। जीवन में कर्म को रोकना असम्भव है। वास्तव में जीवन और कर्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अर्थात् एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं है। इस सम्बन्ध में मनुष्य को कोई स्वतंत्रता नहीं है। सार्त्र ने अपने एक बहुत ही प्रसिद्ध वचन में कहा है, "मैन इस कन्डेम्ड टू बी फ्री" अर्थात् मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है लेकिन शायद सार्त्र को यह नहीं मालूम था कि मनुष्य कुछ बातों में परतन्त्र होने के लिए भी विवश है।

जब तक जीवन है, तब तक कर्म से मुक्ति नहीं है। जीवन की प्रत्येक क्रिया कर्म है। इसलिए जो लोग सोचते हैं कि जीते जी कर्म का त्याग कर दें, वे एक असम्भव बात सोच रहे हैं। बस यह हो सकता है कि वे एक कर्म को छोड़कर दूसरे कर्म में लग जाएं जैसे गृहस्थ आश्रम एक कर्म मार्ग है, वे इसे त्यागकर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर जाएं।

हमारे पुराणों में भी कहा गया है कि जो कर्म छोड़ने की असम्भव आकांक्षा रखता है, वह निश्चित ही पतित हो जाता है। कर्म का त्याग असंभव है, पर फिर भी हमारे देश के कई संन्यासी कर्म त्याग की असम्भव चेष्टा करते रहे हैं। जिसके फलस्वरूप कर्म का त्याग तो नहीं हुआ। हाँ, निठल्लापन अवश्य पैदा हुआ। जीवन में निष्क्रियता आ गई। यहाँ निष्क्रियता का अर्थ है व्यर्थ के कर्मों का जाल। कर्म-त्याग की दिशा में लोग दो प्रकार से प्रयासरत हैं। दोनों ही एक सी भ्रान्तियाँ हैं। एक प्रयास तथाकथित संन्यासी का है कि सब कुछ छोड़ दें, कुछ न करें। लेकिन कुछ न करने का अर्थ आत्मघात ही हो सकता है। किसी को आत्मघात भी करना पड़ेगा, तो उसके लिए वही अन्तिम कर्म सिद्ध होगा। आत्मघात के लिए भी कर्म तो करना ही पड़ेगा।

दूसरा प्रयास वैज्ञानिकों की ओर से है कि यदि यन्त्र कर्म करने लग जाएं तो मानव पूर्ण रूप से विश्राम पा लेगा। लेकिन वैज्ञानिकों द्वारा जो कर्म मुक्ति का प्रयास है, वह कितना घातक है। क्योंकि मनुष्य के हाथ में जितने कम कर्म होंगे, वह उतना ही उपद्रवी होगा। शुरू से आज तक संसार में जितने भी उपद्रव हुए हैं, उनके एक मात्र कारण कर्मच्युत् व निष्क्रिय लोग ही रहे हैं।

जैसा कहा गया है - कर्म से मुक्ति असम्भव है, क्योंकि जीवन व कर्म एक दूसरे के पर्याय हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम जैसे जी रहे हैं वैसे ही जिएं और वैसा ही करते जाएं। यदि ऐसा कोई समझता है, तो उसे कृष्ण का कर्मयोग नहीं समझ में आएगा। कृष्ण का कहना था कि कर्म को बदलने की अधिक कोशिश मत करो, पहले कर्ता को बदलो।

मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि आप क्या कर रहे हैं या क्या नहीं कर रहे हैं? मुख्य प्रश्न यह है कि आप क्या हैं? और क्या नहीं? अगर आप भीतर से गलत हैं, तो आपके कर्म का परिणाम भी गलत होगा। यदि आप भीतर से सही हैं तो जो आप करेंगे, वह भी सही होगा। आज प्रश्न कर्म का नहीं कर्ता का है।

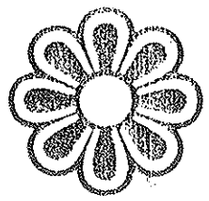

शिक्षकों का स्वधर्म

महादेवी वर्मा

हमारी संस्कृति सदा से ही शासन और समाज, दोनों की मार्गदर्शिका रही है, किन्तु पिछले २०० सालों से, जबसे शासकों ने शिक्षा पर काबू करने का प्रयोग किया, तबसे हमारा मनोबल गिरने लगा और शिक्षा शासनपरक बनती गयी। आज जीवन के हर क्षेत्र में और शिक्षा में भी राष्ट्रीयकरण का नारा व्याप्त है, किन्तु इस राष्ट्रीयकरण का अर्थ केवल "सरकारीकरण" है। यह शाश्वत दासता की माँग है। जब बन्दी खुद ही कहने लगे कि मेरे पैरों में बेड़ियाँ डाल दो, तब उसका उद्धार कौन कर सकता है?

हम आज भी अंग्रेजों के द्वारा चालू की गयी शिक्षा पद्धति को चला रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद शिक्षा नहीं बदली। पुराना चौखटा आज भी कायम है। नतीजा यह हुआ है कि आज स्वतंत्र भारत का तरुण हमसे कुछ प्राप्त नहीं कर पा रहा है। वह बुद्धि से बौना और जीवन के सम्बल से वंचित होता जा रहा है। हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति न शासनपरक थी, न समाजपरक थी। हमारी परम्परा में गुरु तथा शिष्य दोनों का लक्ष्य आत्मशोधन के लिए विद्या देना तथा विद्या प्राप्त करना था और यही कारण था कि उस वक्त का तरुण आत्मविश्वास से भरा होता था।

आज का तरुण विक्षुब्ध है। वह अपने जीवन की विक्षुब्धता को भरने आता है, लेकिन शिक्षक के आने से, जाने से, उसके होने से या न होने से विद्यार्थी के जीवन पर कोई असर नहीं पड़ता। आज तरुण प्यार और सम्वेदना का प्यासा है, उस अमृत के लिए प्यासा है, जिसे केवल आचार्य ही दे सकता है। हम मेघ बनकर बरस जायें, सब दरारें, सब विषमताएं पाट दें। समाधान अगर नहीं हुआ, तो ध्वंस होगा और तब नयी पीढ़ी हमें क्षमा नहीं करेगी।

यदि आज का छात्र विध्वंस के मार्ग पर जाता है, तो उसका दायित्व हम शिक्षकों पर है। तरुण के आवेश को विवेक की शक्ति देकर उसका सर्जनात्मक विकास करना शिक्षकों का कर्तव्य है, लेकिन इस ओर शिक्षकों का ध्यान नहीं गया है। उनके संगठन अधिक वेतन तथा ग्रेड आदि की माँग तक सीमित हैं। समस्याओं का समाधान हो, शिक्षा सरकार से मुक्त हो, शिक्षकों का वर्चस्व रहे, ऐसी माँग कोई नहीं करता। विनोबा जी ने जब आचार्य कुल का विचार सुझाया, तो उनके मन में शिक्षा की स्वायत्तता, शिक्षकों के अखंडित वर्चस्व की ही बात थी। आचार्य कुल का काम आत्मशोधन तथा आत्ममंथन की प्रेरणा देना है। अपने मनोबल और तपस्या के द्वारा नागरिक तथा समाज के वर्चस्व को कायम रखना तथा नयी पीढ़ी के मार्ग को आलोकित करना हम शिक्षकों का कर्तव्य होना चाहिये। यह हम तभी कर सकेंगे जब हमारा चरित्र उज्ज्वल हो, भावनाएं उदात्त हों और हम आज के राजनैतिक दलदल से बचे रहें। हमारी राजनीति तो विक्षिप्तों का एक मेला है। विक्षिप्तों के इस मेले में, जहाँ साँझ-सवेरे सत्ता के लिए दलबदल होता है, कुर्सियाँ खींची और उल्टी जाती हैं, कोई यह नहीं जानता कि कल क्या होगा। इस राजनीति ने शिक्षकों का मनोबल दुर्बल किया है और समाज को तोड़ा है।

इतने बड़े समृद्ध ज्ञान के इस समृद्ध देश में शिक्षक क्या यंत्र बनकर ही रह जाना चाहता है? वास्तव में ज्ञान के सम्प्रेषण में ही हम अपनी कीमत बना सकते हैं। शिक्षकों का काम अतिदान का नहीं, आत्मदान का सौदा है।

आज पश्चिम की दुनिया में साधनों का वैभव है, लेकिन अन्दर से वे खाली हैं। जब बुद्धि का वैभव अपनी मर्यादा छोड़ देता है, तब जीवन का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। हमारी संस्कृति के कुछ तत्व शाश्वत हैं। इस देश के चिन्तन में कुछ मूल्य हैं, जो सनातन हैं।

विचार एक यज्ञ है, संकल्प भी एक यज्ञ है। आचार्य कुल का हर सदस्य संकल्प करे और स्वयं दीपक बनकर जले, तभी वह नयी पीढ़ी को, समाज को आलोकित कर सकेगा। आज एक आंधी आयी है। अगर आचार्य कुल तरुणों को, समाज को प्राणदायिनी साँस दे सकें, तो आंधी और झंझावात गुजर जायेंगे, लेकिन जीवन कायम रहेगा। शिक्षकों का स्थान समाज रूपी वृक्ष की जड़ों में है, इसलिए शिक्षकों को शाश्वत मूल्यों और तत्वों से युक्त होना है।

विनोबा ने आचार्य कुल की स्थापना इसलिए की कि शिक्षक भौतिक और आर्थिक स्तर पर ही संघर्ष न करे, वह जीवन के मूल्यों के लिए आत्म-शोधन-मंथन करे। यदि शिक्षक आत्मशोधन में लगे, तो वह परमुखापेक्षी नहीं रहेगा। उसका वर्चस्व, उसकी स्वायत्तता अखण्डित रहेगी।

हम विनोबा के इस स्वप्न को सार्थक कर दें, अपने आपको सार्थक कर दें, जीवन को सार्थक कर दें। वह शिक्षक भी क्या है, जो तपे और धरती में दरारें पड़ जायें। हम मेघ की तरह उमड़ें और बरस जायें। धरती को तृप्त कर दें! आकाश की बातें जानें और धरती पर पाँव धरकर चलें!!

शिक्षा : आदर्श, विकृति और परिष्कार

✍ ओमशङ्कर

आदर्श

प्रत्येक विचारकर्मी व्यक्ति प्रायः ही 'वेद' शब्द का प्रयोग किया करता है, चाहे उसने वेद के अध्ययन, मनन, निदिध्यासन की भूमिका भी न जानी हो। वास्तव में यह स्थिति हमारे जन्मजात संस्कारों और पर्यावरणीय प्रभाव के घालमेल के ही कारण है। फिर भी हमको समझना होगा कि वेद वास्तव में है क्या? उसका उत्तर तैत्तिरीय संहिता, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, मनुस्मृति, नाट्य-शास्त्र तथा अमरकोष आदि की व्याख्याओं से सरलीकृत रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है, " जिनके माध्यम से सभी मनुष्य सत्य विद्या को विचार पूर्वक जानते, समझते और प्राप्त करते हैं, उनको 'वेद' कहते हैं। " इस परिचय को प्राप्त कर सहज ही मन में यह प्रश्न उठता है कि यह सत्य विद्या कौन सी है, जिसे जानने और प्राप्त करने के लिए मनुष्य जीवन भर लालायित रहता है। तो उसे सरल रूप में यों ही समझा जा सकता है कि हमको जो कुछ भी प्रत्यक्ष या परोक्ष, इन्द्रियगम्य अथवा इन्द्रियातीत अनुभूतियाँ होती हैं, वे सभी विद्या के क्षेत्र में आती हैं। 'परा' और 'अपरा' के विभाग भी हम सुविधानुसार भले ही कर लें, किन्तु इन सबकी चरम परिणति एक ही स्थान पर होती है और वह है ज्ञान जिसे हम 'वेद' कहते हैं। हमारे जीवन की यह आदर्श परम्परा रही है कि हम किसी भी तत्व को रूपाकार देकर उसे सरलीकृत कर देते रहे हैं। इसलिए हमने वेदों को भी एक सर्वांगपूर्ण ज्ञान-विग्रह मानकर उसकी प्रस्तुति ऐसे की :

वेद के प्रमुख ६ अंग हैं यथा उनकी आँखें ज्योतिष, कान निरुक्त, नाक शिक्षा, मुख व्याकरण, हाथ कल्प और पाँव छन्द हैं। (पाणिनीय शिक्षा, ४१-४२)

इस प्रकार 'वेद' मानवता की एक प्रातिभ भावाभिव्यक्ति और 'शिक्षा' उसका एक महत्वपूर्ण अंग है। शिक्षा को वेद की नासिका कहा जाता है। यह शुद्ध उच्चारण (ध्वनि) का शास्त्र है। एक अनुश्रुति के अनुसार योगवेत्ता जैगीषव्य के शिष्य बाभ्रव्य इस शास्त्र के प्रवर्तक थे। ऋग्वेद के क्रमपाठ की व्यवस्था भी इन्होंने की थी। महाभारत (शान्तिपर्व ३४२, १०४) के अनुसार आचार्य गालव ने एक शिक्षा शास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण किया था। इसका उल्लेख 'अष्टाध्यायी' में भी पाया जाता है। वास्तव में पांचाल बाभ्रव्य का ही दूसरा नाम गालव था। कालान्तर में 'भारद्वाज शिक्षा', 'चारायणी शिक्षा' तथा 'पाणिनीय शिक्षा' तक हम शिक्षा के व्यवस्थित रूप से परिचित हो गये थे, ऐसी अनेक विद्वानों की मान्यता है। शिक्षा के अपने इस प्राचीन स्वरूप को कुछ और स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि ध्वनि का आरोह-अवरोह, उच्चारण की शुद्धता तथा उच्चरित ध्वनि की कालावधि का परिसीमन शिक्षा शास्त्र के मुख्य विषय हैं। इसके वर्ण्य विषयों में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान ही प्रमुख हैं।

वर्ण अर्थात् 'अ' से लेकर 'ह' तक कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ से उच्चरित अक्षर।

स्वर अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के स्पष्ट भेद सहित उच्चारण ध्वनियाँ।

मात्रा अर्थात् स्वरों को भाषा के योग्य बनाने में सहायक आरोहावरेही सहायिकाएं यथा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत।

बल (प्रयत्न) अर्थात् जिसके आधार पर भाषा की प्रभावान्विति स्पष्ट होती है। इसके भेद हैं - अल्पप्राण और महाप्राण।

साम (श्रुतिमधुर) अर्थात् कानों में मधुर लगने वाला पाठ।

सन्तान अर्थात संधियाँ।

शिक्षा के इन छः विषयों के ज्ञान से ही भाषा का शुद्ध उच्चारण और अर्थ बोध सम्भव है। भाषा भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है और 'भाव' ही इस जागतिक प्रपंच का मूलाधार है। इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से हम अपने अन्नमय कोष से आनन्दमय कोष तक की यात्रा सफलता पूर्वक करते चले जाते हैं।

विकृति

उपर्युक्त वेदाङ्गों के सहारे हम जिस तत्व को प्राप्त कर स्वयं तुष्ट हुए हैं और समग्र मानवता को आर्य बनाने की उदात्त संकल्पना को साकार स्वरूप प्रदान करते हुए 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का भाव प्रवण उद्घोष करने में सफल रहे हैं, उसकी वास्तविक प्रतिमा आज विखण्डित ही नहीं विदीर्ण हो रही है। तब और अधिक दुःख होता है, जब विद्वत्ता का चोंगा पहने हुए अनेक मान्यता-प्राप्त लोग निराधार तर्कों के धुँआधार प्रचार से मूल तत्व को अनेक कृत्रिम रङ्गों से रंगते हुए अपने उथले महत्व को ही बढ़ाने में लगे रहते हैं। इसी का परिणाम है कि आज 'धर्म और विज्ञान', 'साहित्य और कला' तथा 'सभ्यता और संस्कृति' जैसे व्यापक शब्द अपनी अर्थवत्ता खो चुके हैं। मानव की इस अंधी दौड़ को दिशा देने का गुरुत्तर दायित्व आज हमारे देश पर आ पड़ा है, जिससे दो-चार होना हमारे पुरुषार्थ के लिए एक चुनौती है। वास्तव में इस अमर संस्कृति ने इस प्रकार की चुनौतियाँ अनेक युगों में सहर्ष स्वीकारी हैं और तभी उसने बड़े सहज ढंग से उद्भव, पालन और प्रलय की कहानी को लोरियों से लेकर जागरण गीतों तक में सुना और सुनाया है।

स्वतातंत्र्योत्तर भारत में जब प्रगति और विकास की चर्चा छिड़ी, तो केवल उद्योग और उत्पादन की सीमाओं में ही उसकी ध्वनियाँ टकराती रहीं। उत्पादन और उद्योग किसके लिए? यदि इस पर हमारे नेतृत्व ने सोचा होता, तो कदाचित् आज विश्व-पटल पर कोई दूसरा ही भारत चमक रहा होता। और इससे भी बड़ी विडम्बना यह रही कि जो कुछ सोचा भी गया वह पश्चिमी परिवेश में। इसके साथ ही हमारे राजनेताओं ने अपने विदेशी पूर्व शासकों से बड़ी ईमानदारी के साथ शासन-सत्ता को सुदृढ़ बनाये रखने के गुर तो सीखे, किन्तु राष्ट्रीय अस्मिता एवं चारित्र्य को स्वाभिमान-सम्पन्न और प्रखर बनाने की दिशा में सीखने की आवश्यकता न समझी। बड़ी हाय-तोबा के बाद शिक्षा-नीति पर अपनी आख्या (रिपोर्ट) देने के लिए प्रथम आयोग सन् १९४८ में बैठाया गया। उसकी आख्या फाइलों में दबी ही रही कि द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आयोग ऐसे बिठाये जाते रहे जैसे यथाशीघ्र सम्पूर्ण विधि - निषेधों से युक्त संस्कारी शिक्षा का व्यावहारिक स्वरूप सर्वदूर प्रसारित कर दिया जायेगा। इन आयोगों की आख्याओं को पढ़कर एक बात और खलने वाली प्रतीत होती है कि डॉ० राधाकृष्णन के अतिरिक्त प्रायः सभी ने भारतीय संस्कृति और परम्पराओं की अक्षुण्णता की ओर विशेष ध्यान न देकर प्रायः अर्थाकारी विद्या पर ही बल दिया है। साथ ही ऐसी सोच के साथ विषय-प्रवर्तन किया गया है मानो अपना यह कालजयी समाज और अमरौती खाया हुआ राष्ट्र अभी-अभी जन्मा और जागा हो। दुर्भाग्य से हमारे राजनेता भी अंग्रेजों के समान यही कहते रहे कि 'राष्ट्र बन रहा है।' कदाचित् इसीलिए हमारी प्रारम्भिक शिक्षा से उच्च शिक्षा तक अपना मूल आधार छोड़ती चली गयी। पाठ्यक्रम से लेकर भाषा और इतिहास तक की हमने उपेक्षा की। इसके कारण एक जो सबसे बड़ा दोष उभरा वह यह कि समग्र राष्ट्र की संचेतना पिछलग्गूपन का शिकार होकर राजनीति के आस-पास ही केन्द्रित हो गयी। इसी विकृति का ताण्डव आज सर्वत्र दिखाई दे रहा है।

परिष्कार

किन्तु इन सब आशा-निराशा की कराल पर्तों में भी हमारी अक्षय भावना मुस्कुराती रही। इसी अजेय भावना के आधार पर बिना किसी राज्याश्रय अथवा पूंजीवादी सहारे के सन् १९५२ में कतिपय निरपेक्ष किन्तु कालजयी युवकों ने शिक्षु-शिक्षा की ओर ध्यान दिया। आज उसी प्रेरणा और कर्तव्य का परिणाम है- सम्पूर्ण देश में फैले हुए प्रारम्भिक, पूर्व माध्यमिक और उच्च शिक्षा के विद्या-मंदिर जहाँ सङ्कल्पों के दीप जलते हैं, उत्साह के गीत चलते हैं और योजना के स्वप्न पलते हैं। कालान्तर में विद्या भारती संस्था इन संस्कार केन्द्रों की धुरी बनी।

यद्यपि इस विशाल और समस्या विमलित देश के लिए यह सिन्धु में विन्दु का प्रयास था फिर भी निराश समाज ने इसे सिर-आँखों पर लिया, किन्तु शनैः-शनैः योजना के पुरस्कर्ता आयु और शारीरिक शैथिल्य के कारण अपनी तूफानी गति को यथावत् बनाये रखने में समर्थ न रह सके। परिणाम स्वरूप इस को भी परिस्थितियों की छाया छूने लगी। यह स्वाभाविक है कि कोई भी व्यवस्था जब परम्परा बनने लगती है, तो उसकी गति को यथावत् बनाये रखने के लिए योजकों को परिस्थिति और पर्यावरण के थपेड़ों के प्रति पहले से भी अधिक सचेत रहना पड़ता है। अन्यथा परम्परा पहले रूढ़ि बनती है और यह सत्य है कि रूढ़ि में तुलनात्मक दृष्टि से बुराइयाँ ही अधिक होती हैं। फिर भी आज शिक्षा के गैर सरकारी प्रयासों में उपर्युक्त व्यवस्था ही सर्वोपरि है। यह निष्पक्ष रूप में स्वीकार

करना पड़ता है कि यदि इस व्यवस्था का अस्तित्व आज के समाज में न होता तो सरकारी पीनक में ऊँघ रहे समग्र तन्त्र की नाक के नीचे हमारी भारतीयता को ईसाइयत सरे आम विश्व के बाजार में नीलाम कर देती।

इधर राजीव मंत्रिमण्डल के पदारूढ़ होने पर कुछ नया करने के जोश में शिक्षा जैसे उपेक्षित विषय पर भी ध्यान दिया गया। और बड़ी शीघ्रता में सभी समस्याओं का समाधान भी ढूँढ़ लिया गया। नयी शिक्षा-नीति की पिपिहरी सरकारी हल्कों में गूँजने लगी। गोष्ठियाँ, परिसंवाद और कार्यशालाएं गुलजार हो उठीं। नयी शिक्षा के साथ नवोदय विद्यालय भी खुल चले, किन्तु इन सबको अन्जाम देने का बोझ उन्हीं कसैली सूरत वाले हत मनोवृत्ति के रूढ़िवादी अधिकारियों पर ही पड़ा। कदाचित् इसीलिए प्रारम्भ से पूर्व ही परिणाम की कुशङ्का से समाज सशङ्कित हो उठा है। सरकार की भी एक पुरानी मजबूरी है कि वह सरकार से अधिक पार्टी है और पार्टी से अधिक परिवार। खैर इस मनोव्यथा को बरबस दबाकर हम आगे बढ़ें कतिपय व्यवहारिक सुझावों की ओर।

मेरे विचार से शिक्षा मानवत्व की अनिवार्यता है और विद्यालय उस अनिवार्यता का मूल आधार। परिस्थितियाँ, परिवेश और काल कोई भी रहा हो अथवा हो, उसमें शिक्षा-केन्द्रों की महत्ता कभी भी नकारी नहीं जा सकी है। अतः इसी शिक्षा केन्द्र अथवा विद्यालय की आदर्श परिकल्पना पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि इसके प्रमुख रूप से तीन महत्वपूर्ण अंग हैं - पर्यावरण, परिवेश और प्राण।

पर्यावरण - इसमें विद्यालय का स्थान, परिसार व भवन आता है।

परिवेश - इसके अन्तर्गत विद्यालय-परिवार की वेश व्यवस्था और सज्जा रखी जा सकती है।

प्राणः इस अंग की सीमा में ज्ञान (शक्ति), शील तथा दृष्टिकोण माने जा सकते हैं। अर्थात् आचार्य और छात्र द्वारा समन्वित रूप से शीलवान रहकर ज्ञान की उपासना करते हुए राष्ट्रहितवादी दृष्टिकोण का परिपोषण।

उपर्युक्त इन तीनों अंगों के समुचित संचालन एवं प्रभावी परिणाम हेतु जिस विवेकपूर्ण नियमन की आवश्यकता होती है उसकी अपेक्षा हम समाज के चिन्तकों से करते हैं। इन चिन्तकों का कार्य अपने सुदीर्घ अनुभव एवं गम्भीर अध्ययन के माध्यम से परिणामवती शिक्षा की प्रतिष्ठा करना होता है। वास्तव में यदि देश में ऐसे अनुभवी चिन्तकों की एक शिक्षा अकादमी बना दी जाय तो उसका परिणाम अत्यन्त प्रभावी और कालजयी हो सकता है। फिलहाल इस अकादमी की चर्चा यहीं छोड़कर वर्तमान समय में चल रहे प्रबन्ध तन्त्रीय व्यवस्थाओं वाले विद्यालय की गुणवत्ता विकसित करने हेतु विचार कर लें। इस समय हमारे देश में जो शिक्षा-संस्थायें चल रही हैं, उनमें प्रायः प्रबन्ध-तन्त्र, अभिभावक, प्रधानाचार्य और आचार्य की ही प्रमुख भूमिका रहती है। इस चतुर्वर्गीय व्यवस्था के कार्य-कौशल का परिणाम संस्कारित छात्रों के माध्यम से सीधा समाज को प्राप्त होता है। और सन्तुलन यदि बिगड़ा तो परिणाम बड़ा पीड़ाकारक होता है। इस स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए हम संलग्न गतिचक्र को देख सकते हैं।

प्रबन्ध तंत्र वह धुरी है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण पहिये की स्थिति, गति और अस्तित्व निर्भर करता है। **अभिभावक** उस धुरी और प्रधानाचार्य के चक्के (बेयरिंग) के मध्य स्नेह-सम्बन्ध, सारस्य एवं प्राण-शक्ति आपूर्ति का उत्तरदायी है। **प्रधानाचार्य** के चक्के (बेयरिंग) से **आचार्य** रूपी सभी अरे (तीलियाँ) दृढ़ता पूर्वक अडिग रूप से जुड़ी रहकर **छात्र** रूपी चक्र परिधि को समाज रूपी राजमार्ग पर सही और सुव्यवस्थित चिह्न बनाते हुए चला सकते हैं, जो आगे आने वाली पीढ़ी को भी दिशा दे सकें। स्वाभाविक है - यदि धुरी जंग खायी या निर्बल होगी तो पहिया चलाते ही बैठ जायेगा। बेयरिंग के छर्रे यदि सूखे और कटे-फटे हुए तो पहिये की गति हाथ ठेले से भी कम रहेगी। यदि बेयरिंग से तीली की पकड़ ढीली, असंयत, अविश्वसनीय और कम-अधिक रही तो पहिया ढचर-पचर चलेगा। अतः हम यदि इस छात्र रूपी सामाजिक गति चक्र को प्रभावी और सुन्दर ढंग से चलाना चाहते हैं तो हमको उपर्युक्त सभी का सामंजस्य पूर्ण संतुलन बनाना ही होगा। एक-दूसरे को दोष देने से काम नहीं चलेगा। वास्तव में यदि हम अपने को छोड़कर दूसरे की चिन्ता करने का स्वभाव बना लें तो समस्या ही दूर हो जाए। दुर्भाग्य से आज यह नहीं हो रहा है। कदाचित् इसीलिए आज समाज का हर व्यक्ति आशंकाओं के घेरे में साँस लेते हुए अपनी जिन्दगी काट रहा है। इसके अतिरिक्त इन आधुनिक विद्यालयों की दशा सुधारने हेतु कतिपय और सुझाव देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। यथा -

१. विद्यालयों की संख्या अधिक हो किन्तु किसी भी विद्यालय में छात्र उतने ही हों, जिन्हें कम से कम चेहरे से पहचान अवश्य लें अर्थात् अधिकतम ५००।
२. अध्यापक और विद्यार्थी का अनुपात १:२० से अधिक न हो।
३. प्रारम्भिक शिक्षा के पूरा करते ही छात्र का मनोवैज्ञानिक रूप से परीक्षण करके उसे माध्यमिक शिक्षा हेतु बढ़ाया जाय।
४. शिक्षा में सिद्धान्त एवं व्यवहार का समन्वय हो।
५. श्रम के प्रति निष्ठा जगाने वाला पाठ्यक्रम बनाया जाये।
६. पाठ्यक्रम में गहराई अधिक हो, विस्तार कम।
७. आचार्य के योग-क्षेम की चिन्ता, व्यवस्था करे और यह चिन्ता बड़ी गरिमापूर्ण हो। बेचारगी से भरा शिक्षक स्वाभिमानी छात्र नहीं तैयार कर सकता।
८. अध्यापक चयन बड़ी गहराई से हो और अध्यापक को समाज का सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति माना जाये।
९. विद्यालयों में आचार्य कक्ष प्रत्येक आचार्य के लिए स्वतंत्र हो ताकि वह अपने खाली समय का सदुपयोग अध्ययन, चिन्तन व छात्र के कार्य मूल्यांकन हेतु कर सके।

इस प्रकार यदि हम आज भी सचेत होकर शिक्षा के सही अर्थ को समझते हुए अपनी इन्हीं व्यवस्थाओं को विवेक पूर्वक नियोजित कर लें तो अभी भी अंधकार से भयभीत होने का कोई कारण नहीं दिखता।

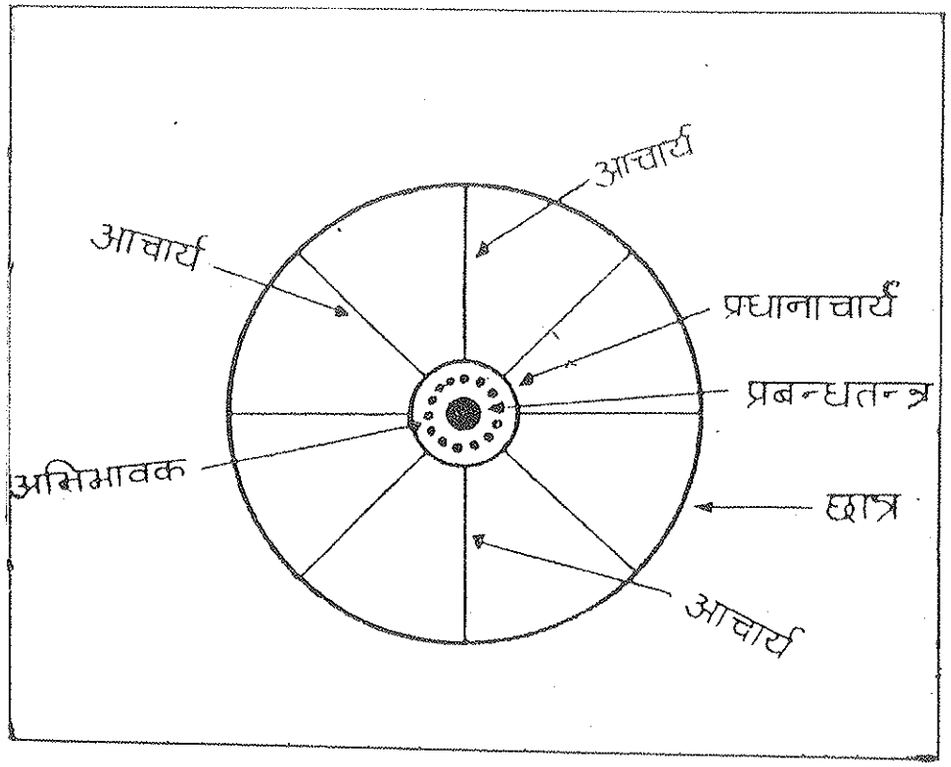

आत्मवेदना किंवा...

✍ दिनेश सिंह भदौरिया 'प्रस्तर'

आखिर हमने भी कलम उठा ली।
संभलों कलम के ठेकेदारों
दुर्गा के आराधक ने तेरी चाल समझ ली।

मैंने सोचा था तुम शोषित के श्वेद बनोगे
असहायों, अबलाओं की मूक व्यथा के शब्द बनोगे
पर ये क्या, तुमने तो उनकी ही पीड़ाओं की बेची झोली
... तो देखो, हमने भी कलम उठा ली।

मैंने सोचा तेरे शब्द-शब्द युग मंत्र बनेंगे
जिसके आगे शासन सत्ता के सारे तंत्र झुकेंगे
पर ये क्या, तेरे लंगड़े भाव तो लगते उनके दामन की चोली
... तो देखो हमने भी कलम उठा ली।

मैंने सोचा तेरी रचना नवयुवकों का साध्य बनेगी
जिसको गुन कर तरुणाई भारत का नव इतिहास रचेगी
पर ये क्या, तेरे छन्द तो खेलें शब्दों की होली
... तो देखो हमने भी कलम उठा ली।

मैंने सोचा तुम कवि, रवि समान प्रखर बनोगे
खोई समता, रोई ममता के भीगे स्वर बनोगे
पर ये क्या, कथनी-करनी के अंतर ने तेरी पोल है खोली
... तो देखो हमने भी कलम उठा ली।

ऐ चिन्तक, ये मजबूरी में उठी कलम है
ये कलम लिखेगी क्रांति, युग को इसका भ्रम है
उठ कलमकार, लगा, माथे पर मानवता की रोली
लो रखी कलम, कर तूझे प्रणाम, तू ही बन मेरी बोली।

सम्भलों कलम के ठेकेदारों
दुर्गा के आराधक ने तेरी चाल बदल दी।

दिनेश सिंह भदौरिया 'प्रस्तर' : मंत्री युग भारती।

आचार्य-परिवार

१. श्री ओम शङ्कर त्रिपाठी, एम.ए. (हिन्दी), बी.एड.	प्राचार्य
२. श्री प्रकाश नारायण बाजपेयी, एम.एस.सी. (जन्तु विज्ञान), बी.एड.	उप प्राचार्य
३. श्री राजेश कुमार शुक्ल, एम.एस.सी. (रसायन विज्ञान), बी.एड.	प्रवर-आचार्य
४. श्री रामतीर्थ मिश्र, एम.ए. (हिन्दी), बी.एड.	प्रवर-आचार्य
५. श्री कृष्ण कुमार गुप्त, एम.ए. (अंग्रेजी) एल.टी.	प्रवर-आचार्य
६. श्री हेमन्त शुक्ल, एम.एस.सी. (भौतिकी), बी.एड.	प्रवर-आचार्य
७. श्री आनन्द प्रसाद वर्मा, आई.जी.डी. (बाम्बे)	कला-आचार्य
८. श्री महेश चन्द्र श्रीवास्तव, एम.एस.सी. (गणित), एम.ए. (समाज शास्त्र), बी.एड.	आचार्य
९. श्री दीपक राजे, बी.ए.बी.एड.	आचार्य
१०. श्री सुभाष चंद्र शर्मा, एम.ए.(भूगोल), बी.एड.डी.पी.एड. व्यायाम-विशारद	आचार्य
११. श्री वीरेन्द्र सिंह पाण्डेय, एम.ए. (समाज शास्त्र), बी.एड.	आचार्य
१२. श्री बिहारी लाल मिश्र, एम.ए. (अंग्रेजी) बी.एड.	आचार्य
१३. श्री गणेश शंकर वाजपेयी, एम.ए. (संस्कृत), बी.एड. शास्त्री	आचार्य
१४. श्री गया प्रसाद वर्मा, एम.ए. (अंग्रेजी), बी.एड.	आचार्य
१५. श्री सतीश चंद्र गुप्त, एम.ए. (प्राचीन इतिहास, राजनीति शास्त्र), एम.एड.	आचार्य
१६. श्री महेन्द्र प्रताप दुबे 'सुमन', एम.ए. (हिन्दी दर्शनशास्त्र), बी.एड.	आचार्य
१७. डॉ० उमेश चन्द्र तिवारी, एम.एस.सी., पी.एच.डी. (वनस्पति विज्ञान), बी.एड.	आचार्य
१८. श्री जगपाल सिंह, एम.ए. (भूगोल), बी.एड.	आचार्य
१९. श्री दिनेश सिंह भदौरिया, एम.एस.सी., (रसायन), बी.एड.	आचार्य
२०. श्री अरुण कुमार शुक्ल, एम.एस.सी. (रसायन), बी.एड.	आचार्य
२१. श्री कैलाश जोशी, ए.एस.सी. (गणित)	आचार्य
२२. श्री प्रदीप वाजपेयी, एम.एस.सी. (गणित)	आचार्य
२३. श्री सुधीर अवस्थी, एम.एस.सी. (रसायन विज्ञान)	आचार्य

प्रबन्धकारिणी समिति

अध्यक्ष	:	श्री शिव शरण शर्मा अवकाश प्राप्त प्राचार्य वी.एस.एस.डी. कॉलेज, कानपुर
उपाध्यक्ष	:	श्री इन्द्रजीत जैन अधिवक्ता, कानपुर
मंत्री	:	वीरेन्द्रजीत सिंह चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट, कानपुर
सहमंत्री	:	डॉ० जगमोहन गर्ग उद्योगपति, गाजियाबाद
सदस्य	:	प्रो. राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैया) सरसंघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, नई दिल्ली।
		श्री माधव राव देवले सामाजिक कार्यकर्ता, लखनऊ
		डॉ० भूषणलाल धूपड़ अवकाश प्राप्त प्राध्यापक, लखनऊ
		श्री राम बालक मिश्र अधिवक्ता, कानपुर
		श्री प्रेमचन्द्र गुप्त व्यवसायी, कानपुर
		श्री हरि शङ्कर शर्मा अवकाश प्राप्त अतिरिक्त शिक्षा निदेशत, उ.प्र., कानपुर
		डॉ० ज्ञान चन्द्र अग्रवाल अवकाश प्राप्त प्राध्यापक वी.एस.डी. कॉलेज, कानपुर
		श्री ओम शङ्कर त्रिपाठी प्रधानाचार्य, कानपुर
		दो शिक्षक प्रतिनिधि